भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा

डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित
डॉ॰ किरण टण्डन

ग्रन्थ परिचय

'भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा' नामक यह ग्रन्थ 'यथा नामा तथागुणः' की उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ करता है। इस ग्रन्थ में भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध संस्कृत एवं हिन्दी विभागों के विद्वान् लेखकों द्वारा—विधि और कवि की सृष्टि, काव्यशास्त्र की उपादेयता : आधुनिक सन्दर्भ, काव्यप्रयोजन, काव्य का लक्षण, काव्यहेतु, काव्य की विधाएँ, महाकाव्यतत्त्व-विमर्श, गद्यकाव्य एवं उसके भेद, चम्पूकाव्य का स्वरूप एवं उसका क्षेत्र, साहित्याहरणविमर्श, ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेद, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के भेद, अभिधावृत्तिविमर्श, तात्पर्यशक्ति का काव्यार्थबोध, व्यञ्जनाविचार, रससामग्री रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण : आक्षेप और समाधान, आस्वादनसिद्धान्त, करुण रस का आस्वाद, शान्तरस-एक समीक्षा, वत्सलरसविमर्श, भक्तिरसविमर्श, रसों की सुख-दु.खरूपता, काव्यदोष, काव्यगुण, अलङ्कार-सम्प्रदाय-समीक्षा, अलङ्कारविभाग का नियामक तत्त्व रसवदलङ्कार, रीतितत्त्वविवेचन, साहित्य में रसदर्शन की पृष्ठभूमि, ध्वनिसिद्धान्त, आनन्दवर्धन की ध्वनि, वक्रोक्ति सिद्धान्त, साहित्य मे बिम्ब योजना और साहित्य में प्रतीक विधान जैसे विभिन्न विषयों पर प्रस्तुत किये गए विद्वत्ता-पूर्ण काव्यशास्त्रीय लेखों का संग्रह किया गया है। डॉ० हरिनारायण दीक्षित, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०) तथा डॉ० किरण टण्डन, रीडर, संस्कृत विभाग, कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०) द्वारा भलीभाँति सम्पादित यह ग्रन्थ भारतीय काव्यशास्त्र के विशाल वटवृक्ष की सम्पूर्ण शाखोपशाखाओं को आलोकित करने में सर्वथा समर्थ है। आशा है कि इस ग्रन्थ में विभिन्न लेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का व्यापक विवेचन आज के पाश्चात्त्य काव्यशास्त्रोन्मुख विद्वानों को भारतीयकाव्यशास्त्रोन्मुख होने की प्रेरणा देगा ; तथा संस्कृत एवं हिन्दी विषय के स्नातकोत्तर कक्षाओं के काव्यशास्त्रविषय के विशिष्ट अध्येताओं तथा काव्यशास्त्रीय शोधकर्त्ताओं के लिए परमोपयोगी सिद्ध होगा।

मूल्य : ४५०.००

भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा

भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा

सम्पादकद्वय

(१)

डॉक्टर हरिनारायण दीक्षित

एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०,
व्याकरणाचार्य, सांख्ययोगाचार्य, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
तथा
अधिष्ठाता, कला संकाय,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)

(२)

डॉक्टर किरण टण्डन

एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०, साहित्याचार्य,
रीडर, संस्कृत-विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)



ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

रचना : भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा
(सम्पादन)

सम्पादक : (१) डॉ० हरिनारायण दीक्षित
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)

(२) डॉ० किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत-विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)

प्रकाशक : ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण : ईशवीय सन् : १९९५

मूल्य : रू० ४५०.००

आई०एस०बी०एन० : ८१-८६३३९-०८-६

मुद्रक :
चौहान प्रिन्टर्स , बी-७२/१९ए, गली मन्दिर वाली,
उत्तरी घोण्डा, दिल्ली-५३

BHĀRATĪYA KAVYA ŚĀSTRA MĪMĀṀSĀ

Editors

(1)

DR. HARI NARAYAN DIKSHIT
M.A., Ph.D., D.Litt , Vyakaranacharya,
Sankhya-Yogacharya, Sahityacharya, Sahityaratna,
Professor & Head of the Department of Sanskrit
&
Dean, Faculty of Arts
Kumaun University, NAINITAL (U.P.)

(2)

DR. KIRAN TANDON
M.A., Ph.D., D.Litt., Sahityacharya,
Reader in Sanskrit,
Kumaun University, NAINITAL (U.P.)

Eastern Book Linkers
DELHI : : (INDIA)

The Book : BHĀRATĪYA KĀVYA ŚĀSTRA MĪMĀṀSĀ
(Edited)

Editors : (1) DR. HARI NARAYANA DIKSHIT
Professor & Head of the Department of
Sanskrit Kumaun University, Nainital (U.P.)

(2) DR. KIRAN TANDON
Reader in Sanskrit,
Kumaun University, Nainital (U.P.)

Publisher : EASTERN BOOK LINKERS
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
DELHI-110007

First Edition : 1995

Price : Rs. 450.00

I.S.B.N. : 81-86339-08-6

Printers : Chauhan Printers, B-72/16 A, Gali Mandir
Wali, North Ghonda, Shahadra-53

समर्पण

विवंगत माँ को

—सम्पादकद्वय

सम्पादकीय

जिस विद्या के द्वारा उपदेश दिया जाता है, अनुशासित किया जाता है; और किसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व का नियामक प्रतिपादन किया जाता है, उसे शास्त्र कहते हैं। 'शास्त्र' शब्द की यह व्याख्या काव्यशास्त्र पर भी घटित होती है। क्योंकि काव्यशास्त्र के द्वारा कवियों को काव्य लिखने के सम्बन्ध में उपदेश दिया जाता है; नियमों में अनुशासित किया जाता है और इसमें काव्य के—शब्द, अर्थ, शक्ति, रीति, वृत्ति, गुण, दोष, अलङ्कारादि बाह्य तत्त्वों एवं रस, ध्वनि, औचित्य आदि आन्तरिक तत्त्वों का सोदाहरण प्रतिपादन किया जाता है। विद्वानों ने इस शास्त्र को अलङ्कारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यविद्या, काव्यमीमांसा, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, क्रियाकल्प आदि बहुत से नामों से अभिहित किया है, किन्तु साहित्य तथा काव्य में अलङ्कार, सौन्दर्य आदि तत्त्वों के अन्तर्भूत हो जाने के कारण, आज यह शास्त्र—साहित्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र—इन दो नामों से ही जाना जाता है।

यद्यपि उपलब्ध भारतीय काव्यशास्त्ररूप भवन की आधारशिला भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र को ही माना जाता है, तथापि इस शास्त्र की सत्ता उसी समय से माननी चाहिए, जब से काव्य की सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार काव्यशास्त्र का प्रारम्भ वैदिक साहित्य के समानान्तर ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ वैदिक वाङ्मय को ही प्रायः प्रत्येक शास्त्र का उद्गम माना जाता है और फिर भरतमुनि का अधोलिखित कथन—

> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ —ना० शा०, १/१७

सूचित करता है कि नाट्यशास्त्र के आवश्यक तत्त्व वेदों से ग्रहण किए गए हैं। 'नाट्य' शब्द दृश्य काव्य के लिए प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से तो काव्य की अन्य विधाओं से सम्बन्धित समालोचनात्मक नियमों का स्रोत भी वैदिक वाङ्मय को ही मानना चाहिए। यह और बात है कि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पूर्व का कोई भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हमारे देखने या सुनने में नहीं आता। काव्यशास्त्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक और तथ्य उल्लेखनीय है, वह है छन्दःशास्त्र की वेदाङ्ग के रूप में प्रसिद्धि। आज छन्दःशास्त्र वेदाङ्ग ही नहीं अपितु पद्यकाव्य का भी पूरक अंग माना जाता है और शोधपरक काव्यशास्त्रीय आलोचनाओं में इसकी गणना भावपक्ष तथा कलापक्ष के तत्त्वों के मध्य ही की जाती है। अतएव छन्दःशास्त्र सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसकी प्राचीनता को सिद्ध करने में समर्थ है।

काव्य के वैशिष्ट्य की परीक्षा करने के लिए एवं कवियों को काव्य संरचना हेतु नवीन दिशा प्रदान करने के लिए काव्यशास्त्रकार एवं उसकी काव्यशास्त्रीय रचना का अत्यन्त महत्त्व है। काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर ने इसकी उपयोगिता को जानने और मानने के कारण ही इसे सप्तम वेदाग की संज्ञा प्रदान की है—

'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः' (का०मी० अध्याय २)।

इस स्थल पर 'अलङ्कार' शब्द काव्यशास्त्र का ही प्रतिनिधित्व करता है।

यहाँ इस दुःखद तथ्य का उल्लेख करने से हम अपने आपको नहीं रोक पा रहे हैं कि आज के समालोचक एवं शोधार्थी महनीय भारतीय काव्यशास्त्र को विस्मृत करने लगे हैं और पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र की मान्यताओं को ही चिन्तन का विषय मानने लगे हैं। उन्हें यह भ्रान्ति हो गई है कि पाश्चात्त्य समालोचना ही हमारे काव्यों की परीक्षाहेतु सर्वोत्तम निकष है। किन्तु यदि वे भारतीय वाङ्मय का निष्पक्ष सर्वेक्षण करेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि उपलब्ध भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत काव्यशास्त्र की मान्यताएँ सार्वभौमिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। जिस पाश्चात्त्य समालोचना को वह काव्य की परीक्षा का निकष मानते हुए पाश्चात्त्य समीक्षकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, वह वस्तुतः भारतीय समालोचनाशास्त्र का ही विवर्त है। हिन्दी साहित्यशास्त्र तो पूर्णरूपेण संस्कृत साहित्यशास्त्र का भाषा रूपान्तर है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र से न केवल प्राचीन है, अपितु काव्य के अनिवार्य तत्त्वों का विवेचन भी सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से करता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय काव्यशास्त्र भारतीय संस्कृति के मूलमन्त्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की उद्घोषणा करता है। भारतीय काव्यशास्त्र ही कवियों को शिक्षा देता है कि वे ऐसे काव्य की संरचना करें, जो उन्हें यश, धन एवं अलौकिक आनन्द दे, उनके तथा उनके श्रोताओं का अनिष्ट-निवारण करे तथा श्रोताओं को व्यवहार-ज्ञान, शीघ्र आनन्द एवं कान्तासम्मित उपदेश दे। वह कवि बनने के इच्छुक व्यक्ति को चेतावनी देता है कि यदि उसमें प्रतिभा है, तभी वह कविता करने का साहस करे अन्यथा नहीं। वह उत्तम, औचित्यसम्पन्न, सत्काव्य की संरचना करे और अधम, अनौचित्यसम्पन्न, असत्काव्य की रचना से अपने आपको दूर रखे। वह अलङ्कारों का प्रयोग कविता-कामिनी को सजाने के लिए ही करे, उसे उनसे बोझिल बनाने के लिए नहीं। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र कवि को 'सर्वजनहिताय' एवं 'सर्वजनसुखाय' काव्य लिखने का जो सदुपदेश देता है और ऐसे काव्य लिखने की जो विधि समझाता है वह पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है।

अपने शोधच्छात्रों को काव्यों का काव्यशास्त्रीय समीक्षण की दृष्टि से शोधकार्य करवाते समय भी प्रायः मन में यह इच्छा उत्पन्न होती थी कि काव्यशास्त्र पर कोई महत्त्वपूर्ण एवं शोधच्छात्रोपयोगी कार्य किया जाए, फिर भारतीय काव्यशास्त्र की उपादेयता एवं वर्तमान-

युग में भी उसकी प्रासंगिकता का अनुभव करने के पश्चात् हमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उसको आधार बनाकर आज की सुबोध भाषा-शैली में एक ऐसा सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ तैयार किया जाए, जिसमें उसके सभी तत्त्वों पर, सभी पूर्ववर्ती भारतीय काव्यशास्त्राचार्यों की दृष्टि से, विचार-विमर्श किया जाए, उस पर समवेत प्रकाश डाला जाए; और उसका समन्वित एवं सही निष्कर्ष निकाला जाए। अतएव हमने सन् १९९० में 'भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा' नामक ग्रन्थ के सम्पादन-—प्रकाशनरूप सारस्वतयज्ञ के आयोजन का श्रीगणेश किया और भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध अनेक काव्यशास्त्रीय विद्वानों को इस यज्ञ में अपनी आलेखरूपी आहुतियाँ भेजने हेतु आमन्त्रित किया। इस पवित्र कार्य का प्रारम्भ दिनाङ्क २४ अक्टूबर सन् १९९० को हुआ। सर्वप्रथम तो हमने विद्वान् लेखकों से प्रार्थना की, कि वे अपना आलेख १५ जनवरी, सन् १९९१ तक प्रेषित कर दें। किन्तु इस निर्धारित अवधि तक कोई भी लेख हमारे पास नहीं पहुँच पाया। फलस्वरूप हमने उन सभी विद्वज्जनों को मई १९९१ तक का समय और दे दिया। हमें प्रसन्नता का अनुभव तब हुआ, जब हमें उक्त अवधि में कुछ लेख प्राप्त हो गये। इसी बीच कुछ विद्वान् लेखकों ने हमें पत्र द्वारा आश्वासन दिया कि वे शीघ्र ही अपने लिए निर्धारित लेख भेज देंगे। किन्तु कुछ विद्वानों ने हमारे इस कार्य के उत्तर में कोई जिज्ञासा या प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

अब हमारे सामने व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं, क्योंकि अब तक उपलब्ध लेखों को हम तब तक प्रकाशित नहीं कर सकते थे, जब तक उन्हें विषयानुसार सजा नहीं लेते। अवशिष्ट लेख पहुँच भी न पाए थे कि पहले लेख भेज देने वाले विद्वान् लेखकों ने ग्रन्थ के प्रकाशन के सम्बन्ध में अपनी स्वाभावक जिज्ञासा व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। अब यह बहुत आवश्यक हो गया कि अवशिष्ट लेख शीघ्रातिशीघ्र हमारे पास पहुँचें। एतदर्थ हमने बहुत से विद्वानों को अनेक अनुस्मारक पत्र भेजे। फलस्वरूप १९९२ के अन्त-अन्त तक हमें सन्तोषजनक मात्रा में लेख उपलब्ध हो गये। जिन्हें विषयानुसार सम्पादित एवं व्यवस्थित करके प्रकाशित कराने के विषय में हमने अन्तिम निर्णय ले लिया। किन्तु अब भी वाञ्छित अवशिष्ट लेखों के लिए विद्वानों से पत्र-व्यवहार चलता रहा। विद्वानों से प्राप्त हुए लेखों का सम्पादन करते समय हमने यह ध्यान रखा है कि उनके लेखकों का अभीष्ट मत सुरक्षित रहे।

इस प्रकार सन् १९९३ में हम इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रारम्भ करवा पाए। अवशिष्ट लेखों की प्राप्ति एवं मुद्रित हो रहे लेखों की प्रूफरीडिंग करने में लगभग डेढ़ वर्ष का समय लगा। हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष के संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वान् लेखकों के सक्रिय सहयोग के फलस्वरूप इस ग्रन्थ ने आकर्षक रूप ले लिया है और अब यह प्रकाशित भी हो गया है। इस प्रकार सर्वप्रथम लेख भेज देने वाले लेखकों को ग्रन्थ प्राप्त करने में उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण जो विलम्ब हुआ, उसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

समाज का कोई भी व्यक्ति अपने सभी कार्यों को स्वयं ही पूर्ण नहीं कर पाता। उसे अपने छोटे से छोटे काम को पूरा करने के लिए समाज के अन्य व्यक्तियों से सहयोग

की अपेक्षा रहती है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन रूप हमारा यह कार्य भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि यदि इस महत्त्वपूर्ण कार्य में हमें अपने देश के अलौकिक एवं लौकिक व्यक्तित्वों से सहयोग न मिला होता, तो इस कार्य को कदापि पूरा नहीं किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में हमारा पवित्र एवं अनिवार्य कर्त्तव्य बनता है कि हम इन सबके प्रति क्रमशः कृतज्ञताज्ञापन करें।

सर्वप्रथम नवरसरुचिरा कविता की रचना करने वाली, कवि की वाणी, वीणापाणि माँ सरस्वती के चरणकमलों में हमारा सादर प्रणाम है, जिनकी कृपा के फलस्वरूप इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन का सुविचार हमारे मन में आया।

अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष के प्रति भी हम भक्तिपूर्वक श्रद्धावनत हैं, जो विश्ववन्द्य संस्कृतवाङ्मय की रचनास्थली है।

इस शुभ अवसर पर सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, रासेश्वर श्रीकृष्ण का अवतार ग्रहण करने वाले भगवान् विष्णु, नटेश्वर भगवान् शिव एवं प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से हमें शक्ति देने वाली अन्य दिव्यभूतियों को भी हम प्रणामपूर्वक स्मरण करते हैं।

वाग्देवता के पुत्र—भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज, मम्मट, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, जयदेव, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि प्रसिद्ध काव्यशास्त्री, समालोचक, सहृदय मनीषी भी श्रद्धापूर्वक प्रणम्य हैं, क्योंकि इन महापुरुषों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के अभाव में इस काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रूपरेखा बनाना ही हमारे लिए असम्भव था।

इस ग्रन्थ को यह रूप प्रदान करने में भारतवर्ष के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध संस्कृत तथा हिन्दी विभागों के अनेक सहृदय विद्वानों ने सहयोग किया है। हमारा ग्रन्थ-प्रकाशन एवं सम्पादनरूप सारस्वतयज्ञ उन्हीं के विद्वतापूर्ण शोधपरक लेखरूपी पवित्र आहुतियों के समर्पण से सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका है। अतएव हम हृदय से इन सब विद्वानों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद व्यक्त करते हैं और इस ग्रन्थ के प्रकाशनरूप सारस्वत यज्ञ की सफलता के फलस्वरूप प्राप्त सुख का अनुभव करने का अधिकारी भी मानते हैं।

इस सारस्वतयात्रा में हमें हमारी आदरणीया माता श्रीमती सुदामा देवी दीक्षित तथा श्रीमती रमारानी टण्डन का वात्सल्ययुक्त स्नेहाशीर्वादरूप पाथेय मिलता रहा है। किन्तु यह दुःखद तथ्य है कि ग्रन्थ के वर्तमानरूप को अपने कर-कमलों में ग्रहण करने के पूर्व ही दोनों माताएँ दिवङ्गत हो गईं। अतएव आज यह ग्रन्थ उन्हीं के चरणकमलों में हमारी श्रद्धाञ्जलि के रूप में समर्पित है। हमें आशा-विश्वास है कि उनकी मधुरस्मृतियाँ और शुभाशीर्वाद भविष्य में भी हमारी रचनाधर्मिता को सम्बल प्रदान करते रहेंगे।

हम इस अवसर पर डॉ० नीरजा टण्डन, रीडर, हिन्दी विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल तथा डॉ० कुमुद टण्डन, रिसर्च एसोशिएट, संस्कृत विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल को शुभाशीर्वाद देते हैं, जिन्होंने इस महान् अनुसन्धानयज्ञ की निर्विघ्न सम्पन्नता हेतु हमें हरसम्भव सहायता प्रदान की।

श्री श्यामलाल मल्होत्रा प्रोप्राइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५ न्यू चन्द्रावली, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७ एवं उनके समस्त परिवार के प्रति भी हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन का भार सहर्ष ग्रहण किया और इसे आकर्षक स्वरूप प्रदान किया।

हमें आशा-विश्वास है कि भविष्य में भी अलौकिक शक्तियाँ हमारा मनोबल बढ़ाएँगी; गुरुजन स्नेहाशीर्वाद देकर कृतार्थ करेंगे; तथा सहयोगी हृदय से सहायता कर हमारा सारस्वतमार्ग सुगम बनाएँगे।

इन्हीं वाक्यों के साथ हम अपना यह ग्रन्थ 'भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा' सहृदय मनीषियों, विद्वज्जनों, साहित्यशास्त्रमर्मज्ञों एवं शोधयात्रा के योग्य पथिकों के कर-कमलों में विनम्रतापूर्वक इस विश्वास के साथ सौंप रहे हैं कि उन्हें हमारा यह प्रयास न केवल पसन्द आएगा अपितु वे इससे लाभान्वित भी होंगे। प्रयत्नपूर्वक प्रुफरीडिंग के पश्चात् भी इस ग्रंथ में रह जाने वाली मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियों को भी सहृदय विद्वान् पाठकों से उदारतापूर्वक क्षमा कर देने की हम विनम्र प्रार्थना करते है।

—सम्पादकद्वय

अनन्तचतुर्दशी, वि०सं० २०५१
रविवार, दिनाङ्क १८-९-९४

विषयानुक्रम

विधि और कवि की सृष्टि

लेखक—डॉ० **चन्दन लाल पाराशर**
(अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, बी० आर० कालेज)
अमृतायन
६२ बी, आलोक नगर (जयपुर हाउस)
आगरा-२८२०१०

पद्मयोनि विधाता की सृष्टि स्थावर-जङ्गम जगत् में विविध रूपों में दृष्टिगोचर होती है। कहीं पर क्षपाकर ज्योत्स्ना की पीयूष वृष्टि है, तो कहीं पर उष्णता के सिन्धु-स्वरूप भास्कर की प्रचण्ड मरीचियाँ जगत् को स्वताप से तापित करती हैं, कहीं पर सरसिज-संस्पर्शज श्लाघ्य वायु है, तो कहीं पर प्रचण्ड हृदय विदारक झंझावात का ताण्डव नर्तन, कहीं पर निशीथ में नक्षत्र खचित सहृदयाह्लादक गगन मण्डल है, तो कहीं उत्ताल दुर्दान्त तरङ्गों से गरजता अथाह नीलसागर, इस प्रकार अनेक रूपों में सृष्टि वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। सत्त्वरजस्तमः साम्यावस्था प्रकृति अपने त्रैविध्य रूपों में उपर्युक्त दृश्यों में दृष्टिगोचर होती है। विधि-सृष्टि सुख-दुःख मोह स्वभावा है। प्रकृति से नियन्त्रित है। यह सृष्टि सुन्दर व असुन्दर उभय रूपों में दृष्टिगोचर होती है। विधि-सृष्टि ब्रह्मा का कार्य है, कवि सृष्टि इससे उत्कृष्ट है। कवि-सृष्टि सुन्दर व असुन्दर उभय रूप न होकर केवल सौन्दर्य-प्रधान है तथा आनन्द का मूल है।

विधि की सृष्टि में सौन्दर्य का क्षेत्र सङ्कीर्ण है, वह मात्र उपवन वाटिका व पराक्रान्त दृश्यों तक ही सीमित है, परन्तु उत्कृष्ट कवि-सृष्टि में सत्य भी सौन्दर्य है, गुरुओं की आज्ञा का पालन भी सौन्दर्य है, विद्या की विदग्धता भी सौन्दर्य है, सद्गुणशालिता सौन्दर्य है, परमात्मपरक भक्ति भी सौन्दर्य है। कवि-सृष्टि का प्रत्येक पक्ष लावण्य का निधान है। सौन्दर्य आनन्दोत्पत्ति का सहज मूल है, इसके मूल में सत्य और शिव का अस्तित्व है, अतः कवि-सृष्टि सत्य, शिव और सुन्दर होती है। काव्यजनित माधुर्य को पीकर जैसा आनन्द सहृदय सामाजिक अनुभव करते हैं, वैसा विधि-सृष्टि में सर्वथा दुर्लभ है। काव्य तो ब्रह्म के पर्यायवाची कवि के आनन्दमय उद्‌गारों का सहज प्रस्फुटन है। विधि-सृष्टि नश्वर है, परिणमनशील है और कवि-सृष्टि शाश्वत है। विवेकी के

लिए विधि-सृष्टि में कुछ भी आनन्ददायक नहीं है, वह सब दुःख स्वरूप है।[१] दुःख रजोगुण का परिणाम है। रजोगुण प्रवृत्ति एवं परिवर्तन का द्योतक है। विधि-सृष्टि भी रजोगुण की अधिकता से परिणमनशील एवं दुःखरूप है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति को प्रेरित करने में विधि-सृष्टि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तःकरण की विक्षिप्तता का मूल है तथा बन्धन का कारण है। बन्धन जीवात्मा का स्वभाव नहीं, धर्म नहीं, अतः प्रिय नहीं है। जीव का धर्म तो स्वतन्त्रता एवम् आनन्द है, चेतनता है। अतः जीव की प्रवृत्ति आनन्दोन्मुखी है, बन्धनोन्मुखी नहीं है। दुःख (विधि-सृष्टि का मूल तत्त्व) जीवात्मा के अन्तःकरण की प्रतिकूल संवेदना है। अतः विधि-सृष्टि के प्रति जो प्रतिकूल वेदनीय है, सामाजिकों की प्रवृत्ति नहीं होती है। सामाजिकों की प्रवृत्ति अनुकूल वेदनीय रसप्राण काव्य की ओर निसर्गतः उन्मुख होती है, आनन्द तत्त्व का विधि-सृष्टि में खोजना तो अज्ञानता का प्रतीक है, यह तो सैमल पुष्पवत् आनन्दाभाव रूप ही है।

कवि-सृष्टि तो आनन्द का अक्षुण्णाम्बुधि है। कवि-सृष्टि में सत्य के लावण्य का, माधुर्य का, विलक्षणता का आविर्भाव होता है, वही सहृदयजन संवेद्य है। काव्यप्रणेता कवि शाश्वत ऋत सत्य को उद्घाटित करने के लिए न अभिधा का आश्रय लेता है और न ही लक्षणा का। कवि अपने भाव के उत्कृष्ट प्राकट्य हेतु मीमांसक प्रिय तात्पर्य-वृत्ति का भी आश्रय नहीं लेता है, वह तो व्यञ्जना का आश्रय लेता है। व्यञ्जना के द्वारा कवि वस्तुतः अनन्यलब्ध श्री का विधान स्वसृष्टि में कर देता है। व्यञ्जना के द्वारा ही कवि लोकोत्तर होता है। कवित्व की प्राप्ति परम दुर्लभ है। अग्निपुराण में इसकी दुर्लभता को कहा गया है—"इस संसार में मानव शरीर दुर्लभ है, मानव-शरीर प्राप्त होने पर विद्या परम दुर्लभ है, वहाँ पर भी कवित्व तो और भी दुर्लभ है और कवि-प्रतिभा सर्वथा दुर्लभ है।"[२]

कवि-वाणी की उत्कृष्टता अनिर्वचनीय है। कवि-वाणी अन्याय के प्रति विरोध करने हेतु जनसाधारण में भी अप्रमेय बल का संचार करती है, अतः कवि को चेतना प्रदान करने वाला ईश्वर कहा जाता है। कवि स्वावाग्वैदग्ध्य के द्वारा मुर्दे में नयी चेतना का सञ्चार कर युद्ध के लिए प्रेरित कर राष्ट्र की रक्षा करता है। कवि सर्वशक्तिमान् ईश्वरवत् लोगों को स्वेच्छा से परिवर्तित कर अपनी दिव्य शक्ति का प्रयोग करता है। कवि अपनी करुण रस से ओत-प्रोत वाणी द्वारा करुणा पयस्विनी प्रवाहित कर नेत्रों को अश्रुपूरित कर देता है, वह इस प्रकार विचित्र सामर्थ्यशालिनी प्रतिभा के द्वारा जगत्-परिवर्तन में सक्षम है।"[३]

---

१. दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।—योगदर्शन

२. नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"—अग्नि पुराण

३. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥"—अग्निपुराण

कवि-सृष्टि कलाओं की सम्राज्ञी कही गयी है। कवि-सृष्टि चित्र सङ्गीत प्रभृति चारों ललित कलाओं से उच्च है। कवि-वाणी अन्य कलाओं के सिरों को अपने दिव्य प्रभाव से झुकाकर उच्चतम श्रेष्ठासन पर अधिरोहण करती है। वह जिस औचित्य से सम्पूर्ण लोकों को, सम्पूर्ण कालों व कलाओं को, सम्पूर्ण पदार्थों को प्रस्तुत करती है, अन्य कलायें उसके चमत्कार सम्पन्न महनीय कार्य को करने में सक्षम नहीं है। ब्रह्मा की सृष्टि में जो कुछ नहीं दिखाई देता है, उन पदार्थों का प्रकटन भी कवि-सृष्टि में होता है। कवि-सृष्टि नवरसरुचिरा होती है. परन्तु विधि-सृष्टि में नव रस का सर्वथा असम्भव है। विधाता की सृष्टि में षट् रस है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त। ये षट् रस भी आनन्दमय नहीं है। ये षट् रस परिस्थिति के अनुसार एवं चित्त की वृत्ति के अनुसार यदा-कदा क्षणिक मिथ्या सुख प्रदान करते हैं और वह भी व्यष्टि रूप से। समष्टि रूप में तो ये आनन्दाभास में भी अक्षम है। व्यष्टि मलिन सत्त्व प्रधान अज्ञानोपाधि है, अतः आनन्द कहाँ ? आनन्द तो समष्टि में है, जो शुद्ध सत्त्व प्रधान एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है और सच्चिदानन्द स्वरूप है—कवि-सृष्टि। कवि-कृति वस्तुतः विधिकृति से सर्वथा विलक्षण है। कवि की सृष्टि नव रसों से (श्रृङ्गार, वीर, हास्य, रौद्र, करुण, भयानक, बीभत्स, अद्भुत एवं शान्त) पूर्ण है। शाश्वत सत्य का उद्घाटन करने वाली कवि-वाणी में विद्यमान ये रस सदा ही आनन्दप्रद हैं एवं समष्टि के द्योतक हैं। कवि स्ववाणी के माध्यम से विभावानुभावव्यभिचारी भाव से सहृदय जनान्तःकरणोपस्थित स्थायी भाव को जागृत कर चेतना को प्रदान करता है, कवि सत्य, चैतन्य एवं आनन्दस्वरूप है, अतः कवि की उपाधि ब्रह्म को दी गयी है।[४] कवि सम्बन्धी इस रस रूप चेतना का प्रदर्शन ऋषियों ने यजुर्वेद में रस के द्वारा परमेश्वर की सत्ता को व्यक्त करते हुए किया है[५]। इसके द्वारा स्पष्ट रूप से कवि-वाणी में आनन्द के अखण्ड साम्राज्य की अभिव्यञ्जना होती है।

आनन्द दृष्टि का विषय नहीं है, वह तो अनुभवगम्य है। आनन्द निराकार है, कवि-वाणी उसका साकार प्राकट्य है। ईश्वर भी वस्तुतः निराकार है वह भक्ति के द्वारा सगुण होता है। भक्ति तो कवि-सृष्टि का एक तत्त्व है। कवि-सृष्टि का विस्तार इस ब्रह्माण्ड से कई गुणा विस्तृत है। परमात्मा को जानने में भी कवि-सृष्टि का महत्त्वपूर्ण योगदान है एवं जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में भी इसका मूल योगदान है। जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के मूलाधार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कवि-सृष्टि में निहित है। कवि-वाणी के अनुशीलन से धर्मार्थ काम मोक्ष और कलाओं में प्रवीणता, प्रीति की अभिवृद्धि होती है।[६]

---

४. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं ँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतो निरूप्य शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।—शुक्ल यजुर्वेद ४०।८

५ अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम्।
तद्देवेभ्यो भरामसि। यजुर्वेद पू० अ० १२/१०४

६ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्। आचार्य भामह

विधि-सृष्टि अपने कारणों के अधीन है। विधि-सृष्टि का मुख्य कारण है—प्रधान। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कारण से अपने गुणों को ग्रहण करता है।[७] अतः सुख दुःख मोहस्वभावा प्रकृति से विधि-सृष्टि अपने त्रिविध गुणों को ग्रहण करती है। जिस प्रकार लौह से चन्द्रहास, तिलों से तैल का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार प्रकृति से सृष्टि का प्राकट्य होता है। प्रकृति सृष्टि का उपादान कारण है और पुरुष निमित्त कारण। दोनों का "पङ्ग्वन्धवत्" संयोग है[८]। परन्तु कवि-सृष्टि में न तो कारणों के द्वारा कार्य की परतन्त्रता है और न ही "पङ्ग्वन्धवत्" संयोग की अभाव प्रवृत्ति। अभाव अतिशय का मूल है। अतिशय के दोष के कारण ही तो आनुश्रविकोपाय की उपयोगिता को दृष्टवत् दुःख के एकान्त एवम् आत्यन्तिक अभाव में अक्षम कहा है। कवि-सृष्टि कवि की स्वतन्त्र आनन्द-वृत्ति का प्रोल्लास है। कवि-सृष्टि में चेतना रूप कारण से (स्थायी भाव से) रस चेतना रूप कार्य की उत्पत्ति होती है, जो आनन्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सत्कार्यवाद के अनुसार जिस प्रकार विधि-सृष्टि में तिल और तैल में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार आनन्द रूप चेतना और रस चेतना में कोई भेद नहीं है, परन्तु उत्कृष्टता एवम् अपकृष्टता का भेद अवश्य अध्येतव्य है। विधि-सृष्टि में तिलों से जो तैल उत्पन्न होता है वह स्थूल से सूक्ष्म के पृथक्करण की ही क्रिया है। कारण में स्थूल (खली) सूक्ष्म (तैल-तरलता का द्योतक) दोनों ही विद्यमान हैं, अतः विधि-सृष्टि में सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की उत्पत्ति का विधान है। पञ्चतन्मात्रा से पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति सूक्ष्म से स्थूल का द्योतक है, जो गुरुत्व का प्रतीक है। गुरुत्व तमः की प्रकृति है, आवरणशील है, अतः आनन्द से व्यतिरिक्त है।

कवि-सृष्टि में रस चेतना की चेतना (आनन्द) से उत्पत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म की उत्पत्ति का द्योतक है। यह शुद्ध चैतन्यानन्द का नैसर्गिक प्राकट्य है, इसमें गुरुत्व की गन्ध भी नहीं है। तिल के समस्त लक्षण तैल में नहीं होते हैं, तिल के लक्षण तैल व खली दोनों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु चेतना रूप कारण के सभी लक्षण रसानुभूति रूप कार्य में पाये जाते हैं, दूसरे कवि-सृष्टि में रस-चेतना के अतिरिक्त चेतना से किसी और कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। विधि-सृष्टि में तिल और तैल को एक नहीं कहा जा सकता है, परन्तु चेतना रूप कारण एवं रसानुभूति रूप कार्य दोनों ही तत्त्वतः एक ही हैं। कवि-सृष्टि लाघव, प्रकाशमय एवं शुद्ध सात्त्विक प्रवृत्ति का परिणाम सुख का सतत प्रवाह है।

सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में वेदान्त ने विवर्त्तवाद को स्वीकार किया है। वेदान्त के अनुसार कार्य कारण में वस्तुतः एकत्व है। व्यवहारवश 'यह कारण है' 'यह कार्य है, ऐसा कहा जाता है। स्वर्ण के द्वारा कटक कुण्डलादि भूषण निर्मित होते हैं, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से कटक, कुण्डलादि स्वर्ण से भिन्न नहीं है। सुवर्ण ही कटक, कुण्डल के रूप में स्थित है। यथार्थतः स्वर्ण से अतिरिक्त कटक, कुण्डलादि कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार कवि-सृष्टि में

---

७. कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते। नैषधीयचरितम् ३।१८

८. साङ्ख्यकारिका २१

चेतना और रस चेतना में कोई भिन्नता नहीं है। चेतना ही व्यवहारवश रस चेतना कही जाती है। आनन्द ही व्यवहारवश रस कहा जाता है। कवि-सृष्टि आनन्द का यथार्थ है और विधि-सृष्टि ब्रह्म का विवर्त्त। विधि-सृष्टि में परमेश शक्ति अनिर्वचनीय रूपा माया अध्यारोप के द्वारा जीव को भ्रमित कर सृष्टचाभास कराती है, जो कि अपवाद के द्वारा हटाए जाने पर आनन्द स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इस प्रकार वेदान्तानुसार विधि-सृष्टि एक भ्रम है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार विधि सृष्टि भी एक भ्रान्ति है[९], परन्तु कवि-सृष्टि भ्रान्ति न होकर एक यथार्थ सत्ता है, यह विनाशी न होकर अक्षुण्ण है। यह तो आनन्द स्वरूप चेतना का ही स्वरूप है। व्यवहार में भी आनन्द है और परमार्थ में भी। प्रातिभासिक सत्ता जैसी कोई स्थिति कवि-सृष्टि में नहीं है। यह शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप दिव्य सत्य का प्रस्फुटन है, जो चिरस्थायी एवं शिव है। विधि-सृष्टि में विवर्त्तवाद के सिद्धान्त में व्यवहारिक सत्ता में और पारमार्थिक सत्ता में भेद है। पारमार्थिक सत्ता वस्तु है और व्यावहारिक सत्ता वस्तु में अवस्तु का आरोप है परन्तु कवि-सृष्टि में अवस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। वह शुद्ध पारमार्थिक सत्ता का ही स्वरूप है। अतः कवि-सृष्टि आनन्दोपलब्धि के अध्यारोप अपवाद न्याय पर आश्रित न होकर स्वानुभव गम्य एवं समस्त बाधाओं से रहित है। कविसृष्टि में आनन्दोपलब्धि हेतु गुरु बोध की एवं ज्ञान प्रक्रिया की तथा ज्ञानानन्द के लिए सप्त भूमिका प्रभृति किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं है। यह तो निसर्गतः सदय, सहृदय अन्तःकरण वीणा तन्त्र को माधुर्येण सङ्कृत करने में सक्षम है, अतः कवि-सृष्टि को अनन्य परतन्त्रा कहा गया है। कवि शब्द व अर्थ के अधीन नहीं होता, अपितु शब्दादि ही कविप्रतिभा का अनुकरण करते हैं[१०]।

वेद सृष्टि के प्रमुख आधार हैं। ये अखिल धर्ममूल अखिल ज्ञान के अथाह सागर एवं संस्कृति के रक्षक तथा परमेश्वर के निःश्वास हैं। वेद मानव-जीवन के उद्देश्य को, जीवनोत्थान के उपायों को तथा लोकहित को विद्वज्जनों के सम्मुख रखता है, परन्तु सहृदय सामाजिक अपने शाश्वत कल्याण के लिए वेदों की ओर उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होते जैसे कि कवि सृष्टि-काव्य के प्रति प्रवृत्त होते हैं। कवि मानव-कल्याण के समग्र तत्त्वों को, जीवन की चरमोन्नति के उपायों को हृदयरञ्जनकारी काव्य के द्वारा जन साधारण के सम्मुख प्रस्तुत करता है। कवि-सृष्टि से श्रेय एवं प्रयकारी तत्त्वों को ग्रहण करने के लिए जनसाधारण

---

९ रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सके कोउ टारि ।। रामचरितमानस

१०. 'कविहि अरथ आखर बलु साँचा'—रामचरितमानस। शब्द और अर्थ कवि की सृष्टि हैं, कवि स्वेच्छा से अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। शक्ति कवि का स्वयं प्रयोग नहीं करती है। कवि शक्तिमान् है और शब्दार्थ शक्ति। अतः कवि ईश्वर है, वह "स्वधया अवातम्" अनन करता है।

प्रसन्नतापूर्वक काव्यानुशीलन में तत्पर हो जाता है। कवि-सृष्टि के अनुशीलन से अनायास ही विनोद मिश्रित शाश्वत कल्याण का बोध हो जाता है, अतः कवि-सृष्टि विधि-सृष्टि से सर्वथा जनहित में भी उत्कृष्ट है।

कवि-सृष्टि जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि 'आनन्द-स्वरूपा है'। कवि-सृष्टि का रसास्वादन आत्म सौख्य के अनन्त सागर में निमज्जन है। कवि-सृष्टि के परिशीलन से अन्तःकरण सङ्कीर्ण उद्देश्य से मुक्त होकर आनन्द स्वरूप रस में नये उद्देश्य के प्रादुर्भूत होने से अद्भुत आलोक की आभा में निमग्न हो जाता है। जीवन की असीमता में लीन होकर वहाँ नई शक्तिमयी स्फूर्ति का सञ्चार होता है तब अन्तःकरण में जितने भी व्यवधान होते हैं, सब तिरोहित हो जाते हैं और वहां अन्तःकरण के प्राङ्गण में मार्दव, माधुर्य की अवधारणा उत्पन्न होती है। जीवन में नयी श्री का आधान होता है। सभी ग्लानियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार उसकी (कवि-सृष्टि की) आनन्दमयता से सहृदय जन अपनी आनन्दमयता का प्रत्यक्षीकरण करने में समर्थ होता है।

वस्तुतः कवि-सृष्टि का अनुशीलन ब्रह्मसाक्षात्कारवत् है, अतः रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है। साधक जब अध्यारोप अपवाद न्याय से अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने का प्रयास करता है अर्थात् जब जीव ब्रह्म के मिथ्या पार्थक्य को शाश्वत ऐक्य में परिणत किया जाता है तब साधक ज्ञाता ब्रह्म ज्ञेय एवं अध्यारोप अपवाद न्याय को ज्ञान कहा जाता है आगे चलकर निर्विकल्पक समाधि में अखण्डाकाराकारित चित्त वृत्ति में तीनों का मिथ्या पार्थक्य समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार साधक समस्त सङ्कीर्ण उद्देश्य को त्यागकर ब्रह्म प्राप्ति रूप समस्त उद्देश्यों के एकमात्र साधक ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या के नये उद्देश्य को लेकर चलता है, उसी प्रकार सहृदय सामाजिक सम्पूर्ण सङ्कीर्ण उद्देश्यों को त्यागकर 'आनन्दैकं पुरस्कृत्य" कवि-सृष्टि का अनुशीलन करता है। ब्रह्म-साक्षात्कार में जिस प्रकार त्रिपुटी का भेद समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार रसास्वादन में भी यह भेद समाप्त हो जाता है। कवि-सृष्टि के अनुशीलन से अन्तःकरण में आनन्द का एकमात्र अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है जैसे ब्रह्मज्ञ ब्रह्म हो जाता है[११] उसी प्रकार आनन्द प्रधान काव्यानुशीलक भी रस-स्वरूप ही हो जाता है।

काव्यानन्द के एक ओर तो विधि-सृष्टि का लौकिकानन्द है दूसरी ओर ब्रह्मानन्द। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द के सदृश है। लौकिकानन्द सांसारिक पदार्थ परक है यह आनन्द कथमपि नहीं, आनन्दाभास है। काव्य के अध्ययन, श्रवण एवं नाटक के दर्शन से काव्यानन्द की प्राप्ति होती है। ब्रह्मानन्द ब्रह्मनिष्ठ होता है। यह आनन्द योगियों के द्वारा गम्य है। जिस प्रकार लौकिकानन्द वृत्तिगत होता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द वृत्तिगत नहीं होता उसकी

---

११. (क) 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—'छान्दोग्योपनिषद्

(ख) जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड

प्रतीति तो वृत्ति शून्यावगन्तव्य है। कवि-सृष्टि, विधि-सृष्टि, एवं योग-सृष्टि के मध्य में स्थित है, परन्तु कवि-सृष्टि की उन्मुखता ब्रह्मानन्द के प्रति है, यह तथ्य ध्यातव्य है।

ब्रह्मानन्द तो आत्मा का स्वरूप है, उसकी अभिव्यक्ति तुरीयावस्था में होती है। इस अवस्था में विषयी, विषय तथा द्रष्टा दृश्य सब कुछ भेद ब्रह्म-साक्षात्कार के समय समाप्त हो जाते हैं, यह इस प्रकार का आनन्द है, जिसके समान कोई दूसरा आनन्द नहीं है[१२]

काव्यानन्द लोकस्थ पदार्थों के अनवलम्बन से कवि प्रतिभाजन्य कल्पनामय पदार्थाश्रित होने के कारण विषयानन्द से अतिशय दूर एवं चिरस्थायी है। कवि-सृष्टि की विशेषता यह है कि कवि-सृष्टि में लोक तत्त्व साधारणीकरण के द्वारा सामान्य रूप को धारण करते हैं। उन-उन विशिष्ट गुणों के द्वारा यह कवि सृष्टि सार्वभौम उदात्त एवम् उत्तुङ्ग भावभूमि पर स्थित होती है। यह कवि-सृष्टि ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण है, एक ओर तो ब्रह्मानन्द का ही विशिष्टांश है और दूसरी ओर वह रति शोकोत्साह प्रभृति अनेक उपाधियों में विभक्त होने योग्य है।

लौकिकानन्द में मानव के रजोगुण एवं तमोगुण सम्पृक्त हैं। लौकिकानन्द में सत्त्व गुण को दबा दिया जाता है, परन्तु काव्यानन्द रजोगुण एवं तमोगुणको अभिभूत कर सत्त्वगुण का नैसर्गिक प्रस्फुटन है। इस प्रकार काव्यानन्द लौकिक आनन्द से तो उत्कृष्ट है ही, साथ ही स्वसारल्य एवं प्रेयत्व के कारण सर्वाधिक जनोपयोगी है। कवि-सृष्टि का अनुशीलन सुखसाध्य है और अव्यक्त ब्रह्म विषयक अनुशीलन कष्ट साध्य है।[१३] अव्यक्त विषय का अनुशीलन, अखण्डानन्द प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास देहाभिमानियों के लिए परम कष्ट साध्य है[१४] और अनेक विघ्नों से पूर्ण है।[१५] अतः कवि-सृष्टि विघ्न रहित होने के कारण योगियों की साधना से सरल कही गई है। लौकिकानन्दमूल विधि-सृष्टि से तो इसकी उत्कृष्टता पूर्व सिद्ध ही है।

उपर्युक्त विवरण को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कवि-सृष्टि आनन्द-मयी, जनसाधारणोपयोगी एवं विधि-सृष्टि से उत्कृष्ट है। कवि-सृष्टि में कारणों की परतन्त्रता नहीं है। इसमें तो कारण और कार्य का शाश्वत ऐक्य है। कवि-सृष्टि में सत्त्वगुण का प्राचुर्य है। सत्त्वगुण के प्राधान्य से यह सृष्टि सुख दुःख मोहस्वभावा विधि सृष्टि से सर्वथा श्रेष्ठ है। कवि-सृष्टि आलोकमयी है। इसे दीपक की लौ कहा जा सकता है और

---

१२. (क) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥ तैत्तिरीय उपनिषद् १।५
(ख) स एषः रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमोद्गीथः। छा० उ० ३।१३।७

१३. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। गीता १२।५

१४. श्रीमद्भगवद्गीता १२।५

१५. पुनि प्रत्यूह अनेक।—मानस उत्तरकाण्ड, दोहा १२२

विधि-सृष्टि सम्पूर्ण दीपक है अतः यह सहृदय सामाजिक जन संवेद्य एवं सुधीजन श्लाघ्य है। विधि-सृष्टि में सशरीर स्वर्गगमन असम्भव है, परन्तु कवि-सृष्टि में विलक्षणता के कारण यह सम्भव है। विधि-सृष्टि में आनन्ददायक पदार्थों का अपने कारणों से सम्बन्ध है और वे कारण भी सीमित हैं। विधि-सृष्टि में सौन्दर्य के तत्त्वों को नेत्रों से ही देखा जा सकता है, परन्तु कवि-सृष्टि में सौन्दर्य को देखा नहीं जाता, अपितु अनुभव किया जाता है। अतः कवि-सृष्टि में विनय भी सौन्दर्य है, यह तत्त्व अनुभव गम्य व इन्द्रियातीत है। कवि-सृष्टि में आनन्दायक पदार्थों का भी अभाव नहीं है और न वे अपने कारणों से ही निबद्ध हैं; यथा विधि-सृष्टि में सौरभ पुष्पों में ही हो सकता है, परन्तु कवि-सृष्टि में ऐसा कोई बन्धन नहीं है। कवि-सृष्टि विलक्षण, सौन्दर्यातिशायिनी, ह्लादैकमयी, प्रेय-श्रेय, लौकिकानन्द से अगम्य ब्रह्मानन्द सहोदर, परन्तु उससे भी विलक्षण है। कवि की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि से सर्वोत्कर्ष शालिनी है, अतः वाग्देवतावतार मम्मटाचार्य ने अपने कीर्त्ति स्तम्भ 'काव्य प्रकाश' में कवि-सृष्टि की विधि-सृष्टि से उत्कृष्टता दिखाते हुए मङ्गलाचरण में लिखा है—

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥"

—काव्यप्रकाश १।१

काव्यशास्त्र की उपादेयता : आधुनिक संदर्भ

लेखक—डॉ० मोहन चन्द

रीडर संस्कृत विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली

समकालीन काव्यधारा के विकास में काव्यशास्त्रीय मूल्यों का वैसा ही महत्त्व होता है जैसे समसामयिक समाज व्यवस्था के नियमन में युगीन समाजशास्त्रीय आचार संहिता का। काव्य और समाज की ये दोनों प्रवृत्तियां क्रमशः काव्यशास्त्र और समाज शास्त्र के सन्दर्भ में परस्पर इतना अन्योन्याश्रित रहती हैं कि यह भेद करना दुष्कर हो जाता है कि कब काव्य सर्जन की प्रवृत्तियों से काव्यशास्त्र प्रभावित हुआ ? और कब काव्यशास्त्र के परम्परागत मूल्यों से काव्य की रचनाधर्मिता प्रेरित हुई ? ऐसी ही स्थिति समाज के व्यवस्था परक और चिन्तनपरक ढांचे में भी देखी जाती है। पर इतना निश्चित है कि भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय धारा में समाज के शाश्वत और समसामयिक मूल्य जल में चन्द्रबिम्बवत् प्रतिबिम्बित होते आए हैं।[१]

समाज और साहित्य का यह ऐतिहासिक युगबोध यह सोचने को बाध्य करता है कि भारतीय काव्य शास्त्र की उपादेयता का एक समाज शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया जाए। आखिरकार साहित्य की प्रवृत्तियां एक काल विशेष के उपरान्त अपनी उपादेयता को कैसे रूपान्तरित करती हैं ? साहित्य के उद्भव तथा विकास के दौरान सर्व प्रथम चार वैदिक संहिताओं की ही रचना क्यों हुई ? उसके बाद ब्राह्मण और उपनिषद् वाङ्मय ही क्यों लिखे गए ? लौकिक साहित्य का आदि काव्य रामायण क्यों माना जाता है ? किन्तु काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र क्यों रचा गया ? भास ने तेरह नाटकों की ही रचना क्यों की ? कोई महाकाव्य या गीति काव्य क्यों नहीं रचा ? इसी प्रकार मध्यकालीन साहित्य साधना नीति काव्यों, सुभाषित काव्यों अथवा शतक काव्यों पर ही अधिक केन्द्रित क्यों रही ? वस्तुतः इन सारे प्रश्नों की छानबीन से एक समाजशास्त्रीय सत्य यह उद्घाटित होता है कि देश की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में काव्य प्रवृत्तियों का ह्रास और विकास होता है।[२] आज देश की मुख्य साहित्यधारा से संस्कृत काव्य कट गया है। उसके स्थान पर हिन्दी और आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य मुखरित हुआ है। वैसी ही स्थिति समकालीन समीक्षा शास्त्र की भी है। अंग्रेज उपनिवेश

---

१. डॉ० मोहन चन्द, जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज, दिल्ली, १९८९, पृ० १५-२४

२. वही, पृ० २४-३५

वादी सामाजिक मूल्यों से प्रेरित होकर आधुनिक समीक्षा शास्त्र पश्चिमी मूल का है जो साहित्य की सार्वजनीन और सार्वदेशिक आस्था को भी वर्गों और प्रान्तों में विभाजित कर के निरूपित करता है। इस अंग्रेजी काव्य शास्त्रीय चिन्तन के परिणाम स्वरूप हमारे देश के लब्धप्रतिष्ठ समीक्षाशास्त्री भी आभिजात्य साहित्य, लोक साहित्य और दलित साहित्य की दलबन्दी से आधुनिक आलोचना शास्त्र की स्थापना कर रहे हैं। अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि भारतीय समीक्षा सिद्धान्त उपेक्षित कर दिए गए हैं और उनके स्थान पर अप्रस्तुत विधान, बिम्ब योजना, मानवीकरण, युग बोध जैसी नवीन अवधारणाओं से साहित्यालोचन किया जाने लगा है। किन्तु यह सब इतनी अनियमितता और सिद्धान्त हीनता के साथ किया जा रहा है कि यह नहीं लगता कि भारतीय समीक्षा शास्त्र को वह वैज्ञानिक दिशा मिल सकी है जो प्राचीन भारत के काव्यशास्त्र के साथ टक्कर ले सके।

वस्तुतः आधुनिक समीक्षा के नवीन सिद्धान्त प्राचीन अलंकार सम्प्रदाय की ही अधूरी अवधारणाएँ हैं। आधुनिक समीक्षा शास्त्री अप्रस्तुत विधान, बिम्ब योजना, सादृश्यता, मानवीकरण की मनमानी व्याख्या इसलिए करना चाहते हैं ताकि वे काव्यशास्त्रीय आचार संहिता में जकड़ी हुई कविता कामिनी को स्वच्छन्दता प्रदान कर सकें। वे इन्हीं मान्यताओं को तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, रूपक, समासोक्ति अलंकारों के रूप में पारिभाषित करने से बचते इसलिए हैं ताकि वे भारतीय काव्य शास्त्र के ऋणी न बन सकें भले ही इस खाना पूर्ति के लिए उन्हें पश्चिमी काव्य शास्त्र से ही कर्ज क्यों न लेना पड़े।[३] आधुनिक समीक्षा शास्त्र के पश्चिमीकरण की पृष्ठभूमि राजनैतिक है।

आधुनिक समीक्षा शास्त्र में 'लोक साहित्य' की अवधारणा एक निराली ही मान्यता है। सिद्धान्त रूप से वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, नाटक आदि लोक साहित्य का ही प्राचीन भारतीय रूप है किन्तु आधुनिक समीक्षा शास्त्री इसे 'आभिजात्य साहित्य' की हेय अवधारणा मानता है तथा वास्तविक लोक साहित्य के आचार्य उन अंग्रेज सिविलियन और ईसाई मिशनरियों को मानता है जो इस देश में शासन करने की नीयत से लोक साहित्य का मूल्यांकन करने में लगे हुए थे[४]। सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल' नामक जिस शोध संस्थान की स्थापना की उसका एक राजनैतिक उद्देश्य था भारत के आंचलिक साहित्य का संग्रह करके भारतीय जन संस्कृति को

---

३. डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय, समकालीन आलोचना और साहित्य, दिल्ली, १९८८, पृ० ३७-४७

४. डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षोडशभाग: हिन्दी का लोक साहित्य, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१७, प्रस्तावना भाग, पृ० ७३-१०९

समझना। सन् १८५४ में जे० एबट ने पंजाबी लोक गीतों और लोक कथाओं का बिश्लेषण किया। सन् १८७१ में चार्ल्स ई० गोवर ने 'फोक साँग्स आव सदर्न इंडिया' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम कन्नड़, तेलुगु, कुर्ग, तमिल, केरल, मलयालम आदि दक्षिण भारत के लोक गीतों का संग्रह किया। डाल्टन द्वारा सन् १८७२ मे 'डेस्क्रिप्टिव एथ्नोलॉजी ऑव् बंगाल' नामक ग्रन्थ में बंगाली जन जातियों से सम्बद्ध लोक साहित्य की सामग्री प्रस्तुत की गई। सन् १८८६ में ग्रियर्सन ने 'सम भोजपुरी फोक साँग्स' नामक ग्रन्थ में भोजपुरी बिरहा, जँतसर, सोहर आदि लोक गीतों का संकलन प्रस्तुत किया। इसी प्रकार विलियम क्रुक नामक अंग्रेज सिविलयन द्वारा मिर्जापुर की कलक्टरी करते हुए 'नार्थ इंडियन नोट्स एण्ड क्वेरीज' नामक जिस पत्रिका का सन् १८९१ में प्रकाशन शुरू किया गया उसका उद्देश्य लोक साहित्य और उसमें प्रतिबिम्बित लोक संस्कृति की सामग्री प्रस्तुत करना था[५]।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के आंचलिक लोक साहित्य के संग्रहण में अंग्रेज विद्वानों का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए वह कम है। इन्हीं अंग्रेज विद्वानों के दिशा निर्देशन के बाद बंगाल में दिनेशचन्द्र सेन, बिहार में राय बहादुर शरच्चंद्र राय उत्तर प्रदेश में रामनरेश त्रिपाठी, गुजरात में झवेरचन्द मेघाणी आदि भारतीय विद्वान भी लोक साहित्य के संवर्धन और पुनरुद्धार में समर्पित भाव से जुट गए। देवेन्द्र सत्यार्थी लोक साहित्य का एक सशक्त व्यक्तित्व है जिसने देश के विभिन्न प्रान्तों में घूमकर लगभग तीन लाख लोक गीतों का संकलन किया।

हिन्दी तथा अन्य आंचलिक भाषाओं के साहित्य का विगत दो शताब्दियों में जैसा साहित्यिक्र मूल्यांकन हुआ है ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी युग चेतना अंग्रेजी उपनिवेशवाद से अनुप्राणित है। रामचन्द्र शुक्ल[६] प्रभृति समीक्षक यह नहीं चाहते थे कि शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य को साहित्य की दो विरोधी प्रवृत्तियों के रूप में पल्लवित किया जाए किन्तु परवर्ती हिन्दी समीक्षकों ने एकांगी भाव से लोक साहित्य के समीक्षा शास्त्र का विकास किया। प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र के परिप्रेक्ष्य को ये शिष्ट साहित्य का समीक्षा शास्त्र मानते रहे[७]। इस सत्य पर कभी विचार ही नहीं किया गया कि वास्तविक साहित्य

---

५. वही, पृ० २२-२७

६. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करण, संवत् २००८, पृ० ६००-६०१

७. तु० "बिहारी क्या समस्त रीति कवियों में मौलिक उद्भावना और आविष्कारक मौलिकता का अभाव है। इसलिए कि उन्होंने जो कुछ स्थापनाएं दी हैं उनके लिए वे काव्यादर्श (दण्डी), अलंकार शेखर (केशव मिश्र), काव्यकल्पलता वृत्ति (अमर), रस मंजरी (देवभानुदत्त), काव्य प्रकाश (मम्मट), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ) के ऋणी हैं।"—डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय, समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० १४४

किसी वर्ग विशेष या प्रान्त विशेष का नहीं होता। साहित्यकार पूरे देश व संस्कृति के लिए लिखता है। इसलिए 'शिष्ट साहित्य' या 'लोक साहित्य' जैसी कोई पृथक् पृथक् अवधारणायें नहीं होतीं। आज 'लोक साहित्य' आधुनिक साहित्य समीक्षा का एक लोकप्रिय अनुसंधान क्षेत्र है। हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं में रचित साहित्य इसी लोक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अपना एक नया समीक्षा शास्त्र स्थापित कर रहे हैं[८]। किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस नव निर्मित समीक्षा शास्त्र के उद्‌भावक आचार्य कौन हैं ? इसकी साहित्य-शास्त्रीय विचार शैली विशुद्ध भारतीय है या पश्चिम से निर्यात की गई है ?

अँग्रेज सिविलियन प्रशासक जब भारत के लोक साहित्य का संग्रहण कर रहे थे तो उनके समीक्षा सिद्धान्त काव्य शास्त्रीय न होकर मानव शास्त्रीय या भाषा शास्त्रीय थे। चूँकि इसी समय पश्चिम के बुद्धिजीवी 'मानवशास्त्र' (एन्थ्रोपोलोजी) तथा 'भाषा शास्त्र' (फाइलोलोजी) जैसे नवीन अध्ययन शाखाओं की स्थापना कर रहे थे इसलिए भारत में लोक साहित्य की खोज ने उन्हें तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को बनाने में विशेष सहायता दी है। वैरियर एलविन लोक साहित्य के मानव वैज्ञानिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहता है : "लोक गीत केवल इसलिए महत्त्वशाली नहीं है कि उनका संगीत, रचना विधान और प्रतिपाद्य विषय जन जीवन का अभिन्न अंग होता है, बल्कि उनका महत्त्व इससे भी अधिक है। इन मनोरम गीतों में, इन व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित दस्तावेजों में हमें मानव विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है। मानव विज्ञान वेत्ता को अपने सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए लोक गीतों को छोड़कर कोई दूसरा, सत्यनिष्ठ एवं विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सकता[९]।" डा० ग्रियर्सन एक भाषा शास्त्री थे। उन्होंने भी जब भोजपुरी लोकगीतों की आलोचना की तो उन्हें लगा कि "लोकगीत उस खान के समान हैं जिसके खोदने का कार्य अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ। यदि इन गीतों का प्रकाशन किया जाय तो इनकी प्रत्येक पंक्ति में ऐसी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होगी जिससे भाषा

---

८. तु० "लोक साहित्य में रस की प्रचुरता उपलब्ध होती है। परन्तु रस की सृष्टि के लिए जिन विभाव, अनुभाव और संचारियों की आवश्यकता होती है उनका इसमें अभाव है। लोकगीतों में कहीं-कहीं अलंकार अवश्य उपलब्ध होते हैं परन्तु इनकी योजना अनायासपूर्वक कहीं नहीं की गई हैं। लोककवि पिंगल शास्त्र का अध्ययन कर कविता करने नहीं बैठता अतः उसकी रचना में छन्द योजना का अभाव पाया जाता है।"—डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी का लोक साहित्य (पूर्व निर्दिष्ट), पृ० १४९

९. डॉ० वैरियर एलविन, फोक सॉंग्स ऑव् छत्तीसगढ़, भूमिका, वही पृ० १८१ में उद्धृत।

शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं[१०]।" लोक साहित्य के विशेषज्ञ गूमर[११] का यद्यपि स्पष्ट मत है कि लोक साहित्य की सहज और सुन्दर काव्याभिव्यक्तियां परम्परागत काव्य भाषा का भी प्रकाशन करती हैं किन्तु लोक साहित्य को भारतीय काव्य शास्त्रीय सन्दर्भों में विश्लेषित करने की प्रवृत्ति का उदय नहीं हो सका। प्रचारित यही किया गया कि भारत का लोक साहित्य चाहे पंजाबी हो या भोजपुरी, बंगाली हो या असमिया[१२] उसमें जन सामान्य के अंध विश्वास, टोने-टोटके, मंत्र-तंत्र, भूत-प्रेत विद्या वर्णित हैं[१३]।

पश्चिमी विद्वान् लोक साहित्य को 'फोकलोर' की अवधारणा द्वारा स्पष्ट करते हैं। डा० बार्कर ने यह मत व्यक्त किया है कि 'फोक' का अर्थ है 'असंस्कृत लोग' और 'लोर' का अर्थ है 'सीखा गया ज्ञान'। इस प्रकार 'फोकलोर' का अर्थ हुआ—'असंस्कृत लोगों का ज्ञान[१३]। आधुनिक हिन्दी लोक साहित्य का समीक्षक इन पश्चिमी अवधारणाओं से इतना प्रभावित हुआ कि उसने इन्हीं भ्रान्तियों की नींव पर लोक साहित्य का नवीन समीक्षाशास्त्र रच डाला। लोक साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय लोक साहित्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं: "सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यञ्जना जिस साहित्य में प्राप्त होती है उसी को लोक साहित्य कहते हैं।"[१४]

लोक साहित्य की ऐतिहासिक गवेषणा करते हुए आधुनिक समीक्षक वैदिक साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थ, रामायण, महाभारत आदि में 'गाथा' शब्द की तलाश में तो शोधरत है किन्तु इस समूचे साहित्य को वह 'लोक साहित्य' नहीं मानता। इस सम्बन्ध में उसने जो तथ्य जुटाए हैं वे भी अत्यन्त रोचक हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र में एक उल्लेख आता है :

> **"अथ गाथां गायति।**
> **सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती।**
> **यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्राजायामस्याग्रतः॥**
> **यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।**
> **तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥"[१५]**

---

१०. ग्रियर्सन, जर्नल ऑव् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, भाग ५२; खंड १, १८८३, पृ० ३२

११. एफ० बी० गूमर, द पापुलर बैलेड, पृ० ४१७

१२. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी का लोक साहित्य, प्रस्तावना, पृ० २६-२७

१३. वही, पृ० ९

१४. वही, पृ० १६

१५. पारस्कर गृह्य सूत्र, कांड-१, खंडिका-७

उपर्युक्त पद्य यदि 'गाथा' होने के कारण लोक साहित्य का उद्धरण है तो इसी काव्य शैली में रचित आभिजात्य या शिष्ट साहित्य लोक साहित्य क्यों नहीं हो सकता ? विचारणीय प्रश्न यह भी है कि आधुनिक समीक्षकों ने जब लोक साहित्य को सभ्यता से परे रहने वाले निरक्षरों का गीत घोषित कर दिया है तो पारस्कर गृह्य सूत्र की प्रस्तुत गाथा को लोक साहित्य का आदर्श कैसे मान लिया जाए क्योंकि इस गाथा में उन्नत संस्कृति ही नहीं, विश्व सृष्टि का दार्शनिक सिद्धान्त भी वर्णित किया गया है। स्पष्ट है लोक साहित्य का आधुनिक समीक्षक सैद्धान्तिक दिशाहीनता के दौर से गुजर रहा है। उसके पास केवल पश्चिमी समाजशास्त्र है, भारतीय काव्यशास्त्र नहीं।

यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के साहित्यिक दौर से भारतीय काव्य का आचार शास्त्र सदैव संघर्ष करता आया है। आधुनिक सन्दर्भ में भी इसकी दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ उभर कर आई हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति है समसामयिक काव्य लेखन की, जिसका समीक्षाशास्त्र प्रायः समकालीन राजनैतिक-सामाजिक परिवर्तनों से घटित होता है। समाज के उपभोक्तावादी नैतिक मूल्य ज्यों ज्यों बदलते रहते हैं त्यों-त्यों काव्य लेखन का स्वर भी प्रभावित होता रहता है। महानगरीय या आंचलिक संस्कृति इसका केन्द्र बिन्दु होती है। दशाब्दियों के अन्तराल से इसमें परिवर्तन की दिशा गतिशील रहती है किन्तु आधी या एक शताब्दी की अल्पायु में ही इस काव्य धारा की कायापलट भी हो जाती है। स्वतंत्रता पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर बीसवीं शताब्दी का आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखा गया साहित्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। दूसरी ओर परम्परागत साहित्य लेखन की एक मन्द गति भी प्रवाहित होती रहती है। आदि काव्य रामायण की गंगोत्री से इसका उदभव होता है। किन्तु समसामयिकता के आग्रह को सन्तुष्ट करना इसका परम उद्देश्य नहीं होता। भारतीय काव्यशास्त्र के मूल्य इसके नियामक सूत्र होते हैं। इसका रचनाविधान इतना प्राचीन होता है कि हजार वर्ष पूर्व रचित साहित्य से इसकी पहचान की जा सकती है।

ऐसा नहीं है कि परम्परागत साहित्य लेखन की प्रवृत्ति काव्य शास्त्र की लकीर की फकीर होती है। और न ही ऐसा है कि सामाजिक व राजनैतिक मूल्यों के प्रति सर्वथा उदासीन होकर इसका निर्माण किया जाता है। परन्तु समसामयिक साहित्य की तुलना में इसकी लोक प्रियता न्यून रहती है। आधुनिक संस्कृत साहित्य की समकालीन काव्य धारा इसका निदर्शन है। प्राचीन काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों को चरितार्थ करते हुए आज भी संस्कृत भाषा में काव्य की बहुविध विधाएं रची जा रही हैं। पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक

---

१६. तु० बिहारी की काव्य शैली पर यह विचार : "बिहारी दीर्घकाल से चली आ रही एक विशाल साहित्यिक परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर हैं। हाल की गाथा सप्तशती, अमरुक का शतक और गोवर्धन की आर्या सप्तशती इन्हें प्रिय है तथा इनका उन पर गहरा प्रभाव है।"—डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय, समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० १४४

और सामाजिक कथ्यों को आधार बनाकर आधुनिक संस्कृत कवि जब काव्य लिखता है तो उसका काव्य शास्त्र समसामयिक लेखकों से भिन्न होता है। भले ही वह आधुनिक समस्याओं से सीधा न भी जूझ रहा हो तो भी एक गौरवपूर्ण अतीत के काव्य सिद्धान्त उसे परम्परावादी बना देते हैं पर वस्तुतः वह वर्त्तमान को अतीत से जोड़ने का राष्ट्रीय दायित्व निभा रहा होता है।[१७] समसामयिक काव्य लेखन की एक विडम्बनापूर्ण विवशता यह भी है कि राजनैतिक और सामाजिक विसंगतियों के परिणामस्वरूप आधुनिकता एक विस्फोट के रूप में फूटती है। वह वर्त्तमान से सीधे संवाद भी करती है किन्तु समसामयिक मूल्य जैसे ही बदलते हैं तो समकालीन साहित्य भी एक इतिहास की धरोहर बन जाता है। इसलिए भारतीय काव्य शास्त्र ने जीवन मूल्यों की नैतिकता अथवा आदर्शवादिता के अनुरूप काव्य लेखन को प्रोत्साहित किया। सामाजिक मूल्य सीधे काव्य में उतर कर संवाद प्रति संवाद नहीं करते बल्कि काव्यशास्त्र की आचार संहिता की अनुमति से काव्य स्वर सामाजिकों तक पहुँचाते हैं।[१८] महाभारत मूलतः काव्य नहीं बल्कि इतिहास ग्रन्थ है। काव्य शास्त्र से यह अनुप्राणित नहीं बल्कि काव्य शास्त्र को इसने प्रभावित किया है। कालिदास ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल के इतिवृत्त को महाभारत या पुराणों में आए दुष्यन्त-शकुन्तला उपाख्यान पर आधारित किया तो उनके सामने अनेक प्रकार की काव्यशास्त्रीय समस्याएं थीं। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार एक धीरोदात्त नायक और चरित्रवान् नायिका ही नाटक को नेतृत्व दे सकते थे किन्तु दुष्यन्त और शकुन्तला के पौराणिक चरित्र स्वार्थ तथा वासना से प्रेरित थे। एक यथार्थवादी आधुनिक साहित्यकार होता तो वह इन्हीं भावनाओं को काव्य या नाटक के रूप में उपन्यस्त कर देता क्योंकि काव्यशास्त्र या नाट्यशास्त्र जैसा नियामक शास्त्र उसके पास नहीं।[१९] पर कालिदास ऐसा नहीं कर सकते थे। धीरोदत्त नायक की अनिवार्यता नाटक के लिए आवश्यक थी। इसलिए उन्होंने कथा के मौलिक स्वरूप में कुछ इस प्रकार के संशोधन किए जिनके परिणाम स्वरूप दुष्यन्त तथा शकुन्तला

---

१७. डॉ० सत्यव्रत शास्त्री, श्री कृष्ण सेमवाल प्रणीत भीमशतकम् की प्रस्तावना, दिल्ली संस्कृत अकादमी, १९९१, पृ० ९-१२

१८. तु० "दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।" नाट्यशास्त्र, १.११४

तथा "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।" काव्यप्रकाश, १.२

१९. तु० "लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्मात् लोकप्रमाणं हि कर्त्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ।।"
नाट्य०, २६.११३, ११९

का चरित्र पहले की अपेक्षा और उदात्त बन गया। यथार्थ को मिथ्या रूप से प्रस्तुत करना कालिदास का उद्देश्य नहीं था। उसे सुन्दर बनाकर सामाजिकों तक पहुंचाना ही उनकी नीयत थी। इस काव्य कल्पना में कवि को कितनी सफलता मिली, इसका प्रमाण तो यही है कि अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक विश्व की एक सर्वोत्कृष्ट साहित्य कृति मानी जाती है परन्तु इस काव्य कर्म में नाट्यशास्त्रीय आचार संहिता की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो साहित्य को एक समाजोद्धारक कला के रूप में प्रस्तुत करती है।[२०]

पश्चिमी प्राच्यविदों ने प्राचीन भारतीय साहित्य पर यह आरोप भी लगाया है कि भारतीय साहित्यकर्मी इतिहास चेतना से शून्य थे। यह आरोप एक प्रकार से सही भी है और गलत भी। सही इसलिए क्योंकि आधुनिक समीक्षक तिथियों और घटना क्रमों के सन्दर्भ में जिस इतिहास चेतना की आकांक्षा रखता है भारतीय काव्य शास्त्र ने उस अवधारणा को खारिज कर दिया।[२१] कारण स्पष्ट है कि साहित्यकार जब काव्य लेखन में प्रवृत्त होता है तो वह लोकोत्तर हो जाता है। साहित्यकार के लिए यह क्यों जरूरी होना चाहिए कि वह राजा हर्षवर्धन की या राजा कुमारपाल की दैनिक या वार्षिक डायरी का तिथिवार या घटनावार विवरण प्रस्तुत करे। उसका काव्य प्रयोजन तो तभी सार्थक हो सकेगा जब वह चतुर्वर्गफलप्राप्ति से अपने काव्य नायक का चरित्रांकन करे। भारतीय काव्य शास्त्र में साहित्य की महत्ता इतिहासकारों के लिए नहीं वरन् सामाजिकों के लिए मानी गई है।[२२] इतिहास का एक और पक्ष भी है जिसका सम्बन्ध अतीत के सांस्कृतिक मूल्यों से वर्त्तमान और भविष्य को मार्गदर्शन देने से है। इतिहास की यह दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र में विशेष रूप से प्रोत्साहित की गई है। यह शास्त्र निर्देश देता है कि राम के आदर्शों पर चलना चाहिए रावण के नहीं[२३]।

वैदिक तथा श्रमण दोनों परम्पराओं में प्राचीन इतिहास और पौराणिक आख्यानों को संगृहीत करना ही साहित्य की मूल प्रवृत्ति है। रामायण, महाभारत और पंचलक्षणात्मक विशाल पुराण-साहित्य ऐसी कालजयी रचनाएं हैं जिनसे न केवल संस्कृत साहित्य अपितु

---

२०. तु० "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"
—मालविकाग्निमित्रम्, १.४

२१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, लखनऊ, १९७८, पृ० ६६

२२. तु० "चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥" साहित्यदर्पण, १.१
तथा "धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥" नाट्य०, १.११५

२३. तु० "यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।" काव्यप्रकाश, १.२

आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य भी काव्य कथानकों को ग्रहण करता है। आधुनिक समीक्षक प्रान्तीय भाषाओं में रचे गए लोक गीतों, लोक कथाओं आदि को 'लोक साहित्य' की जो नवीन अवधारणाएँ देने में लगा हुआ है उनका भी मूल स्रोत रामायण, महाभारत, पुराणादि की लोक प्रचलित मान्यताएँ हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में भामह-दण्डी आदि से लेकर हेमचन्द्र तक महाकाव्य के लक्षणों का जो सतत विकास हुआ उसकी विशेषता यह भी थी कि युग परिस्थितियों के अनुरूप महाकाव्य के प्रतिपाद्य विषयों में राजमंत्रणा, दूत सम्प्रेषण, युद्ध प्रयाण, सलिल क्रीडा, मधुपान रतोत्सव आदि समाजधर्मी मूल्य जुड़ते रहे किन्तु सभी काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य की कथा को इतिहासाधारित होना एक अनिवार्य लक्षण माना है[२४]।

'साहित्य समाज का दर्पण है'—इस मान्यता के अनुसार काव्यशास्त्र और समाजशास्त्र एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। साहित्य और समाज की दो स्वायत्त प्रवृत्तियाँ जब काव्यमूल्यों और समाज मूल्यों के रूप में एक दूसरे से अनुप्राणित होने लगती हैं तो काव्यशास्त्र के सिद्धान्त ही उसमें संतुलन लाते हैं तथा काव्य की वैज्ञानिक दिशाओं के लिए भी मार्ग प्रशस्त करते हैं। पश्चिमी समीक्षा शास्त्र ने 'आर्ट फॉर आर्ट सेक' (कला कला के लिए) की अवधारणा का विकास किया जिसका तात्पर्य है केवल साहित्य के रचना-शिल्प की ही व्याख्या करना। पश्चिमी साहित्य में ही नहीं भारतीय मध्यकालीन कृत्रिम काव्य चेतना भी इस मान्यता से विशेष प्रभावित रही है। चित्रकाव्य और शब्दक्रीडा इस काव्य शैली के प्रधान गुण हैं। दूसरी ओर युगबोध से अनुप्राणित समीक्षाशास्त्र का भी प्रचलन आधुनिक काव्यशास्त्र की एक मुख्य प्रवृत्ति बनकर उभरी है। संस्कृतेतर भाषाओं में रचे साहित्य को इसी पद्धति से मूल्यांकित किया जाता है जिसमें काव्य के बाह्य साहित्यिक सौन्दर्य की समीक्षा करने के बजाय उसमें प्रतिपादित कथ्य और चरित्र चित्रणों को युगबोध की प्रासंगिकता के अनुरूप विश्लेषित करने की नीयत सर्वोपरि रहती है।

आज भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में काव्यशास्त्र की उपादेयता का इस दृष्टि से भी सर्वेक्षण किया जाना चाहिए कि साहित्य का वास्तव में मुख्य प्रयोजन क्या है। इसे यथार्थ का चित्रण मानकर ही समीक्षित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यथार्थ को तो व्यक्ति अपने चर्म चक्षुओं से ही देख रहा होता है। कोई साहित्यकार यदि इस भौंडे यथार्थ का ही चित्रण काव्य का प्रयोजन मानता है तो वह समाज पर कोई विशेष उपकार नहीं करने जा रहा। इसी प्रकार एक परम्परागत अलंकारवादिता का शब्द सौन्दर्य भी समाज के प्रति उदासीन भाव अपनाने का दोषी माना जा सकता है। पाश्चात्य विचारक प्लेटो काव्य को झूठ का पुलिंदा मानते थे इसलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य से कविजनों का बहिष्कार करने की नीति अपनाई। इधर भारत में भी ऐसे इक्के-दुक्के उल्लेख मिल जाते हैं जहाँ रङ्गकर्मियों को श्रमजीविवर्ग से दूर रखने का प्रावधान किया गया था। अर्थशास्त्र के

२४. डॉ० मोहन चन्द, जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज, पृ० ३२-३३

रचयिता कौटिल्य ने राज्य को निर्देश दिया है कि स्वांग रचने वाले नाटककारों की टोली से जनपदों को दूर रखा जाए।[२५] स्मृतिकारों ने भी 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' आदि विधानों से राजतंत्र को साहित्यकारों से सावधान किया[२६]। काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य आनन्दवर्धन ने इतिहास की वास्तविक घटनाओं पर काव्य रचने वाले लेखकों को सलाह दी है कि जब ऐतिहासिक घटनाओं के सन्दर्भ में रस की अनुकूलता खण्डित हो रही हो तो लेखक को चाहिए कि वह किसी अन्य कथा की कल्पना करके अपना काव्यानुष्ठान सम्पादित करे। पश्चिमी दार्शनिक अरस्तू का मत है कि इतिहास मूलक यथार्थ और काव्य सर्जन दो अलग-अलग विधाएँ हैं। इतिहास कहता है क्या हुआ है? जबकि काव्य संदेश देता है क्या होना चाहिए ?[२७]

यथार्थवादी और आदर्शवादी साहित्य लेखन की प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी होने के बाद भी समानान्तर रूप से चलती रहती हैं तथा इनसे आविर्भूत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में भी सहमति असहमति के स्वर मुखरित होते रहते हैं। उदाहरणार्थ कथा और आख्यायिका का विवाद भारतीय काव्य शास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है।[२८] किन्तु इस विवाद का विचार बिन्दु यह है कि वास्तविक इतिहास पर रचे साहित्य और कल्पना मण्डित साहित्य रचना में एक सैद्धान्तिक भेद माना जाए। भामह आदि काव्यशास्त्री कथा और आख्यायिका को गद्य काव्य के दो तात्त्विक भेद मानते थे। बाण भट्ट इस मान्यता के पक्षधर थे। इसलिए उन्होंने सम सामयिक कथानायक राजा हर्षवर्धन के इतिवृत्त को आधार बनाकर 'हर्षचरित' को आख्यायिका के रूप में प्रस्तुत किया और कल्पना प्रधान उपन्यास शैली में 'कादम्बरी' नामक कथा काव्य की सर्जना की। परन्तु दण्डी एक समन्वयवादी काव्यशास्त्री थे उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में कथा और आख्यायिका की अभिन्नता के समर्थन में तर्क दिए और साथ ही 'दशकुमारचरित' नामक गद्यकाव्य की रचना इस तरह से की कि उसमें 'कथा' और 'आख्यायिका' के लक्षण सम्मिलित रूप से घटित हो सकें। दण्डी का 'काव्यादर्श' एक संक्रान्ति युग की काव्य चेतना को समीक्षाशास्त्र से जोड़ता है। उसकी स्पष्ट मान्यता है कि काव्य का प्रयोजन कटु यथार्थ का चित्रण करना ही नहीं होना चाहिए बल्कि वह राम आदि चरित्रों का अंकन करके मूल्यवान् इतिहास सत्यों को भावी पीढ़ी तक पहुँचाने का भी काम करता है—

> **"आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।**
> **तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥"**[२९]

---

२५. तु० "नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः।"
अर्थशास्त्र २.१

२६. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० ६६

२७. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० ६७

२८. काव्यादर्श, १ २३-३०, काव्यालङ्कार, १.२५-२७

२९. वही, १.५

काव्य शास्त्र की उपादेयता का एक विचार पक्ष यह भी हो सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों की उन अवधारणाओं का सर्वेक्षण किया जाए जिन्हें माना तो गया है काव्य प्रयोजन किन्तु जन कल्याण की भावना से वे समाज का भी प्रयोजन साध रही थीं। समाज की व्यवस्थित अध्ययन शाखा 'समाज शास्त्र' कहलाती है। इस अध्ययन शाखा की नींव उन्नीसवीं शताब्दी में पड़ी किन्तु भारत में बहुत प्राचीन काल से ही 'समाज शास्त्र' की पूर्ति 'काव्य शास्त्र' द्वारा की जा रही थी। साहित्य और समाज में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने का तात्पर्य ही यही है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। समाज शास्त्र की परिभाषा के अनुसार "समाज उन दो या दो से अधिक मनुष्यों के समूह का नाम है जिसमें जन-कल्याण की भावना से मानव व्यवहारों का सम्पादन होता है।"[३०] भारतीय काव्याचार्यों ने भी 'साहित्य' की परिभाषा देते हुए वाणी और अर्थ के 'सहित' भाव को मुख्य लक्षण माना।[३१] यह 'सहित'—भाव समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति का है जिससे हितकारिता और संगठनपरकता दोनों अभीष्ट हैं। समाजशास्त्र की एक दूसरी मान्यता है कि 'समाज' की अवधारणा मनुष्य वर्ग तक ही सीमित होती है पशुवर्ग में नहीं। भारतीय काव्य परम्परा भी इस आधुनिक परिभाषा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर रही है—

> "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः
> तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।।[३२]

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना किसी दार्शनिक या समाजशास्त्री की मान्यता नहीं बल्कि काव्य का ही विजयघोष है। काव्य के आनन्द में कोई भेदभाव या अपना पराया का विलगाव-अलगाव नहीं। शिष्ट और अशिष्ट, आभिजात्य और दलित, राजा और प्रजा, अमीर और गरीब सब लोग उसका समभाव व समरसता से आनन्द उठाते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र ने साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा इस मानवोपयोगी विचार का आविष्कार किया है—

> **अयं निजः परो वेति गणना लघचेतसाम्।**
> **रसभावप्रसक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्[३३]।**

---

३०. गाविन (आर० डब्ल्यु), अवर चेंजिग सोशल ऑर्डर, बोस्टन, १९५३, पृ० ९

३१. तु० "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" काव्यालङ्कार, १.१६
"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।" काव्यमीमांसा, पृ० ५ तथा न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्।" व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ३६

३२. भर्तृहरिकृत नीतिशतक

३३. सुभाषित रत्न भाण्डागार, प्रकरण, २, उदार प्रशंसा, ९, पृ० ७३

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में जिस रस निष्पत्ति सिद्धान्त का आविष्कार हुआ है और परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उसे जो जो व्याख्यायें प्रदान की हैं उनका मुख्य सार यह है कि काव्य एक लोकोत्तर वस्तु है उसकी अनुभूति या आनन्द भी विलक्षण होता है। काव्य का पाठक और नाटक का दर्शक दूसरों के सुखों से सुखी और दुःखों से दुःखी होता है।[३४] भारतीय काव्य शास्त्र ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया कि सामाजिक सौहार्द और सद्भावना जगाने के लिए कवि की कलम में जादू और चमत्कार दोनों हैं रस की अलौकिकता तथा उससे उत्पन्न होने वाली 'ब्रह्मास्वादसहोदर' की स्थिति रस सम्प्रदायवादियों की एक लोकप्रिय अवधारणा है। यह अवधारणा भारतीय काव्यशास्त्र की ही देन है।[३५] पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू भी इससे तत्र सहमत प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं कि काव्य और इतिहास दो भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हैं। काव्य इतिहास की अपेक्षा विशिष्ट और उन्नततर अभिव्यक्ति है। इतिहास दृष्टि या यथार्थवादी साहित्य दृष्टि कवि का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो भारतीय काव्य शास्त्री नायक और खलनायक की एक शिल्प वैधानिक प्रक्रिया का निर्देश नहीं करते। काव्यादर्श में कवि को यह आचार संहिता नहीं दी जाती कि वह सर्वप्रथम खलनायक के गुणों और उसके शौर्य आदि का यथातथ्य वर्णन करे तदनन्तर उस पर नायक की विजय प्रतिपादित करे[३६]। किन्तु इतिहास या यथार्थ में स्थिति इस से भिन्न भी हो सकती है। नायक की अपेक्षा खलनायक विजयी ही सकता है। लोक में तथ्य पाने के लिए इतिहास की अपेक्षा होती है किन्तु रस का उत्पादक काव्य इतिहास से भिन्न होता है क्योंकि साहित्य का मूल उद्देश्य है गुणों का सद्भाव और दोषों का परिहार[३७]। इसीलिए काव्य शास्त्र में औचित्य सिद्धान्त की स्थापना हुई जिसका मुख्य प्रयोजन है ऐसी कथावस्तु का चयन करना जो सरस हो, नीरस नहीं। इसलिए क्षेमेन्द्र ने रससिद्ध काव्य का प्राणतत्त्व 'औचित्य' को माना—

---

३४. तु० "करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।" साहित्यदर्पण, ३/४ तथा दृष्टव्य पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, दिल्ली, १९६६, पृ० ४३८-४५७

३५. पी० पी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४३८-४४९ तथा तु०— "सामाजिकैस्तु रस्यन्ते यस्मात्तस्माद्रसाः स्मृताः। भावप्रकाशन, २, पृ० ४६

३६. तु० "वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः।" काव्यादर्श, १.२२

३७. तु० "शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्टयादेव।"
व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४

तथा "शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशं गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नायकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता॥" ध्वन्यालोक, ३ पृ० २२४

"औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"[३८]

उधर आनन्दवर्धन कहते हैं कि साहित्य में औचित्यपूर्ण सत्य वस्तु का चुनाव ही रस का पोषक है। औचित्य के अभाव से रसभंग होता है पाठकों का कवि से विश्वास ही उठ जाता है। अतएव 'औचित्य' रससिद्धान्त पर अवलम्बित एक उपनिषद् अर्थात् रहस्य है—

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥"[३९]

कविवर भिखारीदास ने संस्कृत काव्य शास्त्री मम्मट आदि का समर्थन करते हुए कहा है काव्य शास्त्र द्वारा निर्मित अंग प्रत्यंगों से काव्य रथ चलता है। शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास ऐसे काव्यशास्त्र प्रोक्त काव्य हेतु हैं जिनकी समाराधना से इस काव्य रथ को गति मिलती है—

"काव्य को रीति सिखी सुकविन सौं देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
'दास जू' जा में एकत्र ये तीनि, बनै कविता मनरोचक तातैं॥
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातै॥"[४०]

भारतीय काव्य परम्परा कवि को निरंकुश मानती है। प्रजापति के समान वह यथेच्छ काव्य जगत् का निर्माण कर सकता है।[४१] किन्तु इसके पीछे वास्तविकता यह भी है कि प्रजापति का सर्जनकार्य कर्मसिद्धान्त पर अवलम्बित होता है तथा कवि भी एक निश्चित काव्य सिद्धान्त की मर्यादा के भीतर रहकर अपने काव्य कर्म का अनुष्ठान करता है। काव्य रचना और उसका समीक्षण दो भिन्न भिन्न कार्य हैं। कविता कामिनी का पिता यदि कवि है तो उसका सौन्दर्य भोगी समीक्षक पति तुल्य है।[४२] तरु जैसे पुष्पों को उत्पन्न करता है पर उसकी चतुर्दिक सुगन्ध वायु द्वारा ही प्रसारित होती है ठीक उसी प्रकार कवि पद्य प्रसूनों का उत्पादक मात्र है उसका प्रसारण और संवर्धन तो आलोचक ही करते हैं—

---

३८. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० ६५ में उद्धृत

३९. ध्वन्यालोक, पृ० १८०

४०. भिखारीदास कृत काव्य निर्णय, संस्कृत आलोचना, पृ० ३४ में उद्धृत।

४१. तु० "अपारे काव्यसंसारे कविरेक: प्रजापति:।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥"
ध्वन्यालोक, पृ० २७८, टि० ३ पर उद्धृत

४२. तु० "कवि: करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पण्डिता:।
सुन्दर्या अपि लावण्यं पतिर्जानाति नो पिता॥"
सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ३३

"कविः करोति पद्यानि लालयत्युत्तमो जनः ।
तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम् ।।"[४३]

कवि और समीक्षक वस्तुतः दो स्वायत्त प्रवृत्तियाँ हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय कहते हैं : "काव्य सर्जन और समीक्षण ये दो भिन्न भिन्न व्यापार हैं इनके आधार को भी भिन्न होना चाहिए । शालग्राम शिला सोना पैदा करती है और कसौटी का पत्थर उसे कसता है । दोनों पत्थर हैं और रंग में दोनों ही काले हैं परन्तु एक सुवर्ण का उत्पादक है और दूसरा उसका परीक्षक है ।"[४४]

दण्डी, हेमचन्द्र आदि कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं जो एक प्रसिद्ध काव्य कर्मी होने के साथ साथ समीक्षा शास्त्री भी थे किन्तु सामान्यतया देखा यही जाता है कि भारतीय काव्य धारा और उसके समीक्षा शास्त्र का दो भिन्न भिन्न धाराओं के रूप में विकास हुआ । 'काव्यादर्श' में समीक्षक के लिए काव्य शास्त्र से अवगत होना आवश्यक माना गया है —

"गुणदोषावशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ।।"[४५]

कवि कालिदास ने भी यह स्वीकार किया है कि कवि का प्रयोग विज्ञान तब तक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है जब तक विद्वान् पारखी उससे संतुष्ट न हों ।[४६]

भारतीय दृष्टि यह रही है कि साहित्य सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने वाला एक सशक्त माध्यम है किन्तु उसकी यह धारणा भी है कि युग के राजनैतिक व धार्मिक संवेग उसमें सीधे न अवतरित हों क्योंकि यह प्रक्रिया अस्थायी होती है और साहित्य एक शाश्वत मूल्यों की अभिव्यक्ति है । काव्य शास्त्र उसमें साधारणीकरण का कौशल लाता है

आचार्य मम्मट ने तो कवि की सृष्टि को प्रजापति की सृष्टि से भी कहीं अधिक विलक्षण और आनन्ददायक माना है । प्रजापति की सृष्टि नियतिरचित नियमों के अनुकूल होती है । वह परमाणुओं और छह रसों पर भी अवलम्बित है किन्तु कवि का नव रस सर्जित काव्य नियतिकृत नियमों से रहित पूर्णतया स्वतंत्र और आह्लाद कारक होता है—

"नियतिकृत-नियमरहितामाह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।"[४७]

---

४३. वही, पृ० ३३
४४. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० २६
४५. काव्यादर्श, १.८
४६. अभिज्ञानशाकुन्तल, १.२
४७. काव्यप्रकाश मंगल श्लोक

काव्य रचना कवि और सहृदय अर्थात् सामाजिक के बीच सेतु है। कवि अपनी प्रतिभा से सहृदय को बाँधने का जो वाक् प्रपञ्च रचता है कुन्तक ने उसे ही 'वक्र कवि व्यापार' की संज्ञा दी है। मम्मट ने इसे 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि कर्म' शब्द से परिभाषित किया है। श्रीभट्टतौत के मत में यह काव्य प्रतिभा नवीन अर्थ के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी मता।"[४८] पर ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन कहते हैं कि सहृदय या सामाजिक काव्य का वास्तविक ग्राहक और उपभोक्ता होता है। इसलिए कवि पर एक महनीय सामाजिक दायित्व आता है कि वह अपने ग्राहक को अतृप्त कामनाओं, निराशाओं और असंतोष की वटिकाओं का सेवन कराए ? या कान्तासम्मित उपदेश शैली में जीवन मूल्यों का रसायन पिलाए ? सहृदय को तो काव्यानुशीलन के निरन्तर अभ्यास से निर्मल हृदय बनना है और वर्णनीय काव्य वस्तु के साथ तन्मयता रखनी है—

"येषां काव्यानुशीलताभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे।
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।।"[४९]

डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय ने आधुनिक समकालीन हिन्दी कहानीकारों के अतृप्त काम सम्बन्धों के चित्रण को ही प्रमुखता दी है। काम तृप्ति को इस निर्लज्जता की सीमा तक पहुँचा दिया गया है कि पत्नी और बेटी में भी अन्तर मिट जाता है। 'शिनाख्त' कहानी इसका उदाहरण है।[५०] आधुनिक आलोचक इसे पुरुष प्रधान समाज की कुण्ठा के रूप में निरूपित कर रहा है। कीर्ति केशर की टिप्पणी है : "पिता और पति के लिए पुत्री या पत्नी एक शीशे के गिलास की तरह है जिसमें ये लोग चाहें तो पानी पी सकते हैं, चाहें तो शराब, चाहें तो खून भी पी सकते हैं फिर भी पिता या पति की 'शिनाख्त' नहीं भूलती।[५१] दूसरी ओर इस मानसिकता का समाज शास्त्रीय औचित्य इस तरह भी सिद्ध किया जा रहा है कि दाम्पत्य जीवन में नारी का मन कामसुख भोगने के लिए ललकता रहता है वे कामसुख से वंचित रहती हैं।[५२] आधुनिक हिन्दी कहानियों और उपन्यासों में अधिकांश रूप से विकृत यौन सम्बन्धों का ज्वार भाटा उभारा गया है पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या साहित्यकार की यह समाज सेवा है ? या पश्चिमी फ्रायडवाद को साहित्य में उतारने की सस्ती लोकप्रियता ?

भारतीय काव्य परम्परा ने ऐसे साहित्य लेखन को 'कुकाव्य' की संज्ञा दी है। राजसेवा में निरत एवं वित्तालंकार से युक्त कविता वेश्या तुल्य है—

---

४८. काव्यकौतुक, पृ० २१
४९. अभिनवगुप्त विरचित लोचन, पृ० ११
५०. डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय, समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० ६७-६९
५१. वही, पृ० ६८
५२. वही, पृ० ६९

"कविभिर्नृपसेवासु वित्तालंकारकारिणी।
वाणी वेश्येव लोभेन परोपकरणीकृता।।"[५३]

'सुभाषित रत्न भांडागार' के अनुसार कुकवि रागाधिष्ठित होते हैं तथा कोकिल के समान उनका कामभाव वाचाल रहता है—

"प्राय: कुकवयो लोके रागाधिष्ठितदृष्टय:।
कोकिला इव जायन्ते वाचाला: कामकारिण:।।"[५४]

साहित्य सर्जन तथा उसका समीक्षाशास्त्र युगीन काव्य मूल्यों का निर्धारण करता है किन्तु इन दोनों को जन सामान्य के प्रति दायित्व पूर्ण भी होना चाहिए। भारतीय काव्य धारा के सम्बन्ध में मुख्य दायित्व यह है कि पश्चिमी जीवन् मूल्यों के आधार पर साहित्य की समीक्षा करने वाले टारेन्स, मैडनिक, क्यूबे, इरविंग-ए टेलर आदि विद्वान ही सर्जनात्मक काव्य के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में न स्वीकारे जायें बल्कि प्राचीन भारत में काव्यशास्त्रियों की एक जो दीर्घ परम्परा रही है उससे भी बहुमूल्य विचार ग्रहण किए जायें। तीव्र हवा के झोंके के बिना यह नहीं पता चलता है कि कौन दीप है और कौन मणिदीप? उसी प्रकार सुदृढ़ काव्य परीक्षा के बिना यह जानना कठिन है कि कौन सामान्य कवि है और कौन महाकवि?

"नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परोक्षां, ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेष:।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण तत्त्वेन वेत्ति शिखिदीप-मणिप्रदीपौ।।"[५५]

भारतीय काव्य दृष्टि आलोचक को तो महत्त्वपूर्ण स्थान देती ही है किन्तु उसकी यह आकांक्षा भी है कि काव्य का पाठक भी रसिक ही हो। कोई कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि वह अपने पापों का कोई भी फल सह सकता है किन्तु यह दण्ड सहने के लिए असमर्थ है कि अरसिकों के समक्ष कविता सुनानी पड़े—

"इतर-पापफलानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।।"

---

५३. सुभाषितरत्नभाण्डागार, (कुकवि निन्दा), पृ ३८

५४. वही, पृ० ३८

५५. कवि मंखक—उक्ति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत समालोचना, पृ० २५ में उद्धृत

काव्यप्रयोजनानि

लेखकः—**प्रोफेसर हरिनारायण दीक्षितः**
संस्कृतविभागाध्यक्षः, कुमायूँ विश्वविद्यालयः,
नैनीतालः (उ० प्र०)

स्वार्थपूर्णेऽस्मिन् संसारे एतादृशः कश्चिदपि प्राणी नयनपथं नायाति, यः प्रयोजनं विनैव किमपि कार्यं कुर्यात्। इदमनुभूयैव केनापि अभिरूपेण कथितमस्ति यत् 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते' इति। अतः काव्यसर्जनासदृश अतिमहति कार्ये प्रयोजनं विना कस्यचिदपि प्रवृत्तिः सुतरामसम्भवा एवास्तीत्यत्र मन्ये न केषामपि व्यावहारिकधीजुषां विसंवादो भविष्यति।

अहं पश्यामि यदास्माकीने काव्यशास्त्रे पुरातनकालादेव काव्यप्रयोजनेषु विचारो विधीयमानोऽस्ति बुधैः। अस्यां विचारमालायां सर्वप्रथमं भरतमुनिमतं मन्यते। तदीये नाट्यशास्त्रे समुपलभ्यमानं तत्कृतं काव्यप्रयोजनविवेचनमत एवात्र मयापि सर्वप्रथमं प्रस्तूयते—

'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥'[1]

स्पष्टमाभाति यद् भरतमुनेः काव्यप्रयोजनविषयको दृष्टिकोणो व्यापकोऽस्ति। स दुःखिनां श्रमश्रान्तानां च मनोरञ्जनं तु काव्यप्रयोजनं मन्यते एव, किन्तु तेन सहैव धर्मबुद्धिप्रचारं, यशोवृद्धिकामनाम्, आयुषो रक्षाभावनां, बुद्धिविशदतां तथा लोकोपयोगिसन्देशवाहकतामपि काव्यप्रयोजनत्वेन संख्याति। वस्तुतोऽस्य अनुभवोऽपि सर्वाङ्गीण आसीत्। अत एवानेन मानव-मनोभूमिसुलभानां भावानां विशदानुभवं विधायैव व्यापकरूपेण काव्यप्रयोजनानि निश्चितान्यासन्।

अथाग्रे समायाति काव्यशास्त्रज्ञपितामहो भामहो यो लिखति स्वकीये काव्यालङ्कारे यद्—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥"[2]

---

१ नाट्यशास्त्रम्, अध्यायः १, कारिके ११४-११५

२. काव्यालङ्कारः, १।२

अयमाचार्यो धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टये तथा निखिलासु कलासु प्रवीणतालाभं, कीर्त्ति तथा प्रीतिं काव्यसर्जनाप्रयोजनेषु अजीगणत् । यद्यपि भामहाचार्येण अस्यां कारिकायां कविमनसि वर्तमाना कीर्त्तिकामना, आनन्दभावना, समाजोपयोगिनी पुरुषार्थचतुष्टयचातुरी, चतुःषष्टिकलानैपुणी च काव्यसर्जनाप्रयोजनसीमनि परिसंख्याताः सन्ति; किन्त्वग्रे चलित्वा तेन काव्यप्रयोजनेषु कीर्त्तिरेव भूयो भूयः प्रशंसितास्ति । एतेन सिद्धयति यत्स काव्यप्रयोजनेषु कीर्त्तिं प्रधानं प्रयोजनं मन्यते । अस्मिन् सन्दर्भे स लिखति—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी ।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।।
अतोऽभिवाञ्छता कीर्त्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।।[3]

वामनाचार्यदृष्टौ काव्यसृष्टेरुभे एव प्रयोजने स्तः । तयोरेकं दृष्टप्रयोजनम्, अन्यच्च अदृष्टप्रयोजनम् । तन्मते दृष्टप्रयोजनं प्रीतिरस्ति, अदृष्टप्रयोजनं च कीर्त्तिः । यथाहि स लिखति स्वीये काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिसंज्ञे ग्रन्थे यत् "काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्त्तिहेतुत्वात्[4] इति ।

किन्तु कीर्तिरूपे काव्यप्रयोजने अस्यापि विशिष्टं ध्यानमासीत् । अतएव स्वीयमिदं सूत्रं विवृण्वन् सोऽग्रे लिखति—

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्त्तिवर्त्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ।।
कीर्त्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ।
अकीर्त्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ।।
तस्मात्कीर्त्तिमुपादातुमकीर्त्तिञ्च निर्बर्हितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ।।"[5]

काव्यालङ्कारकारो रुद्रटाचार्यस्तु काव्यप्रयोजनेषु विस्तरेण विचारं चकार । तदीया धारणासीत् यत् काव्यसर्जनया आकल्पमनल्पं यशः प्रसरति ; महीयान् धर्मो भवति ; अर्थो लभ्यते ; कामजं मोक्षजं च सुखमनुभूयते; विपदः शाम्यन्ति, चतुर्वर्गविषयकं ज्ञानं सरसतया वितीर्यते; अन्यदपि च यद् यदभीष्टं भवति, तत्तत्सर्वं प्राप्यते । यतोऽहि तस्य दृष्टौ काव्यसर्जनाप्रयोजनानामानन्त्यमपि विद्यते । अस्मिन् सन्दर्भे स लिखितवानस्ति—

---

३. स एव, १।६-८

४. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, १,१,५

५. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः१,१,५

"ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥"
"अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र॥
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥"
"ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥"
"कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य।
कः खलु निखिलं कलयत्यलमलघुयशोनिदानस्य॥"[६]

किन्तु प्रतीयते यत्कल्पान्तस्थायियशः-प्राप्तिरस्यापि दृष्टौ सर्वेषु काव्यप्रयोजनेषु प्राधान्यं लभतेतमाम्। यतोहि अयमिदं साग्रहं निवेदयामास यत्—

"स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम्।
कल्पान्तस्थायि यशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात्॥
अमरसदनादिभ्यो भूता न कीर्त्तिरनश्वरी
भवति यदसौ संवृद्धापि प्रणश्यति तत्क्षये।
तदलममलं कर्त्तुं काव्यं यतेत समाहितो
जगति सकले व्यासादीनां विलोक्य परं यशः॥"[७]

ध्वन्यालोकरचयिताऽऽनन्दवर्धनाचार्यो ध्वनिनिरूपणप्रयोजनं प्रतिपादयन्नाह—"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्"[८] इति। एतेन सिद्ध्यति यत्तस्य दृष्टौ सहृदयमनःप्रीतिरेव काव्यस्यापि परमं प्रयोजनमासीत्। तदीयतत्कथनस्य लोचनाख्यां विख्यातां व्याख्यां प्रकुर्वन् श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्योऽपि कविकृते कीर्त्तिप्रीत्योः तथा पाठककृते व्युत्पत्तिप्रीत्योः प्रीतिमेव प्रमुखं काव्यप्रयोजनं निर्धारयति। यतो हि तस्याभिप्रायोऽस्ति यत् कवेः कीर्त्तिकौमुदी यथा यथा प्रसरति, तथा तथा तदीये हृदये प्रीतिपाथोधिरुज्जृम्भते। एतस्मात्सिद्ध्यति यत्कविहृदये विद्यमाना काव्यसर्जनाजनितकीर्त्तिकामनापि अन्ततोगत्वा तदीयस्वान्तः सुखायैव संजायते। एवमेव काव्यपाठकस्य व्युत्पत्तिर्यथा यथा वर्धते, तथा तथा तदीये हृदये प्रीतिरेव प्रस्फुटति। एतेनापि संसिद्ध्यति यत् काव्यपाठकस्य मनसि वर्तमाना काव्यानुशीलनेन

---

६. काव्यालङ्कारः, अध्यायः १; कारिकाः ४,७,८; अ० १२, कारिका ५१; अ०—१ कारिका—११

७. स एव, अध्यायः १; कारिके, २१-२२

८. ध्वन्यालोकः, १-१

व्युत्पत्तिप्राप्तिभावनापि तत्प्राप्त्यनन्तरं तत्प्रीतिमेव जनयतीतिध्वन्यालोकलोचनाध्यायिनां स्वाध्यायिनां यद्यपि नास्ति परोक्षम्, तथापि मनस्तोषाय तदुक्तमत्रापि प्रस्तूयते—

"तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह "कीर्त्तिं स्वर्गफलामाहुः" इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥" इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।"[९]

आचार्यकुन्तको वक्रोक्तिजीविते काव्यप्रयोजनप्रतिपादनप्रसङ्गे लिखति—

"धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥"[१०]

कुन्तकोऽभिप्रैति यद् धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयस्य प्राप्तिः, हृदयाह्लादनं, लोकव्यवहारनैपुण्यं, चित्तचमत्कारश्चेति काव्यप्रयोजनानि सन्ति। न जाने कथमयं कीर्त्तिं काव्यप्रयोजनेषु नैव परिसंख्यातवान्। इतरथा तु अस्यापि काव्यप्रयोजनपरिसंख्यानम् अनुभूतिपरकमेव आभाति।

अथायाति सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कारकारो महाराजो भोजदेवः। अयमपि कीर्त्तिप्रीती एव काव्यप्रयोजनत्वेन अङ्गीकरोति। तेनोक्तमस्ति यत्—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"[११]

अनेन यत्किमप्यलेखि, तत्सर्वं कीर्त्तये स्वान्तः प्रीतये चैवालेखि। यतोहि भूपतित्वात् कीर्त्तिप्रीतिभ्यामितरत्किमपि तत्कृते अप्राप्यं नासीत्। प्रतीयते अत एव तेन केवले कीर्त्तिप्रीती एव काव्यप्रयोजनत्वेन परिगणिते स्तः।

अथागच्छति मम दृष्टौ काव्यशास्त्रकाननकेसरिणो मम्मटाचार्यचरणाः। इमे स्वकीये काव्यप्रकाशे लिखन्ति—

---

९. स एव, प्रथम उद्योतः, पृ. ६०-६१
१०. वक्रोक्तिजीवितम्, १।३-५
११. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, १।२

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।[१२]

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचार-परिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्" ।[१३]

अनेनोद्धरणेन स्पष्टं भवति यन्मम्मटाचार्यमतेन काव्यप्रयोजनानि षट् सन्ति । यथाहि—(१) यशोलाभः, (२) धनप्राप्तिः, (३) व्यवहार (लोकाचार) परिज्ञानम्, (४) अमङ्गलनिवारणम्, (५) स्वान्तः सुखोपलब्धिः, (६) सरसतया उपदेशभावना च । वस्तुतस्तु मम मनसीदं परिस्फुरति यद् वाग्देवतावतारेण श्रीमम्मटाचार्येण स्वपूर्ववर्त्तिनां समसामयिकानां च सर्वेषामेव काव्यशास्त्राचार्याणामभीष्टानि काव्यप्रयोजनानि सम्यग्विश्लिष्य स्वयं च कवीनां महाकवीनां च जीवनचर्यां मनोभावनां च सम्यगनुभूय विमृश्य च समन्वित-रूपेण काव्यप्रयोजनानि निर्धारितानि सन्ति । अत एव तन्निर्धारितेषु काव्यप्रयोजनेषु अन्या-चार्यनिर्धारितानां काव्यप्रयोजनानामपेक्षया भूयसी सर्वाङ्गीणता तथ्यात्मकता च दरीदृश्यते । यतोहि को नामैतादृशो महाकविः कविर्वा विद्यते, यो "जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः । नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्"—इत्याकर्ण्य यशोऽवाप्तये काव्य-सर्जनायां प्रवृत्तो न भवेत् ? किन्तु अर्थप्रधाने युगे अर्थोपासनापरित्यागोऽपि नितरां दुष्करो-ऽस्ति । कविभ्योऽपि धनस्यावश्यकता भवत्येव । अतस्तेषां मनसि यदि धनोपार्जनाय काव्य-निर्माणकामना जायते, तर्हि न काप्यनौचिती तत्र । साम्प्रतन्तु अहं पश्याम्येव यदनेकेषां कवीनां महाकवीनां च कविकर्मैव जीविकास्ति । एवमेव केन सह कथङ्कारं व्यवहरणीयम् ? कुत्र किं कीदृशं च विधेयम् ? साधारणेषु असाधारणेषु च जनेषु कीदृशो व्यवहारो विधा-तव्यः ? इत्यादिकस्य सर्वविधस्यापि लोकाचारस्य परिज्ञानं काव्याद् भवतीत्यत्रापि कः संशयीत ? मन्ये, न कोऽपि संशयीत । यतोहि लोकाचारविचार-व्यवहारविहीनोऽपि जनः काव्यानुशीलनेन सर्वविधलोकाचारविचारव्यवहारविद् बोभूयते, इति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । अनेनैव प्रकारेण अमङ्गलनिवारणस्यापि काव्यप्रयोजनत्वे न कापि संशीतिरुत्पद्यते । प्रायेण स्तोत्रकाव्यानां सर्जना तु एतदर्थमेव विधीयते । तेषां निर्माणेन नैत्यिकपाठेन वा तत्सम्बद्धो देवः प्रसन्नो भूत्वा निर्मातुः पाठकस्य वा सकलक्लेशनिवारणं करोति । अस्मिन सन्दर्भे सूर्य-शतकनिर्माणेन मयूरस्य, चण्डीशतकसर्जनया बाणभट्टस्य, हनुमान् बाहुकनिर्माणेन च तुलसी-

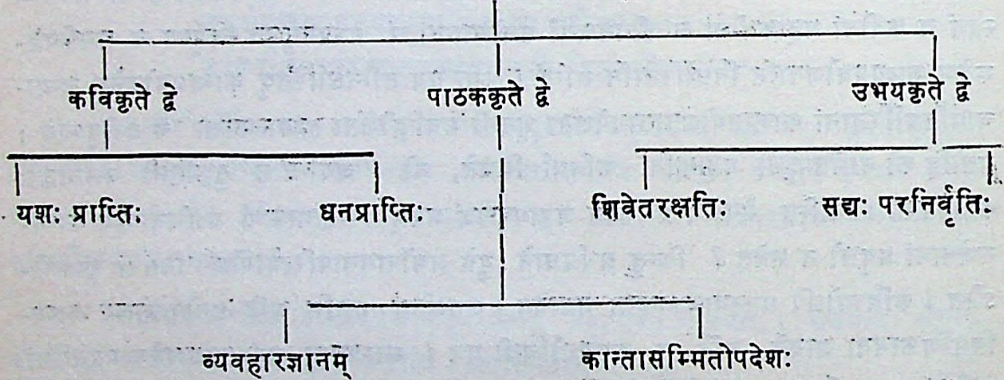
---

१२. काव्यप्रकाशः, १।२

१३. काव्यप्रकाशः १।२ सम्बद्धो गद्यभागः ।

दासस्य अमङ्गलनिवृत्तिः प्रसिद्धैवास्ति । एवं च सद्यः परनिर्वृतिः अर्थात् निर्माण-पठनसमकालमेव मनसि अमन्दानन्दसन्दोहसमुद्भूतिरपि असंशयमेव काव्यप्रयोजनं वरीवृत्यते । यतोहि काव्यसर्जनासमाप्तिसमये कवेर्मनसि, किंवा काव्यस्वाध्यायसमये पाठकस्य मनसि, काचिद् विलक्षणा एवं वाचामगोचरा विगलितवेद्यान्तरा चामन्दानन्दसन्दोहानुभूतिर्बोभवीतीत्यत्र समेषामेव शेमुषीजुषां सहृदयानामैकमत्यं विद्यते । अन्यच्च कान्तासम्मिततयोपदेशदानमपि काव्यसर्जनायाः रम्यं प्रयोजनमस्ति । एवं हि दृश्यते लोके यज्जने यथा कान्ताया वचसां प्रभावो भवति, तथा न पितुर्वचसाम्, न च मित्रस्य वचसाम् । अनेनैव प्रकारेण समाजे यथा काव्यस्य प्रभावो भवति, तथा न वेदानाम्, न च पुराणादीनाम् । अतः समीचीनमेवोच्यते मम्मटेन यत्कान्तासम्मिततयोपदेशदानभावनापि काव्यसर्जनाप्रयोजनं भवति ।

अहं मन्ये यन्मम्मटाचार्येण काव्यप्रयोजननिरूपणावसरे 'यथा योगं कवेः सहृदस्य च' इति लिखित्वा द्वे प्रयोजने कविकृते, द्वे प्रयोजने पाठककृते, द्वे प्रयोजने उभयकृते निर्धारिते स्तः । किं किं कस्य कृते ? इति विचिकित्सावारणाय रेखाचित्रमत्र प्रस्तूयते—



मम्मटाचार्यानन्तरं जातेषु काव्यशास्त्राचार्येषु साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथो रसगङ्गाधरकारश्च पण्डितराजो जगन्नाथो नूनमेव समीक्षकाणां समाजे महत्त्वभाजो विद्येते । अतोऽत्रानयोरपि काव्यप्रयोजनविषयकान् विचारान् प्रस्तोतुं मदीयं मनः कामयते । सर्वप्रथमं विश्वनाथाशयं प्रस्तौमि—

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥"[१४]

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्त्तितव्यं न रावणादिवत्" इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव । उक्तं च भामहेन—

---

१४. साहित्यदर्पणः, प्रथमः परिच्छेदः, द्वितीया कारिका तत्सम्बद्धो गद्यभागश्च ।

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।" इति

स्पष्टमस्ति यद्विश्वनाथो धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्वर्गस्य सारल्येन प्राप्तिमेव काव्यसर्जनायाः प्रयोजनं मन्यते। अस्मिन् सन्दर्भे स भामहाचार्यमतेन भृशं प्रभावितः प्रतीयते।

अथ पण्डितराजस्य जगन्नाथस्याशयः प्रस्तूयते। यद्यपि पण्डितराजेन काव्यप्रयोजनविषये बहुविधं न विचारितम्; तथापि काव्यस्य लक्षणकरणप्रसंगे तस्य विशेषणपदप्रयोगसमये अस्य काव्यसर्जनाप्रयोजनविषयकोऽपि विचारो विदितो भवति। स तत्र लिखति—

"तत्र कीर्त्ति-परमाह्लाद-गुरु-राज-देवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य...... लक्षणं तावन्निरूप्यते।"[१५]

एनेनाभाति यदस्य दृष्टौ काव्यसर्जनायाः अनेकानि प्रयोजनानि सन्ति। अत एवायमत्र विशेषणपदाभ्यन्तरे 'आदि' शब्दम् 'अनेक' शब्दञ्च प्रयुक्तवानस्ति। किन्तु तेष्वशेषेषु काव्यप्रयोजनेषु कीर्त्तिं, परमाह्लादं, गुरुप्रसादं, राजप्रसादं देवताप्रसादं च नामतो निर्दिश्य एतेषां काव्यसर्जनाप्रयोजनानां प्रसिद्धतां प्रतिपादयति।

अथाहं कतिपयपाश्चात्यसमीक्षकाणामपि काव्यप्रयोजनविषयकाणि मतानि दित्सुरस्मि। तत्रेदं परिस्फुटं भविष्यति यत्सुदूरवर्त्तिष्वपि जनेषु समीक्षाशीलबुद्धिसाम्यात् कीदृशं कियच्च मनोहरं विचारसाम्यं भवति। सर्वप्रथमं प्लेटोमहोदयस्याशयं प्रस्तौमि। स कथयति यद् 'The right function of poet is to put before the soul the images of what is intrinsically great and beautiful.'[१६] अर्थात् चित्समक्षं महतः सुन्दरस्य च बिम्बविधानं कवेरुचितं कर्म विद्यते। श्रीजॉनड्राइडनो मन्यते यत् "To teach delightfully is the chief function of poetry"[१७] अर्थात् सरसरूपेण उपदेशदानमेव कवितायाः प्रमुखं प्रयोजनमस्ति। एव च श्रीहॉरेसो बोधयति यत् 'To teach to please, these are the poet's aims, or atonce to profit and to amuse"[१८]। अर्थात् उपदेशः, प्रसादनं, धनलाभो मनोरञ्जनं च कवीनां प्रयोजनानि सन्ति।

---

१५. रसगंगाधरः, प्रथमाननम्, पृ० ८
१६. डॉ० रामदत्त शर्मणः 'पौरस्त्य एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धान्त', पृ० सं० १६ तः उद्धृतम्।
१७. डॉ० राजकुमार पाण्डेय —ओमप्रकाश शर्मकृत 'साहित्यिक निबन्ध' पृ० सं० ३३ तः उद्धृतम्।
१८. क्लीँथ ब्रूकः, 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' पृ० सं० ९२

प्रसन्नताया विषयोऽयमस्ति यदस्मदीया मम्मटादयो भारतीया: काव्यशास्त्रविपश्चितो यानि काव्यसर्जनाया: प्रयोजनानि मन्यन्ते, तान्येव पाश्चात्त्या अपि काव्यशास्त्रमनीषिणो मन्वते । कथन्न भवेदेवम् ? महानुभावानां हृदयसंवादास्तु भवन्त्येव ।

अथान्ते निबन्धेऽस्मिन् प्रस्तुतेषु समस्तेषु काव्यसर्जनाप्रयोजनविषयकेषु विदुषां विचारेषु विहङ्गमदृशा विमर्शे विहिते सतीदं प्रस्फुटं बोभूयते यन्मम्मटाचार्यसम्मतानि काव्यसर्जनाप्रयोजनानि नूनमेव मधुमक्षिकान्यायनिहितानि, सर्वमतसमन्वितानि, सर्वाङ्गीणानि च सन्तीति विनिवेद्य भवादृशेषु विपश्चिदपश्चिमेषु इतोऽधिकं विषयपल्लवनं मुधेति च विमश्य मुदा विरमामि विस्तरात् ।

काव्य का लक्षण

लेखक—प्रोफेसर हरिनारायण दीक्षित
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-वल्लरी की उन्मुक्त गोद में विकसित होने वाले काव्य-कुसुम की सर्वाङ्गीण रूपरेखा को लक्षण के एक सूक्ष्म सूत्र में बाँधना कोई आसान काम नहीं है। हम देखते हैं कि शुरू से लेकर आज तक 'काव्य' की न जाने कितनी परिभाषायें बनीं, न जाने कितने आचार्यों ने इसे लक्षण के दायरे में बाँधना चाहा, न जाने कितने कला-पारखियों ने इसे परखने के लिए अपने-अपने मानदण्ड स्थापित किए, पर यह पूरी तौर से किसी की भी पकड़ में नहीं आया; यह नितनूतन जो ठहरा। विविधता भी इसकी कमाल की रही है; तभी तो जिसने जिस रूप में इसे देखना चाहा उसे यह उसी रूप में दिखाई दिया। इस मायने में तो हम इसे 'उल्लेखालङ्कार' का शाश्वत उदाहरण भी मान सकते हैं।

काव्यशास्त्र का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि 'काव्य' की अनेक परिभाषायें बनी हैं; और आज भी बनती जा रही हैं। उनकी यह अनेकता ही इस बात का प्रमाण है कि उसमें से प्रत्येक में कुछ न कुछ कमी अवश्य ही रह जाया करती होगी; तभी तो दूसरी परिभाषाओं को जन्म मिलता रहा होगा। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि मूर्त्त पदार्थों की अपेक्षा अमूर्त्त पदार्थों की परिभाषा करना कुछ ज्यादा कठिन होता है। क्योंकि वे (अमूर्त्त-पदार्थ) केवल भावात्मक एवं रागात्मक संवेदनाओं की ही उपज होते हैं। अतः संवेदनाओं की विविधता से उनमें भी विविधता की सम्भावना स्वाभाविक रूप से रहा करती है। प्रस्तुत सन्दर्भ से सम्बन्धित 'काव्य' भी एक ऐसा ही अमूर्त्त पदार्थ है। मुझे तो लगता है कि हवा के झोंकों से उठाई गई सरोवर की लहरों में तैरते हुए फूल के समान ही यह काव्य-कुसुम भी समीक्षकों की संवेदना-लहरियों में आज भी तैर रहा है; और मजे की बात तो यह है कि कोई भी लहर इसे पकड़ने में समर्थ नहीं हो पा रही है। इसका प्रमुख कारण मानव-समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ और बढ़ते हुए सम्पर्क हैं। मानव के व्यावहारिक क्षेत्र में परिवर्तन आते ही काव्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक ही होता है। नहीं तो फिर साहित्य समाज का दर्पण ही कैसा ? पर इतना निश्चित है कि काव्य में एक सार्वभौम और शाश्वत सत्य छिपा रहता है, जो किसी भी युग की कविता में देखा जा

सकता है, जिस पर न कोई देश हावी हो सकता है, न कोई काल; और न कोई व्यक्ति ही। महादेवी वर्मा ने इस सन्दर्भ में साफ जाहिर कर दिया है कि—

"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है; परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक, और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिणाम में कम नहीं; परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्रत्येक युग अपनी समस्यायें लेकर आता है, जिनके समाधान के लिए नई दिशायें खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के 'काव्य' और 'कलाओं' को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती है। मूल तत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं; और न काव्र के; कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है"।

(देखिए : महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य, पृ० सं० ४६)

चूंकि 'काव्य' का यह चिरन्तन सत्य पुराने से पुराने और नए से नए आलोचकों द्वारा निर्धारित की गई सभी काव्य-परिभाषाओं में समाया हुआ है, इसलिए मेरे लिए अब यह आवश्यक हो जाता है कि मैं काव्य के स्वरूप को समझने के लिए संस्कृत के पुरातन आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक के कुछ प्रमुख-प्रमुख काव्य-समीक्षकों के, इस सम्बन्ध में, विचार प्रस्तुत करूँ। साथ ही साथ भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होने वाले प्रमुख भारतीय और पश्चिमी समालोचकों द्वारा स्थापित किए गए काव्य के शास्त्रीय मानदण्डों (लक्षणों) की जिज्ञासा रखने वाले सुधी पाठकों को सुविधा पहुँचाने की दृष्टि से मैं यह भी उचित समझता हूँ कि पहले तो यहाँ भिन्न-भिन्न काव्य लक्षणों की एक सूची प्रस्तुत कर दी जाए और तदनन्तर उनकी समीक्षा की जाए। अच्छा, तो लीजिए वह सूची इस प्रकार है—

संस्कृत समीक्षक

क—भरतमुनि की दृष्टि में

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥[1]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, कारिका १२४

(लोक में नाटक रोचक हुआ करता है। इसकी रचना कोमल और ललित पदों से की जाती है; इसमें शब्दों का अर्थ दुरूह नहीं होता है; यह लोगों को आसानी से समझ में आ जाता है; इसमें समुचित नृत्य की संयोजना होती है; रसों का प्रवाह होता है; और कथा-वस्तु की सन्धियों का संयोग रहा करता है।)

ख—भामह की दृष्टि में

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्.............।[२]

(अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होता है।)

ग—दण्डी की दृष्टि में

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।[3]

अभीप्सित किंवा मनोरम अर्थ से विभूषित शब्दावली ही काव्य का शरीर है।

घ—वामन के मत में

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।......काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।[४]

(काव्य, अलङ्कार (के योग) से उपादेय होता है।......यह यहाँ काव्य शब्द, गुण तथा अलङ्कार से सम्पृक्त शब्द तथा अर्थ के लिए प्रयुक्त किया गया है। हाँ, लक्षणा से यह केवल शब्द और अर्थ का ही बोधक है।)

ङ—अग्निपुराणकार की दृष्टि में

काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोषवर्जितम्।[५]

(जहाँ अलङ्कार स्पष्ट दिखाई दे; और जो गुणों से युक्त तथा दोषों से रहित हो, ऐसे वाक्य को काव्य कहते हैं।)

च—कुन्तक की दृष्टि में

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[६]

(भाव यह है कि सहृदयों को आह्लादित करने वाले, एवं मन को आकर्षित करने वाले कवि व्यापार से युक्त वाक्य-विन्यास में सुन्दर ढंग से व्यवस्थित एवं साहित्यमय (अनुकूल) शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाता है।

---

२. काव्यालङ्कार, १।१६
३. काव्यादर्श, परिच्छेद १, कारिका १०
४. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, अधिकरण १, अध्याय १, सूत्रवृत्ति १
५. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, श्लोक सं० ७
६. वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष १, कारिका ७

छ—भोज की दृष्टि में

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।[७]

(दोषों से रहित और गुणों से भरपूर तथा अलङ्कारों से युक्त एवं रस से सराबोर काव्य का निर्माण करके कवि संसार में कीर्त्ति और प्रसन्नता को प्राप्त करता है।)

ज—मम्मट के मत में

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।[८]

(दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त और कहीं-कहीं अलङ्कारों के अभाव से भी युक्त शब्द और अर्थ, काव्य कहलाते हैं।)

झ—हेमचन्द्र की दृष्टि में

अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।[९]

(दोषों से रहित तथा गुण-अलङ्कारों से युक्त, शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

ञ—विद्यानाथ की दृष्टि में

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम् ।[१०]

(अर्थ स्पष्ट है।)

ट—जयदेव की दृष्टि में

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।।[११]

(दोषों से रहित, अक्षरसंहति आदि लक्षणों से युक्त, रीतियों और गुणों से विभूषित, अलङ्कारों से अलङ्कृत तथा वृत्तियों से युक्त वाक्य को काव्य कहा जाता है।)

ठ—विश्वनाथ के मत में

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[१२]

(रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं।)

ड—पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[१३]

---

७. सरस्वती कण्ठाभरण, परिच्छेद १, कारिका २
८. काव्यप्रकाश, उल्लास १, कारिका ४ का पूर्वार्द्ध
९. काव्यानुशासन, निर्णयसागर, प्रकाशन १९३४ पृ० सं० १९
१०. प्रतापरुद्रयशोभूषण, काव्यप्रकरणम्, कारिका १
११. चन्द्रालोक, मयूख १, कारिका ७
१२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद १, कारिका ३ प्र० च०
१३. रसगङ्गाधर; आनन १

(जो शब्द मन में लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले (रमणीय) अर्थ का प्रतिपादक होता है, वह काव्य कहलाता है।)

पाश्चात्य समीक्षक

ढ—अरस्तू की दृष्टि में

Epic, Poetry, tragedy, Comedy...are all in their conception modes of imitation... There is another art which imitates by means of language alone, and that either in prose and verse ..[१४]

(महाकाव्य, काव्य, त्रासदी, कामदी आदि...ये सभी, अपने आप में अनुकरण के विचारात्मक तरीके ही हैं।...केवल भाषा के माध्यम से अनुकृत की जाने वाली एक और कला है, जो गद्य और पद्य के रूप में पाई जाती है।)

ण—सर् पी० सिडनी की दृष्टि में

Poetry is an art of imitation.[१५]

(काव्य-रचना (तो) अनुकरण की एक कला है।)

त—वर्ड्सवर्थ के विचार से

Poetry is the spontaneous over flow of powerful feelings; it takes its origin from emotions recollected in tranguillity.[१६]

(काव्य प्रबल अनुभूतियों का स्वाभाविक उच्छलन है, जो शान्ति के क्षणों में स्मृति का विषय बने हुए मनः संवेगों से फूट निकलता है।)

थ—पी० बी० शैले के शब्दों में

(i) Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.

(ii) Poetry in a general sense, may be defined as the expression of the imagination.[१७]

(i) निहायत प्रसन्न एवं निहायत ही अच्छे मस्तिष्कों के निहायत अच्छे और निहायत प्रसन्न क्षणों के लेखा-जोखा को 'कविता' कहते है।)

---

१४. पोयटिक्स, १.१

१५. विलियम के० विमसाट तथा क्लीन्थ ब्रुक्स द्वारा लिखित "लिटरेरी क्रिटिसिज्मः ए शार्ट हिस्ट्री" से उद्धृत, पृ० सं० १७०

१६. अमरनाथ झा द्वारा सम्पादित "एन्थोलॉजी ऑफ क्रिटिकल स्टेटमेन्ट्स" से उद्धृत; पृ० सं० ५०

१७. विमसाट तथा ब्रुक्स लिखित क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री" से उद्धृत, पृ० ४२०

(ii) (सामान्य तौर पर कविता की यह परिभाषा की जा सकती है कि वह कल्पना की अभिव्यक्ति है।)

द - डॉ० जोनसन की दृष्टि में

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.[१८]

(युक्तिपूर्ण कल्पना के माध्यम से सच्चाई के साथ आनन्द की संयोजना को कविता कहते हैं।)

ध—चैम्बर्स शब्दकोश के अनुसार

Poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts which are the creation of imagination and feelings.[१९]

(कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला ही कविता है।)

हिन्दी समीक्षक

न—चिन्तामणि के शब्दों में

सगुणालंकारनसहित दोष रहित जो होय।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोय॥[२०]

प—कुलपति के शब्दों में

जग से अद्भुत सुखसदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लक्षण मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥[२१]

फ—श्रीपति के शब्दों में

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसखान।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान॥[२२]

ब—सोमनाथ के स्वरों में

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषनजुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध॥[२३]

---

१८. डॉ० सी० एल० साहनी लिखित "प्रिंसिपल्स एण्ड हिस्ट्री ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म", पृ० ३४५ से उद्धृत
१९. चैम्बर्स डिक्शनरी; पृ० ७०७
२०. कविकुलकल्पतरु, १/६
२१. रसरहस्य, प्रकरण १, छन्द २०
२२. काव्यसरोज; उद्धृत—भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा; सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४१८
२३. रसपीयूषनिधि, तरङ्ग ६, छन्द २

भ--महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में

"कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है।...मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं, वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।...अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।"[२४]

म—रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में

"...जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं"।[२५]

य—श्यामसुन्दरदास के शब्दों में

"काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे"।[२६]

र—गुलाबराय के शब्दों में

"रसप्रधान साहित्य काव्य कहलाता है और ज्ञानप्रधान साहित्य.. शास्त्र कहलाता है।"[२७]

ल—जयशङ्कर प्रसाद के शब्दों में

"...इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं।...काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।"[२८]

व—महादेवी वर्मा के शब्दों में

"कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है; और यह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।"[२९]

श—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में

"..काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।"[३०]

---

२४. रसरञ्जन, पृ० सं० ५०

२५. रसमीमांसा, पृ० सं० १

२६. साहित्यालोचन, पृ० सं० ४४

२७. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० सं० २३

२८. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० सं० १७

२९. डॉ० रामदत्त शर्मा लिखित "पौरस्त्य एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त" से उद्धृत, पृ० सं० ७०

३०. आधुनिक साहित्य, पृ० सं० ४०७

ष—डॉ० राकेश गुप्त के शब्दों में

…"We may say that poetry is that which interests, and, at the same time, which is not any other definite art or science."[३१]

(…हम कह सकते हैं कि कविता वह है जो आनन्दित करे, साथ ही साथ जो कोई दूसरी कला और विज्ञान न हो।)

हालांकि काव्य-परिभाषाओं की यह सूची और भी काफी लम्बी बन सकती है, लेकिन वह होगी अनावश्यक। क्योंकि उपर्युक्त परिभाषाएँ ही 'काव्य' की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए काफी हैं। अतः अब मैं इन्हें ही समीक्षा की कसौटी पर कसता हुआ काव्य के रूप को अपने सुधी पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास कर रहा हूँ।

भारतीय संस्कृत-समीक्षकों में नाटचशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि का नाम सबसे पहले लिया जाता है। यद्यपि इन्होंने सामान्य रूप से 'काव्य' के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला है; कारण इनकी दृष्टि 'दृश्य काव्य' तक ही सीमित रही है, तथापि नाटक के लिए इन्होंने जिस प्रकार के स्वरूप की परिकल्पना की है, वह सामान्य रूप से 'काव्य' की भी रूपरेखा दे जाती है[३२]। उसके अनुशीलन से काव्य का जो रूप उभरता है, वह कुछ इस प्रकार है—

अ. काव्य की शब्दशय्या कोमल एवं ललित होनी चाहिए।

आ. अर्थबोध में दुरूहता और अविश्वसनीयता नहीं होनी चाहिए।

इ. प्रतिपाद्य भावना के अनुकूल संवेदना को उभारने की क्षमता होनी चाहिए।

ई. नृत्यबद्धता और कथावस्तु की सन्धियाँ (उतार-चढ़ाव) भी होनी चाहिए।

साफ जाहिर है कि भरतमुनि की परिभाषा के, ऊपर गिनाए गए, इन पहलुओं में से यदि हम अन्तिम पहलू को 'दृश्य काव्य' परक मानकर छोड़ दें तो बाकी बचे हुए तीन पहलुओं से 'काव्य' मात्र का एक अच्छा-खासा रूप सामने आ जाता है, जिससे पता चलता है कि भरत की दृष्टि काव्य की कोमलता और सुबोधता की ओर ही अधिक झुकी हुई है, जबकि 'काव्य' में शौर्य, क्रोध और जुगुप्सा जैसे भावों की भी अभिव्यञ्जना हुआ करती है। अतः उनकी इस 'काव्य परिभाषा' में अव्याप्ति दोष लगता नजर आता है।

भरतमुनि के वाद सबकी निगाह भामह पर अटकती है। इन्होंने 'शब्द और अर्थ (दोनों) के सहभाव' को काव्य माना है।[३३] उनकी यह काव्य परिभाषा नितान्त व्यापक है। यह केवल काव्य के लिए ही लागू नहीं होती, बल्कि व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष आदि

---

३१. सॉइकॉलॉजिकल स्टडीज इन रस, पृ० सं० ३३

३२. नाटचशास्त्र, अध्याय १६, कारिका १२४

३३. काव्यालङ्कार, १/१६

अन्य शास्त्रों पर भी लागू हो जाती है। अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष पाया जाता है; और सच बात तो यह है कि "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" लिखकर भामह ने काव्य की परिभाषा दी भी नहीं है। क्योंकि उनके मूल ग्रन्थ[३४] में इस प्रसङ्ग का परिशीलन करने से विदित होता है कि उन दिनों काव्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की प्रधानता को लेकर आलोचकों के दो वर्ग बन गए थे; एक शब्दालङ्कार की प्रधानता का गीत गा रहा था तो दूसरा अर्थालङ्कार को महत्त्व दे रहा था। मेरा विश्वास है कि भामह ने अपनी संवेदना के आधार पर अलङ्कारवादियों के इसी आपसी विवाद को मेटने की दृष्टि से "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" लिखकर काव्य में दोनों ही प्रकार के अलङ्कारों की उपादेयता सिद्ध करनी चाही होगी।

हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भामह ने अपने इस "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" वाक्य द्वारा परवर्ती आचार्यों को काव्य की परिभाषा करने के लिए 'शब्द' और 'अर्थ' के सहभाव को विरासत के रूप में प्रदान किया है। हम देखते भी हैं कि संस्कृत के अधिकांश आचार्यों की काव्य परिभाषाएँ शब्द और अर्थ के सहभाव पर ही आधारित हैं।

दण्डी ने काव्य में 'इष्टार्थ' को प्रधानता दी है। अपने इस इष्टार्थ को उन्होंने तो स्पष्ट नहीं किया है; लेकिन टीकाकारों की धारणा है कि सरस, मनोहर और आह्लादपूर्ण अर्थ की अभिव्यञ्जना करने वाली 'पदावली' को ही दण्डी ने 'काव्य' माना है[३५]। वामन ने भामह के 'शब्द' और 'अर्थ' को काव्य के सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए यह अनुभव किया कि उन्हें गुणों और अलङ्कारों से भी विभूषित किया जाय[३६]। उनकी इस धारणा का परवर्ती आचार्यों ने काफी स्वागत किया। अग्निपुराणकार ने इसमें थोड़ा परिवर्तन भी किया। उन्होंने काव्य को दोषों से बचाये रखने की भी बात कही[३७]।

कुन्तक ने भी शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है। लेकिन तभी, जबकि उसमें सुनने वाले के दिल को खुश करने की क्षमता रखने वाला 'बाँकपन' भी हो। इनका सारा जोर वक्रोक्ति पर है, जिसे आज 'भणितिवैदग्ध्य' या 'कथन चातुर्य' कहा जाता है। भोज ने अग्निपुराणकार की ही बात दोहरा दी है। मौलिकता के नाम पर उसमें बस एक विशेषण और जोड़ दिया है—'रसान्वितम्'।

अब आते हैं आचार्य मम्मट। इन्होंने भी वही कहा, जो वामन, अग्निपुराणकार और भोजदेव ने कहा था। लेकिन साथ ही साथ इनकी दृष्टि वामन के "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः" (३, १, १) तथा "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' (३, १, २) सूत्रों पर भी गई;

---

३४. वही, १/१३-१५

३५. रङ्गाचार्यकृत टीका सहित दण्डी का काव्यादर्श, पृ० सं० ८, पूना प्रकाशन

३६. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १/१/१

३७. अग्निपुराण, ३३७/७

और ज़रा गहराई से गई। फलस्वरूप इन्हें प्रेरणा मिली कि काव्य में अलङ्कारों का होना कोई जरूरी नहीं है। इनके अनुभव ने भी इस तथ्य की पुष्टि की। परिणामस्वरूप इन्होंने अपनी काव्य परिभाषा में 'शब्दार्थौ' का एक विशेषण जोड़ दिया—'अनलङ्कृती पुनः क्वापि"[३८]। हालाँकि, इनके इस विशेषण ने अलङ्कारवादियों के दिल पर काफी चोट पहुँचाई; लेकिन कविता के क्षेत्र में हृदयपक्ष को बड़ी राहत मिली; और धीरे-धीरे उसकी प्रधानता को भी स्वीकृत किया जाने लगा।

हेमचन्द्र और विद्यानाथ की काव्य-परिभाषाओं का आशय बिल्कुल समान ही दिखाई देता है। इन लोगों ने नई बात कुछ भी नहीं कही है। जयदेव ने कलापक्ष को प्रधानता दी है। अतः उन्होंने गुण एवं अलङ्कारों के अतिरिक्त रीतियों और वृत्तियों को भी काव्य का आवश्यक अङ्ग मान लिया है। इससे काव्य-परिभाषा के साथ ही साथ उनकी बुद्धिवाद की दासता का भी अच्छा-खासा अन्दाज़ लग जाता है।

विश्वनाथ का विश्वास है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है। इनकी भी यह परिभाषा अव्याप्ति दोष की चपेट में आ जाती है। क्योंकि वस्तुध्वन्यात्मक और अलङ्कार-ध्वन्यात्मक काव्य में यह लागू नहीं हो पाती। इधर पण्डितराज जगन्नाथ को 'अर्थ' में काव्यत्व पसन्द नहीं है। वह उसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दमात्र में ही सिद्ध करते हैं। वह चाहते हैं कि हृदय में लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति कराने वाले शब्द को काव्य कहा जाय।

पाश्चात्त्य समीक्षक अरस्तू और सिडनी 'काव्यकला' की कोई समुचित परिभाषा न दे सके, लेकिन उसे 'अनुकृति' बताकर उसके प्रति एक वितृष्णा पैदा करने की असफल कोशिश अवश्य कर गए हैं। वर्ड्सवर्थ के विचार देखने सुनने में तो काफी आकर्षक लगते हैं लेकिन उनमें भी अतिव्यापकता का रोग लगा हुआ है। कारण कि वे भी काव्य-सीमा का उल्लङ्घन करने की क्षमता रखते हैं। उधर शैले की काव्य-परिभाषा में अव्याप्ति नजर आती है। क्योंकि उन्होंने उसकी पहुँच कवि की केवल 'प्रसन्नता' तक ही सीमित कर दी है, जबकि काव्य के वियोगात्मक पक्ष में दिल को 'गीला' करने की ज्यादा शक्ति होती है[३९]। इस तथ्य को वह स्वयं भी स्वीकार करते हैं[४०]। हाँ, डॉ० जॉनसन ने काव्य के रूप को परखने में अवश्य ही कुछ सफलता प्राप्त की है। सचचाई के साथ आनन्द की सर्जना, और

---

३८. काव्यप्रकाश, १/४

३९. वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान ॥

सुमित्रानन्दनपन्त, पल्लव (आँसू शीर्षक) पृ० सं० ६५

४० Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

P. B. Shelley, To the Shylark, Stanza 18

वह भी औचित्यपूर्ण कल्पनाओं के सहारे, सचमुच ही अपने आप में कविता बन जाती है। परन्तु 'चैम्बर्स शब्दकोश' की काव्य-परिभाषा जितनी स्पष्ट एवं सही है, उतनी यहाँ उद्धृत अन्य किसी भी पाश्चात्त्य काव्य समीक्षक की नहीं। यह परिभाषा भारतीय मनोभूमि के काफी करीब है। कुन्तक की 'वक्रोक्ति', विश्वनाथ की 'रसात्मकता' और पण्डितराज की 'रमणीयता' की इस पर लगता है कि जैसे छाया पड़ गई हो।

हमारे हिन्दी समीक्षकों की परिभाषाओं में मौलिकता का प्राय: अभाव रहता है। क्योंकि इनमें जो प्राचीन हैं, वे तो संस्कृत के काव्याचार्यों से प्रभावित दिखते हैं; और जो अर्वाचीन हैं, उन पर प्राय: पाश्चात्त्य समीक्षकों का रंग चढ़ जाता है। मैंने काव्य की परिभाषा करने वाले जिन हिन्दी समीक्षकों का उल्लेख किया है, उनमें चिन्तामणि पर हेमचन्द्र और विद्यानाथ का, कुलपति पर मम्मट और विश्वनाथ का श्रीपति पर भोज का, और सोमदेव पर जयदेव का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी श्यामसुन्दरदास और गुलाबराय की दृष्टि में काव्य आनन्दात्मक है। पर उनकी भी इस धारणा पर विश्वनाथ की छाया झलकती है। रामचन्द्रशुक्ल भी हृदय की रसलीनता को काव्य की संज्ञा देने के हिमायती हैं। जयशङ्कर प्रसाद की काव्य-परिभाषा का आधार आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। दूसरे शब्दों में हम उसे दिल का तजुर्बा कह सकते हैं। पर उनकी इस काव्य-परिभाषा पर 'छायावाद' का पर्दा पड़ा हुआ है। फलस्वरूप इसे लोकप्रियता नहीं मिल सकी है। महादेवी वर्मा की काव्य-परिभाषा में अव्याप्ति दोष है। क्योंकि वह गीतकाव्य की परिधि में घिरी हुई है।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की काव्य-परिभाषा अपेक्षाकृत व्यापक है। इन्होंने काव्य में मानवीय अनुभूति, कल्पना और सुन्दरता की त्रिवेणी के दर्शन किए हैं। लेकिन ध्यान रहे कि इन्होंने जिस 'सुन्दरता' का नाम लिया है, वह 'रसात्मकता' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। डॉ० राकेश ने भी 'आनन्ददायकता' को ही काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व माना है। पर उनकी काव्य-परिभाषा की शब्दावली को देखने से लगता है कि उन्होंने इस बात का ध्यान नहीं दिया कि उनकी काव्य-परिभाषा अतिव्याप्ति दोष की पकड़ में बुरी तरह से आ जाएगी। क्योंकि वह संगीतकला और चित्रकला पर भी उतनी ही लागू हो जाती है जितनी कि काव्यकला पर[४१]।

उपर्युक्त समीक्षकों की काव्य-परिभाषाओं का परिशीलन करने से मस्तिष्क एक अच्छी-खासी उलझन में फँस जाता है। 'जै मुँह तै बात' की कहावत याद आने लगती है; और सबसे बड़े धर्मसंकट की बात तो यह उठ खड़ी होती है कि किस समीक्षक के मत को स्वीकृत किया जाय, क्योंकि हैं तो ये सभी एक से एक धुरन्धर ही।

लेकिन इस सम्बन्ध में मेरी धारणा यह है कि संस्कृत समीक्षकों में से विश्वनाथ और जगन्नाथ की काव्य-परिभाषाओं में वेदान्तियों की 'भागत्यागलक्षणा' को चरितार्थ

---

४१. साइकॉलॉजिकल स्टडीज इन रस, पृ० सं० ३३

किया जाना चाहिए। हमें उन दोनों की ही परिभाषाओं के आपत्तिजनक अंशों का त्याग कर उनके उपादेय अंशों को कुछ इस प्रकार से सँजो लेना चाहिए कि उनसे एक सर्वाङ्ग-सुन्दर 'काव्य-परिभाषा' निखर उठे। हम देख चुके हैं कि विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा में 'रसात्मक' अंश आपत्तिजनक है; और जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा में 'शब्द' अंश। अतः हमें चाहिए कि इन दोनों ही अंशों को हटा दें। विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा के 'वाक्य' अंश को तथा जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा के 'रमणीयार्थप्रतिपादकः' अंश को काव्यत्व की दृष्टि से सर्वथा उपादेय समझकर इन दोनों ही अंशों को अपना लें। रहा दोनों का 'काव्यम्' अंश, सो विधेय के रूप में अभीष्ट है ही। इस प्रकार भागत्यागलक्षणा का सहारा लेते हुए दोनों की ही काव्य-परिभाषाओं में से जो एक सर्वाङ्गसुन्दर काव्य-परिभाषा बनेगी, मैं समझता हूँ कि उसका रूप इस प्रकार होगा—

"रमणीयार्थप्रतिपादकं वाक्यं काव्यम्"।

अर्थात् 'चित्त में लोकोत्तर आह्लादमयी भावना को उच्छलित करने वाले वाक्य-विन्यास को काव्य कहते हैं'। मेरा यह भी विश्वास है कि यह परिभाषा प्रत्येक युग के काव्य के शाश्वत रूप को अपने आप में सुरक्षित रखेगी। थोड़ा-सा ही प्रयत्न करने पर इसमें आपको भरत का 'मार्दव' एवं 'लालित्य', दण्डी का 'इष्टार्थ', वामन का 'सौन्दर्य', कुन्तक का 'भणितिवैदग्ध्य', मम्मट का 'शब्दार्थयुगल', विश्वनाथ की रसात्मकता', जगन्नाथ की 'रमणीयता', अरस्तू की 'अनुकृति', वर्ड्सवर्थ का 'भावोच्छलन', जानसन का 'आनन्द', जयशंकर प्रसाद की 'अनुभूति', डॉ० राकेश का 'इण्टरेस्ट' आदि सब कुछ मिल जाएगा। यही कारण है कि मैं यहाँ विश्वनाथ और जगन्नाथ की काव्य-परिभाषाओं के भागत्याग-लक्षणात्मक समन्वित स्वरूप की उपेक्षा करके नए सिरे से काव्य की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं समझता हूँ।

काव्यहेतु : संस्कृत काव्यशास्त्र के आलोक में

लेखिका—डा० कुमुदटण्डन
रिसर्च एसोसिएट, संस्कृत विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ० प्र०)

इस संसार में कोई भी कार्य कारण के बिना सम्पन्न नहीं होता है। चाहे कोई छोटा कार्य हो अथवा बड़ा कार्य; सभी के पूर्ण होने के पीछे कारण अवश्य होता है। कारण और कार्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। काव्यत्व रूप कार्य भी कारण की अपेक्षा रखता है। काव्य निर्माण अनायास ही नहीं हो जाता है, उसमें कतिपय कारण सन्निहित रहते हैं जिनके द्वारा काव्य निर्माण सम्भव होता है। इन कारणों को काव्य का हेतु, साधन अथवा कारण इनमें से किसी भी एक नाम से अभिहित किया जा सकता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्राचीन काल से इस विषय पर विचार करने का सिलसिला चला आ रहा है। ये बात अलग है कि कतिपय आचार्य प्रतिभा को काव्य का प्रथम और एकमात्र कारण स्वीकार करते हैं; कतिपय आचार्यों की दृष्टि में प्रतिभा काव्य का प्रमुख कारण है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उसके सहायक कारण हैं। कतिपय आचार्य ऐसे भी हैं जो कि तीनों को पृथक्-पृथक् काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं। इसके अलावा अन्य आचार्य समन्वयवादी हैं। उनके विचार से प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास सम्मिलित रूप से काव्य का निर्माण करने में समर्थ हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। इस प्रकार कुछ आचार्य काव्योत्पत्ति का एक ही कारण स्वीकार करते हैं, कुछ दो कारणों को और कुछ तीनों कारणों को समान रूप से स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि काव्य निर्माण के पीछे कोई कारण अवश्य रहता है। यह बात अलग है कि प्रत्येक काव्यशास्त्री इन कारणों को अपनी-अपनी दृष्टि से देखता है। अब काव्य निर्माण के इन कारणों पर काव्यशास्त्रियों के विचारों पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया जा रहा है—

१. अग्निपुराण

सर्वप्रथम महर्षि वेदव्यास ने काव्यहेतुओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥

—अग्निपुराण, ३३७।४-५

अर्थात् इस संसार में मानव शरीर धारण करना ही कठिन है और अगर मानव शरीर धारण कर भी लिया तो विद्या की प्राप्ति करना तो और भी दुष्कर है। इन दोनों की प्राप्ति होने पर काव्य-निर्माण करना अति मुश्किल है। इस पर भी यदि मनुष्य किसी प्रकार का काव्य-निर्माण कर भी ले तो उसके लिए शक्ति का होना दुष्कर है और फिर व्युत्पत्ति एवं विवेक का होना भी असम्भव है।

स्पष्ट है कि अग्निपुराण में काव्य जैसे उत्कृष्ट कार्य की सिद्धि के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति एवं विवेक—इन तीन कारणों का निर्देश किया गया है। वेदव्यास ने यहाँ पर कारणों का उल्लेख तो किया है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये कारण काव्य निर्माण के लिए पृथक्-पृथक् रूप से सहायक हैं अथवा तीनों मिलकर काव्य का निर्माण करते हैं। हाँ, इसके माध्यम से यह तथ्य तो सामने आ ही जाता है कि काव्य निर्माण जिन साधनों पर अवलम्बित है, वह शक्ति, व्युत्पत्ति एवं विवेक ही है और कुछ नहीं।

२. भामह

काव्य उद्भव प्रतिभा के बल पर ही अवलम्बित होता है। काव्य का निर्माण करने में वही व्यक्ति समर्थ हो सकता है जो कि प्रतिभा-सम्पन्न होता है, उसे शब्दशास्त्र, छन्द-शास्त्र, कोषग्रन्थ, इतिहास पर आश्रित लोक-व्यवहार एवं कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए जिनके सहारे वह काव्य सर्जन कर सके। उसे काव्य का निर्माण करने के लिए तभी प्रवृत्त होना चाहिए जबकि वह विद्वानों की सेवा करे और अन्य जनों के काव्य-ग्रन्थों का भली-भाँति अनुशीलन एवं परिशीलन कर ले।

> **काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।।**
> **शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।**
> **लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी ।।**
> **शब्दाधिधेयं विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।**
> **विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।।**

भामह, काव्यालंकार, प्रथम परि० ८-१०

भामह ने सबसे पहले तो यह कहा है कि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही काव्य निर्माण करने का अधिकारी होता है। इससे तो ऐसा लगता है कि भामह ने प्रतिभा को ही प्रधान एवं एकमात्र कारण माना हो। लेकिन कोष ग्रन्थ आदि का ज्ञान प्राप्त करने और अन्य विद्वानों के काव्यों का अवलोकन करके काव्य रचना में प्रवृत्त होने के विषय में कहकर उन्होंने प्रतिभा; काव्यज्ञ शिक्षा एवं शास्त्र ज्ञान तीनों को ही काव्य का कारण स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में प्रतिभा काव्योत्पत्ति का प्रमुख कारण है और अन्य उसके सहायक कारण हैं।

३. दण्डी

भामह के पश्चात् दण्डी ने काव्यहेतुओं पर अपना मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने सबसे पहले यह बताया है कि साधुकाव्य के निर्माण के लिए तीन कारणों की अपेक्षा करनी चाहिए और साथ ही उन्होंने इन कारणों को पारिभाषित भी किया है।

दण्डी का अभिमत है कि स्वभावसिद्ध पूर्वजन्म के संस्कार से युक्त प्रतिभा, विविध शास्त्रों का परिशीलन एवं निरन्तर काव्य निर्माण में प्रवृत्त होना—ये काव्य निर्माण के लिए कारण रूप सम्पदा हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

दण्डी; काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, कारिका १०३

दण्डी का विचार है कि यदि किसी व्यक्ति में पूर्व संस्कार न हों, लेकिन अगर वह शास्त्रों का अध्ययन एवं मनन करता है तो सरस्वती उस पर निश्चय ही कृपा करती है। तथापि यदि उसमें प्रतिभा-गुण नहीं है तब भी अगर वह सरस्वती की उपासना में सतत निमग्न रहता है तो वह सहृदय समाज में उचित व्यवहार करने की क्षमता तो प्राप्त करेगा ही—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्तन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।

दण्डी; काव्यादर्श, प्रथम परि०, कारिका १०४-१०५

स्पष्ट है कि दण्डी ने प्रतिभा, शास्त्रज्ञान एवं अभ्यास तीनों को सम्मिलित रूप में काव्य का कारण माना है। इसीलिए उन्होंने "कारणं" एकवचन का प्रयोग किया है।

४. वामन

वामन ने लोक, विद्या एवं प्रकीर्ण को काव्य का हेतु माना है और उनके लिए हेतु अथवा कारण का प्रयोग न करके "काव्याङ्ग" इस शब्द का प्रयोग किया है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।

—वामन; काव्यालंकारसूत्र, १

काव्य की उत्पत्ति का प्रमुख कारण अथवा काव्योत्पत्ति का मूल कारण प्रतिभा है। वह जन्म से ही प्राप्त कोई संस्कार विशेष है, जिसके अभाव में काव्य का निर्माण सम्भव ही नहीं है और अगर काव्य निर्माण हो भी जाए तो वह काव्य उपहास का ही कारण बनता है—

कवित्वबीजं प्रतिभानम्, कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम् ।
जन्मान्तरसंस्कारविशेषः कश्चिद् यस्माद्विना काव्यं न
निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ।।

—वामन; काव्यालङ्कारसूत्र, ११

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वामन ने प्रतिभा को काव्य का बीज रूप कारण माना है, लेकिन उन्होंने लोक एवं विद्या का सर्वप्रथम उल्लेख करके प्रतिभा का महत्त्व कम कर दिया है ।

५. रुद्रट

रुद्रट सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए तीन कारणों की समवेत रूप से अपेक्षा करते हैं । किसी काव्य में दोषों का परिहार करते हुए गुणों की स्थापना करने के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों की उपस्थिति परमावश्यक है । उत्कृष्ट काव्य का निर्माण तभी सम्भव हो सकता है जबकि ये तीनों ही कारण एक साथ किसी काव्य में आयें—

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ।।

रुद्रट; काव्यालङ्कार, १।४

इस प्रकार रुद्रट ने तीनों कारणों को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है ।

६. आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन के अनुसार प्रतिभा ही काव्य का कारण है । आस्वादन करने योग्य रस एवं भाव रूप अर्थ तत्त्व को प्रकट करने की अपूर्व प्रतिभा से सम्पन्न महाकवियों की वाणी उनके निर्माण करने की अद्भुत क्षमता के वैशिष्ट्य का उद्घाटन करती है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

—आनन्दवर्द्धन; ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० ६

प्रतिभा के कारण ही इस संसार में कालिदास आदि दो तीन अथवा पाँच छह कवि ही महाकवि की श्रेणी में गिने जाने के सर्वथा उपयुक्त समझे जाते हैं—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।।

—वही, १।७

आनन्दवर्द्धन ने शक्ति एवं प्रतिभा दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है । उन्होंने प्रतिभा को ही प्रधान रूप से महत्त्वपूर्ण माना है, इसकी पुष्टि इस कथन से भी हो जाती है कि यदि कोई व्युत्पत्ति से रहित है और उसमें शक्ति है तो उसका अव्युत्पत्ति कृत दोष तिरोहित हो जाता है—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निवन्धो यः स्खलद्गतिः।
शब्दस्य स च ज्ञेयः सूरिभिः विषयो ध्वनिः।।

× ×

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तया संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।

—वही, २।३२, ३। पृ० सं० १७६

आनन्दवर्द्धन का कहना है कि महाकवियों के द्वारा निर्मित काव्य से उन कवियों के अपूर्व वस्तु का निर्माण करने में समर्थ वुद्धि का उद्घाटन होता है। वह अलौकिक प्रतिभा कतिपय कवियों में ही परिलक्षित होती है और इस आधार पर ही उन्हें महाकवि की श्रेणी में गिना जाता है। इस तरह "कवि" की उपाधि से अलङ्कृत किए जाने के सर्वथा योग्य वही है जिसमें प्रतिभा हो। स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन के अनुसार प्रतिभा के वल पर ही काव्य का निर्माण सम्भव है साथ ही इस प्रतिभा के वल पर ही कवि को प्रजापति ब्रह्मा से भी अधिक उत्कृष्ट माना जाता है क्योंकि वह अपने काव्य में अपनी इच्छानुसार वर्णन प्रस्तुत कर सकता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्।।

आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय उ०, पृ० ३१२

यदि कवि "प्रतिभा" नामक गुण से सम्पन्न हो तो वह अपूर्व वर्णन करने में सफल हो सकता है। प्राचीन काव्य प्रबन्धों के विद्यमान रहने पर भी यदि प्रतिभा है तो वह नवीन विषय का वर्णन काव्य के माध्यम से कर सकता है और यदि उसमें प्रतिभा का अभाव है तो अपूर्व विशेषताओं से युक्त नवीन वर्णन कदापि नहीं कर सकता है।

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः।
सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुण।।
तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति।

— वही, ४।६

अतः प्रतिभा ही एक ऐसा कारण है जिससे कोई कवि बन जाता है।

७. राजशेखर

राजशेखर का मानना है कि काव्य के निर्माण के लिए समाधि अथवा मन की एकाग्रता की आवश्यकता अपेक्षित होती है। इस महान् वाणी का ज्ञान किसी विरले विद्वान् को ही होता है। राजशेखर ने कहा है कि यद्यपि मङ्गलदेव नामक आचार्य अभ्यास को काव्य

की सिद्धि का कारण स्वीकार करते हैं क्योंकि अभ्यास से अत्यधिक कौशल की प्राप्ति होती है। समाधि आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास वाह्य प्रयत्न। इन दोनों के सहयोग से शक्ति का उद्भव होता है। राजशेखर केवल शक्ति को ही काव्य का कारण स्वीकार करते हैं। उनके लिए प्रतिभा-व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से सर्वथा भिन्न है। प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति का उत्पत्तिकारक भी शक्ति ही है। जिसमें शक्ति होती है वही प्रतिभाशाली होता है और वही व्युत्पन्न भी होता है जिसमें 'शक्ति' नामक विशेषता पाई जाए। प्रतिभाशाली के लिए समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। राजशेखर ने प्रतिभा अथवा शक्ति को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते हुए मेधावी रुद्र एवं कुमारदास का उदाहरण दिया है, जो कि जन्म से अन्धे थे।[1]

स्पष्ट है कि शक्ति सम्पन्न ही प्रतिभा एवं व्युत्पन्न मति वाला हो सकता है।

८. हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने भी प्रतिभा को ही काव्य की उत्पत्ति का प्रधान एवं मूल कारण माना है। उनका अभिमत है कि प्रतिभा ही काव्य निर्माण का कारण है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उस प्रतिभा का संस्कार करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रतिभा के होने पर काव्य-उत्पत्ति और अभ्यास उस प्रतिभा को और अधिक परिष्कृत करते हैं, उसमें वृद्धि करते हैं। सीधे शब्दों में यह कहना चाहिए कि हेमचन्द्र ने यद्यपि प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों को ही उल्लिखित किया है लेकिन उन्होंने अपने से पूर्व के विद्वानों से कुछ हटकर मत प्रस्तुत किया है। उनके लिए प्रतिभा काव्य का कारण है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास प्रतिभा के प्रति कारण हैं।[2]

९. वाग्भट

वाग्भट ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य की उत्पत्ति का प्रधान कारण बताया है। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उस प्रतिभा के उपकारक हैं। उनका कहना है कि प्रतिभा व्यक्ति में रहने वाली ऐसी बुद्धि है जो कि स्फुरणशीला होती है अर्थात् प्रवहमान होती है तथा व्युत्पत्ति उसका अलंकरण है और अत्यधिक अतिशय काव्य के निर्माण से अभ्यास होता है—

---

१. सारस्वतं किमपि तासु महारहस्यं यद्गोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ।।
अभ्यासः इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो ब्राह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। सा केवलं काव्ये काव्यहेतुः। इति यायावरीयः

—राजशेखर; काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः, पृ० सं० २९-३०

२. प्रतिभास्य हेतुः व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति।

—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ. ५-६

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ।।

—वाग्भट, वाग्भटालङ्कार, परिच्छेद १।३

१०. मम्मट

आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को समवेत रूप से स्वीकार किया है। मम्मट ने विशेष रूप से रुद्रट के मत का यथातथ्य विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका अभिमत है कि शक्ति, निपुणता (जो कि लोकशास्त्र आदि के अन्वेषण, अवलोकन एवं परिशीलन से प्राप्ति होती है, तथा शिक्षाभ्यास) जो काव्यज्ञ हैं अर्थात् काव्य का निर्माण के लिए प्रवृत्त होना अथवा बार-बार कविता करना ही शिक्षाभ्यास है) तो एक साथ ही काव्य का हेतु स्वीकार करना चाहिए प्रत्येक को अलग-अलग नहीं। क्योंकि तीनों के होने पर ही उत्कृष्ट काव्य का सृजन हो सकता है अन्यथा नहीं।[3]

काव्य के निर्माण में शक्ति प्रमुख कारण है। वह काव्यत्व की सिद्धि के लिए बीज रूप संस्कार विशेष है। तात्पर्य यह है कि शक्ति काव्यत्व का सर्वप्रमुख साधन है। इस शक्ति के अभाव में काव्य का निर्माण हो ही नहीं सकता है। और अगर किन्हीं कारणों से हो भी जाए तो वह उपहास का ही पात्र बनता है। अर्थात् जो काव्य निर्माण शक्ति सम्पन्न नहीं होता है (प्रतिभा रहित होता है) वह समादरभाजन कहीं नहीं हो सकता है। शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास पृथक्-पृथक् रूप से काव्य के कारण नहीं हो सकते हैं जिस तरह से कि "तृणारणिमणिन्याय" में तिनका, अरणि और मणि तीनों ही पृथक्-पृथक् अग्नि उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इन तीनों का काव्य की उत्पत्ति में सम्मिलित योगदान होता है अथवा तीनों मिलकर एक उत्कृष्ट काव्य का निर्माण कर पाते हैं जैसे कि दण्ड, चक्र आदि के द्वारा ही किसी घट का निर्माण होता है केवल दण्ड अथवा चक्र ही उसकी उत्पत्ति करने में असमर्थ होते हैं।[4]

---

३. शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। मम्मट, काव्यप्रकाश, १।३

४. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः । यां विना काव्यं न प्रसरेत् । प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणाभिधानकोश-कला-चतुर्वर्ग-गज-तुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानाम् काव्यानां च महाकवि-सम्बन्धिनाम् आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता; न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः । काव्यप्रकाश, श्लोक ३ का गद्य भाग

११. विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यहेतु के सन्दर्भ में अपनी ओर से कोई अलग मत प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने अग्निपुराण के मत को अपने साहित्यदर्पण में उल्लिखित कर दिया है। इन दो कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर तो वह मम्मट के मत से सहमत हैं, क्योंकि उन्होंने हेतु के सन्दर्भ में अन्य तत्त्वों की भाँति अपनी ओर से कोई मत प्रस्तुत नहीं किया है। साथ ही अग्निपुराण के उद्धरण को प्रस्तुत करके शक्ति को ही काव्य का प्रमुख एवं एकमात्र हेतु स्वीकार करना चाहिए, ऐसा संकेत भी दे दिया है।

विश्वनाथ ने हेतु का प्रयोग शब्दशः तो नहीं किया है, लेकिन उनके प्रस्तुत कथन से इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध होती है—

"न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्"[५]

जिसके हृदय में रति आदि वासना रूप में रहते हैं अर्थात् जो सहृदय होते हैं, जिसमें संस्कार होता है, वही वास्तव में रसास्वाद कर पाता है। इस कथन से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि विश्वनाथ "शक्ति" विशेष को ही काव्य का हेतु मानने पर बल देते हैं।

१२. जयदेव

"प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ॥

—जयदेव; चन्द्रालोक, १।६

जयदेव श्रुत (शास्त्रज्ञान) और शास्त्र अभ्यास के साथ प्रतिभा आदि तीनों कारणों को सम्मिलित रूप से काव्य निर्माण का कारण मानते हैं। ये तीनों ही कारण काव्य के हेतु ठीक वैसे ही हैं जिस तरह मिट्टी, जल एवं बीज आदि लता की उत्पत्ति करते हैं। यद्यपि उन्होंने प्रतिभा, श्रुत एवं अभ्यास तीनों को एक साथ काव्य का हेतु बताया है किन्तु "प्रतिभैव" प्रयोग करके यह संकेत दिया है कि प्रतिभा काव्य का मुख्य हेतु है। ऐसी प्रतिभा जिसमें कि शास्त्र का ज्ञान, शास्त्र अभ्यास का भी समावेश हो।

१३. जगन्नाथ

उस काव्य का कारण कवि में विद्यमान मात्र प्रतिभा है। साथ ही घटना के अनुरूप शब्दार्थ का उद्घाटन करना प्रतिभा है। उस प्रतिभा का कारण है—एक तो देवता अथवा किसी महापुरुष की अनुकम्पा और दूसरा कारण है विभिन्न शास्त्रों अथवा इतिहासादि का अवलोकन करने और पौनः पुन्येन काव्य निर्माण के लिये प्रवृत्त होना अथवा अभ्यास करना,

---

५. विश्वनाथ; साहित्यदर्पण, ३।९

ये दोनों ही कारण प्रतिभा की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। साथ ही ये तीनों कारण प्रतिभा के प्रति पृथक्-पृथक् कारण हैं उनकी एक साथ अवस्थिति नहीं[६]।

अतः यह तथ्य सामने आता है कि जगन्नाथ को काव्य के लिए प्रतिभा ही मान्य है। उन्होंने व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को स्वीकार तो किया है, किन्तु उसे काव्य-निर्माण का कारण न मानकर प्रतिभा का ही कारण माना है। इस प्रकार व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की उपेक्षा भी नहीं की है फिर भी उनकी स्थिति प्रतिभा के साथ स्वीकार नहीं की है।

१४. ब्रह्मानन्द शर्मा—

ब्रह्मानन्दशर्मा का कथन है कि शक्ति एवं श्रम काव्य का कारण हैं। इन दोनों में भी शक्ति का स्थान प्रमुख है। साथ ही श्रम की भी अपनी महत्ता है। सीधे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि यद्यपि ब्रह्मानन्द जी शक्ति को ही काव्य का प्रमुख कारण मानते हैं लेकिन श्रम के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं।[७]

उन्होंने स्वयं ही कहा है कि शक्ति एवं श्रम काव्य के कारण हैं। कवि को प्राप्त ये शक्ति सामान्य नहीं है, अपितु विशिष्ट है। इसी शक्ति का दूसरा नाम है प्रतिभा। शक्ति सामान्यतः तो किसी न किसी रूप में सर्वत्र परिव्याप्त रहती है (सामान्य व्यक्तियों में भी) और ये जो विशिष्ट शक्ति है, वह केवल कवि को ही प्राप्त होती है। यहाँ पर एक प्रमुख बात यह भी है कि शक्ति केवल श्रम का दिशा निर्देश ही नहीं करती है, श्रम से होने वाला परिणाम भी इस शक्ति के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस शक्ति में श्रम के माध्यम से वृद्धि होती है इसलिए श्रम की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए क्योंकि निरन्तर श्रम करने पर किञ्चित् शक्ति का अर्जन तो होता ही है।[८]

---

६. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः। तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकारणाभ्यासौ।

पण्डितराज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ. २७-२९

७. शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य कारणमिति मे मतिः।
शक्तिरत्र प्रधाना स्यात् श्रमस्याप्युपयोगिता॥

डॉ० ब्रह्मानन्दशर्मा, काव्यसत्यालोक, पंचम उद्योत, श्लोक सं. ६८

८. शक्तिः श्रमश्चेति काव्यस्य हेतुः। कविगता एषा शक्तिर्न हि सामान्या अपितु विशिष्टा। एषैव प्रतिभापरपर्याया। शक्तिसामान्यस्य यथाकथञ्चित् सर्वत्र स्थितिः परं शक्ति-विशेषस्य केवलं क्वाप्येव। शक्तेः श्रमापेक्षया प्राधान्यम्। अत्रायं हेतुर्यच्छक्तिर्न हि केवलं श्रमस्य दिशानिर्धारिणी अपितु श्रमा परिणामेऽप्यस्यते योग्यः। सत्यप्येवमस्याः शक्ते श्रममाध्यमेनैव परिस्फुरणमिति श्रमस्यनुपेक्षणीयता। किञ्च सततश्रमेण शक्तेरप्यंशतोऽर्जनमिति स्वीकार्यम्।

वही, श्लोक सं. ८८ का गद्यभाग

शर्मा जी के इस विचार का यह सार है कि शक्ति काव्य का प्रमुख कारण भले ही हो, श्रम भी काव्य के लिए अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। (निश्चय ही यहाँ श्रम से उनका अभिप्राय अभ्यास से ही रहा होगा, क्योंकि केवल शक्ति की ही सार्थकता नहीं होती है, श्रम करने पर ही शक्ति की उपयोगिता है, अन्यथा नहीं।)

१५. कालिदास

महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के प्रारम्भ में "चाल्पविषया मतिः" का प्रयोग किया है। यद्यपि यहाँ पर काव्य के हेतु की चर्चा नहीं है, क्योंकि यह लक्ष्य ग्रन्थ है; फिर भी "मति" शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने भी शक्ति अथवा प्रतिभा को काव्य का कारण स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में बुद्धि की न्यूनता काव्य का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सकती है।[९]

साथ ही रघुवंश के दशम सर्ग में "अभ्यास" की भी चर्चा की गई है जिससे यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि अभ्यास भी काव्य निर्माण के लिए जरूरी है।[१०]

१६. वामन शिवराम आप्टे—

वामन शिवराम आप्टे ने भी अपने "संस्कृत हिन्दी कोश" में प्रतिभा की परिभाषा दी है—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता—"साथ ही इसके मेधा, प्रखर बुद्धि आदि अर्थ भी दिये हैं। स्पष्ट है कि प्रतिभा ऐसी बुद्धि को कहा गया है जो कि नवीन विषयों का वर्णन करने में समर्थ हो।[११]

१७. बिल्हण

बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित में भी कालिदास के समान ही दो स्थानों पर काव्य के कारण का उल्लेख हुआ है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि व्युत्पत्ति ही सुकवियों की वाणी स्वरूप होती है। अतः व्युत्पत्ति ही उनके अनुसार काव्य निर्माण का कारण है।[१२]

---

९. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ रघुवंश, १।२,३

१०. अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये। वही, १०।२३

११. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी-कोश, पृ. सं. ६५४,

१२. बिल्हण, विक्रमांकदेवचरितम्, १।२६

अब मैं विस्तार में न जाकर उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का सार प्रस्तुत करना चाहती हूँ। इन समस्त विद्वानों के मतों से यह तथ्य प्रस्फुटित होता है कि आनन्दवर्द्धन, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि केवल प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण मानते हैं, इनके अलावा कालिदास भी प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानने के पक्षधर हैं। महर्षि वेदव्यास ने शक्ति, व्युत्पत्ति, विवेक ये तीन कारण गिनाए हैं। रुद्रट, मम्मट, भामह, दण्डी आदि समन्वयवादी आचार्य हैं। उन्होंने शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों को ही एक साथ काव्य का हेतु स्वीकार किया है। मुझे भी मम्मट आदि का मत सर्वोत्कृष्ट लगा क्योंकि उन्होंने न केवल पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का सार ही ग्रहण किया, अपितु साथ ही साथ उसे सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत भी किया।

काव्य की विधाएँ

लेखक—**डा० कैलाशनाथ द्विवेदी** डी. लिट्.,
प्राचार्य, म० प्र० महाविद्यालय, कोंच (जालौन) उ० प्र०

प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्य के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करते हुए उसकी विविध विधाओं का भी विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत काव्य का वर्गीकरण विभिन्न आचार्यों ने विविध दृष्टियों से किया है, जिसका पुरातन आधार अग्नि पुराण[1] की अधोलिखित ३ काव्य विधाएँ हैं—

(१) **श्रव्य काव्य** (सामान्यतः महाकाव्य, गीतकाव्य आदि समस्त काव्य इस विधा में समाविष्ट हैं)

(२) **अभिनेय (दृश्य) काव्य** (इसमें सम्पूर्ण[2] रूपक साहित्य ग्रहण किया जाता है)

(३) **प्रकीर्ण काव्य** (इसमें अन्य लघु रचनाएँ आती हैं, जो १ और २ विधा से भिन्न हैं)

आचार्य भामह ने काव्य की दो विधाएँ—गद्यकाव्य तथा पद्यकाव्य प्रतिपादित कीं—"काव्यं गद्यं पद्यञ्च।" गद्य तथा पद्य को भी रचनानुसार अनेक विधाओं में विभाजित किया गया है। आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने काव्य को ३ विधाओं में विभाजित किया—(१) गद्य (२) पद्य तथा (३) मिश्र। भामहाचार्य एवं दण्डी ने पुनः भाषा के व्यापक आधार पर काव्य की ३ विधाएँ निर्धारित कीं, जिनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—मागध, पैशाच, शौरसेनी उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार आलंकारिक और रीतिवादी आचार्यों ने महाकाव्य, कथा-आख्यायिका, चम्पू तथा नाटक-प्रकरण आदि विविध[3] रूपकों को उल्लिखित कर काव्य की विविध विधाएँ प्रतिपादित की हैं।

ध्वनिवादी सुप्रसिद्ध आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की प्रमुखतः दो विधाएँ प्रतिपादित की हैं—ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य। इनसे भिन्न को वे 'काव्याभास' स्वीकार करते हैं, जिसे

---

१. "श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः।" (अग्नि पुराण)

२. साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की मात्र दो विधाएँ ही मानी हैं—
दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥ (साहित्यदर्पण ६।१)

३. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥ (साहित्यदर्पण ६।३)

मम्मट प्रभृति आचार्यों ने 'चित्रकाव्य' (अवर काव्य) कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य की प्रथमतः (i) दृश्य तथा (ii) श्रव्य २ विधाएँ मानकर दृश्य के पाठ्य तथा ज्ञेय दो भेद एवं श्रव्य काव्य की—महाकाव्य, कथा (आख्यायिका), रूपक (नाटकादि), चम्पू, अनिरुद्ध—**पाँच विधाएँ** प्रतिपादित की हैं। समासतः काव्य शास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने काव्य की विविध विधाएँ स्वीकार की हैं।

काव्यप्रकाशकार, वाग्देवतावतार मम्मटाचार्य ने ध्वनिवादी प्रसिद्ध काव्य की अधोलिखित **तीन विधाएँ** प्रतिपादित की हैं—

(१) **उत्तम काव्य** (ध्वनिकाव्य)

(२) **मध्यम काव्य** (गुणीभूतव्यंग्य काव्य)

(३) **अवर काव्य** (चित्रकाव्य)

(१) **उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य)**—उत्तम काव्य का परिपूर्ण लक्षण आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य में सन्निहित माना है—

"प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्।"

—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

—ध्वन्यालोक

इसी आधार पर आचार्य मम्मट ने उत्तम काव्य विधा का यह वैशिष्ट्य व्यक्त किया है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

—काव्यप्रकाश १।४

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने (वाच्य) अर्थ को गुणीभूत करके उस व्यंग्य रूप विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य को विद्वानों ने ध्वनि (उत्तम काव्य) कहा है, अपने मत के प्रतिपादन में मम्मटाचार्य ने वैयाकरणों के भी मत का उल्लेख किया है—**"इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटव्यंग्य-व्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्य-व्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।"**

यहाँ 'इदम्' का अभिप्राय काव्य है। 'बुधैः' का अभिप्राय यह कि वैयाकरणों ने प्रधानतः 'स्फोट' रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' शब्द को व्यवहृत किया है। उनके बाद उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले 'अन्यों' अर्थात् ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना कराने में समर्थ शब्दार्थ युगल को ध्वनि नाम से व्यवहृत किया। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र में 'स्फोट' की **"ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति अर्थं यस्मात् सः स्फोटः"** की अभिव्यक्ति

शब्द से होने के कारण वैयाकरण 'स्फोट' रूप वैयाकरणों के मत का अनुसरण करके आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी आधार पर वाच्यार्थ को गुणीभूत करके (दबाकर) व्यंग्यार्थ की व्यंजना कराने में समर्थ शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। आचार्य मम्मट के मतानुसार 'ध्वनि' शब्द का अर्थ है—काव्य प्रधान शब्दार्थ—युगल रूप काव्य। इस उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य के उदाहरण में उन्होंने यह पद्य प्रस्तुत किया है—

"निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागाधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥"

· काव्यप्रकाश १।२

यहाँ पर वस्तुतः जो अर्थ है, वह है—'तू तो उसी के साथ रतिक्रीड़ा करने गई थी।' और यह अर्थ व्यंग्य अर्थ है (न कि वाच्य), जिसमें 'अधम' पद विशेषतया व्यंजक है। यहाँ पर नायिका का अपने प्रियतम की उपेक्षा तथा दूती के वापी स्नान के बहाने जाने पर नायक के संग-साथ के उपभोग पर क्षोभ व्यंजित है। इस व्यंग्यार्थ में जो काव्य सौन्दर्य है, वह ऊपर के पदों के वाच्यार्थ में कहाँ? अतः इसे उत्तम काव्य का उदाहरण मानना सर्वथा समीचीन ही है।

(२) मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यंग्य)—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं होता है, अपितु वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण रहता है, उसे मध्यम काव्य कहा जाता है। मम्मट की मान्यता इस सम्बन्ध में यह है—

"अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।"—काव्यप्रकाश १।३

अर्थात् व्यंग्यार्थ के वैसा अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कार न होने पर मध्यम काव्य होता है। इसे काव्य तत्त्वविदों ने 'गुणीभूतव्यंग्य' कहा है तथा आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे ही 'मध्यम काव्य' की संज्ञा प्रदान की है। इस मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है तथा वाच्यार्थ अधिक रमणीय एवं चमत्कारी होता है। मम्भटाचार्य ने 'मध्यम काव्य' के उदाहरण में इस पद्य को प्रस्तुत किया है—

"ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥"

—काव्यप्रकाशः, १।३

यहाँ 'वञ्जुललतागृह' में तरुणी (नायिका) तरुण (नायक) से मिलन का वचन देकर भी नहीं आयी। यह व्यंग्यार्थ है, जो कि वाच्यार्थ "मुखच्छाया का मलिन हो जाना" की अपेक्षा गौण हो गया है। अतः यहाँ पर वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार-जनक है। अतएव यह 'गुणीभूतव्यंग्य' अथवा मध्यम काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। आचार्य

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में भावा[४]लंकार के उदाहरण में इस पद्य को उद्धृत किया है। उत्तम काव्य (ध्वनि काव्य) और मध्यम (गुणीभूतव्यंग्य) काव्य में प्रमुख अन्तर यह है कि एक में व्यंग्यार्थ के सौन्दर्य का अनुभव तथा दूसरे में व्यंग्यार्थगर्भित वाच्यार्थ की चमत्कारिता की प्रतीति। जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

> **"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।**
> **यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥"[५]**

(३) **चित्रकाव्य (अवर अथवा अधम काव्य)** – उत्तम तथा मध्यम काव्य के अतिरिक्त काव्य की एक तृतीय विधा अवर अथवा अधम काव्य है, जिसका स्वरूप आचार्य मम्मट ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> **"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्"** — काव्यप्रकाश १।५.

अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ नहीं होता है, वह अधम अथवा अवर काव्य कहा जाता है। इसे ही काव्यमर्मज्ञों ने शब्द चित्र तथा अर्थचित्र काव्य कहा है। इसका दूसरा नाम चित्रकाव्य भी है। यह गुणयुक्त होता है, किन्तु यदि इसमें गुण हैं तो रस भी अवश्य होना चाहिए। यहाँ पर चित्र शब्द का अर्थ है गुण तथा अलंकारयुक्त। जहाँ पर शब्दों का चमत्कार होता है, वह काव्य शब्द चित्र कहा जाता है तथा जहाँ पर अर्थ चमत्कार की प्रधानता पायी जाती है, वह काव्य अर्थ चित्र होता है, जैसा कि पाश्चात्य[६] काव्यालोचकों ने भी इस सम्बन्ध में अपनी अवधारणा व्यक्त की है—

"Sometimes the mere exercise of a consummate craftmanship creats, almost inspite of itself, something which might be called art. The adequate use of language simply as a communicative vehicle has a literary value of its own. The recognition of competence in verbal expression, the sheer pleasure of seeing language handled by someone, who is its master not its slave is an experience that can be enjoyed only by the reader."[३]

शब्द चित्र का अधोलिखित उदाहरण आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है, जिसमें शब्दों एवं वर्णों का कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग दृष्टिगत होता है—

---

४. काव्यालंकार ७।३८, यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धहेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसो॥

५. ध्वन्यालोक ३।२५

६. greene—The Arts And the Art of Criticism, P. 104.

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-,
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥"

—काव्यप्रकाश १।४

इस उद्धरण में यद्यपि मन्दाकिनी विषयक प्रीति (रतिभाव) अभिव्यक्त है, 'व्यतिरेक अलंकार' व्यंग्य है तथापि यह व्यंग्य अस्फुटतर है तथा इसमें कवि का तात्पर्य प्रतीत नहीं होता है। कवि का तात्पर्य तो अनुप्रास की छटा प्रदर्शित करना है, जिसमें द, छ, र, म आदि अनेक वर्णों की बारम्बार आवृत्ति से चमत्कार उत्पन्न करने के प्रयास में व्यंग्य तिरोहित हो जाता है। अतः यह अव्यंग्य रूप अधम काव्य के शब्द चित्र का एक अच्छा उदाहरण है।

इसी प्रकार अर्थ चित्र का यह उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥

—काव्यप्रकाश १।५

यद्यपि इस उद्धरण में हयग्रीव का वीरभाव व्यंग्य है, तथापि कवि का तात्पर्य प्रमुखतः उत्प्रेक्षा अलंकार में ही है। **'निमीलिताक्षीव'** के द्वारा कवि ने द्वार बन्द की हुई अमरावती में भय से निमीलित नेत्रों वाली नायिका की सम्भावना की है तथा यही उत्प्रेक्षा विशेषतः चमत्कारजनक है। यहाँ चूंकि काव्य का चमत्कार उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार के अश्रित है, यहाँ अन्य कोई भी स्पष्टतया प्रतीयमान व्यंग्यार्थ न होने के कारण यह अर्थचित्र अथवा वाच्य चित्र काव्य का एक अच्छा उदाहरण है।

समीक्षा—काव्य की विधाएँ निर्धारित करते हुए आचार्य मम्मट ने चित्र काव्य विषयक **ध्वनिकार**[७] की मान्यता को ही समर्थित किया है—'अवर काव्य सम्बन्धी दृष्टि का नहीं, क्योंकि जो वस्तु 'अवर' होती है वह निषिद्ध होती है—चित्र काव्य निषिद्ध नहीं! निषिद्ध तो इसका दुरुपयोग है। वस्तुतः मम्मट के काव्य विधा-निरूपण से यह महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ कि पहले जो काव्य के अनेक रूप प्रचलित थे, उन्हें सर्वस्वीकार्य एकरूपता तथा स्पष्टता प्राप्त हुई है। आज भी संस्कृत काव्य साहित्य इन सभी विधाओं में जीवन्त होकर संसार की अशेष भाषाओं में मूर्धन्य स्थान प्राप्त किये हुए हैं। इत्यलम् ॥

---

७. "प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् तत्तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रं शब्दार्थभेदे द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥" ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन

महाकाव्य तत्वविमर्शः

लेखक—डा० रहसबिहारी द्विवेदी
एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, विद्यावाचस्पति,
उपाचार्य, संस्कृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर, (म० प्र०)

संस्कृत की अन्य संरचनात्मक प्रवृत्तियों में महाकाव्य का समधिक महत्त्व है। महाकाव्य का रचनाफलक अधिक वृहद् होने के कारण अन्य काव्यांगों की अपेक्षा इसमें जीवन को विस्तृत फलक पर चित्रित किया जाता है। मानव-जीवन के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही रूप इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। इसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की जटिल समस्याओं का गम्भीर उदात्त, विचारोत्तेजक और सरस वर्णन होता है। महाकाव्य में छन्दों की योजना से उसमें लयात्मकताका संचार होता है। लयात्मकता के कारण सहृदय की वृत्तियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, जिनसे रसोद्रेक में सहायता पहुँचती है। महाकाव्य सामंजस्य का महाराग है। इसमें लौकिकता-अलौकिकता, मानवता-दानवता, सुन्दरता-असुन्दरता का चित्रण होता है। इसमें तम पर प्रकाश का, असत् पर सत् का और मृत्यु पर विजय का उद्घोष रहता है। महाकाव्य जीवन की विविधता को एक-रूपता प्रदान करता है। मानव के विकास और इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ ही इससे यश, अर्थ आनन्द और व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।[1] महाकाव्य स्वान्तः सुखाय भी होता है बहुजन हिताय भी। महाकाव्य में व्यक्त वर्णन के माध्यम से अव्यय सत्य की ओर संकेत किया जाता है। महाकाव्य प्रतिभा, लोकशास्त्र नैपुण्य और काव्यरीति की विशाल पृष्ठभूमि में काव्यकर्ता को परीक्षित होने का अवसर प्रदान करता है[2]। मानव चरित्र से रहस्यमय और उलझा हुआ और कुछ नहीं है। ऐसे गहन चरित्र की योजना पर महाकाव्य की सफलता बहुत दूर तक निर्भर रहती है। जो कवि यह नहीं समझता कि दुःख में मानव के भाव क्या होते हैं? सुख में उल्लास का प्रतिफलन किस प्रकार होता है, निर्वेद में मन की स्थिति क्यों सुस्थिर रहती

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ काव्यप्रकाश (१।२)

२. शक्तिर्निपुणतालोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्मास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ काव्यप्रकाश (१।३)

है ? क्रोध में क्या संवेगात्मक परिवर्तन होता है ? प्रकृति के एक ही उपादान संयोग और वियोग में किस प्रकार भिन्न दिखते हैं ? वह महाकाव्य का प्रणयन नहीं कर सकता । अतः महाकाव्यकर्ता को इन सबके उदारदर्शन और अनुव्याहरण में पटु होना चाहिए । इन रागात्मक वृत्तियों के सूक्ष्म अभिज्ञान के साथ इनके संतुलन और समीकरण की आवश्यकता होती है ।

लक्ष्यग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षणग्रंथों का निर्माण होता है । लक्षणकार मात्र अपने समक्ष उपस्थित एक आदर्श को शास्त्रीय शब्दावली में प्रस्तुत कर देता है । जिन कृतियों को देखकर काव्यशास्त्री लक्षण निर्मित करता है वे तो मौलिक उद्भावनाओं से परिपूर्ण होती हैं किन्तु जो काव्य-कृतियाँ इन लक्षणों के निकष पर बाद में लिखी जाती हैं वे रूढ़िग्रस्त हो जाती हैं । अतः जो काव्यकार इस मर्म को समझ लेता है, वह लक्षणों परिभाषाओं और इंगित आदर्शों की परिखा पर आँख मूंद कर नहीं चलता । पहले तो ऐसी कृतियों को परम्परावादी आलोचक परम्पराच्युत कहकर शंका की दृष्टि से देखते हैं किन्तु बाद में जब ये कृतियाँ काल के निकष पर कंचन की भाँति चमकने लगती हैं और सहृदय के गले का हार बन जाती हैं । तब यह परिवर्तन मान्य और अनुकरणीय बन जाता है । कभी-कभी मौलिकता के नाम पर जो असंस्कृत और उदात्तकलारहित प्रयोग दृष्टिगत होते हैं वे सहृदय-हृदय-संवेद्य न होकर उपहासास्पद हो जाते हैं ।

महाकाव्यसंरचना में एक ओर नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी कवियों ने जहाँ अविश्रान्त प्रयास किया, वहाँ दूसरी ओर अपनी युगीन परिस्थितियों तथा प्रणीत महाकाव्यों को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए । महाकाव्य की विविध परिभाषाओं से यह सिद्ध होता है कि काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा महाकाव्य की परिभाषा अधिक परिवर्तनशील रही है क्योंकि महाकाव्य जनजीवन से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहता है और जन-जीवन की धारणायें युग प्रभावानुसार बदलती रहती हैं ।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में आचार्य "भामह" ने सर्वप्रथम महाकाव्यलक्षण निर्धारित किया है । भामह का कथन है कि उन्होंने सत्कवियों के मतों को देखकर तथा स्वयं की मेधा से महाकाव्यादि का लक्षण ग्रथित किया है (काव्यालंकार ६।६४) । भामह के इस कथन के आलोक में जब हम विशेष रूप से वाल्मीकीय रामायण को देखते हैं तब उसमें महाकाव्यलक्षण के सांगोपांग सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं ।[३] कवि के कल्पनाराज्य में महाकाव्य के विशाल भवन का मानचित्र विद्यमान रहता है, जिसके अनुसार वह उसके विधिवत् निर्माण में सफल होता है । अतः अन्यान्य रचनाओं में ऐसे सूत्रों का प्राप्त होना स्वाभाविक है ।[४]

---

३. द्रष्टव्य—सागरिका १३।२ में प्रकाशित मेरा शोधपत्र—"रामायणे कण्ठतोऽपि कृतं महाकाव्यलक्षणम्"

४. (क) महाभारत आदि पर्व अनुक्रमणिका प्रथमाध्याय—६१-६३, ७३, १२८
(ख) रघुवंश १।१, (ग) शिशुपालबध—१९।४१ इत्यादि ।

भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् ।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम् ।।

मन्त्रदूत-प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ।।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।।

काव्यलंकार १।१९-२१

भामह का यह प्राचीनतम उपलब्ध लक्षण है और संक्षिप्ततम है । तथापि इसमें महाकाव्य संबंधी कोई मौलिक आधारभूत विशेषता नहीं छूटी है, न इसमें उत्तरवर्ती लक्षणों की कठोरता और रूढ़िबद्धता ही है । इसकी व्यापकता और उन्मुक्तता महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है ।

भामह के अनुसार महाकाव्य उसे कहेंगे जो (१) सर्गबद्ध, (२) महान् चरित्रों से संवद्ध, (३) आकार में बड़ा (४) ग्राम्य शब्दों से रहित, (५) अर्थ सौष्ठव से संपन्न, (६) अलंकार से युक्त (७) सदाश्रित (८) मंत्रणा, दूत-प्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय तथा (९) नाटकीय पंच संधियों से समन्वित, (१०) अनति व्याख्येय एवं (११) ऋद्धि-पूर्ण है, (१२) निरूपण उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का हो परन्तु प्रधानता अर्थ की रहे (१३) लौकिक व्यवहार का अतिक्रमण न हो तथा (१४) सभी रस असंकीर्ण रूप से विद्यमान हों ।

उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं का विश्लेषण करने पर इनमें १ और ३ का सम्बन्ध वन्ध तथा आकार से, २ और ७ का नायक से, ४, ५, ६, १० का अभिव्यंजना से ८, ११, १२, १३ का वर्ण्य से, ९ का रचनाविधान से, १३ का औचित्य से तथा १४ का आस्वाद्यता से है ।

आकार के विषय में भामह ने कोई सीमा निर्धारित नहीं की और बाल्मीकि[५] की तरह केवल "महत्" कह दिया । उत्तरवर्ती लक्षणकारों द्वारा "महत्" की अधोवर्ती तथा ऊर्ध्ववर्ती सीमा निर्धारित कर दी गई आठ सर्ग से कम और तीस सर्ग से अधिक न हो ।[६]

---

५. किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः ।
कर्ता काव्यस्य महतः क्वासौ च मुनिपुंगवः ।। बा० रा० उ० ९४।२४

६. अष्टसर्गान्नतु न्यूनं त्रिंशत् सर्गाच्च नाधिकम्—ईशानसंहिता तथा "नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह" । साहित्यदर्पण ६।३२०

महाकाव्य की पटभूमि जैसी व्यापक रहती है उसका सम्यक् निर्वाह संक्षिप्तता में नहीं हो सकता और उसे बहुत विस्तृत भी नहीं होना चाहिए क्योंकि पाठक अत्यन्त विशालकाय काव्य पढ़ते-पढ़ते ऊब सकता है। इस धारणा के अनुसार अतिसंक्षिप्तता और अतिविस्तार दोनों ही दोष माने गए हैं। वस्तुतः उत्तरवर्ती आचार्यों को यदि आकार की सीमा अभीष्ट ही थी तो उन्हें सर्ग के स्थान पर छन्दः संख्या नियत करनी थी। कहने को श्रीहर्ष का "नैषधीय चरितम्" २२ सर्गों का महाकाव्य है पर उसका प्रत्येक सर्ग "किरातार्जुनीयम्" (भारवि) आदि काव्यों की तुलना में प्रायः दुगुना है। इसलिए वह २२ का होकर भी ४४ सर्गों का काव्य हुआ। इसी प्रकार गत दशक (१९६१-७० ई०) में प्रणीत काव्यों में "तिलकयशोऽर्णवः" के कुछ सर्ग ४०० पद्यों के हैं और "गंगासागरीयम्" की कुल पद्य संख्या ५०० से कम है, इसलिए गंगासागरीयम् तिलकयशोऽर्णवः के दो सर्ग से भी कम है। इस दृष्टि से "गंगासागरीयम्" सवा सर्ग का काव्य हुआ। वस्तुतः सर्ग और पद्य संख्या दोनों का परिसीमन उचित नहीं है। इसमें प्रतिपाद्य विषय के अनुसार कवि की अनुपात बुद्धि का नियमन ही मान्य होना चाहिए। आलोचक जब "रामचरितमानस" तथा 'कृष्णायन' को सात काण्ड का कहकर सर्ग संख्या की न्यूनता पर विचार करते हैं तब उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस का बालकाण्ड तथा कृष्णायन का अवतरण काण्ड ही उत्तरवर्ती कुछ महाकाव्यों के सम्पूर्ण आकार से बड़ा है। वाल्मीकीय रामायण से बात और स्पष्ट हो जाती है जहाँ से महाकाव्य की संकल्पना का श्रीगणेश होता है। उसमें किसी काण्ड में ६८ सर्ग से कम संख्या नहीं हैं कुछ काण्ड तो शताधिक सर्गों के हैं। रामायण के काण्डों की सर्ग की संख्यायें प्रायः परवर्ती सुप्रसिद्ध काव्यों के सर्गों की पद्य संख्याओं के बराबर हैं। इसलिए महाकाव्य के आकार के सम्बन्ध में भामह का "महत्" शब्द ही समधिक उपादेय है।

नायक के संबन्ध में भामह ने यह नहीं कहा कि देव हो या मनुष्य, ब्राह्मण या हो क्षत्रिय ! उन्होंने केवल इतना ही कहा कि महाकाव्य का वर्णनीय मुख्यपात्र "महान्" और "सत्" हो। इन दो विशेषणों से नायक विषयक समस्त समीहित विशेषताएँ भामह ने समाहित कर दी हैं। इन दो ही शब्दों की व्याख्या में तथा अपने समय तक प्रणीत कुछ महाकाव्यों के नायकों को दृष्टि पथ में रखकर दण्डी,[७] रुद्रट[८] और विश्वनाथ[९] आदि आचार्यों ने कुछ अन्य विशेषताएँ जोड़ दीं फिर भी बात कुछ बनी नहीं। इन आचार्यों की दृष्टि से नायकों की परीक्षा करने पर अनेक प्रशस्त कृतियाँ महाकाव्य नहीं कही जा सकती। गतदशक (१९६१-७०) में प्रणीत स्वामिविवेकानन्दचरितम् "गान्धिचरितम्" तिलकयशोऽ-

---

७. चतुरोदात्त नायकम्—काव्यादर्श-१।१५

८. तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्तप्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यसेत्॥ काव्यालंकार १६।८

९. तत्रैको नायकः सुरः, सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा। साहित्यदर्पण-६।३२६

र्णव:, "सुभाषचरितम्" और "गंगासागरीयम्" में मुख्यपात्र (नायक) सीता और गंगा आदि रुद्रट के अनुसार विजिगीषु नहीं हैं, किन्तु ये पात्र भामह के "महत्" और "सत्" के निकष पर सर्वात्मना खरे उतरते हैं।

सर्वप्रथम नायक के सम्बन्ध में आदि कवि ही नहीं काव्यशास्त्र के भी आचार्य महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापनायें की थीं। उस अवधारण में उन्होंने महाकाव्य वस्तु[10] आदि को भी समेट लिया था। आदि कवि ने वाग्विदांवर तपस्वाध्यायनिरत त्रिलोकज्ञ नारद से इस संदर्भ में विचार-विमर्श भी किया,[11] परन्तु उस महान् वाग्विद और स्वाध्यायी को कुछ बोलने देने के पहले अपने मनश्चक्षुओं के समक्ष झूमते हुए काव्यार्ह चरितनायक के स्वरूप को अत्यन्त कुतूहल के साथ प्रस्ताव के रूप में रखा। प्रस्तावानुसार त्रिलोकज्ञ[12] (नारद) ने सहज ही तदनुकूल समीहित और साम्प्रतिक नायक बता दिया। महाकाव्य तत्त्वानुशीलन की दृष्टि से प्रस्ताव के उत्तर का उतना महत्त्व नहीं है क्योंकि वह सामान्य नहीं विशेष है। आदि कवि का प्रस्तावित और समीहित नायक स्वरूप उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है—

> "को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके" गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
> धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
> चारित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
> विद्वान् कः कः समर्थश्च कस्यैक प्रियदर्शनः॥
> आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
> कस्य बिभ्यति देवाश्च जात-रोषस्य संयुगे॥
> एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
> महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं "नरम्"॥
> बा० रा० बा० १।२-५

बाल्मीकि ने नायक के संबन्ध में तीन महत्वपूर्ण बातें कहीं:—

१. आधुनिक लोक में विख्यात (को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके)

२. उदात्त गुणों से युक्त और

---

१०. द्र० बा० रा० बा० ३।३५, ३।१, २।८

११. तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ बाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्॥ बा० रा० बा० १।१

१२. श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो" बाल्मीकेर्नारदो वचः। बा० रा० बा० १।६
इस संदर्भ में विचार करने पर काव्यप्रकाश के काव्यशिक्षयाभ्यासः" का स्वारस्य स्पष्ट हो जाता है।

३. कोई भी नर। पर फिर भी भामह ने केवल "महत्" कहा। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय तक "कुमारसम्भव" तथा "रघुवंश" की रचना हो चुकी थी और देवता तथा रघुवंशीय ऐतिहासिक पात्रों को भी नायक के रूप में देखकर उन्होंने "नर" तथा वर्तमान लोक में 'विख्यात' दोनों बातों को कहना उचित नहीं समझा। वर्तमान लोक में विख्यात महापुरुष प्रथम वाक्य में ही कहकर आदि कवि ने आधुनिक महापुरुष को नायक बनाने पर इसलिए बल दिया क्योंकि उससे सामाजिक को विषयवस्तु हृदयंगम करने में सुविधा रहती है और कवि को उसके लोक-नायकत्व की युगानुरूप स्वाभाविक प्रतिष्ठा के लिए कोरी कल्पनाओं पर नहीं आधारित रहना पड़ता, तत्कालीन महापुरुष के उदात्त गुणों का प्रामाणिक और शाश्वतिक आकलन भी हो जाता है, जिसका रसास्वादन वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के लिए आह्लादक और प्रेरणाप्रद होता है। कहना न होगा कि वाल्मीकि ने स्वयं भी ऐसा ही किया है। इस युग में वाल्मीकि के इस आदर्श की शोभन प्रतिष्ठा हुई है। आधुनिक महाकाव्य 'तिलकयशोऽर्णवः' के प्रणेता श्री माधव अणे ने बाल्मीकि की भाँति अपने महाकाव्य में स्वयं को भी एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक महाकाव्यों में आधुनिक लोकनायकों को 'नायक' बनाया गया है। 'गणपतिसम्भवम्' प्रभृति में नायक को युगानुरूप लोकनायकत्व का आस्पद प्रदान किया गया है। इन महाकाव्यों के नायक वाल्मीकि की कसौटी पर कंचन की भाँति चमक रहे हैं। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सम्प्रति शिवाजी का 'क्षत्रपति,' बालगंगाधर 'तिलक' का "लोकमान्य", महात्मागान्धी का "राष्ट्रपिता" और "महात्मा", सुभाषचन्द्रबोस का 'नेताजी', जवाहरलाल नेहरू का 'शान्तिदूत' और 'चाचा'-अभिधान अन्य विशेष से रहित होने पर केवल इन्हीं का अवबोधक है, अवबोधक होने के साथ लोक-नायक के रूप में जनतागत अभिस्वीकृति का पुष्ट प्रमाण भी है।

अभिव्यंजना के संदर्भ में महाकाव्य लक्षण लिखते समय विश्वनाथ ने कुछ नहीं कहा, दण्डी ने अलंकृत[१३] शब्द ही पर्याप्त समझा, विद्यानाथ ने[१४] नगर, पर्वत आदि अठारह वस्तुओं के वर्णन को ही महाकाव्य बता दिया और अन्य विषयों की चर्चा नहीं की आदिकवि के प्रयोग तथा कण्ठतः उपात्त[१५] आदर्श के आधार पर भामह ने अभिव्यंजना-पक्ष में चार बातों पर विचार किया है—शब्द, अर्थ, अलंकार और अनतिव्याख्येयता। संभवतः दण्डी विश्वनाथादि ने जिस शब्द-सौष्ठव, अर्थरमणीयता तथा अलकार-योजना का विधान किया, वे सभी रस के अंग हैं। अतः इन आचार्यों ने इनके पृथक् उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं

१३. अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥ काव्यादर्श-१।१८

१४. प्रतापरुद्रीय, काव्य प्रकरण-६८-७०

१५. उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैः—तथा तदुपगतसमास सन्धियोगं समयघुरोपनतार्थं वाक्यवद्धम्
—० बा०रा०बाल० २१४२, ४३

समझी। इस सन्दर्भ में भामह ने स्पष्ट उल्लेख कर महाकाव्यकार को अत्यन्त सतर्क करने का श्लाध्य प्रयास किया है। शब्द और अर्थ रस निष्पत्ति के साधन हैं, साधन में त्रुटि रहने पर साध्य निर्दोष नहीं रह सकता। इसके लिए उनका अतिशय महत्वपूर्ण विशेषण है—"नातिव्याख्येयम्"। यदि काव्य भी अतिव्याख्यापेक्षी हो गया तो काव्य और शास्त्र में अन्तर ही क्या रहा ?"[१६] काव्य की सार्थकता तो इसमें है कि उसमें कवि अपने गम्भीर लोकशास्त्राद्यपेक्षणजन्य ज्ञान को अतिशय सुगम-सरस बनाकर प्रस्तुत कर दे। एक तो क्लिष्ट काव्य मात्र विद्वानों के लिए उपयोगी होता है, दूसरे क्लिष्टता निश्चित रूप से रसानुभूति में बाधक होती है अतः प्रसादसम्पन्नता उसकी अतिशय अभिलषणीय विशेषता है जिसे भामह ने 'नातिव्याख्येयम्' के द्वारा व्यक्त किया और आनन्दवर्धन तथा रूद्रट ने भी इसका समर्थन किया।[१७]

वर्णनीय विषयों में भामह ने मन्त्रणा, दूत-संप्रेषण आदि की चर्चा की और 'ऋद्धिमत्' के द्वारा उन समस्त वैभवों (नागरिक एवं प्राकृतिक) का अभिव्यंजन कर दिया जो काव्य में वर्णन की दृष्टि से उपयोगी हैं। दण्डी-विश्वनाथ-आदि ने इनकी सूची एकाधिक कारिकाओं में गिनाई है।[१८] प्रकृति वर्णन-आदि विभाव के रूप में रसोत्पत्ति के लिए और भारतीय जनमानस में समायी इस विशाल देश की धरती के अशकलित आकलन में अत्यन्त उपयोगी होने के कारण वर्णनीय गाने गए। यद्यपि आगे चलकर प्रकृति वर्णन रूढ और निष्प्राण हो गया परन्तु प्राचीन वाल्मीकि आदि रससिद्ध कवियों की कृतियों में उनका सन्निवेश कोरे वर्णन के लिए नहीं था। भारत तथा अन्य देशों की संस्कृति और सभ्यता में मौलिक अन्तर है। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति या ज्ञान का विकास वनों के निभृत, उन्मुक्त, सुषमाशाली और सात्त्विक वातावरण में होकर तब नगरों में आया। अन्यत्र उनका विकास प्रायः नगरों में हुआ। अतः भारतीय कवि का प्रकृतिसान्निध्य आरोपित नहीं स्वाभाविक था। बाद के काव्यशास्त्रियों द्वारा गिनाई गई सूचियों के अनुसार वर्णनीय विषयों का सन्निवेश करने के प्रयास में अनेक काव्यों के वर्णन अस्वाभाविक और कथावस्तु से असंपृक्त

---

१६. क्लिष्ट काव्य का विरोध भामह ने अनेक स्थानों पर किया है।
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव दृन्त दुर्मेधसो हताः॥ काव्यालंकार २।२०

१७ प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यवन्धाः सुखावहाः। ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा॥ ध्वन्यालोक-३।३६ इसी प्रकार रुद्रट भी कठिन काव्य के विरोधी हैं। द्रष्ट० का० ल० रू० १२।१,२

१८. नगरार्णव शैलर्तुचन्द्रार्कोदय वर्णनैः, उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः। विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि। काव्यादर्श १।१६, १७ प्रायः यही सब विश्वनाथ ने भी गिनाया है द्र० साहित्य दर्पण-६।३२२-२३

हो गए हैं अत: सूची की अपेक्षा भामह का 'ऋद्धिमत्' और वाल्मीकि का 'समुद्रमिव रत्नाढ्यम्'[१९] विशेषण अपेक्षाकृत अधिक उचित है। वैसे वर्णनीय विषयों के संबन्ध में दण्डी ने सूची प्रस्तुत करने के बाद भी इन्हें अनिवार्य नहीं अपेक्षित ही माना है।[२०] इसी प्रकार विश्वनाथ का 'यथायोग'[२१] शब्द महाकाव्यवस्तु से सामंजस्य के लिए उचित वर्णनीय विषयों के समावेश का अभिव्यंजक है।

महाकाव्य में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का सामान्यतया प्रतिपादन रहने पर भी भामह ने अर्थ की प्रधानता स्वीकार की है। इसके दो कारण हैं—एक तो काव्य प्राय: निवृत्तिपरक न होकर प्रवृत्तिपरक और लौकिक आनन्द और अभ्युदय के साधक थे। दूसरा उनके समय की सामन्ती व्यवस्था और राजदरबारी वातारण में महाकाव्यों की रचना हुई जिनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था। अधिकांश काव्यनायकों का राजा होना इस बात का प्रमाण है। अत: 'मन्त्रदूत-प्रयाणजि-नायकाभ्युदयैश्च यत्' का ग्रहण हुआ है। इस पृष्ठभूमि में 'भूयसार्थोपदेशकृत्' का स्वारस्य स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में वाल्मीकि[२२] ने 'कामार्थगुण' के संयोग की अपेक्षा व्यक्त करते हुए 'धर्मार्थगुण' के विस्तार पर बल दिया है। दण्डी[२३] ने किसी एक वर्ग पर बल न देकर चतुर्वर्ग फलायत्तम्' कहा है और विश्वनाथ[२४] ने चारों वर्गों के संग्रथन के साथ काव्य फल के रूप में किसी एक वर्ग को स्वीकार किया है।

महाकाव्य-रचना विधान में भामह ने 'पंचसन्धियों' (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति) के समन्वय का उल्लेख किया है। पंचसंधियों की कल्पना यद्यपि प्रारम्भ में रूपकों को सामने रखकर हुई किन्तु बाद में वे महाकाव्य की योजना के लिए उपयोगी समझी गयी। नाट्यसन्धियों के प्रयोग से कथावस्तु विन्यास में क्रमबद्धता आती है अत: महाकाव्य में इनकी आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ। प्राय: महाकाव्य-रचना-विषयक धारणा व्यक्त करने वाले सभी आचार्यों ने नाट्यसन्धियों के समन्वय की चर्चा की है। आनन्दवर्धन[२५] इस बात पर बल देते हैं कि सन्धि और सन्ध्यंगों की योजना केवल शास्त्र

---

१९. बा० रा० बालकाण्ड-३।८

२०. न्यूनमप्यत्र यै: कैश्चिदंगै: काव्यं न दुष्यति।
यद्युपादेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विद:॥ काव्यादर्श १।२०

२१. द्र० साहित्यदर्पण-६।३२४

२२. कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुति मनोहरम्॥ बा० रा० बाल ३।८

२३. काव्यादर्श—१।१५

२४. 'चत्वारस्तस्य वर्गास्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्' साहित्यदर्पण-६।३१८

२५. 'सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥ ध्वन्यालोक-३।१२

स्थिति के सम्पादन की इच्छा से न करके रसाभिव्यंजन की दृष्टि से की जानी चाहिए। विश्वनाथ[२६] ने सन्ध्यंगों की योजना अनिवार्य नहीं मानी है और उनके यथालाभ प्रयोग का उल्लेख किया है। रुद्रट[२७] ने संधियों को परस्पर संबद्ध रूप से व्यवहृत करने को कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ के समय तक सन्धि-सन्ध्यंगों के प्रयोग में कुछ शैथिल्य दिखने लगा था, अतः उन्होंने सन्धियों की स्थूल आवश्यकता पर बल दिया और सन्ध्यंगों की अनिवार्यता समाप्त कर दी।

औचित्य की दृष्टि से भामह ने एक महत्त्वपूर्ण अंश प्रस्तुत किया 'लोकस्वभाव'। लोकस्वभाव' केवल लौकिक आचार-व्यवहार का बोधक ही नहीं उस महनीय तत्त्व का भी व्यंजक है जिसे इनके पूर्ववर्ती वाल्मीकि[२८] ने 'स्वराष्ट्ररंजन' कहा था और बाद में आनन्द-वर्धन ने 'औचित्य' कहा। लोक-स्वभाव और औचित्य इतने संश्लिष्ट हैं कि उन्हें पृथक् करके देखना दुर्भर है। लोक-स्वभाव के पालन को ही औचित्य कहते हैं और उल्लंघन को ही अनौचित्य। जो जैसा है या जैसा होना चाहिए, उससे भिन्न वर्णन में अनौचित्य आता है और वह रस भंग का प्रमुख हेतु है।[२९] भामह के 'लोकस्वभाव' को ही आनन्द वर्धन ने 'औचित्य' कहा है।[३०]

महाकाव्य की आस्वाद्यता के सम्बन्ध में भामह का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सभी रसों की असंकीर्ण स्थिति रहनी चाहिए—'रसैश्च सकलैः पृथक्'। श्रव्य काव्य में रस के महत्त्व को आदिकवि वाल्मीकि ने कण्ठतः स्वीकार किया था[३१] किन्तु आचार्य परम्परा में भामह जिसे बादबादी विद्वानों ने अलंकारवादी कहा है सम्भवतः पहली बार श्रव्य के प्राणतत्त्व रस का उल्लेख किया है। यह बात उन्होंने तब कही है जब रस की प्रतिष्ठा केवल दृश्य काव्य में थी और श्रव्य काव्य के प्राणतत्त्व का विवेचन चल ही रहा था। भामह ने रसों की स्थिति आवश्यक मानकर उनके अंगागिभाव का निर्देश नहीं किया किन्तु आनन्दवर्धन के लिए विवेचन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। 'पृथक्' शब्द के प्रयोग से

---

२६. सन्ध्यंगानि यथालाभमत्र विधेयानि साहित्यदर्पणवृत्ति पृ० ५५१ चौ० डा० सिंह।

२७. संधीनपि संश्लिष्टांसेषामन्योन्य संबन्धात्। काव्यालकार (रूद्रट) १६।१९

२८. 'स्वराष्ट्ररंजनं चैव। बा०रा०वाल० ३।२८

२९. अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धुस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। ध्वन्यालोक ३।१० की वृत्ति पृ० १९० आ० वि०

३०. द्र० ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत चौदहवीं कारिका के बाद की वृत्ति।

३१. रसैः शृंगार-करुण-हास-रौद्र-भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यम् बा० रा० बाल० ४।९ तथा द्रष्टव्य-बा० रा०-बाल० ४।१७, १८, ३४, ३५

भामह ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि रस चाहे कितने भी रहें किन्तु वे असंकीर्ण (पृथक्) रूप में ही रहें जिससे एक रस के कारण दूसरे का प्रभाव नष्ट न हो। वस्तुतः 'पृथक्' शब्द के द्वारा उन्होंने काव्य में 'अकाण्डप्रथन' और 'अकाण्डच्छेदन' प्रभृति रस दोषों के परिहार पर बल दिया है। भामह द्वारा रस के असंकीर्ण प्रयोग पर बल दिया है। भामह द्वारा रस के असंकीर्ण प्रयोग पर बल दिए जाने के बाद आनन्दवर्धन ने नई बात यह कही कि यद्यपि प्रबन्धों में अनेक रसों की योजना प्रसिद्ध है तथापि किसी एकरस को अंगी बनाने से रचना में उत्कर्ष आता है।[३२] दण्डी,[३३] रुद्रट[३४] और कुन्तक[३५] आदि आचार्यों ने भी रसों के अंगागिभाव की विशिष्ट चर्चा नहीं की किन्तु महाकाव्य में रस की अनिवार्यता कण्ठेन स्वीकार की।

महाकाव्य में किसी एक रस को अंगी मान लेने तक तो उचित था किन्तु विश्वनाथ ने यह कहकर कि शृंगार, वीर, शान्त में से कोई एक ही अंगी होना चाहिए,[३६] उसे जकड़ दिया। विश्वनाथ का यह कथन सार्थक नहीं प्रतीत होता। जिस ग्रन्थरत्न आदि काव्य बाल्मीकीय रामायण से "महाकाव्य" की संकल्पना प्राप्त हुई, वह भी विश्वनाथ की इस मान्यता के अनुसार महाकाव्य नहीं हो सकेगा। रामायण का अंगीरस करुण है, इस तथ्य को आचार्यप्रवर आनन्दवर्धन ने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है।[३७] विश्वनाथ की रस-त्रयी में करुण को स्थान नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने नाटक में भी "शृंगार" या "वीर" को अंगी माना है[३८] करुण को नहीं। जबकि प्रशस्त नाटककार भवभूति[३९] ने

---

३२. प्रसिद्धेऽपिप्रबन्धानां नानारसनिबन्धने । एकोरसोऽगीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ ध्वन्यालोक—३।२१ तथा द्र० ध्व० ४।५

३३. द्र० काव्यादर्श—१।१८

३४. द्र० का० लं० स० १२।२

३५. द्र० वक्रोक्तिजीवित ४।११, २६

३६. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते। सा० द० ६।३१७

३७. प्रबन्धे चागीरस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थ-विशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णति कस्मिन्निवेतिचेत्, यथा रामायणे यथा वा महाभारते। रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः इत्यैवं वादिना निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त-वियोग-पर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। ध्वन्या ५।५ वृति।

३८. सा० द० ५।१०

३९. सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः तस्यबुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः। कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्। वा० रा० बाल० २।४०, ४१ यहाँ ध्वन्यात्मक रूप से आदि कवि ने अपने काव्य के रस-परिपाक का संकेत किया जिसे ध्वनिकार ने उक्तोदाहरण में पहचाना है।

बाल्मीकि[४०] की भाँति काव्यार्थतत्त्व अगम्य व्यंजना में न रहकर अपने आशय (अंगीरस करुण) को कण्ठतः उपात्त किया था। भारत की वर्तमान राष्ट्रभाषा के प्रसिद्धतम महाकाव्य रामचरितमानस का अंगीरस "भक्ति" है। अभी परम्परागत पाण्डित्य के धनी विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो "भक्ति" को रस न मानकर उसे "देवविषयारति" "अर्थात्" भाव[४१] मानता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के प्रणीत शताधिक संस्कृत-महाकाव्यों में राष्ट्रभक्ति रस की शोभन प्रतिष्ठा हुई है। राष्ट्र भक्ति[४२] रस अंग के रूप में प्रायः इस काल के सभी महाकाव्यों में प्रतिष्ठित हैं। कतिपय प्रशस्त महाकाव्यों में अंगीरस वीर आदि आप्रबन्ध राष्ट्र भक्तिरस से अनुप्राणित हैं। वादवादी विद्वान् जिसे रसवादी कहते हैं ऐसे आचार्य (विश्वनाथ) द्वारा अंगीरसों का यह नियमन कुछ जमा नहीं वह उनके समय तक प्रसिद्ध कुछ महाकाव्यों के अंगीरसों का परिचय भर देकर रह गया। यह भी ध्यान की बात है कि आस्वाद की स्थिति में विश्वनाथ ने "करुण" को भी तर्कपुरस्सर परमानन्द का हेतु माना है।[४३] इस प्रकार "करुण" के प्रति वे उदासीन हैं, ऐसा भी नहीं है। यद्यपि "करुण" को उनकी सूची में डाल दिया जाए तो भी कोई बात नहीं बनेगी। क्योंकि भक्ति रसादि की अभिनव प्रतिष्ठा युगीन प्रभाव और जनमानस की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

आस्वाद की कोटि में आने वाली कोई भी वृत्ति रस हो सकती है इस तथ्य को प्रशस्त काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।[४४] अतः काव्य के अंगीरस ही नहीं, रसों की

---

४०. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः—उत्तररा० ३।४७

४१. रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथांऽजितः, भावः प्रोक्तः। काव्य प्र० ४।३५

४२. राष्ट्रभक्तिरस के उद्धरणों के लिए द्र० समालोचित महाकाव्यों के रसपरिपाक वाले अंश (संस्कृत महाकाव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन)

४३. करुणादावधि रसे जायते यत्परं सुखम्" सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्रकेवलम् (सा० द० ३।४)

४४. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥
रसानामिति। आचार्यैर्भरतादिभिरेषां स्थायिभावानां रसनादास्वाद नाद्धेतो रसत्वमुक्तम्। केषामिव मधुराम्लादीनामिव। मधुरादयोह्यास्वाद्यमानाः सन्तो रसतां यान्तीति। उक्तं च—अनेकद्रव्यसंयुक्तैर्व्यञ्जनैर्बहुभिश्चितम्। आस्वादयन्ति युंजाना भक्तं भक्तभुजो यथा॥ भावाभिनय संबद्धान् स्थायिभावांस्तथा रसान्। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्ये रसाः स्मृताः॥ स्यादेतत् स्थायिभावांगमेव रसनं भविष्यतीत्याह निर्वेदादिष्वपि तद्रसनं निकाममस्तीति हेतांस्तेऽपि रसा ज्ञेयाः। यस्य तु परिपोषं न गतास्तस्य भावा एव ते अयमाशयो ग्रंथकारस्य-यदुत नास्ति सा काऽपि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति। भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात्संज्ञां चाश्रित्याष्टो नवा वा रसा उक्ता इति। काव्यालंकार (रूद्रट)। २।४ तथा उस पर नमि साध की टिप्पणी।

समस्त संख्यादि का परिसीमन उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्वाग्रह के कारण आस्वाद के धरातल पर उतर जाने वाली वृत्ति को रस न मानना और रस की कोटि तक न पहुँचने वाली वृत्ति को रस घोषित कर देना दोनों ही उचित नहीं है। "भक्तिरस"[४५] की प्रतिष्ठा प्राय: हो चुकी है कम से कम भक्ति (ईश्वर भक्ति) के क्षेत्र में तो पूर्ण भक्तिरस का स्थायी भाव "अनुराग" है। यदि देवविषयक अनुराग स्थायी है तो "देवभक्ति"[४६], और यदि राष्ट्र-विषयक अनुराग है तो राष्ट्रभक्ति। राष्ट्रभक्ति की प्रतिष्ठा भी अभिनव संस्कृत-काव्य-जगत् में हो चुकी है और शास्त्र ? शास्त्र तो काव्य का पुच्छभूत है, उसमें भी हो जाएगी। काव्य भी पुच्छभूत है किन्तु लोक का। प्राय: लोक की मान्यताओं के अनुसार काव्य की मान्यतायें बदलती हैं और काव्य के अनुसार शास्त्र की। कभी-कभी लोक कुछ अंशों में काव्यानुगामी और काव्यशास्त्रानुगामी भी दिखाई देता है। इसमें कारण होती है और लोकनायक, काव्यकार या शास्त्रकार की अन्योन्य अतिशयिनी प्रतिभा।

"राष्ट्रभक्ति" संस्कृत-साहित्य की नवीन धारा है। राष्ट्र-भक्ति और देवभक्ति में मौलिक अंतर यह है कि राष्ट्रभक्ति का स्थायी भाव "अनुराग" उत्साह सम्बलित होता है और देवभक्ति का श्रद्धा तथा भगवन्निष्ठ-इष्ट-साधनता से समन्वित। इसके आश्रयादि में भी पर्याप्त अन्तर है। देवभक्त ईश्वर को अपना आधार मानता है, उसकी रक्षा इष्टदेव से अपेक्षित होती है, कृपाकांक्षी होने से उसमें दीन-हीन भाव भी विद्यमान रहता है, उसका चित्त देव के गुणगानादि से द्रवित होता है। राष्ट्रभक्त को अपनी रक्षा की परवाह नही रहती वह अपनी रक्षा से राष्ट्ररक्षा को महत्त्व देता है, वह राष्ट्र के प्रति आत्मरक्षा के लिए दैन्य से युक्त नहीं होता, उसका चित्तराष्ट्र से द्रवित होता है परन्तु राष्ट्र की विपत्ति उसे उत्साहित और दृढ़ करती हैं, वह कृपापात्र नहीं बनना चाहता राष्ट्र के आत्मसम्मान और स्वातन्त्र्य की बलीयसी आकांक्षा उसमें विद्यमान रहती है। वह राष्ट्र-कल्याण के लिए अपने शरीर के कण-कण को अर्पित कर देने में परमसुख का अनुभव करता हैं। देवभक्त ईश्वर में लीन हो जाने को परम सुख मानता है, वह व्यक्तिगतरूप से अपने परलोक को बनाना चाहता है। राष्ट्रभक्त राष्ट्र के दुःख को आमूल समाप्त कर देने में अपने को भी समाप्त कर देने तक की भावना रखता है। वह राष्ट्र के स्वातन्त्र्य और सुख को प्रथम और विश्वकल्याण को अपना द्वितीय लक्ष्य मानता है। उसमें विश्वबन्धुत्व-विधृता राष्ट्रीयता

---

४५. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-भक्तिरसार्णव का अष्टम निबन्ध "रस स्वरूप विमर्शः भक्तिरसश्च" ले० स्वामी श्रीहरिहरानन्दसरस्वती (करपात्री)

४६ भवन्निष्टेष्टसाधनताविषयकत्वमेव भक्तेः प्राणः। तस्यैव भगवद्गुणगणश्रव्यानिबन्धनत्व सम्भावात्। अत एव भगवदालम्बनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिः अनुभावितस्य श्रीहर्षादिभिः परिपोषितस्य श्रीमद्भागवतादि गुण श्रवणसमये भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य न रसान्तरेऽन्तर्भावः सम्भवति। भगवदनुसंगरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभाव इति तत्त्वम्। न च भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावः अनुरागस्य निर्वेदविरुद्धत्वात्॥ वही—पृ० १५३

विराजमान रहती हैं। देवभक्तों का एक वर्ग बार-बार जन्म लेकर अपने सुख और सन्तोष के लिए आराधना में लगा रहना चाहता है। राष्ट्रभक्त मरकर पुनः जीवित होने के व्यामोह से रहित होता है, वह यह अवश्य चाहता हैं कि उसकी भावी पीढ़ी उसके राष्ट्र सुख और स्वातन्त्र्य विषयक प्रयासों पर सदा दृढ़ रहे।[४७] राष्ट्रभक्त आत्ममुक्ति से राष्ट्रभक्ति को महीयसी मानता है।[४८] देवभक्ति आत्मशान्ति के लिए की जाती हैं और राष्ट्रभक्ति राष्ट्र की शान्ति के लिए यही दोनों का अन्तर है।

राष्ट्रभक्ति में उत्साह और अनुराग इन दो भावों का अद्भुत मिश्रण होने के कारण "भक्ति" के साथ "वीर" से भी अभिन्न मानने की भ्रान्ति हो सकती है किन्तु वीर में भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वीर रस का आश्रयीभूत पात्र प्रायः व्यक्तिगत विजय के प्रति आस्थावान् रहता है, समग्र जन-जीवन में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने जैसी चीज उसमें नहीं रहती, उसके उत्साह में व्यक्तिगत यशोलिप्सा और सुखलिप्सा भी अधिकांश में देखी जाती है। राष्ट्रभक्ति के आश्रयभूत पात्र में समग्र राष्ट्र का कल्याण निहित रहता है, उसके उद्घोष और विजय में सारे राष्ट्र का जयघोष और विजय निहित होती है। 'राष्ट्रभक्ति' की उद्दीप्ति में राष्ट्र की सारी धरती राष्ट्र-स्वातंत्र्य की भावना, सामान्य जनजीवन, आक्रमणकारी शत्रु और राष्ट्र की विपन्नता आदि कारण होते हैं। वीर के व्यापक परिपाक के लिए तत्संबद्ध पात्र की साधन-सम्पन्नता अपेक्षित होती है किन्तु राष्ट्रभक्ति का आश्रय सामान्य व्यक्ति भी हो सकता है, इस प्रकार काव्य के समस्त पात्र राष्ट्रभक्ति के आश्रय हो सकते हैं किन्तु वीर के नहीं। राष्ट्रभक्ति रस की पृष्ठभूमि व्यापक है, यह अपने व्यापक परिवेश में विश्वबन्धुत्व की ओर भी उन्मुख रहता है और इसमें राष्ट्रीय भूगोल और संस्कृति आदि का गम्भीर अभिव्यंजन सम्मिलित रहता है। राष्ट्रभक्तिरस का अन्यतम और अनुपम वैशिष्ट्य यह है कि यह सभी रसों का निर्दुष्ट रूप से अंग भी हो सकता है, अंगी भी। यह क्षमता वीर अथवा प्रायः अन्य किसी रस में नहीं हैं। वीर और राष्ट्रभक्ति भिन्न होकर भी अविरोधी अवश्य हैं, वीर के सभी भेद राष्ट्रभक्ति के निकट माने जा सकते हैं। वस्तुतः राजाओं के नायक होने से वीर का परिपाक मध्यवर्ती काव्यों में प्रायः राजोन्मुख रहा, आज अंगीरसादि के आश्रय प्रायः जननेता है। वस्तु और नेता काव्य में रस परिपाक को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं।

---

४७. कथावशिष्टे मयि तद् भवद्गणो मदेकवर्त्माऽवतु राष्ट्रमात्मना।
दिनेशमुक्तं भुवनं यथा शशी तदीयधामाभिनिविष्टदीधितिः॥
(क्षत्रपतिचरितम् डॉ० उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी ८।२६)

४८. युद्धमुक्तं भगवता स्वर्गद्वारमपावृतम्। तत्स्वराष्ट्रहितार्थं चेत् मुक्तिद्वारं मतं मम॥
योगिभिश्चाऽपि कालेऽस्मिन् युद्धयोगेन साध्यताम्॥ आत्ममुक्ति तिरस्कृत्य राष्ट्रमुक्तिर्महीयसी॥ शिवराज्योदय (डॉ० श्रीधरभास्कर वर्णेकर) ११।२७।२९

मुक्तकों में रस को सकल प्रयोजन मौलिभूत कहना उचित है किन्तु महाकाव्य चूँकि किसी महदुद्देश्य से प्रणीत होता है। वह किसी महापुरुष के प्रेरक व्यक्तित्व का आकलन, आध्यात्मिक, राष्ट्रीय, निराश में आशा का संचार, सहानुभूति, नवसमाजनिर्मित, अर्तिनाश का प्रयास आदि एकाधिक अववा कोई एक हो सकता है। इसलिए अंगुलिगणनीय सहृदयों के मनोरंजन मात्र के लिए न होकर मानव मात्र के कल्याण की भावना से अनुप्राणित रहता है। उसमें आद्यन्त शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति कान्तोचित आकर्षण के लिए आवश्यक हो सकती है। किन्तु महाकाव्य का मुख्य लक्ष्य कान्तासम्मिततया उपदेश है, सद्यः परनिर्वृति मात्र नही।[४९]

"राष्ट्रभक्ति की प्रतिष्ठा तिलक-सुभाष-आदि पर आधारित अनेक महाकाव्यों में तो हुई ही है प्राचीन कथानकों पर आधारित गणपति सम्भवम् आदि काव्यों में भी इसकी व्यापक अभिव्यंजना हुई है।

उदाहरणार्थः—

> "यस्या अंशकणाऽणुतोऽस्मि धृतवानेतामनूनांतनूम्।
> तस्या अंगुलिदध्न देहवलये नान्या गतिं संसहे॥
> खण्डानां तु कथैव का? चणकमोगृह्यैत चेत् तत्कणः।
> तस्मै चापि शरीर कंशकलयन् कुर्यात् रणं सव्रणम्॥"

(गणपतिसम्भवम्-प्रभुदत्तशास्त्री) ४।१३

(यहाँ वालक गणेश मातृभूमि की रक्षा में सन्नद्ध होकर किसी को नहीं आने देना चाहते। शिव (जिन्हें गणेश नहीं जानते) भीतर घुसना चाहते हैं) इस पद्य में मातृभूमि के प्रहरी बालक गणेश आश्रय हैं, आलम्बन-विभाव शिव हैं शिव की प्रवेश चेष्टाएँ उद्दीपन-विभाव है, गणेश द्वारा किसी को न आने देना अनुभाव हैं, तथा उनका अपनी उत्पत्ति के हेतु का स्मरणादि व्यभिचारी भाव हैं. युद्धोत्साह सम्वलित मातृभूविषयक 'अनुराग' स्थायी भाव' है और रस है—'राष्ट्रभक्ति'।

इस पद्य को पढ़कर सहृदय आनन्दानुभूति करता है किन्तु इसकी प्रतिक्रिया इनके व्यावहारिक जीवन के लिए भी उपयोगी है। इस पद्य के चारों वाक्य प्रेरक हैं। (१) जिसके अंश या कण, और अणुओं से मैंने इस पूर्ण शरीर को पाया है, (२) उसके अंगुलि भर शरीर के टुकड़े पर भी दूसरे के आने को नहीं सह सकता। (३) खण्ड की तो बात ही क्या है?

---

४९. वाल्मीकिरामायण-गान के समय समाज के प्रत्येक कार्यों में संलग्न लोगों ने आनन्दानुभूति की थी। कलामात्र-विशेषज्ञान ज्योतिषे च परं गतान्। क्रियाकल्प=विदश्चैव यथा कार्यविशारदान्॥ तान् सर्वान् समानीय गातारौ समवेशयत। वाल्मी० रा० उत्तर का० ९४।७।१० इसी प्रकार रामचरित-मानस' का महत्त्व उसके रसपरिपाक की अपेक्षा लौकिक धरातल पर जीवन को उदात्त प्रेरणा देने के कारण हैं। वैसे काव्य में रस आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है ही।

चने के बराबर भी कण यदि कोई लेगा तो (४) मैं उसके लिए शरीर के टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, व्रणयुक्त होता हुआ रण करूँगा।[५०]

ध्वनिसिद्ध कवि स्वर्गीय प्रशुदत्तशास्त्री अपने महाकाव्य में राष्ट्रभक्ति की तीव्र अभिव्यंजना के साथ ध्वनिमुख से उसके प्रस्थापन का आचार्योचित प्रयास भी करते हैं।[५१] इसे काव्यशास्त्रीय-अनुशीलन-बुद्धि से पढ़ने पर सहज ही देखा जा सकता है। भूभक्ति-प्रतिष्ठापन हेतु अपने को परीक्षण के लिए प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसका स्थायीभाव 'भूरति' माना है।[५२] डॉ० उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी के क्षत्रपतिचरितम् तथा डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर के 'शिवराज्योदयम्' इन दोनों काव्यों में भी राष्ट्रभक्ति की उच्चतम प्रतिष्ठा और अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

आचार्य भामह ने प्रायः मूलभूत महाकाव्य-तत्त्वों का प्रतिपादन कर दिया था, तथापि युगपरिस्थितियों के अनुसार परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने मंगलाचरण आदि बाह्य व्यवस्था से सम्बद्ध बातें जोड़ दीं। महाकाव्यसंरचना की व्यवस्था देते समय उसके आरम्भ में आशीः नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश का उल्लेख किया गया।[५३] आशीर्वाद और नमस्क्रिया के साथ वस्तुनिर्देश को भी मंगल मानने का कारण यह है कि कवि द्वारा अपने प्रबन्ध के प्रारंभ में संक्षिप्त प्रारूप प्रस्तुत कर देने से समग्र कथावस्तु के व्यस्थित पल्लवन और रचनागत उद्देश्य की निर्विघ्न पूर्ति मे उसे सहायता मिलती है। वस्तुतः वाल्मीकीय रामायण का आदि सर्ग वस्तुनिर्देश ही है। वस्तुनिर्देश का कार्य नायक-गुणवर्णन के माध्यम से भी सम्पन्न किया जा सकता है जैसा कि कालिदास 'रघुवंश' (सोऽहमाज० ५-८) में तथा श्री-हर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' के प्रारंभ में किया है। महाकाव्यत्व की सिद्धि के लिए वस्तुनिर्देश के अभाव में प्रथम पद्य के प्रकृति वर्णनादि को वस्तुनिर्देश कहना उचित नहीं है क्योंकि मंगलाभाव में भी अन्य प्रमुख विशेषताओं के रहने पर किसी कृति को महाकाव्य के पद से नहीं हटाया जा सकता। नमस्कार और आशीर्वाद की अभिस्वीकृति धर्मप्राण देश भारत के जन-जीवन में व्याप्त ईश्वर के प्रति श्रद्धाभक्ति विश्वास का सत्परिणाम है। कुल मिलाकर मंगलाचरण उचित तो है किन्तु वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार खलनिन्दा, एक सर्ग में एक वृत्त और अन्त में वृत्तपरिवर्तन भावी कथा की सूचना, महाकाव्य

---

५०. यह पद्य पाकिस्तान (१९६५) के युद्ध के बाद का है जिसमें संस्कृत महाकवि ने गणपति के माध्यम से एक राष्ट्रभक्त के युगीनस्वर का शोभन अनुकरण न किया है।

५१. शास्त्रार्थशस्त्रीभाव (चतुर्थ सर्ग) में बालक (गणेश) और शिव का संवाद है उस बालक का राष्ट्रभक्ति-स्थापना का सिद्धान्त पक्ष है और शिव का पूर्वपक्ष। काव्यशास्त्र में कृतश्रम विद्वानों को एक बार यह महाकाव्य अवश्य पढ़ना चाहिए विशेषरूप से द्र० ४।१३-२९

५२. द्र० गणपतिसम्भवम् ४।१४

५३. द्र० काव्यादर्श १।१४ तथा साहित्यदर्पण ६।३१९

नाम और सर्गनाम आदि कोई विशिष्ट परिभाषणीय विशेषताएँ नहीं हैं और न इनके यत्किंचित् स्वीकार परिहार से महाकाव्यत्व प्रभावित होता है। वस्तुतः दण्डी और विश्वनाथ[५४] अपने समक्ष उपस्थित काव्यस्वरूपों के उद्‌गाता और भामह के अनुवादक हैं, कुछ अंशों में रूद्रट में भी यह स्थिति है किन्तु दण्डी और विश्वनाथ से वे पर्याप्त मौलिक हैं।

भामह द्वारा असंकेतित तथ्यों पर परवर्ती अन्य आचार्यों की कुछ धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन तथा रूद्रट के अनुसार महाकाव्य में उत्पाद्य (कविकल्पित) अनुत्पाद्य (इतिहास प्रसिद्ध) दोनों प्रकार के कथानक हो सकते हैं। बाल्मीकि[५५] आनन्द-वर्धन[५६] और रूद्रट ने महाकाव्य-वस्तु की आवर्जकता के लिए कवि कल्पना से उसके परिवर्तन और परिवर्धन की अभिस्वीकृति भी दी है। आधुनिक लोकविख्यात विषय पर काव्य लिखने का बाल्मीकि ने स्वयं के प्रयोग द्वारा तथा कण्ठतः उपात्त करते हुए पहले ही समर्थन किया था।[५७]

आधुनिक भारतीय आचार्यों में स्वर्गीय पं० रामचन्द्रशुक्ल[५८] ने चार प्रमुख तत्त्वों को महत्त्व दिया है—इतिवृत्त, वस्तुव्यापारवर्णन, भावव्यंजना तथा संवाद। इसमें प्रथम तीन तो बहुचर्चित तथ्य हैं किन्तु 'संवाद' एक अत्यन्त अभिलषणीय विशेषता थी जिसकी ओर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य का लक्षण करते समय ध्यान नहीं दिया। यदि नाट्यसंधियों से वस्तुविन्यास में व्यवस्था आती है तो नाटकीय संवादों की योजना से विषय वस्तु की प्रभावोत्पादकता और आवर्जकता द्विगुणित हो जाती है। वस्तुतः बीज, बिन्दु आदि का सुभग सन्निवेश संवादांशों में ही किया जा सकता है। संवादों के कारण पात्र-चित्रण अत्यन्त हृदयस्पर्शी और प्रेरक हो जाता है, जो महाकाव्य संरचना का एक विशिष्ट प्रयोजन है। संवाद के अभाव में सहृदय के समक्ष कवि का माध्यम ओझल नही होता, अतः वर्णनीय पात्र का व्यक्तित्व अनावृत रूप में उसके समक्ष नहीं उपस्थित हो पाता। संवादों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि आज हम कहते हैं—'गीता में-स्वयं भगवान् ने कहा है—'रामायण में स्वयं राम ने कहा है, व्यास अथवा बाल्मीकि ने कहा है ऐसा नहीं और पात्रचित्रणादि की महत्ता के कारण ऐसे कवि को भी भगवान् कह सकते हैं। कवि को समग्र रचना में ऐसा वर्णन करना चाहिए कि कवि के स्थान पर पात्र का व्यक्तित्व ही अनावृत रूप में दिखे

---

५४. सा० द० में-दृष्यते (६।३२१) भवन्ति (६।३२८) आदि प्रयोग भी इस बात के प्रमाण हैं।

५५. बा० रा० बा० २।३३-३६, ३।१

५६. इतिवृतवशयातां व्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ३।११
उत्पेक्ष्याप्यन्तरामीष्टरसोचितकयोन्नयः ।। ध्वन्या० ३।११

५७. बा०रा०बा० १।२

५८. तुलसीदास पृ० ३६६ तृ० सं० (१९५३)

और पात्र इतना महान् लगे कि उसकी बात टालना सामाजिक को व्यावहारिक जीवन में भी सहज सम्भव न हो। यह कार्य संवादों के माध्यम से विशेष रूप से सम्भव है। कवि का व्यक्तित्व और उसका दृष्टिकोण पात्रों के माध्यम से ही व्यक्त होना चाहिए।[५९]

पात्र-चित्रण के संबन्ध में श्री वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय[६०] ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि देवचरित्र के प्रणयन में भी कवि को उसे मनुष्यपात्र के सांचे में ढालकर प्रस्तुत करना चाहिए। वंकिम बाबू के इस कथन पर विचार करने के पूर्व यह नहीं भूलना चाहिए कि इस आदर्श का प्रस्तुतीकरण प्रथमतः वाल्मीकि ने किया था। वाल्मीकि के कण्ठतः उपात्त 'ज्ञातुमेवं विधं नरम्' पर आचार्यों ने गहराई से नहीं सोचा। देवपात्रों का मानवोचित वर्णन मानवीय मनोवृत्तियों को उद्बुद्ध करने में समधिक समर्थ होने के कारण सहज ही आस्वाद के धरातल पर उतर जाता है और सामाजिक द्वारा तत्पात्रानुकृति स्वभावतः संभव हो जाती है। परब्रह्म परमेश्वर के रूप में राम के उद्धाता तुलसी को 'मानस' लिखते समय इस तथ्य का गहराई से अनुभव हुआ है वे वाल्मीकि जैसे विराट् प्रतिभा-संपन्न कवि के नर को उनके प्रभाव के कारण ही भक्ति के व्यामोह में नारायण बनाने जा रहे थे, आखिर निगमनेति शिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सोधावा।। और महाशक्ति' सीता के अपहरण का क्या स्वारस्य होता? इसके समाधान के लिए आज के विश्वश्रेष्ठ कवि तुलसी को—'सुनहु प्रियाव्रत रूचिर सुशीला, हम कछु कर ललित नर लीला'—का स्पष्टीकरण देते हुए, मानवोचित वर्णन में प्रवृत्त होना पड़ा। इसीलिए 'बालमीकि तुलसी' भये' यह आज की सहज सहृदयाभिस्वीकृति है। कुल मिलाकर पात्रों की प्रतीति असंभव या कोरी कल्पना जैसा चीज नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार देवपात्रों का अधिकांश में मानवीयकरण तत्संबद्ध महाकाव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है।

पात्रों (प्रकृतियों) के सम्बन्ध में प्राचीन काव्यशास्त्रियों (प्रायः सभी) ने विचार किया है किन्तु महाकाव्य (प्रबन्धरचना) के पात्रों के प्रस्तुतीकरण की व्यवस्था देते समय (विशेष रूप से आनन्दवर्धन[६१] तथा मम्मट[६२] ने दिव्य (देव) पात्रों द्वारा ही स्वर्गलोक-

---

५९. असीम प्रतिभासम्पन्न कालिदास के नायकों में कालिदास बोलते हैं, और नायिकाओं में उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया और उन्हीं के काव्य का वैशिष्ट्य आदि। महाकवि कालिदास परिचय और मूल्यांकन के कंचन भी हैं कसौटी भी। उदाहरणार्थ—मान्यः समे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः। रघु० २।४४ गुर्वर्थ्यमधाश्रुतपारदृश्वा० (रघु० ५।२४) तदेषसर्गः करूणार्द्रचित्तैः (१४।४२ रघु०) अनाघ्रातपुण्यं० (शाकु० २।१०) इतनी सुन्दर कविता पता नहीं कौन पढ़ेगा। इतना कहकर भी वे अपने व्यक्तित्व को सर्वथा आवृत रखते हैं। और भी कालिदास का समग्र साहित्य।

६०. द्र० प्रकृत और अति प्रकृत—वंकिम ग्रन्थावली पृ० ५६-५७

६१. द्र० ध्वन्या० ३।१० विभावानुभाव संचा० की वृत्ति।

६२. द्र० काव्य प्र० ७।६२ प्रकृतीनां विपर्ययः की वृत्ति।

गमन, पातालगमन और समुद्रलंघन आदि के वर्णन का औचित्य प्रतिपादित किया है। यह तो सर्वात्मना उचित है क्योंकि अदिव्य (मानव) पात्रों में यह अस्वाभाविक होगा। इससे काव्य में पात्र चित्रण के औचित्य की आचार्य ने एक मानव और देव की भेदभावी व्यवस्था कर दी, इससे मानवेतर पात्रों का कार्य सहृदय की श्रद्धा का विषय तो हो सकता है परन्तु उसका अनुकरणीय नहीं हो सकता, क्योंकि सामाजिक में विश्वास जम जाता है कि यह कार्य मनुष्येतर है इसके अनुकरण के व्यामोह में हमें नहीं पड़ना चाहिए। परिणाम यह होता है कि उस देवपात्र के सामान्य कार्य जो मानवोचित और मानवानुकरणीय होते हैं उनके प्रति भी वही विश्वास कार्य करता है और देवपात्र का समूचा व्यक्तित्व अनुकरण का विषय न होकर मात्र श्रद्धा का विषय बन जाता है, जिससे प्रायः अन्धभक्ति का उदय तो हो सकता किन्तु काव्यकार के महदुद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। भामह का 'लोकस्वभाव' शब्द अधिक व्यापक था चूंकि आनन्दवर्धन' जैसे मौलिक आचार्य ने ऐसी व्यवस्था दे दी, इसलिए स्वयं उन्होंने तथा बाद के कुछ आलोचकों ने योग और भोग, देवत्व तथा मनुजत्व के संगम का विलक्षण और अनुकरणीय उपक्रम करने वाले वाल्मीकि के ही वाग्द्वार से प्रविष्ट किन्तु काव्योपक्रम में सर्वथा मौलिक महाकवि कालिदास के कुमारसंभव के संयोग शृंगार को आलोचना का विषय बना दिया। वस्तुतः भामह समर्थित काव्य की 'लोकस्वभावता' के महनीय रहस्य से हटकर शिव-पार्वती को काव्य में भी सर्वात्मना देवता मानने के भक्तिभरित व्यामोह के कारण ऐसा हुआ। जब तक देवपात्र को मानवीय बनाकर नहीं प्रस्तुत किया जायेगा, वह पूर्णतः उपयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से आधुनिक महाकाव्यों में गणपतिसंभवम् के प्रणेता स्वर्गीय प्रभुदत्त शास्त्री का प्रयास सराहनीय है। वस्तुतः मानवपात्र में देवत्व की प्रतिष्ठा और देवपात्र में मनुजत्व की प्रतिष्ठा ही कवि का बुद्धिचातुर्य और पात्र-चित्रण का औचित्य है। इसके लिए कालिदास के रघुवंश से "रघु" और "राम" तथा "कुमारसंभव" से "शिव" को आदर्श मानक माना जा सकता है।

पाश्चात्य विचारकों में अरस्तू, डब्लू० पी० केर, डिक्सन, एबरक्रोम्बी, सी० एम० बावरा० प्रभृति ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं।[६३] इन विचारकों ने 'महाकाव्य' को 'एपिक' (महाकाव्य) अथवा 'हिरोइक पोयट्री' (वीरकाव्य) इन दो नामों से अभिहित किया है। ये दो प्रकार के होते हैं—

१. एपिक ऑफ् ग्रोथ[६४] (विकसनशील महाकाव्य)

२. एपिक ऑफ् आर्ट[६५] (कलात्मक महाकाव्य)। इनके अनुसार महाकाव्य के

---

६३. इनके सिद्धान्तों के लिए द्रष्टव्य तत्तद् ग्रन्थ तथा इनके तुलनात्मक अध्ययन के लिए डॉ० नगेन्द्र के द्वारा सम्पा० अरस्तू का काव्यशास्त्र तथा उनके अन्य निबंध और डॉ० शम्भूनाथ सिंह का—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास नामक शोधप्रबन्ध।

६४. उदा इलियड, ओडसी० (होमर), रामायण (वाल्मीकि)।

६५. उदा० पेराडाइजलास्ट (मिल्टन) रघुवंश, कुमारसंभव (कालिदास)।

अन्तस्तत्त्व चार हैं—१. महान् उद्देश्य, २. महच्चरित्र, ३. महती घटना और ४. समग्र जीवन का प्रभावपूर्ण चित्रण।

इनकी स्थापनाओं का सार यह है—

१. कथावस्तु ऐतिहासिक, जातिकथा पर आधारित, किसी विशिष्ट घटना से सम्बद्ध होने के साथ यथोचित खण्डों में विभक्त होनी चाहिए तथा उसे किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा कार्य या कार्यंततियों की ओर क्रमशः विकसमान होना चाहिए।

२. उसका नेता अत्यन्त वीर, विद्वान् और राष्ट्र या जाति के प्रतिनिधित्वं की क्षमता से युक्त होना चाहिए। उसमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रमुख तथा गौण पात्र हो सकते हैं।

३. समग्र रचना एक विशिष्ट (वीररसात्मक) पराक्रमपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होनी चाहिए।

४ उसमें युगजीवन का व्यापक अभिव्यंजन तथा यथापेक्षित अवान्तर कथाओं की योजना की जानी चाहिए।

५. उसकी भाषा प्रौढ़, उदात्त और भव्य होनी चाहिए।

६ उसमें केवल एक शक्तिशाली छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।

७. उसका उद्देश्य—आध्यात्मिक, भौतिक, मनःशुद्धि, निराश में आशा का संचार, सहानुभूति, सद्भाव, आर्तिनाश का प्रयास, नवीन समाज का निर्माण, आदि में से एक या एकाधिक हो सकता है। इस प्रकार पाश्चात्त्य और पौरस्त्य विचारकों के आत्मतत्त्व विवेचन में कोई विशिष्ट अंतर नहीं है। उक्त समस्त तत्त्वों को पौरस्त्य काव्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों में सरलतया अन्तर्मुक्त किया जा सकता है।

डॉ॰ नग्रेन्द्र[६६] ने महाकाव्य के अन्तस्तत्त्वों का निर्धारण प्रायः पाश्चात्त्य समीक्षा से प्रभावित होकर किया है। डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह[६७] भारतीय तथा पाश्चात्त्य लक्षण की अपेक्षाकृत विस्तृत समीक्षा करके अन्ततः डॉ॰ नगेन्द्र से मिलता जुलता मानदण्ड निर्धारित करते दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी के महाकाव्यों पर प्रबन्ध लिखने वाले कतिपय अनुसंधित्सुओं ने प्रायः महाकाव्य की भारतीय तथा पाश्चात्य मान्यताओं का संग्रह करके अंत में स्वयं द्वारा परिभाषा निर्धारित करने का प्रयास किया है[६८]। इन अनुसंधायकों में आचार्यों तथा अपने पूर्व शोधकर्ताओं की महाकाव्य-परिभाषाओं की आलोचना-प्रत्यालोचना का संरम्भ भी दिखाई देता है जो उत्तेजक भी हैं, मनोरंजक भी। इनके चिन्तन का

---

६६. डॉ॰ नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध (सम्पा॰ भारतभूषण अग्रवाल) पृ॰ १२५

६७. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास (डॉ॰ सिंह) (द्वितीय अध्याय)।

६८. संस्कृत १—तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य (ड॰ श्यामा शंकर दीक्षित) २-संस्कृत महाकाव्य परम्परा (कालिदास से श्रीहर्ष तक) (डॉ॰ केशवराव

भी अपने आप में महत्त्व है। इनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो पूर्व चर्चित आचार्यों से भिन्न तथा उल्लेखनीय हो।

उक्त महाकाव्य तत्त्वानुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकाव्य सम्बन्धी मान्यतायें समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। महाकाव्य की नई मान्यताओं के आधार पर विगत युग के लब्ध-प्रतिष्ठ महाकाव्यों को उनके यशस्वी पद से नहीं वंचित किया जा सकता। उदाहरणार्थ, संस्कृत की "लघुत्रयी" तथा "वृहत्त्रयी" के जिन कालजयी कवियों की विराट् प्रतिभा का प्रखर आलोक काव्यशास्त्राचार्यों की दृष्टि को चकाचौंध करके—"ऐसा होना चाहिए के स्थान पर ऐसा है" कहने के व्यामोह से ग्रस्त कर दिया, कलात्मक सौन्दर्य की चरम साज-सज्जा के साथ निकलने वाले महारथियों की परिखा पर चलकर शताब्दियों तक कोई महाकाव्य उस स्तर पर सहृदयों को आकर्षित करने में समर्थ न हो सका, जिन्होंने विद्वानों के शास्त्रीय अहंकार-ज्वर को अपनी काव्यौषधि से व्यपगत कर दिया, इतिहास के स्वर्णाक्षरों के उल्लिखित उनके नाम को भला कौन अमूर्ख न रेखांकित करना चाहेगा।

युगानुरूप आज राष्ट्र के संविधान संशोधन के युग में काव्य संविधान का अनुचिन्तन और पुनर्निर्धारण अनिवार्य हो गया। अब (राष्ट्र और काव्य का) नेता जाति, लिंग अथवा स्थान के आधार पर नहीं चुना जाता, राष्ट्ररंजक प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष अपने लोकमान्य उदात्त गुणों और कार्य क्षमताओं के आधार पर (उभयत्र) नेतृत्व कर सकता है। नेता का निर्वाचक (जनता या कवि) सम्प्रति स्वतन्त्र अवश्य हैं किन्तु स्वच्छन्द नहीं, राष्ट्रीय शाश्वत आदर्शों और प्रतिमानों के अनुकूल कदम उठाना ही विवेक-सम्मत है। विगत संविधान उस युग की परिस्थिति के अनुसार उचित था और वर्तमान आज के अनुसार उचित है। प्राचीन श्रद्धेय है, नवीन स्वागतार्ह।

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यकारों ने प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है किन्तु अपने नवोन्मेष को अन्धानुगामी नहीं रखा हैं। इन महाकाव्यों में परम्परा के प्रति श्रद्धा और आधुनिकता के प्रति आकर्षण दोनों का मधुरिम संगम दिखाई देता है। अधिकांश महाकाव्य युगबोध से शतधा अनुप्राणित हैं तथापि प्राचीन काव्यशास्त्रीय कसौटी पर खरे उतरते हैं। ऐसे महाकाव्य अवश्य ही अधिक व्यवस्थित और आकर्षक हैं। इन महाकाव्यों में शारीरिक चेतना की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक चेतना को महत्त्व दिया गया है। इनमें राष्ट्रभक्ति का पदे-पदे दर्शन होता है। आज पाण्डित्य-प्रदर्शन, आलंकारिक चमत्कृति और कवि प्रौढोक्ति संवलित कल्पना-वैशद्य का युग लद गया है। अधि-

---

मुसलगांवकर) हिन्दी—बीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य (डा० प्रतिपालसिंह) २-हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य (डा० गोविन्दराम शर्मा) ३-आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान (डॉ० श्यामनन्दन किशोर) ४-हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन (श्रीदेवीप्रसाद गुप्त) अभी तक महाकाव्यों पर प्रकाशित ये शोधप्रबन्ध हैं।

कांश महाकाव्य वाल्मीकि की स्वाभाविकता और कालिदास के प्रसाद-ललित-उद्गारों से अभिमण्डित हैं। दो हजार वर्ष की लम्बी यात्रा के अनन्तर संस्कृत-कविता जहाँ से चली वहीं पहुँच गई किन्तु लौटी युगबोध की सजगता और अन्य भाषा सम्पर्क का गहरा प्रभाव लेकर। महाकाव्य के परिवर्तमान रूप का अवलोकन कर उसकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। तथापि पूर्वाचार्यों के मतांशो और अर्वाचीन महाकाव्यों की प्रवृत्ति को देखकर महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने का एक विनम्र प्रयास किया जा रहा है जो कदाचित् प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के महाकाव्यों के स्वरूप को आरेखित कर सके—

सर्गैर्वृत्तैश्च[1] बद्धं सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थरम्यं[2]
संवादैश्चो[3]च्चशिल्पैः[4] सततरसमयं[5] ग्रन्थिमुक्तं[6] समृद्धम्[7]।
पात्रं स्याद् यस्य मुख्यं परम गुणयुतं लोकविख्यात वृत्तम्[8]
भव्यं[9] लोकस्वभावं[10] महदपि महतां[11] तन्महाकाव्यमास्ते ॥

(स्वरचित पद्य)

अर्थात् ऐसी प्रबन्धरचना "महाकाव्य" है—

१. जो छन्दोबद्ध और सर्गबद्ध (वस्तु का तद्गत विषय के अनुरूप अन्योन्य संबद्ध किन्तु स्वयं में किसी विशिष्ट घटना या वर्णन से पूर्ण और तदपेक्षित समान, लघु अथवा दीर्घ अनेक खण्डों में विभक्त हो।

२. जो सहृदय (पाठक अथवा श्रोता) के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ शब्दों और अर्थों से रमणीय हो।

३. जिसमें अधिकाधिक संवादों की योजना हो। (क्योंकि संवादों में पात्रों का व्यक्तित्व अनावृत्त रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित होता हैं।

४. जिसका शिल्पविधान (वस्तु के मार्मिक स्थलों की परख, अभिव्यंजना जीवन दर्शन, युगोचित पात्र चरित्र विकास आदि) उच्च स्तरीय हों।

५. जो निरन्तर (प्रारम्भ से अन्त तक) अन्वितिपूर्व और रसमय (आह्लादक) हो।

६. जो क्लिष्ट प्रयोगों (सुकुमारमति पाठकों के अर्थावबोध में बाधक शब्दों, अर्थों और शास्त्रीय गुत्थियों) से रहित हो।

७. समस्त वैभवों (नागरिक और प्राकृतिक वस्तु सम्पृक्त सन्तुलित वर्णनों) से सम्पन्न हो।

८. जिसका प्रमुखपात्र (नायक, किसी भी जाति, वंश, स्थान या लिंग (स्त्री या पुरुष) का हो किन्तु अपने उदात्त कार्यों से) लोकविख्यात (केवल लोक में विख्यात मात्र नहीं उसे काव्य में तथाविध पल्लवित किया गया हो) और श्रेष्ठ गुणों (शाश्वत मानवीय मूल्यों जिन्हें लोक श्रेष्ठ स्वीकार करता हो) से समन्वित हो।

९. जो कल्याणकारी (मंगलमय) हो।

१०. जो लोकोचित स्वभाव (यथार्थ और औचित्य) से समन्वित हो।

११. जिसका (वस्तुविषय पात्र चित्रण, रचना शिल्प और उद्देश्य) महान् से भी महान् हो।

वह महाकाव्य है।

गद्यकाव्य एव उसके भेद

लेखक—**डॉ० प्रभाकर शास्त्री**
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

महर्षि मनु ने लिखा है—

"अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।"

अर्थात् इस संसार में जो कुछ भी किया जाता है वह कामनामूलक होता है। बिना कामना के कोई भी कार्य नहीं होता। जब अध्यवसायी पुरुष एक प्रकार से किसी उद्देश्य में असफल होता है तो वह किसी दूसरे प्रकार से उसकी पूर्ति के लिए सन्नद्ध हो जाता है। जब वह कठिन उद्देश्य की पूर्ति में निरन्तर संलग्न रहता है, तो किसी न किसी उपाय को खोज ही लेता है। संसार में कलाओं के आविष्कार का इतिहास इसी सिद्धान्त की देन है। स्थापत्य कला से लेकर शिल्प कला, चित्रकला, वास्तुकला आदि विभिन्न कलाओं का उद्गम और विकास उनके आविष्कारक के लिए जहाँ आजीविका का साधन बना, वहीं उसके आत्मतोष का भी कारण बना। समीक्षकों की यह विचारधारा रही कि ये सभी कलाएँ उस मानव के लिए नित्य सुख का कारण नहीं हो सकीं। ऐसे समय में कविता का प्रादुर्भाव हुआ। उससे सुप्त आत्मा में चेतना का संचार हुआ। इसी के आधार पर यशःशरीर की कल्पना हुई। शरीर के नश्वर होने पर भी उसे यशःशरीर के द्वारा सनातनता प्राप्त हुई। इसीलिए कविता अमर और अलौकिक कहलाई। कविता के अध्ययन, मनन, श्रवण तथा चिन्तन से श्रेय और प्रेय की प्राप्ति हुई, जो सांसारिक श्रेय और प्रेय से भिन्न है। कविता करने वाले कवि में शक्ति होनी चाहिए, जो अपनी कविता से प्रत्येक प्रयोजन को प्राप्त कर सके। इसी शक्ति को समीक्षकों ने 'प्रतिभा' कहा, जो स्वाभाविक तथा उत्पाद्य भेद से दो प्रकार की मानी गई। स्वाभाविक प्रतिभाजन्य कविता से योग्यतानुसार प्रयोजनों की सिद्धि होती है। इस सम्बन्ध में पर्याप्त अनुशीलन हुआ। यथा—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।"
तस्य कर्मस्मृतं काव्यम्" इति। अस्तु।

वस्तुतः काव्य कवि की उस शब्दार्थमयी रचना को कहते हैं जो लोकोत्तर हो और नियमतः चमत्कार की संचारिका हो, क्योंकि कवि के शब्द और अर्थ संसार के पदार्थों की भाँति अनित्य नहीं होते। वे अमर तथा लोकोत्तर होते हैं। अतः उनमें चमत्कार अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्द का होना स्वाभाविक है।

काव्य के दो भेद माने गए हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य के भी भेदोपभेद उपलब्ध हैं, जिनमें सर्वप्रथम तीन भेद किए जाते हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। जो छन्दोबद्ध होता है वह 'पद्य काव्य' होता है और छन्दरहित रचना 'गद्य काव्य'। जहाँ दोनों का सम्मिश्रण होता है वहाँ उसकी संज्ञा 'चम्पू' बताई गई है। विश्व की अन्य समस्त भाषाओं की भाँति प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी गद्य की अपेक्षा पद्य में रचनाएँ अधिक उपलब्ध होती है। गद्य की अपेक्षा पद्य का स्मरण करना अत्यन्त सुगम माना गया है और यही प्रमुख कारण रहा है कि प्राचीन कवियों ने अपनी काव्यकला का कौशल पद्य रचना के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। फिर भी कई श्रेष्ठ लेखकों ने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य-शैली को ही अपनाया और समीक्षकों ने यह स्वीकार किया कि उनके द्वारा रचित गद्य साहित्य अपनी उत्कृष्टता के कारण किसी भी रूप में कम नहीं है। यह सत्य है कि पद्य की अपेक्षा गद्य-लेखन कठिन होता है। यही कारण है कि समीक्षकों को यह स्वीकारना पड़ा—**'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।"**

संस्कृत वाङ्मय के सर्वांगीण अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि गद्यरचनाओं के सम्बन्ध में उनमें दो प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं। इनमें प्रथम प्रकार की गद्य शैली स्वाभाविक, सरल तथा अलंकृत शैली' कही जाती है। इस प्रकार की शैली के उदाहरण के रूप में पंचतंत्र, हितोपदेश, शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशत्पुत्तलिका, वेतालपंचविंशतिका तथा भोजप्रबन्ध आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। दूसरी शैली 'अलंकृत शैली' मानी गई है, जिसका स्वरूप सर्वप्रथम प्रशस्तियों तथा शिलालेखों में मिलता है। इसी के विकसित रूप में गद्यकार "सुबन्धु" की "वासवदत्ता" एवं "बाणभट्ट" की "हर्षचरित" एवं "कादम्बरी" को प्रस्तुत कर सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों शैलियों के उद्‌भव और विकास पर जब चिन्तन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि साधारण अर्थात् अनलंकृत गद्य के विषय में लक्षणग्रंथ सर्वथा मौन हैं, परन्तु अलंकृत गद्य के स्वरूप के विषय में लक्षण ग्रंथों में विस्तार से विवेचन हुआ है। आचार्य दण्डी का नाम इस दृष्टि से "कनिष्ठिकाधिष्ठित" है कि उन्होंने सर्वप्रथम गद्य की परिभाषा प्रस्तुत की। वे अपने "काव्यादर्श" नामक लक्षणग्रंथ में लिखते हैं—

"अपादः पदसन्तानं गद्यम्"

(काव्यादर्श १.२३)

अर्थात् उन्होंने अपद्यबद्ध रचना को गद्य कहा। इसी परिभाषा से मिलती जुलती परिभाषा है आचार्य विश्वनाथ की। उन्होंने "साहित्यदर्पण" नामक अपने लक्षणग्रंथ में

गद्य का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम उसे परिभाषित किया—"वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम्"—(साहित्य दर्पण ६.३३०)। गद्य काव्य के भेदोपभेदों की चर्चा सर्वाधिक स्पष्ट रूप में साहित्यदर्पण में प्राप्त होती है। इसके पूर्व इसके सूक्ष्म भेद उपलब्ध नहीं होते। अतः समीक्षकों ने विश्वनाथकृत गद्य के चार भेदों को लक्ष्य बनाकर गद्य साहित्य की समीक्षा की तथा उनका वर्गीकरण किया। आचार्य विश्वनाथ ने गद्य के भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

> **"वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।**
> **भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥**
> **आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।**
> **अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥**
>
> (साहित्य दर्पण—६ ३३०-३३२)

इन चारों भेदों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. मुक्तक—

समासों से रहित गद्य रचना।

२. वृत्तगन्धि—

छन्दों की गन्ध अर्थात् पुट से युक्त, परन्तु छन्द नहीं। भाव यह है कि कहीं कहीं पर जिसमें छन्दों के लक्षण भी घट जाते हैं, पर वे पूरे छन्द नहीं बनते।

३. उत्कलिका प्रायः—

दीर्घ समासों से युक्त गद्य।

४. चूर्णकः—

थोड़े समासों वाला गद्य।

आचार्य दण्डी उपर्युक्त चार भेदों में से मुक्तक भेद स्वीकार नहीं करते। उनका विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. चूर्णकः—

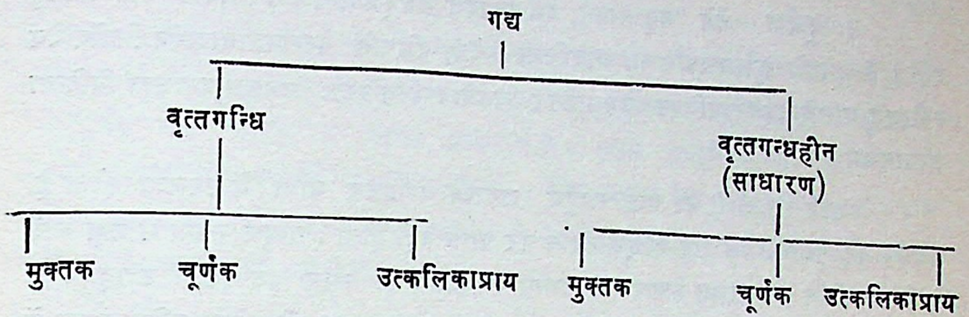
कोमल अक्षरों और थोड़े समासों वाला गद्य। (वैदर्भी रीति)

२. उत्कलिकाप्रायः—

कठोर अक्षर और समासों से भरा हुआ गद्य। (गौडी रीति)

वृत्तगन्धि—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वृत्तगन्धि गद्य, मुक्तक, चूर्णक और उत्कलिकाप्राय भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। अतः ये तीनों वृत्तगन्धि और वृत्तगन्ध-हीन अर्थात् साधारण गद्य इन दोनों के उपभेद मात्र हैं। इसे इस तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—



आचार्य विश्वनाथ ने इन भेदों के उदाहरण भी दिए हैं, जैसे--मुक्तक-गुरुर्वचसि पृथुरसि" इत्यादि। वृत्तगन्धि --समरकण्डूलनिबिड-भुज-दण्डकुण्डली-कृतकोडण्ड-शिजिनी-टंकारोज्जागरितवैरिनगर" इत्यादि—(इसमें कुण्डलीकृतकोदण्ड पूरा और "समरकण्डूल" पहले दो अक्षरों से हीन अनुष्टुप्, के पाद हैं। (उत्कलिकाप्राय—"अतिश विसृमरनिशितशर-विसरविदलित समरपरिगत प्रवरपरबल:"। चूर्णक—"गुणरत्न सागर, जगदैकनागर, कामिनीमदन, जनरंजन" इत्यादि उदाहरण हैं।

आचार्य दण्डी "मुक्तक" भेद को नहीं मानते। संभवत: इसीलिए उन्होंने अपने दश-कुमार चरित में अधिकतर "चूर्णक" गद्य का प्रयोग किया है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति का आधार लेकर जो गद्य कोमलाक्षरों तथा अल्प समास वाला होता है, वह "चूर्णक" कह-लाता है। यों तो उनके गद्य में "उत्कलिकाप्राय" गद्य के भी उदाहरण खोजे जा सकते हैं, परन्तु "वृत्तगन्धि" का प्रयोग दण्डी ने बहुत कम किया है। इसके उदाहरण अनायास नहीं सायास प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रकार पारिभाषिक स्वरूप को लेकर चलने वाले अलंकृत गद्य के दर्शन सर्वप्रथम कवि दण्डी की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। डॉ० सुधीर कुमार गुप्त ने दशकुमार चरित की पूर्वपीठिका की भूमिका में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें वे उपर्युक्त गद्य भेदों के साथ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

१. **मुक्तक**—यथा—"स: कुत्र गत:, केन वा गृहीत:, परीक्ष्यापि न वीक्ष्यते, किं करोमि, क्व यामि, भवद्भिर्न किमदर्शि इति। द्विजोत्तम ! कश्चिदत्र तिष्ठति। किमेष तव नन्दन: ? सत्यमेव तदेनं गृहाण।"

यद्यपि महाकवि दण्डी मुक्तक को गद्य का भेद नहीं मानते, तथापि उनकी रचना में जो सरल एवं प्रवाहमय गद्य है, उसे मुक्तक गद्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार का गद्य दण्डी ने बहुत कम मात्रा में प्रयुक्त किया जा है। डॉ० गुप्त का अभिमत है कि "चूर्णक" तथा "उत्कलिकाप्राय" गद्य शैलियों के बीच में भी महाकवि दण्डी सरल वाक्यों का प्रयोग करते हैं। उन्हें भी मुक्त गद्य के रूप में माना जा सकता है, जैसे "निर्जने वने किं निमित्तं रूद्यते त्वया; कोऽपि रूपी कोप इव व्याघ्र: शीघ्रं मामाघ्रातुमागतवान्।

२. **चूर्णक**—जैसे "ननु तापस, देशं सापदेशं भ्रमन्भवांस्तत्र तत्र भवदभिज्ञातं कथयतु इति। तेनाभाषि भ्रूभ्रमणबलिना प्रांजलिना—देव, शिरसि देवस्याज्ञामादायैनं निर्दोषं वेषं स्वीकृत्य मालवेन्द्रनगरं प्रविश्य तत्र गूढतरं वर्तमानस्तस्य राज्ञः समस्तमुदन्तजातं विदित्वा प्रत्यागमम्।"

यद्यपि इस शैली का गद्य सम्पूर्ण गद्यकाव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, तथापि वह सुव्यवस्थित रूप में एक स्थान पर प्राप्त नही होता। सम्पूर्ण रचना में जहाँ कवि ने वैदभी रीति का आश्रय लेकर गद्य रचना की है, वे ही स्थल इस गद्य के उदाहरण हो सकते हैं। इतना अवश्य है कि इस प्रकार का गद्य मुक्तक गद्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है।

३. **वृत्तगन्धि**—इस गद्य का पुट भी अनेकशः मिलता है। यथा—"ननु तापस, देशं सा, सापदेशं भ्रमन् भवांस् तत्रभवदभिज्ञातं" अनुष्टुप् का लक्षण संगत होता है। अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार संकलित किए जा सकते हैं।

३. **उत्कलिकाप्राय**—शैली वसुमती और राजहंस तथा मानसार के युद्ध के वर्णन आदि में पाई जाती है।

गद्य काव्य के उपर्युक्त उदाहरण दशकुमार चरित के प्रथम उच्छ्वास से प्रस्तुत किए गए हैं। शेष उच्छवासों में भी ये गद्यशैलियाँ मिश्रित रूप में प्राप्त होती हैं। उदाहरणतया—विश्रुतचरित में मंत्रिवृद्ध के अपनी स्थिति के विचार में मुक्तक, पुण्यवर्मा और विहारभद्र के वर्णनों में चूर्णक और चन्द्रपालित के व्यसनों के गुणों के वर्णन में उत्कलिकाप्राय गद्यों का प्रयोग हुआ है। वृत्तगन्धि का अनेकशः पुट मिल जाता है।

इसी प्रकार संस्कृत गद्यकाव्यों के विवेचन से उनमें भी इन भेदों के अनुसार उनके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसा कोई भी गद्यकाव्य नहीं है जो सम्पूर्णतया एक-एक भेद का स्वतन्त्र रूप से उदाहरण बन सके। ये समस्त शैलियाँ वहाँ मिली-जुली पाई जाती हैं। समीक्षकों का यही कथन है कि आचार्य विश्वनाथ ने जो 'वृत्तगन्धि" गद्य के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, वे औचित्यपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि एक उदाहरण में वे एक समस्त पद के कुछ अंश को लेते हैं। उसी के दूसरे अंश में दो अक्षरों का लोप मानकर शेष में अनुष्टुप् छन्द का लक्षण घटाते हैं। उदाहरण में भी वे केवल अनुष्टुप् का ही प्रयोग करते हैं, अन्य किसी छन्द का नहीं। "वृत्तगन्धि" गद्य में वृत्त की खोज करना सर्वसामान्य के लिए दुरूह माना जायेगा। जहाँ लम्बे लम्बे समासों से युक्त वाक्य प्रयुक्त होते हैं, वहाँ अनुष्टुप् आदि छन्द का लक्षण घटना अस्वाभाविक और असंभव नहीं है। मेरी दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ का यह अभिप्राय रहा होगा कि गद्यलेखक गद्य लेखन में जहाँ आद्योपान्त छन्दों की सुगन्ध व्याप्त करता जाय, उसी प्रकार के वाक्यों की रचना करे जो छन्दवत् गेय हों, तो वस्तुतः वह गद्य चमत्कारपूर्ण होगा। अतः समीक्षकों की यह मान्यता है कि गद्य काव्य में चारों शैलियों का उचित मात्रा में प्रयोग हो। यदि ऐसा न माना जायगा तो कम से कम

मुक्तक गद्य शैली के काव्य में—"ओजः समासभूयस्त्वम्" की कसौटी लागू नहीं हो पायेगी। गद्य में पद्य का सा सौष्ठव लाने के लिए "उत्कलिका प्राय" के साथ "मुक्तक" "वृत्तगन्धि" और "चूर्णक" का प्रयोग अनिवार्य है। इसके सन्तुलित प्रयोग के अभाव में काव्य का सौष्ठव प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार पद्य में असमास, अल्पसमास और बहुसमास शैलियों तथा विभिन्न छन्दों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार सौष्ठव की दृष्टि से गद्य में भी ऐसे प्रयोग किए गए हैं।

आचार्य दण्डी ने विषम की दृष्टि से भी गद्य काव्य के भेद किए हैं और वे भेद दो हैं—"कथा" और "आख्यायिका"। उन्होंने अन्त में इन दोनों को भी एक ही गद्य काव्य के दो नाम स्वीकार किए हैं। आचार्य वामन ने अपने "काव्यालंकार सूत्र" में तथा अग्निपुराण में चूर्णक, वृत्तगन्धि और उत्कलिकाप्राय ये तीन ही भेद माने हैं। उन्होंने "पातालतालुतलवासिषु दानवेषु" आदि गद्य खण्डों में वसन्ततिलका छन्द का लक्षण घटाया है। इसी प्रकार चूर्णक तथा उत्कलिकाप्राय के भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। आधुनिक युग के निबन्धों, कथाओं, उपन्यासों आदि में भी इन सभी शैलियों का मिश्रित रूप पाया जाता है। सामान्यतः लेखक की प्रवृत्ति "चूर्णक" गद्य के लेखन के प्रति अधिक रही है। "उत्कलिकाप्राय" और मुक्तक गद्य" की रचना तो सायास हो पाती हैं।

आचार्य दण्डी के पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्यों ने गद्यकाव्य के दो भेद माने हैं—"कथा' और "आख्यायिका"। इन दोनों के लक्षण अथवा दोनों के अन्तर में आचार्यों में मतभेद हैं। सर्वप्रथम अग्निपुराण के उद्धरण को प्रस्तुत किया जा रहा है—

"कर्तृवंशप्रशंसा स्याद् यत्र गद्येत विस्तरात्।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैश्च परिच्छदो यत्र सा चूर्णिकोत्तरा।
वक्त्रं चापरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका मता।
श्लोकैः स्ववंश संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति।
मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्रकथान्तरम्॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वालम्बकैः क्वचित्।
सा कथा··· ··· ॥

अ० ३३७, श्लोक १३-१७

अग्निपुराण के इसी अध्याय में गद्य के भेद विवेचन के उपरान्त गद्य काव्य के पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है—(१) कथा (२) खण्डकथा (३) परिकथा (४) आख्यायिका (५) कथानिका। वहाँ लिखा है—

"आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पंचधा॥"

आचार्य भामह ने भी इन दोनों गद्य भेदों के सम्बन्ध में उल्लेख किया है—

"प्रकृतानुकूलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यार्थशंसि च॥—
कन्याहरण-संग्राम विप्रलम्भोदयान्विता।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि॥
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा।
अन्यैः स्वरचितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते॥

—काव्यालंकार १.२५-२६

उपर्युक्त इन दोनों लक्षणों के अनुसार दोनों भेदों का विशेष अन्तर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

आख्यायिका	कथा
१. कवि के वंश का वर्णन गद्य में हो।	१. कवि के वंश का वर्णन पद्यों में हो।
२. लड़कियों का अपहरण, युद्ध, नायक और नायिका का एक दूसरे से वियोग, नायक के अन्य कष्ट, ये विषय होते हैं।	२. यहाँ इन विषयों का अभाव होता है।
३. वृत्तकथन नायक द्वारा होता है।	३. यहाँ पर अन्यों के द्वारा।
४. आन्तरिक विभाग उच्छ्वास कहे जाते हैं।	४. यहाँ पर लम्बक। परन्तु यहाँ पर आन्तरिक विभाग प्रायः किये ही नहीं जाते।
५. आगे आने वाली घटनाओं के सूचक पद्य वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों में बीच-बीच में आते हैं।	५. यहाँ इनका अभाव होता है।

इसी क्रम में आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में इन भेदों की अच्छी विवेचना की है। सर्वप्रथम तो वे अग्निपुराण तथा आचार्य भामह के मत का खण्डन करते हैं तथा कथा एवं आख्यायिका को एक ही गद्यकाव्य के दो भिन्न-भिन्न नाम मानते हैं। उनके अनुसार इन प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत "कथा" और "आख्यायिका" के लक्षण किसी भी गद्यकाव्य में नहीं घटते। यहाँ तक कि कथा में आख्यायिका तथा आख्यायिका में कथा के लक्षण पाए जाते हैं। यही कारण रहा है कि कथा और आख्यायिका में लक्षण-सांकर्य होने के कारण कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। आचार्य दण्डी का कथन इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है—

"अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ।।
नायकेन वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसितः ।।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ।।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि ।।
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लम्बादिरुच्छ्वासो वाऽस्तु किं ततः ।।
तत्कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।
सर्गबन्ध सभा एव नैते वैशेषिका गुणाः ।।
कविभावकृतं चिन्हमन्यत्रापि न दुष्यति।
मुखमिष्टार्थसंसिध्यै किं हि "न" स्यात् कृतात्मनाम् ।।"

(का० आ० १.२३-३०)

आचार्य दण्डी द्वारा प्रस्तुत ये विचार वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आज तो हमें अनेक गद्यकाव्य मूल रूप में उपलब्ध ही नहीं है, जो आचार्य दण्डी के समय विद्यमान थे, जिनके आधार पर आचार्य दण्डी ने यह निष्कर्ष निकाला है। अन्य गद्य काव्यों की चर्चा हम न भी करें और आचार्य दण्डी के गद्यकाव्यों को भी अपनी समीक्षा का आधार बनाएँ तो भी उनके द्वारा प्रस्तुत ये लक्षण उनकी गद्य-कृतियों में स्पष्टतया नहीं घटते। आचार्य दण्डी ने इस भेद प्रणाली की इतनी कटु आलोचना भी की, तथापि उनके परवर्ती आचार्यों ने इन भेदो को उनके प्राचीन लक्षणों के साथ ही अपनाया। इन आचार्यों में श्री रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, विद्यानाथ आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं। "अमरकोष" में भी हमें दण्डी तथा भामह के इस मौलिक भेदतत्त्व की व्याख्या मिलती है—

"आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्ध-कल्पना कथा"

(अमरकोष १.५.५६)

"अलंकार संग्रहकार" भी "कथा" में कल्पित वस्तु तथा "आख्यायिका" में वास्तविक घटनाओं को उनके विषय का आधार मानते हैं। वे लिखते हैं—

"कथाकल्पितवृत्तान्ता सत्यार्थाऽऽख्यायिका मता"।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, आचार्य भामह और दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने भी इन दोनों गद्य विधाओं के लक्षण देने की चेष्टा की है, इनमें चार नाम प्रमुख हैं—

(१) काव्यालंकार के रचयिता आचार्य रुद्रट (२) ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धन (३) हेमचन्द्र तथा (४) साहित्यदर्पण के निर्माता आचार्य विश्वनाथ।

१. काव्यालंकारकार आचार्य रुद्रट

सर्व प्रथम आचार्य रुद्रट द्वारा, प्रस्तुत विचारों को प्रस्तुत किया जाता है। वे लिखते हैं—

> "श्लोकैर्महाकथायामिष्टात् देवान् गुरूं नमस्कृत्य।
> संक्षेपेण निजां कुलमभिध्यात्स्वं च कर्तृतया।
> सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
> रचयेत् कथाशरीरं पुनरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्॥
> आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपंचितं सम्यक्।
> लघं तावत् संधानं प्रक्रान्तकथावताराय॥
> कन्यालाभफलं वा सम्यक् विन्यस्य सकलश्रृंगारम्।
> इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगधेन चान्येन॥"

आचार्य रूद्रट ने कथा तथा आख्यायिका की परिभाषा में अन्य कई परिवर्तन प्रस्तुत किए हैं और उनका मत विशेष रूप से बाणभट्ट की दोनों अमर कृतियों—"हर्षचरित" तथा "कादम्बरी" पर ही आधारित है। ऐसा प्रतीत होता है कि रूद्रट ने सम्भवतः इन दो ही कृतियों को अपने समक्ष रखकर उन्हीं के नियमों को सार्वभौम बना दिया। उनके मतानुसार "कथा" के प्रारम्भ में गुरू तथा देवताओं की नमस्क्रिया पद्य में होती है और रचयिता के परिवार का वर्णन भी इसमें रहता है। पर वास्तविक कथा का आरम्भ सानुप्रास लघ्वक्षर गद्य के द्वारा ही किया जाता है। कथा में पुर वर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का वर्णन होना भी आवश्यक है। प्रारम्भ कथान्तर से होता है जो शीघ्र ही मुख्य कथा में मिल जाता है। कन्यालाभ इसका मुख्य विषय होता है और श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है। कथा संस्कृत में गद्य के द्वारा तथा अन्य भाषाओं में पद्य के द्वारा कही जानी चाहिए।

'आख्यायिका" के सम्बन्ध में इनका मन्तव्य है कि उसकी कथावस्तु का प्रारम्भ तो कथा की तरह ही किया जाना चाहिए, परन्तु उसमें उसके रचयिता और वंश आदि का वर्णन गद्य में किया जाना चाहिए। आरम्भ में अभीष्ट देवता एवं गुरू आदि की स्तुति पद्यों के माध्यम से ही प्रस्तुत की जानी चाहिए। इसके साथ ही प्राचीन कवियों की प्रशंसा तथा अपने स्वयं के सम्बन्ध में अत्यन्त नम्रतापूर्ण निवेदन भी किया जाना चाहिए। रचना करने का अभिप्राय सामान्यतया अपने आश्रयदाता या विशिष्ट गुणोपेत नृपादि की प्रशंसा करना या उसका चरित्र वर्णन करना माना गया है। इसका विभाजन उच्छ्वासों में किया जाना

---

१. रुद्रट—काव्यालंकार – १६।२०-२३

चाहिए। केवल प्रथम उच्छ्वास को छोड़कर अन्य सभी उच्छ्वासों के प्रारम्भ में दो ऐसे आर्याछन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिनका उद्देश्य भविष्य की घटनाओं की ओर संकेत करना हो।

२. ध्वयालोककार आचार्य आनंदवर्धन—

आचार्य रुद्रट के पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन ने आख्यायिका में प्रयोग किए जाने वाले समासों के विषय में कुछ विशेष नियमों की ओर ध्यान आकर्षित किया, जिनका उल्लेख "ध्वन्यालोक" में उपलब्ध होता है। वे लिखते हैं—"आख्यायिका तु भूम्ना मध्यम-समासा दीर्घ-समासे एव संघटते। अतिदीर्घ समास-रचना न विप्रलम्भश्रृंगारकरुणयोः आख्यायिकायामपि शोभते।"

इसके अतिरिक्त आचार्य आनन्दवर्धन कोई विशेष बात नहीं लिखते अर्थात् वे अन्य विन्दुओं के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों से पूर्णतः सहमत हैं। परन्तु वे ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में गद्य काव्य के पाँच भेदों का उल्लेख करते हैं (१) आख्यायिका (२)कथा (३) परिकथा (४) खण्ड काव्य (५) सकल कथा। किसी अन्य भेद की चर्चा न कर केवल इनकी परिभाषा मात्र प्रस्तुत करते हैं।

३. श्री हेमचंद्र—

गद्य काव्य के प्रभेदों की विस्तृत संख्या का निर्देश आचार्य हेमचन्द्र ने "काव्यानुशासन"[२] में किया है। वहाँ अनेक स्वरूप को उद्घाटित करने के साथ-साथ प्रतिनिधि रचना का नामोल्लेख तक किया है। उनके अनुसार गद्य के प्रभेद निम्नलिखित हैं—

(१) आख्यान (२) निदर्शन (३) प्रवह्लिका (४) मतल्लिका (५) मणिकुल्या (६) परिकथा (७) खण्डकथा (८) सकलकथा (९) उपकथा (१०) वृहत्कथा (११) कथा (१२) आख्यायिका। इनमें से कथा तथा आख्यायिका इन दो भेदों का पूर्ण विस्तार से विदेचन उपलब्ध है।

११वीं शताब्दी के आचार्य भोजराज ने अपने "श्रृंगारप्रकाश"[३] में श्रव्य काव्य के २४ भेदों में आख्यायिका और ११ गद्य काव्य प्रभेदों का भी परिगणन किया है। यथा—

"अनभिधेयः श्रव्यः। सोऽप्याख्यायिकादि भेदात् चतुर्विंशतिप्रकारो भवति। आख्यायिका, उपाख्यानम्, निदर्शनम्, प्रवह्लिका, मल्लिका, मणिकुल्या, कथा, परिकथा, खण्डकथा, उपकथा, बृहत्कथा, इति। आचार्यहेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत १२ भेदों में से इन्होंने एक भेद "सकलकथा" का उल्लेख नहीं किया है।

४. आचार्य विश्वनाथ—

इन सभी मतों में अन्तिम मत आचार्य विश्वनाथ का है। उनके अनुसार कथा की रोचक वस्तु गद्य में लिखी होती है और उस कथा के बीच-बीच में आर्या, वक्त्र तथा अपर-

---

२. आचार्य हेमचन्द्र—"काव्यानुशासन"—७-८ सूत्र की टीका।

३. आचार्य भोजराज—श्रृंगार प्रकाश खण्ड—२, पृ०—४१२

वक्त्र छन्दों का समावेश होता है। कथा के प्रारम्भ में कथाकार कुछ पद्य प्रस्तुत करता है, जिनमें नमस्कारात्मक मंगलाचरण के अतिरिक्त दुष्टों के व्यवहार का सामान्य वर्णन होता है। आख्यायिका कथा के ही समान होती है। इसमें विशेषता यह है कि कवि के कुल तथा अन्यान्य सुप्रसिद्ध कवियों का भी वर्णन होता है। आख्यायिका में कहीं-कहीं पर पद्य भी आ जाते हैं। कथा को जिन विभागों में विभक्त किया जाता है, वे आश्वास कहलाते हैं। प्रत्येक आश्वास के प्रारम्भ में आर्या, वक्त्र, अपरवक्त्र आदि छन्दों के व्याज से आगामी वृत्तान्त को निर्दिष्ट करने वाले पद्य प्रस्तुत किए जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में—

"कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम्।
आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्॥
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते॥
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम्॥"

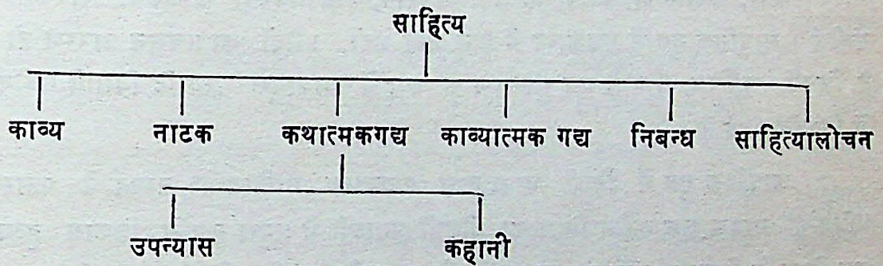
—साहित्यदर्पण परि० ६।३३२-३३५

आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत कथा और आख्यायिका के लक्षणों में यद्यपि कोई विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती तो भी इनका मत विशेष रूप से मान्य है। इनके द्वारा कथा और आख्यायिका के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें प्रस्तुत किया जा चुका है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने महाकवि बाणभट्ट की रचनाओं का अध्ययन कर उनके अनुसार कथा और आख्यायिका के विषय में अपना मन्तव्य दृढ़ किया है। वे कथा के उदाहरण के रूप में कादम्बरी का तथा आख्यायिका के रूप में हर्षचरित का उल्लेख करते हैं। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त गद्यविधा की अन्यान्य रचनायें आचार्य विश्वनाथ के द्वारा प्रस्तुत लक्षणों से यथावत् प्रमाणित नहीं होती। उदाहरणतया आचार्य भामह द्वारा प्रस्तुत आख्यायिका के लक्षणों को हर्षचरित पूरा नहीं करता। यह कृति सरल गद्य में लिखी गई है, परन्तु इसमें प्रयुक्त वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द अभीष्ट की सिद्धि नहीं करते। उच्छ्वासों के प्रारम्भ में प्रयुक्त आर्याछन्द आने वाली घटनाओं की ओर संकेत करते हैं, परन्तु इसमें न तो कन्याहरण का वर्णन है और न ही नायक अपनी कथा स्वयं कहता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भामह द्वारा प्रस्तुत "आख्यायिका" का लक्षण बाणभट्ट की कृति "हर्षचरित" को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत नहीं किया गया। कुछ एक आचार्यों का जो यह मत है कि "आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही कहलाई जानी चाहिए" (जैसा कि भामह ने संकेत किया है)। उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका खण्डन आचार्य दण्डी ने ही कर दिया था—"अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्" और आचार्य विश्वनाथ

इस मत की पुष्टि कर देते हैं—"अन्यापदेशेनाश्वासमुखेन भाव्यर्थ-सूचनम्।" जिसका अभिप्राय है कि आख्यायिका में केवल नायक के ही नहीं, अपितु अन्य लोगों के भी वचन हो सकते हैं।

शास्त्रकारों की दृष्टि में कथा और आख्यायिका के सम्वन्ध में आचार्य विश्वनाथ का मत अन्तिम माना जाता है। यद्यपि आज के सन्दर्भ में उनकी विचारधारा का विश्लेषण कर सकते हैं। यों तो कथा और आख्यायिका में कोई मौलिक अन्तर नही है, फिर भी समीक्षकों ने कथानक के आधार पर इसमें भेद करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि आख्यायिका का कथानक बहुधा ऐतिहासिक या अर्द्धऐतिहासिक होता है और कथा का कथानक कवि के ऊर्वर मस्तिष्क की उपज होती है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से चाहे इसे भेद का आधार मान लिया जाय, परन्तु व्यावहारिक रूप से इसमें कोई विशेष भेद नहीं हैं।

इस प्रकार यह प्रमाणित हुआ कि भाषा एवं रचनाओं की पुष्टि के साथ साहित्य अथवा काव्य के वर्गीकरण की आवश्यकता के फलस्वरूप अलंकार-शास्त्र का समुद्भव हुआ। अलंकार-शास्त्रियों के विवेचन को आधार बनाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गद्य काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—



अधिकाँश पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह आचार्य विश्वनाथ ने भी शैली के आधार पर ही गद्य काव्य का वर्गीकरण किया है तथा उन्होंने मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय तथा चूर्णक का उल्लेख किया है। परन्तु ये गद्य के भेद हैं, गद्यकाव्य के नहीं। शृंगारप्रकाश व आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा प्रस्तुत भेदों के सम्बन्ध में डॉ० भागीरथ मिश्र[४] का मत भी विचार णीय है। वे लिखते हैं—

"उपरिवर्णित कथा भेदों में परिकथा, सकलकथा और बृहत्कथा तो कथा के भेद हैं। मन्थाल्लिका व मणिकुल्ला ये क्षुद्रकथा (आधुनिक कहानी) के रूप है और उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, खण्डकथा, उपकथा आदि किसी प्रधान या आधिकारिक कथा की गौण या सहायक कथायें हैं, जिनका कि काव्यभेद की दृष्टि से अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि प्रधान या आधिकारिक कथा के स्वरूप स्पष्टीकरण और विश्लेषण के लिए इन गौण या प्रासंगिक कथाओं के स्वरूप

४. डॉ० भागीरथ मिश्र—काव्यशास्त्र पृ० — ६५
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

का समझना भी आवश्यक होता है। इस दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक उपन्यास के जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक इन तीनों भेदों को हम क्रमशः बृहत्कथा, सकल कथा और परिकथा में प्राप्त करते हैं।"

कथा साहित्य के प्राचीन तथा अर्वाचीन, दोनों के समन्वित रूप का विवेचन हमें भारतेन्दु युग में प्रसिद्ध विद्वान्, जयपुर में लब्धजन्मा, साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की पुस्तक "गद्यकाव्यमीमांसा" से प्राप्त होता है। उनके अनुसार आधुनिक उपन्यास कथासाहित्य का पर्याय है और उसके कुल मिलाकर उनचास अरब छः करोड़ इकतीस लाख अठ्यानवे हजार चार सौ (४६, ०६, ३१, ६८, ४००) भेद हैं। उनके अनुसार गद्यकाव्य या उपन्यास के प्रमुख भेद इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं[५]—

"कथा कथानिका चैव कथकालापको तथा।
आख्यान्तख्यायिके खण्डकथा परिकथापि च ॥
संकीर्णमिति विज्ञेयो उपन्यासभिदा नव।
प्रत्येकं लक्षणान्येषां कीर्त्यन्ते च पृथक्-पृथक् ॥"

कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा तथा संकीर्ण। आधुनिक युग में गद्यकाव्य में कुछ अन्य भेदों, प्रभेदों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया है, जिनमें रेखाचित्र, जीवनी एवं संस्मरण के रूप में यात्रावृत्त इत्यादि विधायें नवीन रूप में विकसित हुई है।

आधुनिक युग में हिन्दी भाषा तथा पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप "निबन्ध" नामक एक नवीन विधा का बीसवीं शताब्दी में प्रमुख रूप से विकास हुआ है। इस विधा के विकास से संस्कृत भाषा की भी आशातीत प्रगति हुई है।

इस निबन्ध के दो रूप प्राप्त होते हैं—

१. रचनात्मक और

२. विवेचनात्मक। इनमें रचनात्मक निबन्ध गद्य काव्य की ही एक प्रमुख विधा है। इन निबन्धों के प्रमुखतया निम्न भेद किए जाते हैं—

१. वर्णनात्मक

२. कथात्मक या विवरणात्मक

३. भावात्मक

४. विचारात्मक आदि।

जीवन परिचयात्मक, शोधपरक एवं दार्शनिक निबन्धों का समावेश इन्हीं के अन्तर्गत हो जाता है। गद्यकाव्य की निबन्ध विधा की तरह एक और विधा का प्रचलन प्राचीनकाल से अनवरत रूप से हो रहा है। वह है "शास्त्रीयलेख विधा" इसमें किसी शास्त्रीय विषय पर

५. गद्यकाव्यमीमांसा—श्री पं० अम्बिकादत्त व्यास कारिका २५-२६

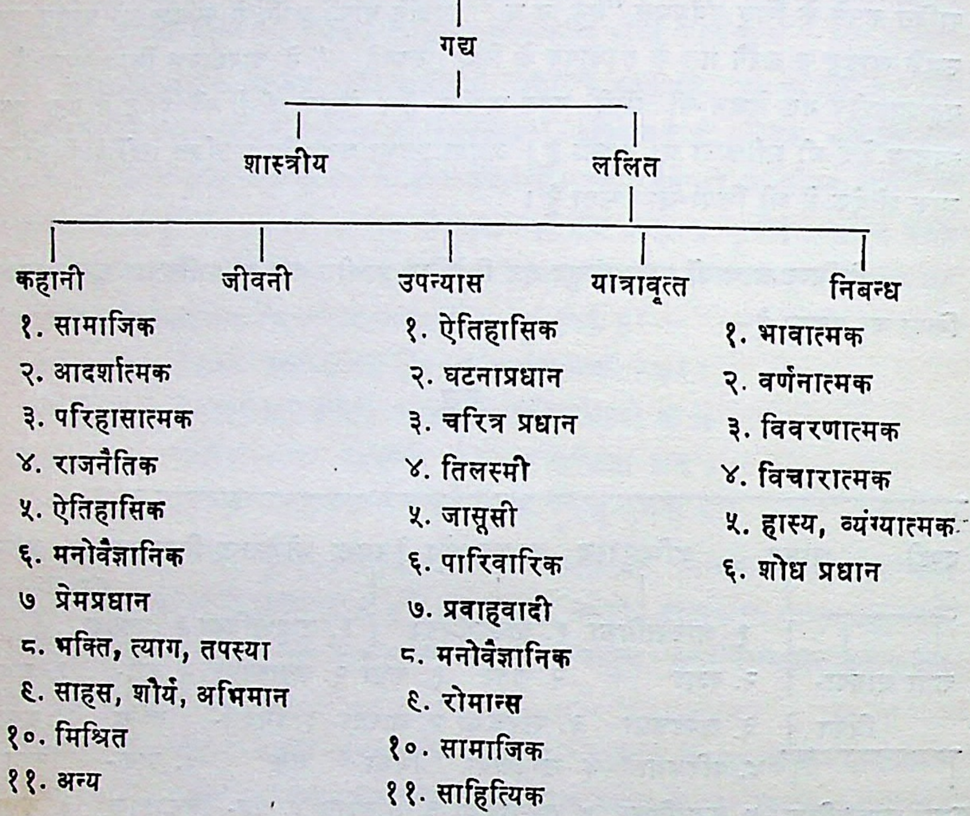
प्रौढ समासबहुल गद्य शैली में दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है। अपने मत को प्रतिपादित करने के लिए सर्वप्रथम "ननु, न च......इति वाच्यं आदि से पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उसके खण्डन व अपने मत के संस्थापन के लिए "उच्यते—" से वाक्यारंभ किया जाता है। यह शास्त्रीय गद्य लेखन की शैली बहुत प्राचीन है। लेखन शैली की दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र भेद भी स्वीकारा जा सकता है। अथवा इसका अन्तर्भाव उपर्युक्त भेदों के विचारात्मक शीर्षक में भी किया जा सकता है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत एवं विवेचित प्राचीन गद्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

गद्य

दण्डी	भामह	अग्निपुराण	आनन्दवर्धन	हेमचन्द्र	भोजराज	विश्वनाथ	पं० अम्बिकादत्तव्यास
कथा	कथा	१. आख्यायिका	१. आख्यायिका	१. कथा	१. आख्यायिका	१. मुक्तक	१. कथा
आख्यायिका	आख्यायिका	२. कथा	२. कथा	२. आख्यायिका	२. उपाख्यान	२. वृत्तगन्धि	२. कथानिका
		३. खण्डकथा	३. परिकथा	३. आख्यान	३. निदर्शनम्	३. उत्कलिकाप्राय	३. कथन
		४. परिकथा	४. खण्डकथा	४. निदर्शन	४. प्रवह्लिका	४. चूर्णक	४. आलाप
		५. कथानिका	५. सकलकथा	५. प्रवह्लिका	५. मतल्लिका		५. आख्यान
				६. मतल्लिका	६. मणिकुल्या		६. आख्यायिका
				७. मणिकुल्या	७. कथा		७. खण्डकथा
				८. परिकथा	८. परिकथा		८. परिकथा
				९. खण्डकथा	९. खण्डकथा		९. संकीर्ण
				१०. सकलकथा	१०. उपकथा		
				११. उपकथा	११. बृहत्कथा		
				१२. बृहत्कथा			

आधुनिक संस्कृत गद्य काव्य का वर्गीकरण



चूंकि संस्कृत साहित्य में भी अब इन विधाओं में पर्याप्त लेखन होने लगा है, चाहे वह भाषान्तर विधा के प्रवाह से ही हो रहा हो, यह आवश्यक हो जाता है कि इन बिन्दुओं पर भी संक्षेप में विवेचन किया जाए।

१. ललितगद्य—

गद्य काव्य के इस भेद का संस्कृत आचार्यों ने सामान्य रूप से कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है, परन्तु गद्य साहित्य के अन्तर्गत यत्रतत्र इस प्रकार का गद्य भी दृष्टिगत होता है, जिसमें कथा, आख्यायिका, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण इत्यादि गद्य प्रभेदों के लक्षण नहीं घटते। वह शास्त्रीय गद्य की दीर्घ समस्त पदावली का गहन गंभीर विचार, तर्कवितर्क पूर्ण आलेख व खण्डन-मण्डन शैली के गद्य से भी सर्वथा भिन्न होता है। इसमें किसी सामान्य विषय वस्तु का स्थान विशेष या घटना प्रधान या अपने विचारों का अल्प समास युक्त सरल भाषा में प्रतिपादन या वर्णन होता है। इसमें अलंकार, भाव, रीति, गुण इत्यादि सभी काव्यगत गुण प्राप्त होते हैं। रस की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। कहीं रसानुभूति हो सकती है, कहीं नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार की विशेषता से युक्त गद्य को "ललितगद्य" नाम से अभिहित किया गया है। राजस्थान के कुछ लेखकों की कृतियों को

इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे कवि शिरोमणि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की — मकार महामेलनम् तथा प्रबन्धामृतम्, प्रबन्ध गद्य माधुरी इत्यादि रचनायें। इसमें विभिन्न विषयों पर सरल भाषा में लेखक के विचार अभिव्यक्त हैं।

२. यात्रावृत्त—

जब किसी स्थान विशेष का वर्णन करने के उद्देश्य से लेखक उसे यात्रा वृत्तान्त का रूप दे देता है, तो वह यात्रावृत्त प्रधान गद्य काव्य हो जाता है। जैसे पं० नवलकिशोर कांकर की रचना "यात्रा विलास" गद्य रचना। यह रचना प्रौढ गद्य में ललित पदावली के माध्यम से रोचक यात्रा-वृत्तान्त को प्रस्तुत करती है। इसमें लेखक ने जयपुर से गंगोत्री, यमुनोत्री, बदरिकाश्रम यात्रा का स्वानुभूत चित्रण किया है। दिल्लीवर्णन, हरिद्वार वर्णन, उत्तरकाशी वर्णन इत्यादि स्थान विशेषों का वर्णन दर्शनीय है।

३. जीवनी

इस विधा का प्रयोग भी संस्कृत में होने लगा है। गद्य में किसी महापुरुष का जीवन चरित जब गुम्फित किया जाता है, तो वह विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। आत्म-कथा व संस्मरणों को भी इसी विधा के अन्तर्गत मान्यता दी जा सकती है। 'महाराणा प्रताप सिंह चरितम्' आदि रचनायें इस विधा का उदाहरण मानी जा सकती हैं।

४. उपन्यास —

वर्तमान शताब्दी में संस्कृत कथा साहित्य का पुनरुद्धार या पुनर्जागरण हुआ है, इसे सभी विद्वानों, समीक्षकों, समालोचकों ने स्वीकारा है। इस पुनर्जागरण में सम्पूर्ण विश्व के कथा साहित्य की प्रमुख भूमिका रही है। इस युग में कथा साहित्य के स्वरूप एवं शैली की दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। कथा के प्रति जनसाधारण की रूचि आदिकाल से अद्यावधि अक्षुण्ण धारा के रूप में प्रवाहित होती रही है, यह निर्विवाद सत्य है। इस रूचि को परिष्कृत करने का कार्य कथालेखकों का रहा है। प्राचीनकाल की उपदेश प्रधान तथा शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गई कथा का प्रचलन अवरुद्ध हो—यह युग ध्वनि थी। सामयिक दृष्टि से शिल्पकला तथा विचारोत्तेजकता पर बल दिए जाने की आवश्यकता अनु-भव की गई तथा कथा की परिभाषा के द्वारा उसके स्वरूप को निश्चित करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार कथा के मूलतत्त्वों तथा उसके अंगों व उपांगों की ओर भी ध्यान दिया गया। इसके फलस्वरूप इसी शताब्दी में कथा ने आशातीत प्रगति की। कथा की भाषा, उसका विधान, उसकी शैली व उसकी कला में मूलभूत परिवर्तन हुआ। आकार के आधार पर इसे २ भागों में विभक्त किया गया—(१) उपन्यास तथा (२) कहानी। कथा के उक्त दो भाग करने के उपरान्त प्रत्येक रूप में कथानक, संवाद, चरित्र-चित्रण, वाता-वरण या देशकाल व शैली तत्त्वों का समावेश भी परमावश्यक हो गया।

"उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्" के अनुसार उपन्यास किसी इतिवृत्त की अवतरणिका को कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा किसी कथा का, घटना का उपक्रम किया जाय, उसे

"उपन्यास" कहते हैं। इसका वर्णन-विस्तार महाकाव्य की तरह सर्वतोमुख होता है। उससे इसमें प्रधानतया भेद होता है—महाकाव्य पद्यबद्ध और सर्गविश्रान्त होता है; जबकि उपन्यास गद्य-बद्ध तथा परिच्छेद विश्रान्त। महाकाव्य में चरित्र के प्रत्येक प्रतीक पर आलोचना नहीं की जाती। महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास में गौणचित्रण अधिक पाये जाते हैं। पात्रों की संख्या बहुत ही बढ़ जाती है। मनोभावों का चित्रण महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास में अधिक होता है। महाकाव्य पद्यमय होने के कारण कुछ कठिन होता है और इसके रसानुभव में कुछ विलम्ब होता है, किन्तु उपन्यास गद्यमय होने के कारण सरल होता है तथा वाचन समकाल में ही वोध होने से वाचक को रसाप्लवित करता जाता है। महाकाव्य परिपक्व साहित्यिकों के ही मनोरंजन की वस्तु मानी जाती है, किन्तु उपन्यास सर्वसाधारण को समान भाव से प्रिय होता है। इस प्रकार उपन्यास विधा है। इसमें किसी चरित्र का देशकाल में स्वाभाविक चित्रण किया जाता है। वर्णन, चरित्र-विश्लेषण और वार्तालाप के द्वारा लेखक हमें देखे, सुने और अनुभूत जीवन के दृश्यों के साथ सजीव जीते-जागते व्यक्तियों की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत करता है।

५. कहानी

आधुनिक संस्कृत गद्य में सर्वाधिक लोकप्रिय विधा कहानी है। उपन्यास की अपेक्षा कहानी छोटी होती है तथा कहानी की अपेक्षा "गल्प" आकार प्रकार में और भी छोटी होती है। खण्डकाव्य जैसे महाकाव्य का रूपान्तर है, इसी भाँति कहानी और गल्प उपन्यास के रूपान्तर हैं। इसमें नायक की किसी प्रधान और आश्चर्यजनक घटना का गद्य में वर्णन किया जाता है। इसमें मनोवृत्तियों के उतारचढ़ाव का अच्छा प्रदर्शन होता है। उपन्यासों की भाँति कहानी भी वर्णनाप्रधान, घटनाप्रधान तथा अनुभूति प्रधान होती है।

इसके तत्त्व भी उपन्यास के समान सामान्यतः ७ हैं (१) कथानक (२) संवाद (३) चरित्रचित्रण (४) वातावरण (५) शैली (६) उद्देश्य तथा (७) भाषा।

यद्यपि उपन्यास एवं कहानी में तत्त्व समान होते हैं तथा दोनों का स्वरूप विधान भी एकसमान होता है, तथापि दोनों में कुछ मूलभूत भेद पाया जाता है। इन दोनों में प्रथम भेद आकार का है। उपन्यास समाज की पृष्ठ भूमि में सम्पूर्ण जीवन का विशद तथा व्यापक चित्र उपस्थित करता है, जबकि कहानी जीवन के किसी अवसर विशेष का ही चित्र उपस्थित करती है। उपन्यास के भीतर आने वाले अनेक अवसर स्वतः पूर्ण कहानी नहीं होते। उनमें आगे घटनाओं के प्रति जिज्ञासा जगती है, जो उपन्यास के अन्त में जाकर पूरी होती है। कहानी में किसी भी अवसर पर चित्रण स्वतः पूर्ण होता है।

कहानीकार के लिए संक्षिप्तता और संकेतात्मकता आवश्यक माने गए हैं, जबकि उपन्यासकार के लिए विवरणपूर्ण, विशद तथा व्याख्या प्रधान शैली आवश्यक मानी गई है। कहानीकार एक भाव के प्रभाव-विशेष का चित्रण करता है, जबकि उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृति करता है। कहानी में प्रासंगिक कथाओं का

अवसर नहीं होता, जबकि उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं का संगठन, आधिकारिक कथा की एक रसता को दूर करने तथा वर्णन में विविधता लाने के लिए प्रयास आवश्यक होता है। कहानी में अल्पसमय में ही महत्त्वपूर्ण बात का कथन होता है, अतः कला की सूक्ष्मता इसमें आवश्यक होती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह एक भाव-विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है। उपन्यास में सूक्ष्मकला की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, जितनी व्यापक एवं उदात्त दृष्टिकोण तथा भाव, रस और परिस्थिति के समग्र रूप में चित्रण की। रस के विभिन्न विविध रूपों का समावेश उपन्यास में ही हो सकता है। कहानी द्वारा अल्प मनोरंजन होता है, जबकि उपन्यास परिस्थति और पात्र के पूर्ण चित्रण द्वारा हृदयमंथन और मनः संस्कार भी करता है। कहानीकार कथोपकथन, वर्णन, पात्र आदि में किसी एक प्रकाशन-साधन से सन्तुष्ट हो सकता है, परन्तु उपन्यासकार केवल एक से ही काम नहीं चला सकता। उपन्यास का क्षेत्र प्रायः वस्तुवर्णन के ही अन्तर्गत है, जबकि कहानीकार अपनी आन्तरिक भावनाओं को गीतिकाव्य के समान नितान्त व्यक्तिगत ढंग से ही व्यक्त कर सकता है, अर्थात् कहानी में स्वानुभूति चित्रण का उपन्यास से अधिक अवसर होता है।

इस प्रकार गद्य काव्य के उपर्युक्त भेद संस्कृत भाषा के माध्यम से लिखे गए गद्य साहित्य में भी विकसित हुए हैं, जिनका विवेचन विगत पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है।

चम्पूकाव्य का स्वरूप एवं उसका क्षेत्र

डा. किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल।

काव्य के दो प्रमुख भेद हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य उन्हें कहा जाता है, जो दर्शकों का मनोरञ्जन करने तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करने के लिए अभिनेताओं द्वारा रङ्गमञ्च पर अभिनीत किए जाते हैं। दृश्यकाव्य के दश प्रमुख भेद हैं—नाटक; प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी तथा प्रहसन। श्रव्यकाव्य उन्हें कहते हैं, जिन्हें सुना और पढ़ा जाता है। श्रव्यकाव्य के सर्वप्रथम तीन भेद किए जाते हैं—गद्यकाव्य, पद्यकाव्य तथा गद्यपद्यात्मक काव्य।[1] गद्यकाव्य के दो प्रमुख भेद हैं—कथा तथा आख्यायिका। पद्यकाव्य के भी दो प्रमुख भेद हैं—प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्य। गद्यपद्यात्मक अर्थात् मिश्रकाव्य के भी दो भेद हैं—प्रख्यात एवं प्रकीर्ण[2]। यह प्रख्यात भेद ही चम्पूकाव्य है और काव्य की इसी विधा का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

चम्पूकाव्य का परिचय प्राप्त करने के लिए काव्यशास्त्रियों द्वारा रचे गए इस काव्यविधा के लक्षण, चम्पूकाव्यरचयिताओं द्वारा अपनी रचनाओं में दिए गए इस काव्यविधा के लक्षण और इस काव्यविधा के स्रोत पर विचार करना आवश्यक है।

---

१. क—गद्यं पद्यं च मिश्रं च त्रिधैव व्यवस्थितम्। —काव्यादर्श, १।११
ख—गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्। —अग्निपुराण, ३३७।८
ग—गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं यत्सा गतिः स्मृता।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१८
घ—तच्च गद्यपद्यमिश्रभेदैस्त्रिधा। —काव्यानुशासन (वाग्भट)।
ङ—श्राव्यं तु त्रिविधं ज्ञेयं गद्यपद्योभयात्मना।
—मन्दारमरन्दचम्पू, शेषबिन्दु, पृ. सं. १८६

२. अग्निपुराण, ३३७।३८

(क) काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत चम्पूकाव्य का लक्षण

आचार्य दण्डी

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः ।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।।

—काव्यादर्श, १।१३

अग्निपुराणकार

मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा ।।

—अग्निपुराण, ३३७।३८

हेमचन्द्र

गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः ।

—काव्यानुशासन, ८।९

विश्वनाथ

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।

—साहित्यदर्पण, ६।३३६ का उत्तरार्ध ।

विद्यानाथ

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।

—प्रतापरुद्रीयम्, काव्यप्रकरण, ७२ का उ०

अभिनव कालिदास नरसिंह कवि

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।

—नञ्जराजयशोभूषण, ३।पृ० सं० १६

अज्ञात

गद्यपद्यमयो साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता ।
उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता ।।

—श्री देवज्ञपण्डितसूर्यप्रणीत नृसिंह चम्पू की भूमिका में डॉ० सूर्यकान्तशास्त्री द्वारा प्रस्तुत ।

उपर्युक्त सभी लक्षणों को देखने से ज्ञात होता है कि सभी काव्यशास्त्री 'गद्यपद्यमयता' को चम्पू की आवश्यक विशेषता मानते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ आचार्य अङ्कों का विभाजन, उच्छ्वासों का विभाजन, उक्ति-प्रत्युक्ति का अभाव तथा विष्कम्भक का अभाव आदि को भी चम्पूकाव्य की विशेषताएँ मानते हैं ।

(ख) चम्पूकाव्यरचयिताओं द्वारा प्रस्तुत चम्पूकाव्य का लक्षण एवं स्वरूप

त्रिविक्रमभट्ट

संगता सुरसार्थेन रम्या मेरुचिराश्रया ।
नन्दनोद्यानमालेव स्वस्थैरालोक्यतां कथा ।।
उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका ।
चम्पूश्च हारयष्टिश्च केन न क्रियते हृदि ।।

—नलचम्पू, १।२४-२५

सोमदेवसूरि

न गद्यं पद्यमिति वा सतां कुर्वीत गौरवम् ।
किन्तु किंचित्स्वसंवेद्यमन्यत्सुखमिव स्त्रियाः ।।

—यशस्तिलकचम्पू, १।२४

हरिचन्द्र

गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमव्यावहति प्रमोदम् ।
हर्षं प्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राक्बाल्यतारुण्यवतीव कन्या ।।

—जीवन्धरचम्पू, १।९

भोजराज

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्ति-
हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः ।
तस्माद्दधातु कविमार्गजुषां सुखाय
चम्पूप्रबन्धरचना रसना मदीया ।।

—चम्पूरामायण, १।३.

कृष्णदत्त

येनान्यूनगुणा सुवर्णवलितालङ्कारसम्भाविता ।
नानाश्लेषवती चमत्कृतपदा सभ्येन सम्भाव्यसे ।।

×× ×× ××

चम्पूं गुम्फितमुद्यतोऽस्मि यदहं तत्रावलम्बः शिवः ।।

—जानराजचम्पू, श्लोक सं० ५ का पूर्वार्ध, ६ का उत्तरार्ध ।

जीवराज

मदयति मनो मदीयं तनु जघनभारतीरसविलासः ।
किमु सुतनु नीरविहारो नहि नहि चम्पूविहारोऽयम् ।।

—गोपालचम्पू, अन्तिम पद्य ।

वेङ्कटाध्वरि

पद्यं यद्यपि विद्यते बहु सतां हृद्यं विगद्यं न तद्
गद्यं च प्रतिपद्यते न विजहत्पद्यं बुधास्वाद्यताम्।
आदत्ते हि तयोः प्रयोग उभयोरामोदभूमोदयं
सङ्गः कस्य हि न स्ववेत मनसे माध्वीक-मृद्वीकयोः॥

—विश्वगुणादर्श चम्पूः, उपोद्घात, ४

श्री अण्णयार्य

लोके श्लोकाननेकान् विदधति कृतिनः श्रीकरास्तोकपाका-
नेके गद्यानि हृद्यान्यतिमधुरपदास्वाद्यपद्यानि चान्ये।
पार्श्वाभिव्यक्तमुक्ताफलकलनकनत्पद्मरागोज्ज्वलो स्रग्
बन्धच्छायानुबद्धं रचयति कविराडेष चम्पूप्रबन्धम्॥

—तत्त्वगुणादर्शचम्पू, १।४

पद्मराज

पद्यैरनवद्यैरपि-गद्यैर्ललितास्तुद्यंकृतिभिरियं हृद्या।
तुलसीप्रवालविचकिलकलिता मालेव भगवतः शौरेः॥

—बालभागवतचम्पू

अप्पादीक्षित

गुणगणमणिमालालंकृतं गद्यपद्यैः,
धरत हृदि बुधेन्द्राः साधु चम्पू-प्रबन्धम्॥

—गौरीमयूरमाहात्म्यम्, उपान्तिमश्लोक।

शरभोजी द्वितीय

पद्यं हृद्यमपीह गद्यरहितं धत्ते न हृद्यास्पदं,
गद्यं पद्यविवर्जितं च भजते नास्वाद्यतां मानसे।
साहित्यं हि तयोर्द्वयोरपि सुधामाध्वीकयोर्योगवत्
सन्तोषं हृदयाम्बुजे वितनुते साहित्यविद्याविदाम्॥

—कुमारसम्भवचम्पू, १।६

आचार्य ज्ञानसागर

सत्पल्लवैः समाराध्या प्रवृत्तालम्बना क्वचित्।
वनितेव लतेवाथ मदुक्तिः प्रीतये सताम्॥

—दयोदयचम्पू; १।८

मिश्रितप्रबन्धकाव्य 'चम्पूकाव्य' के सम्बन्ध में चम्पूकाव्य रचयिताओं के उपर्युक्त विचारों को देखने के पश्चात् कहा जा सकता है कि लक्षणग्रन्थों में चम्पूकाव्य के लक्षण और

स्वरूप को प्रतिष्ठापित करने में उपेक्षा का व्यवहार किया गया, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लक्षणकारों के समक्ष इस काव्यविधा का कोई आदर्श उदाहरण नहीं था, जिस को देखकर वे लक्षण बनाते। यद्यपि चम्पूकाव्यकारों ने भी 'चम्पूकाव्य' का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है, तथापि उनके विचारों को जानकर तथा उनके द्वारा रचित चम्पूकाव्यों का अध्ययन करने के पश्चात् यह तथ्य हमारे सामने आता है कि चम्पूकाव्यकार इस काव्य विधा को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि इसमें पद्यकाव्य अथवा गद्यकाव्य को निरन्तर पढ़ने से अथवा सुनने से एकरसता नहीं आती। क्योंकि इसमें गद्य तथा पद्य का मिश्रित प्रयोग होता है। सुधी समीक्षक और पाठक यह धारणा अपने हृदय में न लायें कि चम्पू-काव्यकार गद्यकाव्य अथवा पद्यकाव्य निर्माण में असमर्थ हैं, अपितु इस काव्य के निर्माण में उनका उद्देश्य पाठकों को मिश्रित आनन्द की अनुभूति कराना है।

(ग) समालोचकों की दृष्टि में चम्पूकाव्य का स्वरूप

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

(क) सालङ्कृतं सबन्धं गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

(ख) गद्यपद्यमयं श्रव्यं सबन्धं बहुवर्णितम्।
सालङ्कृतं रसैः सिक्तं चम्पुकाव्यमुदाहृतम्॥

—चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० सं० ४९

उपर्युक्त मतों की समीक्षा एवं चम्पूकाव्य की विशेषताएँ—

(क) गद्य-पद्य-मिश्रण : आशङ्का और समाधान

प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों एवं चम्पूकाव्यकारों ने 'गद्य-पद्यमयता' को 'चम्पूकाव्य' की अनिवार्य विशेषता माना है। किन्तु चम्पूकाव्य की यह गद्य-पद्य मिश्रणात्मक विशेषता कुछ लोगों को भ्रामक तथा अतिव्याप्ति दोष से युक्त प्रतीत हो सकती है। क्योंकि गद्य-पद्य का मिश्रण काव्य की कतिपय अन्य विधाओं में भी मिलता है। अतः इस आशङ्का का विवेचनपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारे अग्निपुराणकार ने मिश्रित काव्य के जो दो भेद किए हैं[3] उनमें 'ख्यात' शब्द चम्पूकाव्य के लिए और 'प्रकीर्ण' शब्द मुक्तक मिश्रित काव्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। बाद में आचार्य विश्वनाथ ने चम्पूकाव्य के अतिरिक्त मिश्रित काव्य के दो और भी उपभेद प्रस्तुत किए हैं—विरुद और करम्भक।

---

३. मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा।

—अग्निपुराण, ३३७।३८

(एक) विरुद काव्य

जब किसी काक की गद्य-पद्य के माध्यम से स्तुति की जाए तो उस काव्य की संज्ञा 'विरुद' होती है[४]। किन्तु चम्पूकाव्य में केवल राजस्तुतिरूप राजभक्तिभाव का ही वर्णन नहीं होता। उसमें तो महाकाव्य तथा गद्यकाव्यों के ही समान सरसता, सगुणता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(दो) करम्भक

जो काव्य अनेक भाषाओं में लिखा जाता है, उसे करम्भक कहते हैं[५]। किन्तु चम्पू-काव्य तो केवल एक ही भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता हैं, इसलिए चम्पूकाव्य के करम्भक में अतिव्याप्त होने का प्रश्न ही नहीं है।

इन दो भेदों के अतिरिक्त 'जयघोषणा' तथा 'आज्ञापत्र' को भी मिश्रित काव्यों की कोटि में माना गया है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(एक) 'जयघोषणा'

जिस रचना में कवि गद्य और पद्य का आश्रय लेकर चारों दिशाओं की सीमा में विद्यमान पर्वतों का क्रमशः वर्णन करता है; गौडी रीति का प्रधानतया उपयोग करता है; वर्ण्य राजा की शूरता की घोषणा बड़ा-चढ़ा कर करता है; आरम्भ और अन्त के पद्यों में आशीर्वादात्मक वचन प्रयुक्त करता हैं; नेता से सम्बन्धित दिशा की घोषणा इस प्रकार प्रारम्भ करता है कि उसमें नायक का नाम भी आ जाए; और नायक राजा हो, तो ऐसी रचना को 'जयघोषणा' कहा जाता है[६]। किन्तु चम्पूकाव्य का वर्ण्यविषय केवल नायक की वीरता का ही गुणगान करना नहीं है, अतएव 'जयघोषणा' से वह सर्वथा भिन्न है।

---

४. गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।

—साहित्यदर्पण, ६।३३७ का पूर्वार्ध।

५. करम्भकं तु विविधाभिर्भाषाभिर्विनिर्मितम्।

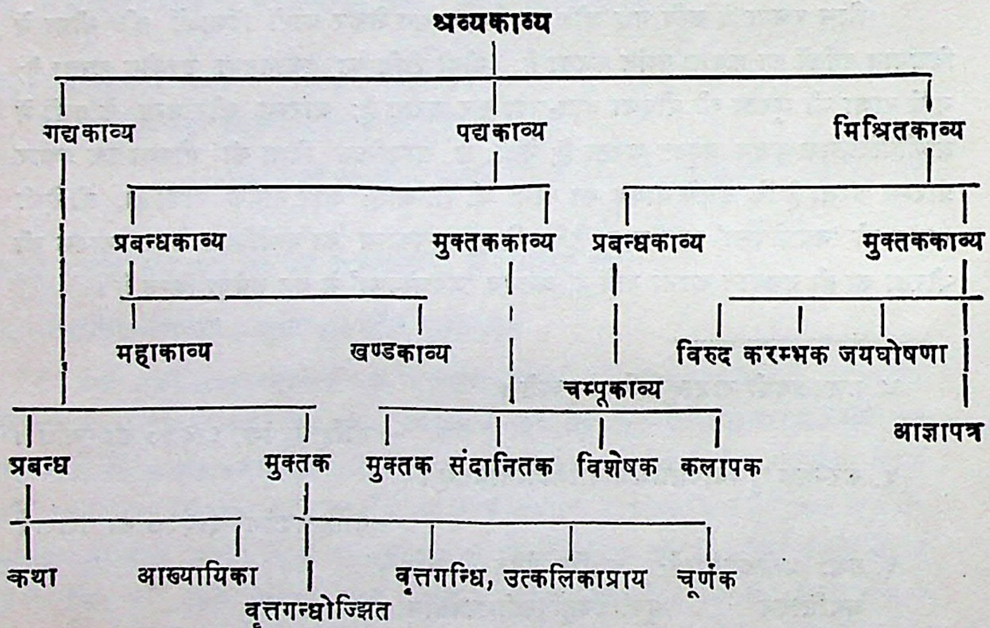
—साहित्यदर्पण, ६।३३७ का उत्तरार्ध

६. गद्यः प्रत्येकपद्यान्तैः चतुर्भिर्वर्णयेत् क्रमात्।
अवधित्वेन पूर्वादिचतुर्दिक्सीमपर्वतान्॥
ततः सप्तविभक्त्यङ्कैः सप्तभिर्गौडरीतिकैः।
पद्य-गद्यद्वयं सर्वे जनाः शृणुत मद्वचः॥
शौर्यादिगुणवानेष एवेति भुवि घुष्यताम्।
घुष्यतामिति शब्दान्तैर्नेतुः शौर्यादयो गुणाः॥
घुष्यन्ते यत्र साटोपं सा भवेज्जयघोषणा।
अस्यामाद्यन्तयोः कार्यं पद्यमाशीः समन्वितम्॥

(दो) आज्ञापत्र तथा दानपत्र

ताम्रपत्रों तथा शिलालेखों में प्राप्त गद्य-पद्यमय, अलङ्कारसुसज्जित, उक्तिवैचित्र्य-सम्पन्न आज्ञापत्र और दानपत्र भी मिश्रित काव्य की कोटि में आते हैं। किन्तु चम्पूकाव्य में मात्र राजाज्ञा अथवा दानवर्णन ही नहीं होते, अतएव आज्ञापत्र तथा चम्पूकाव्य परस्पर भिन्न हैं।

वस्तुतः मिश्रित काव्यों में विरुद, करम्भक, जयघोषणा तथा आज्ञापत्रादि का वही स्थान है, जो गद्यकाव्यों में उनके मुक्तक भेदों—वृत्तगन्धोज्झित, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक का; तथा पद्यकाव्यों में उनके मुक्तक भेदों—मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक एवं कुलक का है। अतएव श्रव्यकाव्य के तीन भेदों—गद्य, पद्य तथा मिश्रित काव्यों में चम्पू, कथा-आख्यायिका नामक प्रमुख गद्यकाव्यों के समान और महाकाव्य तथा खण्डकाव्य नामक पद्यकाव्यों के समान ही प्रमुख मिश्रित काव्य है। इस तथ्य को रेखाचित्र के माध्यम से इस प्रकार समझा जा सकता है—



दिशि यस्यामयं नेता तामारभ्यैव घोषयेत्।
नेतुर्नामांकितः श्लोको नायकोऽत्र महीपतिः॥

—डा० छविनाथत्रिपाठी, चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन; पृ० सं० २५-२६ से साभार उद्धृत।

उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है कि चम्पूकाव्य मिश्रित प्रबन्धकाव्य है और विरुद, करम्भक, जयघोषणा और आज्ञापत्र मिश्रित मुक्तककाव्य हैं। ये मुक्तककाव्य चम्पूकाव्य के अंग के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं; इनका वर्ण्यविषय चम्पूकाव्य के बहुत से वर्ण्य-विषयों में से एक हो सकता है। किन्तु ये मात्र गद्य-पद्य-मयता के कारण चम्पूकाव्य से टक्कर नहीं ले सकते।

यद्यपि नाटक भी गद्य-पद्यमय होते हैं, तथापि ये उनसे भिन्न ही माने जाते हैं। 'चम्पूकाव्य' का उल्लेख करते हुए आचार्य दण्डी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते॥

काव्यादर्शः, १।३१

अर्थात् नाटकादि जो मिश्रित (दृश्यकाव्य) हैं, उनका दूसरे स्थल पर विस्तार से वर्णन होगा। गद्यपद्यमयी कोई विशिष्ट रचना 'चम्पू' भी है और उसकी सत्ता साहित्य जगत् में है। इस प्रकार दण्डी का उपर्युक्त कथन नाटक और चम्पू के मध्य भेदक रेखा खींचता है। क्योंकि नाटकादि दृश्यकाव्य हैं और चम्पू' का उल्लेख श्रव्यकाव्यों के साथ किया गया है। इतना ही नहीं, नाटकादि दृश्यकाव्यों में पद्य संवादों की पुष्टि एवं विशिष्ट घटना की सूचना के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, जबकि 'चम्पूकाव्य' में गद्य और पद्य का व्यवहार निष्पक्ष होता है।

पञ्चतन्त्र, हितोपदेशादि प्रसिद्ध उपदेशात्मक कथासाहित्य में भी गद्य-पद्य का मिश्रण होता है। किन्तु इस साहित्य में पद्य संवाद तथा गद्य भाग की पुष्टि के लिए तथा प्रमुख कथा से छोटी-छोटी कथाओं को शृंखलाबद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जबकि चम्पूकाव्य में पद्य को गद्य की सेवा नहीं नहीं करनी पड़ती। उसमें कवि स्वतन्त्रता से कभी गद्य तो कभी पद्य प्रयुक्त प्रयुक्त करते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दृश्यकाव्य, कथासाहित्य, विरुदकाव्य, करम्भककाव्य जयघोषणा, आज्ञापत्र आदि में गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है; नाटक में संवाद की पुष्टि के लिए और कथा साहित्य में उपदेश को प्रभविष्णु बनाने के लिए पद्यों का प्रयोग गद्य के साथ होता हैं; तथा इसी तरह विरुद में राजस्तुतिनिमित्तक, जयघोषणा में नायक के गुणों को प्रकाशनार्थ और आज्ञापत्र में राजा की आज्ञा के प्रचार-प्रसार हेतु गद्य-पद्य मिश्रण के होते हुए भी इन्हें चम्पूकाव्य नहीं कहा जा सकता है। अतएव गद्य-पद्यात्मक काव्य को 'चम्पूकाव्य' कहा जाता है, इस कथन में अतिव्याप्ति दोष का भ्रम नहीं करना चाहिए।

(ख) श्रव्यकाव्यत्व

श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत तीन काव्यविधाओं को रखा गया है—गद्य, पद्य तथा चम्पू। अतएव चम्पूकाव्य गद्यपद्यात्मक होकर भी नाटकादि के समान दृश्यकाव्यों की श्रेणी में नहीं

आता। आचार्य दण्डी ने भी दृश्यकाव्यों को मिश्रित काव्य मानकर भी अपने अधोलिखित कथन से नाटकादि दृश्यकाव्यों और चम्पूकाव्य के बीच भेदक रेखा खींच दी है—

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते॥

—काव्यादर्श, १।१३

अर्थात् नाटकादि दृश्यकाव्यों का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जाएगा। गद्य पद्यमयी कोई विशिष्ट रचना तो 'चम्पू' ही कहलाती है।

दण्डी का यह कथन भले ही इस तथ्य का परिचायक है कि उन्हें 'चम्पूकाव्य' के विषय में अधिक जानकारी नहीं थी। फिर भी इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नाटकादि को उन्होंने मिश्रित काव्य तो माना, किन्तु श्रव्यकाव्यों के मध्य उनका लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसीलिए नाटकादि दृश्य काव्यों और चम्पूकायों में गद्य-पद्य का मिश्रण ही भिन्न प्रकार का नहीं है, इनमें दृश्यत्व और श्रव्यत्व का विधागत भेद भी है। इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए ही अज्ञात लेखक ने 'चम्पूकाव्य' को 'उक्ति-प्रत्युक्ति' और 'विष्कम्भक' से रहित माना है, जो दृश्यकाव्य की प्रमुख विशेषतायें हैं[७]। यह सत्य है कि विष्कम्भकशून्यता चम्पूकाव्यों में होती है; किन्तु विश्वगुणादर्शचम्पू, तत्त्वगुणादर्शचम्पू उक्ति-प्रत्युक्ति से सम्पन्न हैं। इसलिए इस विशेषता का चम्पूकाव्य में अभाव नहीं मानना चाहिए।

(ग) प्रबन्धात्मकता

प्रबन्धकाव्य वह काव्य हैं, जिसमें पूरे काव्य में एक ही कथा का विकास होता है। मिश्रितश्रव्य काव्यों में 'चम्पूकाव्य' ही ऐसी काव्य विधा हैं, जिसमें एक ही कथा का क्रमिक एवं सर्वांगीण विकास उपलब्ध होता है। चम्पूकाव्य की यही प्रबन्धात्मकता उसे अन्य मिश्रित श्रव्यकाव्यों—विरुद, करम्भक, जयघोषणा और आज्ञापत्र—से भिन्न करती है।

उल्लेखनीन है कि मिश्रित श्रव्य काव्य के भी गद्यकाव्य और पद्यकाव्य की तरह दो भेद हो जाते हैं—(एक) प्रबन्धकाव्य अर्थात् चम्पू और (दो) मुक्तक काव्य अर्थात् विरुद, करम्भक, जयघोषणा आदि। भोजदेव आदि ने भी चम्पूकाव्य को प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत ही माना है[८]।

---

७. उक्ति प्रत्युक्ति विष्कम्भकशून्या चम्पूरुदाहृता॥
—श्रीदैवज्ञपण्डितसूर्यप्रणीत नृसिंहचम्पू की भूमिका में डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा प्रस्तुत।

८. क-चम्पूप्रबन्धरचना रसना मदीया। भोजदेव, चम्पूरामायण, १।३ का चतुर्थ चरण।
ख-बन्धच्छायानुबद्धं रचयति कविराडेष चम्पूप्रबन्धम्॥
—श्री अण्ययार्य, तत्त्वगुणादर्श चम्पू, १।४ का उत्तरार्धं।
ग-धरत हृदि बुधेन्द्राः साधु चम्पूप्रबन्धम्।
—अप्पादीक्षित, गौरीमयूरमाहात्म्यम्, उपान्तिम श्लोक

(घ) वर्णनात्मकता

महाकाव्यों और कथा-आख्यायिकाकों के समान ही चम्पूकाव्य में भी वर्णनात्मकता होनी चाहिए। उपलब्ध चम्पूकाव्यों में हमें प्राकृतिक और वैकृतिक पदार्थ-वर्णन के साथ-साथ विविध्र वृत्तान्तों के वर्णन उपलब्ध हो जाते हैं। यथा ऋतु वर्णन, समयवर्णन, चन्द्र-वर्णन, सूर्य वर्णन, पर्वतवर्णन, नदी वर्णन, नगरवर्णन, भवन वर्णन, विवाह-वर्णनादि। गद्य-पद्यात्मक मुक्तक काव्यों विरुद, करम्भकादि—का कलेवर छोटा होने के कारण उनमें इस विस्तृत विविध वर्णन को स्थान नहीं मिल पाता है।

(ङ) अलङ्कारसुसज्जित

यद्यपि काव्यशास्त्रियों ने चम्पूकाव्य का लक्षण देते समय, उसमें अलङ्कारों की मात्रा का निर्धारण नहीं किया है, तथापि चम्पूकाव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि श्लेष के विभिन्न प्रकार और श्लेषानुप्राणित—उपमा, रूपक, व्यतिरेक, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलङ्कारों का अधिकाधिक प्रयोग चम्पूकाव्य की विशेषता है। चम्पूकाव्यों में श्लेषयुक्त वाणी की महत्ता नलचम्पूकार त्रिविक्रमभट्ट के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥

—नलचम्पू, १।४

और जानराजचम्पूकार कृष्णदत्त भी अच्छे वर्णों वाले अलङ्कारों से सुसज्जित तथा नाना प्रकार के श्लेष से सम्पन्न चम्पूकाव्य रचना के पक्षधर हैं—

येनान्यूनगुणा सुवर्णवलितालङ्कारसम्भाविता।
नानाश्लेषवती चमत्कृतपदा सभ्येन सम्भाव्यसे॥

जानराजचम्पू, श्लोक सं० ५ का उत्तरार्ध।

(च) सरस

काव्यशास्त्रियों ने रसास्वादन के फलस्वरूप होने वाली परमानन्द की अनुभूति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है और रस को काव्य की आत्मा माना है। इसलिए श्रव्य-काव्य की श्रेणी में आने वाले चम्पूकाव्य में 'रस' की विद्यमानता अपेक्षित है। चम्पूकाव्य रचयिताओं ने भी अपनी कृतियों में काव्य के इस तत्त्व का ध्यान बड़ी गम्भीरता से रखा है। उदाहरण के लिए प्रेमकथापूर्ण 'नलचम्पू' में श्रृंगार रस की प्रधानता है; राजा की विजयपरक कथा से सम्बन्धित 'भारतचम्पू' में वीररस की प्रधानता है; और धार्मिक कथा-सम्पन्न 'दयोदय चम्पू' आदि जैन चम्पूकाव्यों में शान्तरस की प्रधानता है। इन चम्पूकाव्यों में अन्य रस भी इन रसों के पोषक के रूप में आए हैं।

(छ) उदात्तनायकोपेत

'चम्पूकाव्य' की कथा किसी श्रेष्ठ नायक से सम्बन्धित होनी चाहिए। नायक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होनी चाहिए। चम्पूकाव्य के अन्य पात्र नायक की लक्ष्यसिद्धि में सहायक होने चाहिए। नायक को प्रतिनायक पर भी विजय प्राप्त करनी चाहिए। नायक गन्धर्व, देवता, मनुष्य किसी भी कोटि का हो सकता है। सदाचारी एवं विजिगीषु नायक की दृष्टि से रामायणचम्पू, भारतचम्पू, रुक्मिणीपरिणयचम्पू, नृसिंहचम्पू, दयोदयचम्पू आदि चम्पूकाव्यों का नाम लिया जा सकता है। इन चम्पूकाव्यों को पढ़कर सहृदय पाठकों और सामान्य जनता को भी पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि की प्रेरणा मिल सकती है।

(ज) गुणयुक्त

रस को काव्य की आत्मा माना गया है और गुणों को रस का धर्म। अतएव भाव-पक्ष की दृष्टि से गुणों की समुचित व्यवस्था चम्पूकाव्यों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी अन्य काव्यधाराओं के लिए। यही कारण है कि चम्पूकाव्यकारों ने अपनी कृतियां प्रसाद, माधुर्य और ओजोगुण युक्त ऐसी शैलियों में प्रस्तुत की हैं, जो रसास्वादन में परम सहायक हैं।

(झ) भागों में विभक्त

चम्पूकाव्य की परिभाषाओं में 'साङ्का' और 'सोच्छ्वासा' शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि चम्पूकाव्य अङ्कों तथा उच्छ्वासों में विभक्त होना चाहिए। किन्तु कुछ चम्पू ऐसे हैं, जिनकी कथा विभक्त नहीं है; और इसके अतिरिक्त चम्पूकाव्यों का विभाजन केवल उच्छ्वासों में ही नहीं हुआ है। उनका विभाजन स्तबक, लम्बक, उल्लास, आश्वास, काण्ड आदि में भी हुआ है। अतएव आलोचक मान सकते हैं कि 'साङ्कता' और 'सोच्छ्वासता' चम्पूकाव्य के लिए उपलक्षणात्मक विशेषण हैं। जहाँ तक ऐसे चम्पूकाव्यों का प्रश्न है जो विभाजन रहित है, तो उनका कलेवर छोटा होने के कारण उनकी कथा का विभाजन नहीं किया गया है। किन्तु अधिकांश चम्पूकाव्यों की कथा भागों में विभक्त है; भले ही यह विभाजन 'उच्छ्वास' में ही न होकर लम्बक, उल्लास, आश्वास, काण्ड, बिन्दु, परिच्छेद आदि के नाम से हो। अतएव 'भागों में विभक्त होना' भी चम्पूकाव्य की आवश्यक विशेषता है।

(ञ) चमत्कार प्रधान

चमत्कार का तात्पर्य है—उक्तिवैचित्र्य। सामान्य सी बात को भी कवि इस तरह प्रस्तुत करे कि श्रोता और पाठक का ध्यान काव्य की ओर अत्यधिक आकृष्ट हो। यद्यपि यह लक्षण सभी काव्यों में घटित हो जाता है, किन्तु चम्पूकाव्य में कवि गद्य और पद्य—दोनों के माध्यम से दुगुना चमत्कार दिखा सकता है। यही कारण है कि नलचम्पू, नृसिंह-

चम्पू, रामायणचम्पू आदि चम्पूकाव्यकृतियां अन्य काव्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक चमत्कार प्रधान हैं।

चम्पूकाव्यविधा का स्रोत

प्रायः सभी काव्यविधाओं का स्रोत वैदिक वाङ्मय को माना गया हैं। गद्यकाव्य पद्यकाव्य, दृश्यकाव्यादि लौकिक संस्कृत साहित्य वैदिक साहित्य से ही प्रेरित हैं। इसी प्रकार चम्पूकाव्यों की मिश्रित शैली का स्रोत भी हमारा वैदिक साहित्य है। इस दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण, केनोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; इसके पश्चात् जातकों में भी मिश्रित शैली को अपनाया गया हैं; कहीं-कहीं पुराणों में भी मिश्रित शैली दिखाई पड़ती है; तथा नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू आदि चम्पूकाव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता हैं कि चम्पूकाव्यों में महाकाव्यों के समान वर्णनात्मकता और गद्यकाव्यों के समान समासयुक्त आलंकारिक शैली होती है। अतएव इन काव्यों में श्रव्यकाव्यों की सभी विशेषतायें मिल जाती हैं। इस प्रकार चमत्कारपूर्ण गद्य-पद्य का ऐसा मिश्रण, जो पाठक को बौद्धिक-विलास के साथ-साथ रसानुभूति भी करा सके, चम्पूकाव्य का अनिवार्य लक्षण है। अन्त में कहा जा सकता है कि भावपक्ष और कलापक्ष के मणिकाञ्चन संयोग से युक्त, गद्य-पद्य के चमत्कारपूर्ण मिश्रण से सम्पन्न, प्रबन्धात्मक, विविध वर्णन सम्पन्न श्रव्य काव्य 'चम्पूकाव्य' है। जो अन्य काव्यविधाओं के समान साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान पाने का अधिकारी है।

सहायक संदर्भ ग्रन्थ

१. अग्निपुराण, महर्षि वेदव्यास
२. काव्यादर्श, आचार्य दण्डी
३. काव्यानुशासन, वाग्भट्ट हेमचंद्र
४. कुमारसम्भवचम्पू, शरभोजी द्वितीय
५. गोपालचम्पू, जीवराज
६. गौरीमयूरमाहात्म्यम्, अप्पादीक्षित
७. चम्पूरामायण, भोजदेव
८. चम्पूभारत, अनन्तभट्ट
९. चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, डॉ. छविनाथ त्रिपाठी
१०. जानराजचम्पू, कृष्णदत्त
११. जीवन्धर चम्पू, हरिचन्द्र
१२. तत्त्वगुणादर्शचम्पू, श्री अण्णयार्य

१३. दयोदय चम्पू, आचार्य ज्ञानसागर
१४. नलचम्पू, त्रिविक्रमभट्ट
१५. नञ्जराजयशोभूषण, अभिनवकालिदास नरसिंह कवि
१६. नृसिंह चम्पू, श्रीदैवज्ञपण्डितसूर्य
१७. प्रतापरुद्रीयम्, विद्यानाथ
१८. बालभागवतचम्पू, पद्मराज
१९. मन्दारमरन्दचम्पू, कृष्णकवि
२०. यशस्तिलकचम्पू, सोमदेवसूरि
२१. विश्वगुणादर्शचम्पू, वेङ्कटाध्वरि
२२. सरस्वतीकण्ठाभरण, भोजदेव
२३. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ ।

साहित्याहरण-विमर्शः

आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

काव्यशास्त्रतत्त्वविद्भिरलंकारशास्त्र प्रणेतृभिर्यत्र स्वस्वग्रन्थेषु प्रवृत्तिरीतिगुणालंकाररसादीनां सुमहद् विवेचनं कृतं तत्र साहित्याहरणमपि यथावसरं समाख्यातम् । संसारे प्रायशः सर्वेषामपि मानवानां हरणकरणप्रवृत्तिरेषा निसर्गजन्यैव विभाति । निखिलेष्वपि लौकिकेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणामभ्युदयाः सर्वथा हरणमूला एव । कदाचित् लौकिकवस्तुहरणं भवतु नाम दोषाय, परं काव्यं त्वलौकिकं भवति, तत्रैकस्य कवीश्वरस्य वस्तुजातमपरः कवीश्वर आहृत्य प्रतिभोल्लेखेन परिष्कुर्वन् केनापि दोषदृशा न समीक्षितः । वाल्मीकिरामायणाश्रितानि बहूनि महाकाव्यानि, खण्डकाव्यानि, नाटकानि, गद्यकाव्यानि, चम्पूकाव्यानि च सन्ति परं सर्वाण्यपि प्रतिभाप्रभावेण नवनवानि लोकोत्तराह्लादकराणि रसमयानि सहृदयवृन्दवन्दितानि च सन्ति । साहित्यजगति यद्येकः कविरन्यस्य कवेर्वस्तु गृहीत्वा स्वनवनवोन्मेषाशलिन्या प्रतिभयाऽभिरम्यञ्च विधाय काव्यकर्मणि प्रवृत्तो न भवति तदा काव्यतरुरल्पफलो विफलो वा जायते । रसविच्छित्ति समासाद्य निर्विशेषमपि वस्तु चमत्कृतिमातनोति । काव्येषु रसपरिग्रहाद् दृष्टपूर्वा अप्यर्थास्तथैव नवा आमन्ति यथा मधुमासे सर्वेऽपि द्रुमाः । यथा चोक्तं ध्वनिकारेण—दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।

सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।। ध्वन्या. ४।४

संसारे भासमानस्यैकस्यैव सूर्यस्य वर्णनं बहुभिः कविभिः कृतं, परं सर्वेषां वर्णनं भिन्नं भिन्नमेवाभाति । यद्यपि नूतनः कविः पुरातनकवेश्छायामनुगृह्णाति तथापि गुणालंकाररसादीनां वैचित्र्येणासौ स्ववर्णनं विशिनष्टि । एकेन प्रकारेण विभूषितं वस्तु यदा भिन्नेन प्रकारेण विभूष्यते तदा नवतां प्रपद्यत एव । यथा—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ।। ध्व. ४।२

प्रतिभावान् कविः सहस्रधाः वर्णितमपि वस्तु स्वप्रतिभावैशद्येन पुनरपि नवनवतया परिकल्प्य रसान्वितं कुर्वन् सहृदयहृदयान्यनुरञ्जयति भवति च यशोभाक् । यथोक्तमानन्दवर्धनाचार्यैः—

दिशाऽनयाऽनुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥
न काव्यार्थं विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ॥ ध्व. ४।६-७

कविभिः स्वकाव्योन्मेषाय पूर्ववर्तिनां समवर्तिनां वा कवीनां काव्यात् शब्दार्थयोराहरणं क्रियत एव। आहरणेन काव्यसम्पद् विवर्धते। आहरणविषये यथा राजशेखरेण काव्यमीमांसायां विशदं विवेचनं कृतं न तथाऽन्येन केनापि। राजशेखरमतानुसारमेव हरणवृत्तिरनतिदीर्घतया विवेच्यते।

अत्र प्रश्नः समुदेति यत् साहित्याहरणस्य लक्षणं किमस्ति। कमर्थमुद्दिश्य क्रियते हरणशब्दस्य प्रयुक्तिः। राजशेखरस्य मतानुसारं "परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरूपनिबन्धो हरणम्।" परप्रयुक्तं शब्दं रम्यमर्थं वा गृहीत्वा यदा कश्चित्कविः स्वरचनामातनोति तदा सः कविराहर्ता भवति। कांश्चिद्विरलानतुलितकाव्यविभवान्कविवंशप्रभवान्कवीश्वरान् व्यतिरिच्य प्रायशः कवयः परप्रयुक्तरम्यशब्दार्थहरणवृत्त्यैव स्वकाव्यलतामभिवर्धयन्ति सफलयन्ति च। कदाचित् साहित्याहरणं कुर्वन् कविर्निन्द्यो भवति कदाचिच्चाभिवन्द्यः। अत एव राजशेखरेण प्रथमं द्वौ भेदौ हरणस्य समाख्यातौ। हरणं क्वचित्परित्याज्यं भवति क्वचिच्चानुग्राह्यम्। तत्र प्रतिभावता कृतं हरणमनुग्राह्यं भवति निष्प्रतिभेन कृतं तु परित्याज्यमेव। प्रतिभावान् कविस्तु परेषां शब्दार्थावाहृत्य किञ्चित्परिवर्त्य परिष्कृत्य काव्ये यथायथं समास्थापयन् कीर्ति लभते। परिष्कृतिं विना परस्य शब्दार्थयोरूपनिबन्धनकर्ता कविस्तु समाजे चौरपदव्यपदेश्यो भवति। यतो हि परिष्कारेण हरणस्य निगूहनं जायते यो निगूहनं वेत्ति स एव प्रशस्यो नो चेन्निन्द्यः। राजशेखरस्येयं विचारणा विद्यते यत् संसारे कश्चिदपि कविर्वणिग्वा न भवत्यचौरः। यथा वणिक् चौर्यनिगूहनेन वस्तुव्यापारं परिवर्धयन् जगति प्रतिष्ठां लभते तथैव कविरपि प्रतिभानैपुण्येन हरणं निगूह्य काव्यजगति चिरं प्रशस्यते। यथा—

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥ का. मी. ११

यद्यपि कवीश्वरो बाणभट्टः साहित्याहरणपक्षे स्वरुचिं न प्रदर्शयति। तन्मतानुसारं यदि कश्चित् कविरपरस्य शब्दार्थावादाय परिवर्त्य च बन्ध चिह्नादिभिर्निपुणतया गूहति तदाप्यसौ काव्यजगति न सत्कृतिमावहति। हरणं तु हरणमेव भवति परिष्कृतं वा स्यादपरिष्कृतं वा। आहरणकर्तारः कवयस्तु चौरायन्त एव। यथा—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥ हर्षचरि.

बाणभट्टस्य मतमिदं न निर्दोषावहम्। यतो हि पूर्वपूर्ववर्तिभिः कविभिः प्रयुक्ताः शब्दा एवोत्तरोत्तरवर्तिभिः कविभिः प्रयुक्तास्तर्हि किं ते सर्वेऽपि चौराः कुकवयो वा सन्ति। यथा पुरातनीमक्षरमालामाजपन्तः पुरुषा न निन्द्यन्ते कैश्चिदपि तथैव पुरातनीं वस्तुरचनां स्वधिया संजीव्य सरसतया रचयन्तः कवयो न निन्दनीयाः यथा चोक्तम्—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ।।

ध्व. ४।१४

यदि पुरातनं वस्तु गुणालंकाररसादीनामौचित्येन निबद्धं भवति तदपि स्वीकरणीयमेव। देशकालादिभिरसंख्यतां गतं वस्तुजातं वाग्रूपाणामानन्त्यात् सर्वथा रम्यमेवेति मन्यते निर्विवादम्। सृष्टिकालादारभ्य दिवानिशं निखिलजगज्जनसेविताऽपि प्रकृतिः कुतश्चिदपि न क्षीणा नापि च म्लाना, तथैवासंख्यैरपि कवीश्वरैः सततं सेव्यमाना सरस्वती न रसैर्विहीना विभाति। आनन्दवर्धनाचार्येणायमेवार्थः कारिकाद्वयेन समर्थितः—

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ।। ध्व. ४, ९
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः
निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ।। ध्व. ४।१०

प्रतिभावतां कवीश्वराणां समे वस्तुन्यपि प्रसरन् वाग् व्यापारः परिणामे बहुधा फलति। यद्यपि सामान्यदृष्ट्या तेषां वाग् व्यापाराः परस्परं संवादमूलास्तथापि ते नैकदृष्ट्या द्रष्टव्याः। यथा चोक्तम्—

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ।। ध्व. ४।११

पूर्वकविनोपनिबद्धमर्थजातं प्रतिभया व्युत्पत्त्या च परिष्कृत्य स्वकाव्ये निबध्नन् सुकविनिन्द्यतां नोपयाति। यतो हि सुकविप्रतिभाप्रसूते काव्ये सहृदयानां भवत्यनुभवविशेषः। तत्र विवक्षितार्थं प्रकाशयन् कविः सहृदयानां चेतसि स्वात्मविषये "कवेरस्याभिनवेयं काव्यरचने" त्यमुं भावमुद्भावयति। यथा—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुमतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ।। ध्व. १४।१५

तेनैव कविना शब्दार्थयोराहरणं कर्त्तव्यं यः प्रतिभया हृतं वस्तु रम्यं कर्तुं क्षमते। प्रतिभाबलेनैव सुकविराहृतस्य पुराणस्यापि वस्तुनो नवत्वं, जुगुप्सितस्यापिमनोहारित्वं, कर्तुं क्षमते। प्रतिभाबलेनैव सुकविराहृतस्य पुराणस्यापि वस्तुनो नवत्वं जुगुप्सितस्यापि मनोहारित्वं, कर्तुं प्रभवति। अतएव सम्यगुदीरितं धनञ्जयेन—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतञ्च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्नं रसभावमुपैति लोके ।। दशरूपक

यः कविराहरणवृत्तिरतः सन्नपि शब्देष्वर्थेषु च नूतनभावापन्नालौकिकवस्तूनामुन्मेषणे क्षमः स महाकविरिति मान्यः । यथा—

शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम् ।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मान्यतां स महाकविः ।। का. मी.

एवं प्रकारेणैतत्तु सिद्धं भवति यदाहरणवृत्तिरेषा नूनं कवीनामुपकृतिमावहति । यथा यथा प्रतिभातारतम्येन शब्दार्थयोराहरणं परिष्क्रियते तथा तथा कवीनां कवित्वमुत्तरोत्तरमुत्कर्षमुपैति । स्वप्रतिभोत्कर्षेण वस्तुनि किमपि मौलिकं काव्यतत्त्वमुद्भावयन् कविरुत्पादको भवति । यः परस्य शब्दरचनां वाक्ययोजनामुक्तिं वा स्वशब्दभावादिसन्निवेशैः परिवर्त्य निर्वक्ति सः कविर्भवति परिवर्तकः । यः प्रतिभायाश्चातुर्येण परकृतिभ्यो हृतमपि संगोप्यान्यथा वा परिकल्प्य प्रकटयति स भवत्याच्छादकः । यः परस्यार्थमाहृत्य स्वशब्दैः प्रकटयितुं प्रयतते सः संवर्गकः कथितः । यथोक्तम्—

उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्तकः ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ।। का. मी.

शब्दार्थयोराहरणक्रमे प्रथमं शब्दहरणविषये विचारः क्रियते । शब्दस्य हरणं राजशेखराचार्यानुसारं पञ्चधा भवति, तद्यथा—पदतः, पादतः, अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च । प्राचामाचार्याणां पदहरणे मतमिदं यदेकपदस्य हरणं न दोषाय । यथा किरातार्जुनीयस्य प्रारम्भे "श्रियः" पदस्य प्रयोगो दृश्यते तथैव शिशुपालवधमहाकाव्यस्यारम्भेऽपि "श्रियः" पदस्य प्रयोगः । राजशेखरस्तु श्लिष्टपदस्य हरणमनुमन्यते । श्लिष्टं पदमनेकार्थकं भवति तदाहरणेन चमत्कारवृद्धिर्जायते । राजशेखरेणाचार्याणां मतं स्वमतञ्चेत्थं प्रदर्शितम्—"तत्रैकपदहरणं न दोषाय" इत्याचार्याः । "अन्यत्र द्व्यर्थपदात्" इति यायावरीयः । क्वचिदनेकानि श्लिष्टपदानि कविप्रयुक्तानि भवन्ति तत एकं पदं पदद्वयं वा हरणकर्त्ता कविना हरणीयं प्रयोक्तव्यञ्च स्वकाव्ये । यथा श्लिष्टस्य श्लिष्ट पदेन हरणम्—

दूराकृष्ट शिलीमुखव्यतिकरान्नो किङ्किरातानिमा-
नाराद्व्यावृतपीतलोहितमुखान्किं वा पलाशानपि ।
पान्थाः केसरिणं न पश्यत पुरोऽप्येनं वसन्तं वने
मूढा रक्षत जीवितानि शरणं यात प्रियां देवताम् ।।

अस्मिन् पद्ये 'शिलीमुख किरातपलाशकेसरीति' चत्वारिपदानि श्लिष्टानि वर्तन्ते । पदचतुष्कादस्मात् पदद्वयं किरातं शिलीमुखं च पश्चाद्वर्तिना कविना हृतं प्रयुक्तञ्च काव्ये यथा—

मा गाः पान्थ प्रियां त्यक्त्वा दूराकृष्टशिलीमुखम् ।
स्थितं पन्थानमावृत्य किं किरातं न पश्यसि ।।

क्वचित्तु श्लिष्टस्य पदस्यैकदेशेनापि हरणं भवति यथा—

नाश्चर्यं यदनार्याप्तावस्तप्रीतिरयं मयि
मांसोपयोगं कुर्वीत कथं क्षुद्रहितोजनः ॥

यथा च—

मुग्धे मांसरसं ब्रुवन्निति तया गाढ़ं समालिङ्गितः ॥

प्राक्तनाचार्याणां मतानुसारं श्लेषरहितानां त्रयाणामपि पदानां हरणमुचितम्—यथा—"त्रिभ्यः पदेभ्यः प्रभृतित्वश्लिष्टेभ्यो हरणम्" इति आचार्याः। परं राजशेखरस्तु युगपत् त्रयाणां पदानां हरणं नानुमन्यते।

साहित्ये यथा पदानां हरणं तथैव पादस्याप्यविकलतया हरणं क्रियते। पादाहरणं क्वचिदुपरिष्टात् क्वचिच्चाधस्ताद् भवति। सुविधानुसारं कविः काव्यचमत्कारमुत्पादयितुं प्रथमचरणस्य चतुर्थचरणस्य वा हरणं करोति—यथा—

त्यागाधिकाःस्वर्गमुपाश्रयन्ते,
त्यागेन हीना नरकं व्रजन्ति।
न त्यागिनां किञ्चिदसाध्यमस्ति
त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

अस्य श्लोकस्य चतुर्थं पादमविकलतयाऽऽहृत्य कश्चित् कविः निर्माति—यथा—

त्यागो हि सर्वं व्यसनानि हन्ती-
त्यलीकमेतद् भुवि संप्रतीतम्।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्या-
स्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः ॥

अत्राचार्याः कथयन्ति यत् पूर्णस्य पादस्य हरणमनुचितं भवति, यदि कश्चित् पूर्णं पादमादत्ते तर्हि तद् ग्रहणं हरणशब्देन नापितु स्वीकरणशब्देन करणीयम्। परं राजशेखर-मते हरणस्वीकरणयोर्नास्ति कश्चिद् भूयान् भेदः। यथा चोक्तं काव्यमीमांसायाम्—

"तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव।'

यथा पादस्य हरणं तथैव श्लोकार्द्धस्यापि हरणं स्वीक्रियते। कविः पूर्वकविनिर्मितस्य पद्यस्यार्द्धं भागं यथावत् स्वीकरोति तदनन्तरमवशिष्टमर्द्धं भागं स्वकल्पनया परिवर्त्य वर्ण-यति यथा—

पादस्ते नरवर दक्षिणे समुद्रे
पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने
आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं
भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः ॥

यथा चोत्तरार्द्धे—

इत्थं ते विधृतपदद्वयस्य राज-
न्नाश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना ।।

अत्र कविना प्रथमस्य पद्यस्य पूर्वभागस्तु पूर्णतया स्वीकृत उत्तरभागश्च निजकल्पनया नृपतिमहत्त्वप्रकटनाय नवतया निर्मितः ।

क्वचिद् विलोक्यते यत् कविः पूर्वस्य श्लोकस्य प्रथमं पादं हरति अथ च चतुर्थं पादं हरति, मध्यवर्तिनं द्वितीयं तृतीयञ्च पादं विपर्यस्तं कृत्वा सर्वथा वा परिवर्त्य पद्यं रचयति । एवं विधेऽपि क्रमे राजशेखरेण विक्रमतया गृहीतयोः पादयोर्हरणं निबन्धनोत्कृष्टतया स्वीकृतम् । यथा––

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो,
यावन्न तिग्मरुचिमण्डलमभ्युदेति ।
अभ्युद्गते सकलधामनिधौ तु तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ।।"

यथा च—

तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो,
यावन्न किञ्चिदपि गौरतरा हसन्ति ।
ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभि-
रिन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ।।

अत्रास्मिन् पद्ये कविना पूर्वश्लोकस्य प्रथमचतुर्थपादयोर्ग्रहणं परिवर्तनं विनैव कृतम् । द्वितीयतृतीययोस्तु ग्रहणमकृत्वैव स्वप्रतिभया चमत्कारकारिणी पादयोजना प्रकल्पिता । क्वचिदेकेन कविना पूर्ववर्तिनः कवेः सम्पूर्णस्यापि वृत्तस्य हरणं क्रियते । साहित्ये वृत्तस्य हरणं चिरकालादेव भवति । वाल्मीकिरामायणे प्रावृड् वर्णने वाल्मीकिना यत् पद्यं विरचितं तदेव प्रायशोऽविकलतयाकालिदासेन स्वकीयऋतुसंहारे प्रावृड्वर्णने लिखितम् । यथा––

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गमाः ।।

वाल्मीकिविरचितममुमेव श्लोकं कालिदासोऽपि तथैव निर्माति—

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
रुदन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रिया विहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ।।

अत्र केवलं "ध्यायन्ति" पदस्य स्थाने "रुदन्ति" पदस्य प्रयोगः कविना स्वकीयः कृतः। एवं शब्दहरणप्रकाराः समीक्षकैर्यथा वर्णितास्तथा निरूपिताः।

अर्थाहरणविषये केषाञ्चिदाचार्याणां मतमिदमस्ति यत् पुराणैः कविभिः सर्वमर्थजातं बहुधा चारुतया वर्णितम्। तत्र काव्यजगति न विद्यते कश्चिदप्यर्थं एवंविधो यो महाकवीनां वाचामगोचरतां गतः। अतो वर्णितमर्थजातमेवाहृत्य किञ्चिदिव परिवर्त्य काव्यं कर्त्तुं संम्प्रति प्रयतन्ते कवयः। यथा—

"पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु, ततश्च तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत" इति आचार्याः। का. मी.।

परं वाक्पतिराजस्तु पुराणकविभिरनाख्यातं किमपि नास्तीति न मन्यते वाग्विकल्पानामानन्त्यात्। अतो हि—

आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्यन्दः॥ का. मी.

परकाव्येषु बद्धादराणां कवीनामात्मलाभ एव जायते, यतो हि परकाव्यविमर्शः प्रतिभोज्जृम्भणायालं भवति।

आचार्य राजशेखरेण काव्यमीमांसायामर्थाहरणस्य द्वौ भेदौ कल्पितौ। प्रथमस्तत्रान्ययोनिर्द्वितीयस्तु निह्नुतयोनिः। "तत्रान्ययोनिरपि द्विधा प्रतिबिम्बकल्प आलेख्यप्रख्यश्च।" प्रतिबिम्बकल्पस्य स्वरूपम्—यस्मिन् काव्ये भावस्त्वपरस्मात् काव्यादाहृतो भवति वाक्ययोजना च नवीना भवति तत्काव्यं प्रतिबिम्बकल्पत्वेन स्वीकृतम् यथा—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥ का. मी.

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः,
कण्ठ-प्रदेश-घटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
चन्द्राम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः॥

जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव॥

अत्र द्वितीये पद्ये प्रथमपद्यस्यैव भावः कविना गृहीतः, केवलं शब्दरचनैव भिन्ना कृता। अतोऽत्र भावस्याभिन्नत्वाद् रचनायाश्च भिन्नत्वात्पद्यमिदं प्रतिबिम्बकल्पम्। राजशेखरमतानुसारं प्रतिबिम्बकल्पस्याष्टौ भेदा भवन्ति—यथा—

१. व्यस्तकः—स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः।
२. खण्डम्—बृहतोऽर्थस्यार्धप्रणयनं खण्डम्।

३. तैलबिन्दुः—संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः ।

४. नटनेपथ्यम्—अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्यत इति नटनेपथ्यम् ।

५. छन्दोविनिमयः—छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः ।

६. हेतुव्यत्ययः—कारणपरावृत्त्या हेतु व्यत्ययः ।

७. संक्रान्तकम्—दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र संक्रमितिः संक्रान्तकम् ।

८. सम्पुटः—उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः । (का. मी.)

आलेख्यप्रख्यस्वरूपम्—यत्राहृतस्यार्थस्य भावस्य वा कविना स्वल्पमपि संस्करणं क्रियते, संस्कारवशाच्च तस्य प्राचीनाद् भिन्ना प्रतीतिर्भवति तत्रालेख्यप्रख्यमिति । यथा चोक्तं राजशेखरपादैः—

क्रियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्त चन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥

यथोदाह्रियते—

अत्रार्थे—

अत्र पूर्वपद्यापेक्षया द्वितीये पद्ये मनागेव वस्तुपरिवर्तनं दृश्यते । पूर्वस्मिन् पद्ये शंकरजूटस्थिता नीला व्यालाः कालकूटाङ्कुरा इव दृश्यन्ते, द्वितीये पद्ये व्याला नीला नापितु धवला, अत एव चन्द्रकन्दाङ्कुरा इव । आलेख्यप्रख्यस्यापि राजशेखरैरष्टौ भेदा निरूपिताः ।

१. समक्रमः—सदृशसञ्चारणं समक्रमः ।

२. विभूषणमोषः—अलङ्कृतमनलङ्कृत्याभिधीयत इति विभूषणमोषः ।

३. व्युत्क्रमः—क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः ।

४. विशेषोक्तिः—......सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः ।

५. उत्तंसः—उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः ।

६. नटनेपथ्यम्—तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम् ।

७. एकपरिकार्यः—परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः ।

८. प्रत्यापत्तिः—विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः ।

आलेख्यप्रख्यस्य कथिता इमे भेदाः प्रायशः कविभिरादृताः । सर्वेऽपि भेदाः काव्य-संजीवनकरा अत एव ग्राह्याः । यथोक्तम्—

सोऽयं भणितिवैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः ।
नटवद्वर्णिकायोगादन्यथात्वमिवाच्छंति ।। का. मी.

अर्थाहरणस्य द्वितीयः प्रमुखो भेदो निह्नुतयोनिरस्ति । तत्रापि तस्य द्वौ भेदावुदीरितौ, प्रथमस्तु तुल्यदेहितुल्यो द्वितीयश्च परपुरप्रवेशसदृशः ।

तुल्यदेहितुल्यस्य स्वरूपम्—यत्रोभयोः काव्ययोः सत्यपि विषयभेदे सादृश्यातिशयाद-भेदप्रतीतिर्भवति तत्र तुल्यदेहितुल्यः स्वीकृतः । यथा—

अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम् ।
अमीषां निर्माणं किमपि तदभूद्गधकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम् ।।

अत्रार्थे—

प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
मुहुरुपकरणत्वार्वाघताः पूजिताश्च ।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः ।।

प्रथमे पद्ये करितुरगयोर्वर्णनाद् द्वितीये च मणिप्रस्तरयोर्वर्णनादुभयोः पद्ययोर्विषय-भेदस्त्वस्त्येव तथापि तुरगाणामिव प्रस्तराणामपि सर्वजनोपयोगित्वात् करिणामिव मणीना-मपि नृपजनोपयोगित्वाच्चोभयत्रापि सादृश्यातिशयः प्रतीयतेऽतस्तुल्यदेहितुल्यं काव्यम् । आचार्य राजशेखरेण तुल्यदेहितुल्यस्याष्टौ भेदा प्रकल्पिताः । यथा—

१. विषयपरिवर्त्तः - तस्यैव वस्तुनो विषयान्तरयोजनादन्यरूपापत्तिर्विषयपरिवर्त्तः ।
२. द्वन्द्वविच्छित्तिः—द्विरूपस्य वस्तुनोऽन्यतमरूपोपादनं द्वन्द्वविच्छित्तिः ।
३. रत्नमाला—पूर्वार्थानामर्थान्तरैरन्तरणं रत्नमाला ।
४. सङ्ख्योल्लेखः—सङ्ख्यावैषम्येणार्थप्रणयनं सङ्ख्योल्लेखः ।
५. चूलिका—सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका । द्विधा च सा संवादिनी विसंवादिनी च ।
६. विधानापहारः—निषधस्य विधिना निबन्धो विधानापहारः ।
७. माणिक्यपुञ्जः—बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्जः ।
८. कन्दः—कन्दभूतोऽर्थः कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्दः ।

परपुरप्रवेशसदृशः— यत्रमूले वस्तु सममेव भवति, परं रचनायां पृथक् पृथगिव लक्ष्यते तत्र परपुरप्रवेशसदृशः । आहरणस्यायं प्रकारः सुकवीनामप्युपकारकरत्वात् क्वचिदपि निन्द्यतां नोपगतः । अमुं प्रकारमाश्रित्य यदि कविः काव्यकरणे प्रवृत्तिं तनुते तर्हि तस्य कवेः कदापि वाग्विकल्पानामनन्ता सरसता च न हीयते । यथा राजशेखरकृतं लक्षणं प्रस्तूयते—

मूलच्छ्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः ।
तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम् ।। का. मी. १२

उदाहरणम्—

यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्बरं प्रावृषि,
स्फूर्जद्गर्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम् ।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणन भयस्पष्टप्रमोदाश्रुभिः
किञ्चित्कुञ्चितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः ।। का. मी.

अत्रार्थे—

आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं,
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत् ।
हृष्यद्भि परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम् ।। का. मी. १२

अत्र यथा पूर्वस्मिन् श्लोके कविना प्रावृट्काल-शत्रुभय-परित्याग-कदम्बकुसुमादीनां वर्णनं कृतं तथैवापरेणापि कविना समानमेव वस्तुवर्णनं कृतं तथापि काव्यनिबन्धने शब्दरचना-चातुर्येण भेद एवास्ति । अतोऽत्र द्वितीयं पद्यं परपुरप्रवेशसदृशमेव । परपुरप्रवेशसदृशस्याष्टौ भेदाः । सन्ति । यथा—

१. हुडुयुद्धम्—उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडुयुद्धम् ।
२. प्रतिकञ्चुकम्—प्रकारान्तरेण विसदृशं यद् वस्तु तस्य निबन्धः प्रतिकञ्चुकम् ।
३. वस्तुसञ्चारः—उपमानस्योपमानान्तरपरिवृत्तिर्वस्तुसञ्चारः ।
४. धातुवादः—शब्दालंकारस्यार्थालंकारेणान्यथात्वं धातुवादः ।
५. सत्कारः—तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कारः ।
६. जीवञ्जीवकः—पूर्वं सदृशः पश्चाद्भिन्नो जीवञ्जीवकः ।
७. भावमुद्रा—प्राक्तनवाक्याभिप्रायनिबन्धो भावमुद्रा ।
८. तद्विरोधी—पूर्वार्थपरिपन्थिनीवस्तुरचना तद्विरोधी । (का. मी. १३)

एवं प्रकारेण श्रीमता राजशेखरेण पूर्वमर्थाहरणं चतुर्धा विभक्तं पश्चाच्च प्रत्येक-मष्टाववान्तर भेदा अपि परिगणिताः । अर्थाहरणस्वरूपानुसारमेव कवीनामपि चत्वारो भेदा भवन्ति । प्रतिविम्बकल्पस्य कर्ता भ्रामक, आलेख्यप्रख्यस्य कर्ता चुम्बकः । तुल्यदेहितुल्यस्य कर्ता कर्षकः, परपुरप्रवेशसदृशस्य च कर्ता द्रावकः स्मृतः ।

भ्रामकस्य लक्षणम्—

तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः ।
योऽप्रसिद्ध्यादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद् भ्रामकः कविः ।।

चुम्बकस्य लक्षणम्—

यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा ।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः ।।

कर्षकस्य लक्षणम् —

परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत् ।
समुल्लेखेन केनापि स स्मृतः कर्षकः कविः ।।

द्रावकस्य लक्षणम्—

अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत् ।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः ।।

एवं लौकिका ये कवयः सन्ति तेषां सर्वेषामपि काव्यं शब्दार्थयोराहरणवृत्त्यैव जीवति । यदि कश्चित्कविः शब्दार्थावाहृत्य परिष्कृत्य च रचनां करोति नूनं स काव्यसम्पत्परिवर्धकः । साहित्याहरणप्रशंसकेन केनापि समुचितमेवोदीरितम् । यथा—

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति ।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति ।।

अतः काव्यगोष्ठीषु विहर्तुमिच्छुभिः कीर्तिमभीप्सुभिश्च कविभिः साहित्याहरणाम्बुसेकैः संवर्धनीया कवितालता । संसारे साहित्याहरणकादम्बिनी यावद् वर्षति तावत् काव्यकृषि र्नविशुष्यति । यथा समुद्रसकाशात् समये समये निरन्तरं रत्नानामाहरणं क्रियते तथापि हृतेषु बहुष्वपि रत्नेषु तस्य रत्नाकरत्वे न कापि क्षतिः संदृश्यते तथैव वाल्मीकिव्यासप्रभृतीनां कवीश्वराणां काव्यसकाशात् कविभिः कृतेऽपि साहित्याहरणे न तेषां कवित्वहानिः । अत एव विक्रमाङ्कदेवचरितनाम्नि महाकाव्ये महाकविना बिल्हणेन साहित्याहरणगुणाख्याने कविजनानुरञ्जनशीला पूता वागुदीरिता—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं
नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यै-
रद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ।।

'ध्वनि' काव्य के भेद-प्रभेद

लेखक—**प्रो० लक्ष्मीचन्द कौशिक**
(अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज)
३५/जे-१२, रामपुर बाग
सिविल लाइन्स,
बरेली (उ० प्र०)

'प्रतीयमान' अर्थ 'वाच्य' आदि अर्थों के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है, और काव्य में सामान्य रूप से उसके तीन रूप पाए जाते हैं: (१) वस्तुमात्र, (२) अलंकार, तथा (३) रसादि। इनमें से इस 'व्यंग्य' अर्थ के पहले दो भेद तो लोक में भी प्रसिद्ध हैं। उनका अभिधान अपने शब्दों में भी सम्भव है। दूसरे शब्दों में, ये पहले दो भेद तो 'वाच्य' अर्थ के रूप में भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, अतएव पारिभाषिक शब्दों में 'ध्वनि' के इन भेदों को 'वाच्यतासह' अथवा लौकिक भी कह दिया जाता है। अनेक प्राकृत गाथाओं से स्पष्ट है कि 'ध्वनि' का 'वस्तु' रूप यह पहला भेद विधि-निषेध आदि अनेक रूप धारण करता है। 'ध्वनि' का दूसरा 'अलंकार' रूप भेद वस्तुतः, 'वस्तु ध्वनि' का ही एक परिष्कृत एवं विशिष्ट रूप हैं। प्रधानतया प्रकाशित होने के कारण, तथा किसी अन्य के उपस्कारक न होने से 'अलंकार्य' का रूप धारण कर लेने पर भी 'ध्वनि' के इस भेद को पूर्व-प्रत्यभिज्ञान के बल पर 'ब्राह्मण श्रमण-न्याय' से 'अलंकार ध्वनि' कहा जाता है। प्रतीयमान अर्थ का यह भेद भी स्व-शब्दों से 'वाच्य' होने योग्य अर्थात्, लौकिक होता है।

इन दोनों के विपरीत प्रतीयमान अर्थ का तीसरा 'रसादि' नामक भेद केवल काव्य के 'व्यञ्जना' व्यापार से अभिव्यक्त होता है। यह स्वप्न में भी न तो स्व-शब्दों के द्वारा 'वाच्यता' को स्वीकार कर सकता है, और न कभी लौकिक-व्यवहार में दृष्टिगोचर ही होता है, अतएव 'प्रतीयमान' अर्थ का यह भेद अलौकिक है। इस प्रकार संक्षेप में इस प्रतीयमान अर्थ को सामान्य रूप से लौकिक 'वस्तु एवं अलंकार' तथा अलौकिक 'रसादि' के रूप में उपस्थित होने के कारण त्रिविध कहा जा सकता है।

२. उपर्युक्त त्रिविध 'ध्वनि' के दो प्रकार:
(१) 'विवक्षितान्य परवाच्य', तथा (२) 'अविवक्षितवाच्य'।

'वाच्य' एवं 'लक्ष्य' आदि अर्थों की सामर्थ्य से आक्षिप्त होने वाली उपर्युक्त त्रिविध-ध्वनि का उन्मेष 'अभिधा' एवं 'गुण-वृत्ति' की पृष्ठभूमि पर होता है, अतएव स्वभावतया,

इस त्रिविध ध्वनि के भी दो प्रमुख भेद हो जाते हैं : एक वह भेद, जिसका आधार शब्द की 'अभिधा' एवं 'तात्पर्य' वृत्ति होती है, दूसरा वह भेद, जिसका आधार 'गुण-वृत्ति' होती है। ध्वनि के अभिधा मूलक पहले भेद को 'विवक्षितान्यपरवाच्य' और लक्षणामूलक दूसरे भेद को 'अविवक्षितवाच्य' कहा गया है।

'व्यंग्य' अर्थ के उपर्युक्त 'वस्तु. अलंकार एवं रस' नामक तीनों रूप 'ध्वनि' के इन दो प्रमुख भेदों में ही संगृहीत हो जाते हैं। संक्षेप में, 'ध्वनि' के पञ्चविध अर्थों की दृष्टि से यदि 'अविवक्षितवाच्य' का विश्लेषण किया जाए, तो इस 'ध्वनि' का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। 'ध्वनि' के इस लक्षणामूलक भेद में प्रधानतया, शब्द 'व्यंग्य' अर्थ का व्यञ्जक होता है, किन्तु सहकारि-रूप से अर्थ भी इस 'व्यंग्य' अर्थ की अभिव्यक्ति' में सहयोग दिया करता है, अतएव 'वाचक' को प्रधानतया, 'व्यञ्जक' मान कर, और बहुव्रीहि समास की दृष्टि से इस 'अविवक्षितवाच्य' पद का विग्रह करके इस पद की 'ध्वनि' शब्द के पञ्चविध अर्थों के अनुसार, निम्न व्याख्या सम्भव है : '(१) अविवक्षितोवाच्यो येन शब्देन सः, (२) यत्र (यस्मिन्) शब्दे सः, (३) यतः (यस्मात्) शब्दात् सः, (४) यस्मै यदर्थत्वेन सः, तथा, (५) यस्य यत्सम्बन्धित्वेन सः, अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः' – अर्थात्, जिस शब्द के द्वारा, अथवा जिस शब्द में, अथवा जिस शब्द से, अथवा जिसके अर्थ होने के नाते, अथवा जिसके सम्बन्धी के रूप में 'वाच्य' अर्थ 'अविवक्षित' हो जाए—अर्थात्, असंगत या अनुपपद्यमान बन जाए, उस शब्द को 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' कहते हैं। यदि इस बहुव्रीहि समास के विग्रह में अन्य पदार्थ 'व्यंग्य' अर्थ को या, व्यञ्जना' व्यापार को, या सम्पूर्ण काव्य को स्वीकार किया जाए, तो भी इस अविवक्षितवाच्य' पद की इसी प्रकार पञ्चविध व्याख्या सम्भव है। यदि 'व्यञ्जकत्व' के साम्य के आधार पर 'वाच्य' अर्थ को भी ध्वनि कहा जाए, तो व्याख्या का स्वरूप इस प्रकार होगा : 'अविवक्षितः, अप्रधानीकृतः स्वात्मा (वाच्यः) येन सः – अर्थात्, जिसने अपने स्वरूप (स्वात्मा) को अप्रधान बना लिया है, उस 'व्यञ्जक' अर्थ को 'अविवक्षितवाच्य' कहा जाता है। इसी प्रकार 'वाच्य' अर्थ को व्यञ्जक मान कर दूसरे ढंग से ही व्याख्या की जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ध्वनि' के दूसरे अभिधा-मूलक 'विवक्षितान्यपरवाच्य' भेद में भी बहुव्रीहि समास स्वीकार करके उपर्युक्त पद्धति से पञ्च विध व्याख्या सम्भव है।

'लोचन' में बहुब्रीहि समास के साथ ही, 'ध्वनि' के इन दोनों प्रमुख भेदों में कर्म-धारय समास भी स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से 'अविवक्षितवाच्य' पद का 'अविव-क्षितश्चासौ वाच्यश्च' और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' का 'विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च'—विग्रह स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इन दोनों प्रकार की ध्वनियों में 'वाच्य' अर्थ कभी तो अनुपपद्यमान (असंगत) या अनुपयोगी होने के कारण 'अविवक्षित' होता है, और कभी यह अर्थ उपपद्यमान (संगत) होने के कारण 'विवक्षित' ही होता है। फिर भी, यह 'विवक्षित' अर्थ कुछ इतना चमत्कारक होता है कि अपने सौभाग्य की महिमा से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति में इस 'वाच्य' अर्थ का विनियोग हो जाता है, अतएव 'विवक्षित' होते हुए

भी, यह अर्थ अन्य पर—अर्थात्, 'व्यङ्ग्य' अर्थ की प्रतीति में तत्पर रहता है। यही कारण है कि 'ध्वनि' के इस भेद को 'विवक्षितान्य पर-वाच्य' कहा[1] गया है।

उपर्युक्त दो भेदों में से 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के विषय में एक शंका स्वाभाविक है। 'विवक्षा' और 'अन्यपरत्व' में विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो अर्थ 'विवक्षित' है—अर्थात्, जिसको कहने की इच्छा है, उसका भी 'अन्यपरत्व' समझ में नहीं आता। परन्तु यहाँ प्रधानतया, 'वाच्य' अर्थ की विवक्षा अभीष्ट नहीं है, यहाँ तो 'वाच्य' अर्थ 'व्यंग्य' के अभिव्यञ्जक होने की दृष्टि से ही 'विवक्षित' है, अतएव 'व्यंग्य-परत्व' से 'वाच्य' अर्थ के विवक्षित होने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता[2]।

यहाँ यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि 'ध्वनि' जैसे संक्षिप्त एवं सरल नाम के होने पर भी, उसकी पृष्ठ-भूमि पर उपर्युक्त दो भेदों की कल्पना क्यों की गई है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि काव्य के ध्वननात्मक व्यापार में शब्द तथा अर्थ दोनों का ही व्यापार सहयोग प्रदान करता है; 'अभिधा', 'तात्पर्य' तथा 'लक्षणा' नामक तीनों व्यापारों से जन्य अर्थ की प्रतिपत्ता की प्रतीति होती हैं, और प्रयोक्ता की 'विवक्षा' भी सहकारिणी के रूप में अपेक्षित रहती ही है। इन सभी सहकारी तत्त्वों के सहयोग से 'ध्वनि' का सम्पूर्ण रूप प्रस्तुत होता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए 'ध्वनि' के उपर्युक्त भेदों का नामकरण किया गया है। 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि' में शब्द एवं अर्थ के 'अभिधा' एवं 'तात्पर्य' व्यापार के अतिरिक्त 'लक्षणा' व्यापार एवं 'लक्ष्य' अर्थ का भी सहयोग अपेक्षित है, और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में प्रयोक्ता की अभिप्राय-रूप 'विवक्षा' का सहयोग भी अवश्य ही रहता है। इसी तथ्य को वतलाने के लिए 'ध्वनि' के लक्षणामूलक भेद को 'अविवक्षित-वाच्य' तथा अभिधा मूलक भेद को 'विवक्षितान्य-परवाच्य' कहा[3] गया है।

ऊपर कहा गया है कि 'ध्वनि' के प्रथम भेद 'अविवक्षित-वाच्य' में शब्द प्रधानतया, तथा अर्थ उसके सहकारी के रूप में 'व्यंग्य' अर्थ का व्यञ्जक होता है, फलतः, यहाँ शब्द के चार : (१) 'अभिधा', (२) 'तात्पर्य', (३) 'लक्षणा' तथा (४) 'ध्वनन' व्यापार उपस्थित रहते हैं, और दूसरे भेद 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में अर्थ 'विवक्षित' होने के कारण, प्रधानतया 'व्यञ्जक' होता है, तथा शब्द अर्थ के उस 'व्यञ्जकत्व' का सहकारी होता है। इस भेद में

---

१. दे०, 'ल्लोचन', पृ० १३६-३७।

२. दे०, वही, पृ० १३७ : "ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः।"

३. दे०, वही पृ० १३७ : "ननुतन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम्—उच्यते। अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापार त्रितयावगतार्थप्रतीतेः। प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामाभ्यामेव प्रोज्जीवितम्।"

शब्द के प्रायः, 'अभिधा', 'तात्पर्य' एवं 'ध्वनन' ये तीन व्यापार' ही रहते हैं। कभी 'विवक्षितान्य-पर-वाच्य' के आगे बतलाए जाने वाले पहले 'संलक्ष्य क्रम' नामक भेद में यद्यपि 'लक्षणा' का व्यापार भी सम्भव है, उदाहरणार्थ "शिखरिणि क्व नु नाम" में कुछ आलोचक आकस्मिक विशिष्ट प्रश्न को संगत बनाने के लिए 'लक्षणा' व्यापार की उपस्थिति भी स्वीकार करते हैं; तथापि वह व्यापार वहाँ अप्रधान होता है, अतएव 'ध्वन्यमान' अर्थ में ही उस का पर्यवसान हो जाने से उसको 'ध्वनन' व्यापार का प्रधान सहकारी नहीं माना जा सकता। 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के दूसरे भेद-'असंलक्ष्य-क्रम रसादि' ध्वनि में तो 'लक्षणा' का समुन्मेष भी नहीं होने पाता, क्योंकि इस 'ध्वनि' में 'वाच्य' एवं 'व्यंग्य' अर्थ की प्रतीति का क्रम ही उपलक्षित नहीं होता। अतएव 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के इस भेद में केवल व्यापार ही सम्भव हैं : (१) 'अभिधा', (२) 'तात्पर्य', एवं (३) 'ध्वनन'।

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि 'ध्वनि' के उपर्युक्त प्रमुख भेदों में से 'अविवक्षित-वाच्य' नामक भेद में 'वाच्य' अर्थ 'व्यंग्य' अर्थ के द्वारा 'अविवक्षित अथवा न्यग्भावित' अर्थात्—अप्रधान हो जाता है, और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में 'वाच्य' अर्थ 'विवक्षित' होते हुए भी, 'अन्यपर'—अर्थात् 'व्यंग्यार्थप्रवण' या 'व्यंग्य' अर्थ के परतन्त्र रहता है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों भेदों में 'वाच्य' अर्थ 'व्यंग्य' का व्यञ्जक होकर ही उपस्थित होता है, तथापि 'वाच्य' अर्थ की 'अविवक्षित या विवक्षितरूपविशिष्टता' व्यंग्य अर्थ के कारण ही होती है। दूसरे शब्दों में, वह 'व्यंग्य' अर्थ का मुख्य प्रेक्षक होकर ही अपने 'अविवक्षितत्व' या 'विवक्षितत्व' रूप वैशिष्ट्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार 'ध्वनि' के उपर्युक्त भेदों के उपर्युक्त नामों से ही इन भेदों में व्यञ्जना-वृत्ति का जैसा व्यापार होता है, उसका एवं स्वतः, 'ध्वनि' का भी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कहना नहीं होगा कि इस दृष्टि से 'ध्वनि' के भेदों के उपर्युक्त नाम अत्यन्त सार्थक एवं उचित हैं।

(३) अविवक्षितवाच्य के दो भेद :

(१) 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य', तथा (२) 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य'।

इन दोनों भेदों में से 'अविवक्षितवाच्य' के सर्वप्रथम दो भेद होते हैं : (१) 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य', तथा (२) 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य'। 'अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य' में 'व्यंग्य' अर्थ की अभिव्यक्ति के सहकारि वर्ग 'लक्षणा' एवं वक्ता' की विवक्षा इत्यादि के प्रभाव से ही 'वाच्य' अर्थ का अन्य अर्थ में संक्रमण होता है, अर्थात्—यह सहकारि-वर्ग 'वाच्य' अर्थ की अन्य अर्थ में संक्रमण की स्थिति का प्रयोजक कर्ता है। यह बात 'संक्रमित' शब्द के प्रेरणार्थक णिच्' प्रत्यय से स्पष्ट हो जाती है। यही बात 'अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य' के विषय में भी कही जा सकती है। इस भेद में 'वाच्य' का अत्यन्त तिरस्कार उपर्युक्त 'लक्षणा' आदि सहकारि-वर्ग के प्रभाव के कारण ही होता है। 'तिरस्कृत' शब्द इस बात को स्पष्ट कर देता[४] है।

---

४. दे०, 'ल्लोचन', पृ० १६६ : "सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च"।

इन दोनों ही भेदों में 'वाच्य' अर्थ 'व्यंग्य' अर्थ के सहकारि-वर्ग के कारण 'अविवक्षित' हो जाता है। यह इन दोनों भेदों में साम्य है, किन्तु प्रथम भेद में 'वाच्य' अर्थ यद्यपि उपपद्यमान या 'वाच्य' के रूप में अन्वय के योग्य होता हैं, किन्तु उसका 'व्यंग्य' अर्थ के रूप में कोई उपयोग नहीं होने पाता, क्योंकि इस भेद में 'वाच्य' अर्थ या तो 'पुनरुक्त' हो जाता हैं, या किसी विशेषता का आधायक नहीं होता। इसलिए अनुपयोग के कारण, यह अर्थ अपने धर्म से भिन्न अन्य धर्म को धारण कर लेता है, और 'लक्षणावृत्ति' से 'लक्षित' हो कर, अन्य-सा प्रतीत होने लगता है। यहाँ 'वाच्य' अर्थ के धर्मान्तर से सम्वलित हो जाने पर भी, उस धर्म का व्यक्तिरूप धर्मी उन सभी लक्ष्यमाण धर्मों में उसी प्रकार अनुस्यूत रहता है, जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न पुष्पों में एक सूत्र अनुस्यूत रहता है, अतएव इस भेद को 'वाच्य' अर्थ के अपने ही रूपान्तर में परिणत हो जाने के कारण 'अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य' कहा जाता है। इसके विपरीत दूसरे—'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' में 'वाच्य' अर्थ सर्वथा अनुपपद्यमान या 'वाच्य' के रूप में अन्य के अयोग्य होता है, और वह केवल 'लक्ष्य' अर्थ की प्रतीति का उपायमात्र होता है, क्योंकि 'लक्षणा' का एक निमित्त-'मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' भी माना गया है। इस भेद में 'वाच्य' अर्थ दूसरे अर्थ की प्रतीति करा देने के पश्चात् पलायन-सा कर जाता है। अतएव इस भेद को 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' कहा जाता[५] है।

इस 'अविवक्षित वाच्य' ध्वनि में 'वाच्य' अर्थ के 'अर्थान्तर में सङ्क्रमित' एवं 'अत्यन्त तिरस्कृत' हो जाने से 'व्यंग्य' अर्थ में भी व्यञ्जक के वैचित्र्य के कारण वैचित्र्य आ जाता है, अतएव व्यंग्यात्मक ध्वनि के भेदों के निरूपण में भी 'वाच्य' अर्थ का द्विधा विभाजन असंगत नहीं हो पाता। यह विभाजन 'वाच्य' अर्थ के वैशिष्ट्य से 'व्यंग्य' अर्थ के वैचित्र्य अथवा भेद का ही प्रतिपादक है। यदि 'व्यञ्जक' अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया जाए, और 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' का यह अर्थ कि जहाँ वाच्यार्थ अपने आप (स्वात्मा) को अप्रधान बना देता है ('अविवक्षितः अप्रधानीकृतो वाच्यः, स्वात्मा येन सः) माना जाए, तो भी 'वाच्य' अर्थ के उपर्युक्त द्विधा विभाजन में कोई असंगतता नहीं[६] रहती।

---

५. दे०, 'ध्लोचन'०, पृ० १६६-६७ : "योऽर्थं उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तर संवलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगत धर्मो सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।"

६. दे०, वही, पृ० १६७ : "व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यंग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।"

'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का उदाहरण निम्नलिखित पद्य है :

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना,
वाताः शीकरिणः, पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु, दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति, हहा ! हा ! देवि ! धीरा भव ॥"

इस उदाहरण में 'राम' पद 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' का उदाहरण है। इस पद्य के वक्ता स्वयं राम हैं, इसलिए 'अस्मि' (अहम्) से ही राम के 'वाच्य' अर्थ का बोध हो सकता था, अतएव 'राम' शब्द का 'वाच्य' अर्थ यद्यपि यहाँ अन्वय के योग्य है, तथापि उस पद के इस अर्थ का यहाँ कोई उपयोग नहीं होता। यह 'वाच्य' अर्थ यहाँ पुनरुक्त-सा ही है, अतएव अनुपयुक्त होकर असंख्य 'व्यंग्य' रूप धर्मान्तरों में परिणत हो जाता है। ये अनेक धर्म यहाँ 'लक्षणा' के प्रयोजन के रूप में उपस्थित होते हैं। और जैसा कि पहले भी प्रमाणित हो चुका है, सदैव 'व्यंग्य' ही हो सकते हैं।

इस पद्य में 'राम' पद के साथ 'दृढं कठोर-हृदयः' विशेषण का प्रयोग 'वाच्य' अर्थ को उसके एक विशेष धर्मान्तर में परिणत होने में सहायक बन कर, अत्यन्त उपयोगी बन जाता है। "मैं तो दृढ़ एवं कठोर हृदय वाला वह राम हूँ, जिसको राज्य से निर्वासित किया गया; वनवास, पिता की मृत्यु एवं पत्नी का वियोग आदि सहना पड़ा, इस प्रकार मुझमें तो सभी भीषण दुःखों को सह लेने का सामर्थ्य है, किन्तु इस वर्षा के अतिशय उद्दीपन काल में जब आकाश स्निग्ध एवं श्यामल-कान्ति वाले वलाकाओं की पंक्तियों से सुशोभित सघन घनों से, मानो लिप्त हो उठा है; जब सूक्ष्म जल-कणों को उद्गीर्ण करने वाले पवन मन्द-मन्द प्रवाहित हो उठे हैं, जब पयोदों के शोभन-हृदय सुहृत् मयूरों की आनन्दमयी कलकेका से समस्त दिग्दिगन्त गूंज उठे हैं, तब वैदेही किस प्रकार जीवित रह सकेगी ? उसका तो ऐसी परिस्थिति में जीवन (भवन) ही असम्भाव्य है। "हा हा ! हे देवि ! धीरज धारण करो।"

इस प्रकार इस पद्य में 'कठोर-हृदय' पद के सहकार से उसके अनुगुण, 'सर्व-दुःख-सहिष्णुता रूप' धर्मान्तर में 'राम' पद का 'वाच्य' अर्थ परिणत हो गया। 'राम' शब्द के इस 'लक्ष्य' अर्थ से 'राज्य-निर्वासन' आदि असंख्य प्रयोजन रूप 'व्यंग्य' प्रतीत होने लगे। ये प्रयोजन रूप 'व्यंग्य' असंख्य हो सकते हैं, इसलिये एक साथ 'अभिधा' व्यापार से तो इन सभी अर्थों का समर्पण नहीं हो सकता। यदि 'अभिधा' व्यापार क्रमशः भी इन असंख्येय अर्थों का बोधक हो, तो भी, क्रमशः प्रतीत होने के कारण, ये सभी अर्थ एक बोध के विषय न बनने के कारण, विचित्र चर्वणा के योग्य नहीं हो सकते, इसलिये 'अभिधा' वृत्ति से क्रमशः इन अर्थों का बोध होने पर, चारुतातिशय की प्रतीति सम्भव नहीं। इसके विपरीत, जब उपर्युक्त असंख्य अर्थ 'व्यञ्जना' व्यापार से प्रतीत होते हैं, तब युगपत् प्रतीत होने के कारण, इन सभी अर्थों की पारस्परिक विशेषता उद्भिन्न नहीं होने पाती। जिस प्रकार 'पानक रसादि' के आस्वाद में कर्पूर आदि के अंशों के आस्वाद का अनुभव पृथक् रूप से नहीं होता,

प्रत्युत परस्पर सम्वलित रूप से ही होता है, उसी प्रकार इस पद्य में परस्पर सम्बलित रूप में प्रयोजनों की प्रतीति होने पर, 'राज्य से निर्वासनादि धर्मों का, विचित्र 'पानक रस' के समान, एक साथ ही आस्वाद होता है। यह प्रयोजन रूप, 'व्यंग्य' अर्थ प्रतिपत्ताओं की 'प्रतिभा के कारण नाना प्रकार से आभासित होता है, और परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट होने से, विचित्र आस्वाद का विषय वन जाता है। इस प्रकार से 'विचित्र चर्वणा का आस्पद बन जाना ही, सर्वत्र 'प्रतीयमान' अर्थ के उत्कर्ष का हेतु होता है।[७] संक्षेप में, जैसा कि 'ध्वन्यालोक' (दे०, पृ-१६६) में लिखा गया है-उपर्युक्त पद्य में केवल 'राम' नाम वाले व्यक्ति (संज्ञी) की प्रतीति नहीं होती, किन्तु धर्मान्तरों में परिणत, 'राम' व्यक्ति की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ संज्ञी का भी तिरस्कार नहीं हुआ है, किन्तु उसकी असंख्य 'धर्मान्तरों में परिणतिमात्र हुई है : "अनेन हि व्यंग्यधर्मान्तरपरिणत: संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्"।

उपर्युक्त उदाहरण में कुछ आलोचक शुद्ध 'मुख्य' अर्थ रूप धर्मी में उसके विविध धर्मों के समवाय को उस 'मुख्य' अर्थ की बाधा का निमित्त मानते हैं। उनका मत है कि उस निमित्त से 'राम' शब्द धर्मान्तर में परिणत अर्थ को—अर्थात्, राज्य से निर्वासन आदि धर्मों से युक्त 'राम' व्यक्ति रूप अर्थ को लक्षित करवा देता है और उन -'निर्वेद, ग्लानि, मोह' आदि असाधारण धर्मान्तरों की, जो 'अशब्द वाच्य' होते हैं—अर्थात्, जिनका शब्दों में 'अभिधान' सम्भव नहीं, यहाँ 'व्यंग्य' अर्थों के रूप में प्रतीति होती है। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त इस मत को युक्तियुक्त नहीं मानते। उनका सिद्धान्त है कि यहाँ 'मुख्य' अर्थ का अनुपयोग ही उस अर्थ की बाधा का निमित्त है, और इस मत में जिन 'राज्यनिर्वासनादि' धर्मान्तरों को बाधित अर्थ—अर्थात्, 'लक्षणा' व्यापार का विषय माना गया है, वह तो वस्तुत:, इस 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' का ही विषय है, 'लक्षणा' का नहीं, क्योंकि 'लक्षणा व्यापार से किसी एक धर्म की ही 'लक्ष्य' अर्थ के रूप में प्रतीति हो सकती है। अनेक धर्मान्तरों की एक साथ प्रतीति, 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त शब्द के किसी अन्य व्यापार से सम्भव नहीं। 'लक्षणा' तो इस अर्थ का मूल-अर्थात्, इस अर्थ की 'व्यंग्य' के रूप में प्रतीति की प्रधानतया सहकारिणी ही हो सकती[८] है।

---

७. दे०, 'लोचन', पृ० १६६-७० : "व्यंग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यन सङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणर्प्यमाणमप्येकधी-विषयभावाभावान्न चित्रचर्वणास्पदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदक स्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति। यथोक्तम्—'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्' इति। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्य:।"

८. दे०, 'लोचन०,' पृ० १७०-७१ : "तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्म-समवाय:। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यंग्यान्यसाधार-णान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि। एवं 'कमल' शब्द:। गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति। तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम्। अनुपयोगबाधितोह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणामूलं ह्यस्य"।

भट्ट नायक के 'हृदय-दर्पण' में इस पद्य में 'ह हा-हा, इन पदों से प्रतीत होने वाले 'संरम्भ' रूप अर्थ में चमत्कार माना गया है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि 'संरम्भ' तो 'आवेग' का दूसरा नाम है, जो 'विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यभिचारिभाव' होता है। इस प्रकार तो भट्ट नायक के मत में भी 'रस-ध्वनि' स्वीकृत हो जाती है, और 'राम' शब्द से प्रतीत होने वाले 'राज्य निर्वासनादि' विविध 'व्यंग्य' अर्थों की सहायता के विना तो उपर्युक्त 'संरम्भ' का उल्लास भी सम्भव नहीं, क्योंकि इस 'संरम्भ' का स्वरूप है कि "मैं तो सब कुछ सह लेता हूँ, किन्तु उस 'कोमल-हृदया' सीता का क्या होगा?" स्पष्टतया, इस प्रकार का 'संरम्भ' राज्य निर्वासनादि उपर्युक्त अनेक 'व्यंग्य' अर्थों की भावना के विना आविर्भूत नहीं हो सकता। फलतः इस दृष्टि से तो हृदय-दर्पण' के लेखक के द्वारा 'अर्थ-ध्वनि' की स्वीकृति भी आवश्यक हो जाती[६] है।

इस पद्य में 'अनुपयोगात्मक' मुख्य अर्थ का बाध वर्तमान है, अतएव शुद्ध मुख्य अर्थ के 'अविवक्षित' होने से लक्षणामूलत्व के आधार पर, इसे 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' का भेद मान लेना युक्ति संगत है। यहाँ धर्मी रूप से 'लक्ष्य' एवं व्यंग्य के रूप में अनु प्रवेश होने से 'राम' शब्द के मुख्य अर्थ का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं होने पाता, अतएव इसको 'वाच्य' अर्थ के दूसरे अर्थ में परिणत हो जाने से 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' कहना भी युक्तिसंगत ही है (दे० 'लोचन' पृ० १७१-७२)।

'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' का उदाहरण आदि-कवि वाल्मीकि का निम्नलिखित पद्यः

"रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥"

इस पद्य में 'अन्ध' पद 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि' का उदाहरण है। 'अन्ध' वह होता है जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई हो। 'जन्मान्ध' की दृष्टि का भी गर्भ में ही उपघात हो जाता है अतएव उपहत-दृष्टि 'अन्ध' शब्द का मुख्य अर्थ है। लोक-व्यवहार में 'तिरस्कृत' अर्थ में 'अन्ध' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे-'यह अन्धा है, अपने समक्ष की वस्तु को भी नहीं देख पाता।' इस वाक्य में दृष्टि से युक्त व्यक्ति में भी दृष्टि के उपघात का आरोप करके 'अन्ध' शब्द का औपचारिक प्रयोग किया गया है' इसलिये इस वाक्य में 'अन्ध' शब्द के मुख्य अर्थ का तिरस्कार हुआ हैं, किन्तु इस तिस्कार को अत्यन्त तिरस्कार नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत उपर्युक्त पद्य में 'अन्ध' शब्द के 'वाच्य' अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार हो गया है' क्योंकि यहाँ आदर्श (= दर्पण) में 'अन्धत्व' का आरोप किया

---

६. दे०, वही, पृ० १७१ : "यत्तु 'हृदयदर्पण' उक्तम्। 'हहा हेति' संरम्भार्थोऽयं चमत्कारः' इति। तत्रापि संरम्भः 'आवेगो' विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्ताव-दुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसाहायकेन विना, "संरम्भोल्लासोऽपि। 'अहं सहे, तस्याः किं वर्तत'—इत्येवमात्मा हि संरम्भः"।

गया है। दर्पण में तो दृष्टि का सर्वथा अभाव होता है, अतएव उसमें आरोपित 'अन्धत्व' भी असह्य होने से 'वाच्य' अर्थ के अत्यन्त तिरस्कार को सूचित करता है। जिसकी दृष्टि नष्ट हो जाती है, उसमें पदार्थों की स्फुट प्रतीति का सामर्थ्य नहीं रहता। इस सादृश्य के आधार पर, इस पद्य में प्रयुक्त 'अन्ध' पद 'नष्ट-दृष्टिगत-पदार्थ-स्फुटीकरण की अशक्तता को निमित्त बना कर 'लक्षणा' व्यापार से 'आदर्श' शब्द के पदार्थों के स्फुटीकरण में अशक्त रूप 'लक्ष्य' अर्थ को प्रस्तुत करता है और इस 'लक्ष्य' अर्थ से असाधारण 'विच्छायता' (=शोभाहीनता) 'अनुपयोगिता' आदि अनेक प्रयोजन रूप धर्मों की 'व्यञ्जना' व्यापार से प्रतीति होती है।'[१०]

भट्ट नायक इस पद्य में 'इव' शब्द के प्रयोग के कारण अन्ध पद की गौणता को स्वीकार नहीं करता। किन्तु, जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का मत है, उनके इस कथन में असंगतता है। उन्होंने इस श्लोक के अर्थ पर काव्य की दृष्टि से विचार नहीं किया। इस पद्य में प्रयुक्त 'इव' शब्द आदर्श (दर्पण) एवं चन्द्रमा के सादृश्य को द्योतित करता है, और 'निःश्वास' पद आदर्श का विशेषण है, इसलिये 'इव' शब्द का 'आदर्श' पद के साथ सम्बन्ध मानना ही युक्ति संगत है। यदि 'इव' की अन्ध पद के अर्थ के साथ—जैसा कि भट्ट नायक का मत है—योजना स्वीकार की जाय, तो यह योजना अत्यन्त क्लिष्ट होगी। उस अवस्था में इस श्लोक की योजना का स्वरूप कुछ इस प्रकार का होगा: 'निःश्वासान्ध इवादर्शः स इव चन्द्रमा।' जैमिनीय सूत्रों में, सम्भव है, ऐसी योजना संगत हो, किन्तु अर्थ की क्लिष्टता के कारण काव्य में इस प्रकार की योजना को उचित नहीं माना जा सकता।

'अविवक्षितवाच्य' के उपर्युक्त दो भेद 'उपादान' या अजहत्स्वार्था 'लक्षणा' तथा 'लक्षण' या 'जहत्स्वार्था 'लक्षणा' के आधार पर निष्पन्न होते हैं, और जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, इन दोनों भेदों में 'लक्षणा' के प्रधानतया सहकारिणी होने से 'वाच्य' अर्थ 'अविवक्षित' हो जाता है, और 'लक्ष्य' अर्थ के प्रयोजन के रूप में असंख्य 'व्यंग्य' अर्थ प्रतीत होते हैं।

४.—'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' की चतुर्विधता।

'व्यंग्य' अर्थ के अतिरिक्त 'व्यञ्जक' की दृष्टि से भी इस 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' के भेद किये जा सकते हैं। यह 'ध्वनि' कभी तो किसी पद से प्रकाशित होती है, कभी पूरे वाक्य से। यद्यपि अर्थ भी 'व्यंग्य' अर्थ का व्यञ्जक होता है, किन्तु वह स्वयं 'व्यंग्य' होने के योग्य भी हो सकता है, अतएव अर्थ में व्यञ्जकता एवं व्यंग्यता—दोनों ही सम्भव हैं। इसके विपरीत शब्द तो स्वरूपतः, कभी भी 'व्यंग्य' नहीं हो सकता, वह तो सदा 'व्यञ्जक' ही होता हैं, फलतः, विशुद्ध 'व्यञ्जकत्व' की दृष्टि से 'ध्वनि' का भेद शब्दगत ही हो सकता है और, विना अर्थ की दृष्टि से विचार किये, शब्द के 'व्यञ्जकत्व'

---

१०. दे०, 'लोचन', पृ० १७२।

के स्वरूपतः, ही पद, वाक्य, वर्ण, पद का एक भाग (प्रकृति अथवा प्रत्यय पद-संघटना तथा महावाक्य के आधार पर भेद किये जा सकते हैं। शब्द के इन सभी प्रकारों का विशुद्ध 'व्यञ्जकत्व' स्वतः ही निश्चित होता है क्योंकि जैसा ऊपर संकेत किया गया है, अर्थ के समान, इनकी 'व्यंग्यता' कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। अतएव इस विशुद्ध 'व्यञ्जकता' की दृष्टि से 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' के दो भेदों में से प्रत्येक के पद एवं वाक्य से प्रकाशित होने के आधार पर, दो अन्य भेद भी किये जा सकते हैं। संक्षेप में, 'व्यंग्य' अर्थ की दृष्टि से 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' के सर्व-प्रथम दो भेद होते हैं : 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' तथा 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य'। फिर, शब्द-गत व्यञ्जकता की दृष्टि से उपर्युक्त प्रत्येक भेद के दो-दो भेद हो जाते हैं : (१) 'पद प्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्य', (२) 'वाक्य प्रकाश्य-अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य', (३) 'पद प्रकाश्य-अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य', तथा (४) 'वाच्य-प्रकाश्य-अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य।'

५. 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के दो भेद :

(१) 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' तथा (२) 'संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य'।

'विवक्षितान्य-परवाच्य' पर यदि 'व्यंग्य' अर्थ की दृष्टि से विचार करें, तो सर्वप्रथम उसके दो भेद हो जाते हैं : (१) 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य', (१) 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य'। 'विवक्षिता-न्यपरवाच्य' के पहले भेद में 'वाच्य' एवं 'व्यंग्य' अर्थ की प्रतीति का क्रम विद्यमान होते हुए भी संलक्ष्य नहीं होता। दूसरे भेद में इन अर्थों की प्रतीति का क्रम स्पष्टतया संलक्षित होता है, अतएव इस पद को 'अनुस्वान' अथवा 'अनुरणन' के समान कहा जाता है। किसी घण्टे के रणन के पश्चात् जो सूक्ष्म 'अनुरणन' अनुभूत होता है, उसी के तुल्य, इस 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' की स्थिति है। इस भेद में शब्द एवं अर्थ के सामर्थ्य से 'व्यंग्य' अर्थ का 'अनुरणन' होता है। काव्य में प्रयुक्त शब्द कुछ इतना मनोहर एवं अर्थ कुछ इतना सुन्दर होता है कि उनसे 'व्यंग्य' अर्थ अनायास ही प्रतिध्वनित हो उठता है। 'ध्वनि' के इस भेद में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नियमित रूप से 'वाच्य' अर्थ के पश्चात् ही होती है, इसलिये इस पद का 'संलक्ष्यक्रम' नाम सर्वथा सार्थक है।

६. 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के भेद

अभिधामूलक 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' का 'असंलक्ष्यक्रम' भेद 'रस, भाव, रसाभास, भावाभास एवं भाव-प्रशान्ति' आदि अनेक रूप धारण करता है, और इनमें से प्रत्येक के अनन्त प्रकार हो सकते हैं, इसलिये सभी में साधारण रूप से प्रस्तुत 'असंलक्ष्य-क्रमता' के आधार पर 'व्यंग्य' अर्थ की दृष्टि से इसके केवल एक भेद की ही गणना की जाती है। ये 'रस-भावादि' जब प्रधानतया, अवभासित होते हैं, तब उन्हें काव्य की 'आत्मा' माना जाता है। इसके अप्राधान्य में आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार 'रसवद्' आदि 'अलंकारों की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। 'व्यंग्य' अर्थ के आनन्त्य के कारण इस 'ध्वनि' का एक भेद मानने पर भी 'व्यञ्जकत्व' की दृष्टि से इसके ६ भेद किए जा सकते

हैं : (१) 'पद-प्रकाश्य, असंलक्ष्यक्रम', (२) 'वाक्य-प्रकाश्य, असंलक्ष्यक्रम', (३) 'वर्ण-प्रकाश्य, असंलक्ष्यक्रम', (४) 'पदैकदेशप्रकाश्य-असंलक्ष्यक्रम', (५) 'संघटनाप्रकाश्य, असंलक्ष्यक्रम' तथा (६) 'प्रवन्ध-प्रकाश्य, असंलक्ष्यक्रम ध्वनि[११]।'

'वर्ण' यद्यपि अनर्थक होते हैं, तथापि किसी विशेष 'रस-भाव' आदि की 'व्यञ्जकता' का सामर्थ्य उनमें भी 'अन्वय' एवं 'व्यतिरेक' की प्रक्रिया से सिद्ध किया जा सकता है। 'शृङ्गार रस' के अभिव्यञ्जन में यदि 'शष', रेफ-सहित, संयुक्त-व्यञ्जन और ढकारादि का अनेकवार अधिकता से प्रयोग किया जाय, तो भट्टोद्भट की इस परुषा वृत्ति' के प्रयोग से, इस 'रस' की अभिव्यक्ति असम्भव हो जाती हैं, और यदि 'बीभत्स' आदि दीप्त 'रसों' में इन वर्णों का विनिवेश हो, तो ये वर्ण इन 'रसों' के अभिव्यञ्जन में समर्थ हो जाते हैं, इसलिए यह बात सिद्ध हो जाती है कि निरर्थक 'वर्णों' में भी 'रसों' की अभिव्यञ्जकता विद्यमान होती है।

वर्णों के समान, पदों एवं वाक्यों की 'संघटना' भी 'रस' के अभिव्यञ्जन में समर्थ होती है। 'संघटना' के स्वरूप पर 'गुणों' के विश्लेषण के प्रसंग में विचार किया जा सकता है। 'वर्ण' एवं 'संघटना' के अतिरिक्त पद के किसी एक प्रकृति या प्रत्यय रूप अंश से भी, 'रस-भावादि' ध्वनि अभिव्यक्त होती है। 'सुप्' (प्रातिपदिक के साथ लगने वाली ७ विभक्तियाँ), 'तिङ्' (धातु' के साथ सम्बद्ध विभक्तियाँ), वचन, सम्बन्ध, कारक की शक्तियाँ, कृदन्त, तद्धित एवं समास भी, इस 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' को द्योतित करता[१२] है। इसी प्रकार निपात, उपसर्ग, काल आदि भी इस 'ध्वनि' के अभिव्यञ्जन में समर्थ होते हैं। 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में इनमें से प्रत्येक के उदाहरण में अनेक सुन्दर पद्य उद्धृत किए गए हैं। निम्नलिखित एक ही पद्य में पदों के अनेक अंश व्यञ्जक हैं :

> **"न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,**
> **सोऽप्यत्रैव, निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो ! रावणः।**
> **धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,**
> **स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥"**

इस पद्य का वक्ता रावण है, और यह 'राम-रावण' के युद्ध के अवसर पर, जब मेघनाद एवं कुम्भकर्ण युद्धाग्नि की आहुति चढ़ गए, तब एकाकी रावण की गर्वपूर्ण-उक्ति है। रावण कहता है कि प्रथम तिरस्कार तो मेरा यही है कि मेरे भी शत्रु हैं--अर्थात्, रावण के शत्रुओं का सद्भाव उचित नहीं है। 'मे यदरयः' में 'मे' पद में षष्ठी विभक्ति है, जो सम्बन्ध की सूचक है, और 'अरयः' पद में 'अरि' शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया

---

११. दे०, 'ध्वन्या०,' ३।२ : "यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥"

१२. दे०, 'ध्वन्या'०, ३।१६ : "सुप्तिङ्वचनसम्बन्धस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥

हैं। ये तीनों ही (१) षष्ठी विभक्ति, (२) सम्बन्ध तथा (३) बहुवचन यहाँ व्यञ्जक हैं। 'मुझ जैसे त्रैलोक्य विजयी के भी, जिसके भय से समस्त इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि दिग्पाल निरन्तर काँपते रहते हैं—शत्रु हों, और वे जीवित भी रह सकें, इससे अधिक अपमान और आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है?' अतएव मेरे साथ (रावण के सम्बन्धित्व से) शत्रुओं की सत्ता का सम्बन्ध अत्यन्त अनुचित है, और शत्रु, एक नहीं अनेक हों, यह तो और भी अनुचित है। इस प्रकार 'अरयः' पद का बहुवचन रावण के साथ शत्रुओं के सम्बन्ध के अनौचित्य-रूप-क्रोध के उद्दीपन विभाव का अभिव्यञ्जक है। और इन सभी शत्रुओं का अग्रणी है, एक वह 'तापस' जो अपने राज्य से भी निर्वासित कर दिया गया है। वह बेचारा 'तापस' भी इन शत्रुओं में है! 'तापस' (तपस्वी नहीं) में 'तपो विद्यते यस्य इस अर्थ में तपः शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में 'अण्' (तद्धिते) प्रत्यय लगाया गया है, जिससे रावण के प्रतिपक्षी में पुरुषार्थ आदि की गाथा की भी 'हीनता' अभिव्यक्त होती है। और 'तत्रापि' इस निपात के समुदाय से 'एक 'तापस' का रावण का शत्रु होना अत्यन्त असम्भावनीय है'—यह 'व्यंग्य' अर्थ प्रतीत होता है। 'असौ' पद से प्रतिपक्षी की 'अतिशय क्षुद्रता' प्रकट हो रही है। एक भिखमंगा 'तापस' रावण का शत्रु हो, यह तो एक अत्यन्त असम्भावनीय-सी घटना है। इस प्रकार 'तत्राप्यसौ तापसः' वाक्य में निपात तथा तद्धित प्रत्यय 'अण्' व्यंग्य अर्थ के अभिव्यञ्जक हैं। और वह शत्रु भी लंका में ही विद्यमान है ('सोऽप्यत्रैव') और एक दो राक्षसों का नहीं, प्रत्युत समस्त राक्षसकुल का निरन्तर वध कर रहा है—यह सब होते हुए भी, आश्चर्य है कि 'रावण जीवित है! यह सब 'रावण' के जीते जी हो रहा है! यदि रावण जीवित है, तो राक्षसों की यह 'हनन' क्रिया अत्यन्त अनुचित है ('मत्कर्तृका यदि जीवन क्रिया तदा हनन-क्रिया तावदनुचिता---०'लोचन', पृ०-३४८)। और उस 'हनन' क्रिया का कर्ता एक क्षुद्र 'मनुष्य' है---यह तो और भी अनुचित है। वह भी, 'अत्रैव'---अर्थात्, इस मेरे प्रदेश में ही निःशेष रूप से (जिससे राक्षसों के कुल का नाम भी नष्ट हो जाए, इस रूप में) राक्षस-कुल का वध कर रहा है, यह तो अतीव अनुचित है। इस 'हन्यमानता' का कर्म राक्षसों का कुल है यह एक अत्यन्त असम्भव-सी बात हो रही है।— इस प्रकार 'निहन्ति' रूप 'तिङ्', अधिकरणत्व, कर्तृत्व एवं कर्मत्व रूप, कारक शक्तियों के प्रतिपादक शब्दों से रावण अपने पौरुष के प्रकर्ष का अभाव अभिव्यक्त कर रहा है। 'रावण' शब्द में 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य-ध्वनि' तो सर्वथा स्पष्ट है। इस शब्द से 'महेन्द्र पुरी का विमर्दन' आदि रावण के अनेक लोकोत्तर पराक्रमों की अभिव्यक्ति हो रही है। इसी प्रकार 'धिक्-धिक्' निपात से मेघनाद ने कभी इन्द्र को विजय किया होगा ('शक्रं जितवान्' अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय) यह एक कल्पित आख्यायिका-सी प्रतीत होती है। 'स्वर्ग-ग्रामटिका-विलुण्ठन-वृथोच्छूनैः' में जो समास है, वह रावण के पौरुष का अनुस्मरण करा रहा है। 'ग्रामटिका' में 'क' तद्धित प्रत्यय और उसके पश्चात् का 'स्त्री प्रत्यय' स्वर्ग की अत्यन्त तुच्छता का अभिव्यञ्जक है और 'विलुण्ठन' पद में 'वि' उपसर्ग स्वर्ग के निर्दयता-पूर्वक लूट लेने को अभिव्यक्त करता है, तो 'वृथा' निपात अपने पौरुष की निन्दा का व्यञ्जक है, तथा 'भुजैः'

में बहुवचन से यह व्यञ्जित होता है कि ये सभी भुजायें व्यर्थ का भारमात्र हैं।' इस प्रकार, इस श्लोक का प्रत्येक अंश व्यञ्जक है, और 'गर्व, अमर्श, असूया' आदि व्यभिचारि भावों से समन्वित रावण का 'क्रोध' इस पद्य के प्रत्येक पद एवं पदांश से अभिव्यक्त हो रहा है। फलतः, इस पद्य में व्यञ्जकों के इस समुदाय से अनोखा सौन्दर्य उपस्थित हो गया हैं। इस दृष्टि से 'लोचन' में इस पद्य के पद एवं पदांशों से प्रतीत होने वाले विविध 'व्यंग्य' अर्थों का निर्देश करने के पश्चात् लिखा गया है : "तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्।" (दे०, पृ०-३४९)।

(७) 'संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' के दो प्रमुख भेद
(१) 'शब्दशक्तिमूल', तथा (२) 'अर्थशक्तिमूल।'

'ध्वन्यालोक' (दे०, कारिका २।२९) में 'संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' को 'अनुस्वान-सन्निभ' कहा गया है। घण्टे के अनुरणन के समान, इस 'ध्वनि' में काव्य के शब्द तथा अर्थ किसी मनोहर 'व्यंग्य' अर्थ को झंकृत कर देते हैं। इस 'ध्वनि' में 'वाच्य' अर्थ के बोध एवं 'व्यंग्य' अर्थ की प्रतीति में, क्रम स्पष्टतया, अनुभव किया जाता है, अतएव इस 'ध्वनि' का जैसा कि पहले भी अनेक बार कहा जा चुका है 'संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' नाम सर्वथा सार्थक है। 'व्यंग्य' अर्थ की दृष्टि से यदि इस 'ध्वनि' पर विचार किया जाए, तो यह 'ध्वनि' स्वभावतः, दो भागों में विभक्त हो जाती है : (१) 'शब्दशक्तिमूल', तथा (२) 'अर्थशक्तिमूल'। शब्द की सामर्थ्य से जहाँ, अनुरणन के समान, 'वाच्य' अर्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ झंकृत हो उठे, वहाँ 'शब्द शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' होता है, और अर्थ के सामर्थ्य से जहाँ 'व्यंग्य' अर्थ क्रमिक रूप से प्रतीत होता हो, वहाँ 'अर्थ-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' होता है, और अर्थ के सामर्थ्य से जहाँ 'व्यंग्य' अर्थ क्रमिक रूप से प्रतीत होता हो, वहाँ 'अर्थ-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' माना जाता हैं।

(८) 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' एवं 'श्लेष' अलंकार का विषय-विभाग।

इस 'ध्वनि' के 'शब्दशक्तिमूल' भेद में अपने शब्दों से उक्त न होने पर भी, अर्थात्, शब्दों के साक्षात् संकेत का विषय न होने पर भी, शब्दों की शक्ति से आक्षिप्त होकर, कोई 'अलंकार' प्रतीत होता है। इस 'ध्वनि' की यही विशेषता है, जो इसे 'श्लेष' अलंकार से पृथक् कर देती है। 'श्लेष' अलंकार में जो दो या उससे अधिक अर्थ शब्द की शक्ति से प्रकाशित होते हैं, उनका बोध 'अभिधा' वृत्ति से ही होता है, और उन दोनों अर्थों का स्वरूप प्रायः 'वस्तु' ही होता है। भट्ट उद्भट ने ऐसे 'श्लेष अलंकार' के भी उदाहरण दिए हैं, जिन में कोई दूसरा 'अलंकार' भी प्रतिभासित होता है, किन्तु वहाँ भी साक्षात् शब्दों से 'वाच्य' अर्थ के रूप में ही वह 'अलंकार' प्रस्तुत होता है, शब्दों के सामर्थ्य से आक्षिप्त अथवा 'व्यञ्जना' वृत्ति से प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के 'श्लेष' के जहाँ साक्षात् शब्दों के 'वाच्य' अर्थ के रूप में दूसरा 'अलंकार' प्रतीत होता है, 'ध्वन्यालोक के' द्वितीय उद्योत में अनेक उदाहरण दिए गए हैं। यहाँ उनमें से केवल एक उदाहरण को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा—

"तस्याविनापि हारेण, निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य, विस्मयं न पयोधरौ ?॥"

इस पद्य में प्रयुक्त किये गये 'हारिणौ' पद के दो अर्थ हैं : एक अर्थ है—'जो अवश्य ही हृदय का हरण कर लेते हैं, ('हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ' दे०, 'लोचन', पृ०-२३७) और दूसरा अर्थ है—'हार से समन्वित' (हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति'—दे०-वही पृ०-२३७)। फलतः इस सम्पूर्ण पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा : 'विना हार के भी, स्वभाव से ही 'हारी' उसके पयोधरों ने किसको विस्मित नहीं किया।' इस पद्य में प्रयुक्त किया गया 'अपि' शब्द 'हार' और उसके अभाव को, एक ही अधिष्ठान में उपस्थित करके 'विरोध' का बोध कराता हुआ, 'हारिणौ' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों में ही 'अभिधा' शक्ति को नियन्त्रित कर देता है।' इस-'अपि' शब्द के प्रयोग से पद्य में आया हुआ, 'विस्मय' पद भी इसी अर्थ के बोध, में सहकारी बन जाता है, क्योंकि इस 'विस्मय' का मूल भी 'एक अधिष्ठान में विरुद्ध अर्थ का बोध है।' यदि इस पद्य में 'अपि' शब्द का प्रयोग न किया जाता, तो 'विस्मय पद' से दोनों अर्थों का 'अभिधा' से बोध न होता, क्योंकि स्तनों का अपना सौन्दर्य भी विस्मय का हेतु बन सकता था। (दे०, 'लोचन', पृ०-२३६-३७)। इस पद्य की व्याख्या में 'आलोक' में निम्नवाक्य लिखा गया है: "अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः, साक्षाद्विरोधालंकारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेष-स्यायं 'विषयः' न त्वनुस्वानोपमव्यंग्यस्य ध्वनेः।" (दे०, ध्वन्या०, पृ० २३६-३७)। अर्थात्, इस पद्य में 'शृङ्गार' का व्यभिचारी 'विस्मय' नामक 'भाव' तथा साक्षात् 'विरोध' अलंकार प्रतिभासित होता है' अतएव यह 'विरोध' की छाया के अनुग्रहण करने वाले 'श्लेष' अलंकार का विषय है, अनुस्वान के तुल्य' 'व्यंग्य'-वाली 'ध्वनि' का नहीं। लोचनकार का मत है कि यह 'विस्मय' नामक 'भाव' यहाँ दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार उपर्युक्त पद्य में 'विस्मय' नामक व्यभिचारि-भाव 'विस्मय' शब्द से प्रतीत होता है, उसी प्रकार 'विरोध' अलंकार भी 'अपि' शब्द से उपस्थित होता है।[13] यद्यपि इस पद्य में 'शब्द-शक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम ध्वनि' नहीं है, तथापि 'वाच्य' 'श्लेष' या 'विरोध' अलंकार से, दूसरे शब्दों में, अनुग्राह्य-अनुग्राहक रूप 'श्लेष' एवं 'विरोध' अलंकारों के 'सङ्कर' से यहाँ 'शृंगार रस' अभिव्यक्त होता है, अतएव इस पद्य में 'असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य' तो है ही। 'ध्वन्यालोक' में इस प्रसंग में जो अन्य अनेक उदाहरण दिए गए हैं, उन सभी के विश्लेषण से 'लोचन' में कई निष्कर्ष निकाले गए हैं। इन निष्कर्षों से 'श्लेष' एवं शब्द-शक्तिमूल-अनुरणनात्मक-संलक्ष्यक्रम ध्वनि' का विषय-विभाग अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

---

१३. दे०, 'लोचन' पृ० २३७ : "विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्, यथा 'विस्मयः' शब्देन प्रतिभाति, 'विस्मय' इत्यनेन शब्देन, तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्य पीत्यनेन शब्देन।"

जिस स्थल में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाए, जो दो या अधिक अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ हों, और वहाँ कोई ऐसा कारण[१४] उपस्थित न हो, जो किसी एक अर्थ में 'अभिधा' को नियन्त्रित कर दे, उस स्थल में 'अभिधा' से ही उन दोनों अर्थों की प्रतीति होती है, फलतः, वहाँ 'श्लेष' अलंकार होता है, उपर्युक्त 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' नहीं, उदाहरणार्थ, "येन ध्वस्त-मनोभवेन"—इत्यादि पद्य (दे०, 'ध्वन्या०', पृ०-२३५-३६) इसके विपरीत, यदि दूसरे अर्थ का बोध करा देने के लिए, दूसरे 'अभिधा' व्यापार के सद्भाव का आवेदक, कोई 'साधक' प्रमाण उपस्थित हो जाए, जैसे—"तस्याविनापि हारेण" इत्यादि पद्य में 'अपि' शब्द का प्रयोग, जिसके कारण, 'हारिणौ' पद के दोनों अर्थों का बोध 'अभिधा' से ही होता है, वहाँ भी दूसरा अर्थ 'अभिधेय' (=वाच्य') ही होता है, फलतः, ऐसे पद्यों में 'श्लेष अलंकार' ही माना जाता है। इसी प्रकार, जहाँ 'अभिधा' को किसी एक अर्थ में नियन्त्रित कर देने के लिए, निम्नलिखित 'प्रकरणादि' (दे०, नीचे टि०-१४) कोई हेतु भी हो, और उस हेतु के कारण 'अभिधा' दूसरे अर्थ में संक्रमित न भी होती हो, किन्तु यदि फिर भी, किसी ऐसे पद का उस पद्य में प्रयोग कर दिया जाए, जिससे 'अभिधा' के नियामक उस 'प्रकरण' आदि की शक्ति विनष्ट हो जाए, और उस शक्ति के उपहत हो जाने पर, वह बाधित 'अभिधा' शक्ति भी पुनर्जीवित हो जाए, वहाँ भी, 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' का अवकाश नहीं रहता, क्योंकि ऐसे स्थलों में शब्द की सामर्थ्य से आक्षिप्त दूसरा अर्थ भी, 'अभिधा' की पुनः प्रवृत्ति से, 'अभिधेय' ही बन जाता है। ऐसे स्थलों पर 'श्लेषमूलक वक्रोक्ति' आदि 'वाच्य अलंकार' का ही व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद्य में 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' का व्यवहार नहीं हो सकता :

"दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किं किन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलिताऽस्मि, नाथ ! पतितां, किं नाम, नालम्बसे।
एकस्तव विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः, सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥"

इस पद्य के तीन चरण इस प्रकार से संयोजित हुए हैं कि उनसे प्राकरणिक अर्थ से भिन्न एक दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है। यह अर्थ 'शब्द-शक्ति' की सामर्थ्य से प्रतीत होता है, 'अभिधा' के 'प्रकरण' के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने के कारण, यह दूसरा अर्थ उपर्युक्त 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' का विषय बन सकता था, किन्तु 'सलेशम्' पद ने 'प्रकरण' की शक्ति को समाप्त कर दिया, और 'प्रकरण' से निरुद्ध 'अभिधा' शक्ति इस 'सलेशम्'

---

१४. 'वाक्य पदीय' (दे०, द्वितीय उल्लास, पृ० ६३ का० प्र०,) में अनेक अर्थ वाले शब्द को एक अर्थ में नियन्त्रित कर देने के लिये निम्नलिखित हेतुओं का संग्रह किया गया है : "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥ सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥"

(अर्थात्, समूचनम्') पद से फिर जीवित हो गई, अतएव शब्द के सामर्थ्य से आक्षिप्त हो जाने वाला, यह दूसरा अर्थ भी 'वाच्य' के समकक्ष ही हो गया। इस प्रकार उपर्युक्त तीन स्थलों में 'श्लेष' का विषय व्यवस्थित हो जाता है।

इसके विपरीत, जहाँ अनेक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होने पर, एक अर्थ पूर्वोक्त 'प्रकरणादि' हेतुओं से नियन्त्रित हो जाए, और किसी ऐसे शब्द का प्रयोग न किया जाए; जिससे इन नियामक हेतुओं का सामर्थ्य किसी प्रकार से भी कुण्ठित हो सके, वहाँ शब्द के सामर्थ्य से आक्षिप्त हो जाने वाला कोई दूसरा 'अलंकार' यदि शब्द की शक्ति से प्रकाशित होता हो, तो वह सभी 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' का विषय माना जाता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित गद्य में : "अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।" और निम्नलिखित पद्य में—

"उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ?॥"

जो दो अर्थ प्रतीत होते हैं, उनमें से 'प्रकरणवश' एक अर्थ में—गद्यात्मक उदाहरण में 'ग्रीष्मकाल' में, तथा पद्यात्मक उदाहरण में किसी 'कमनीय नायिका के पयोधरों में'—'अभिधा' वृत्ति नियन्त्रित होती है, और यद्यपि 'समुदायप्रसिद्धि' या रूढि, 'अवयव-प्रसिद्धि' या भोग से बलवान् मानी जाती है, और इस गद्य में 'महाकाल' शब्द सुनते ही इस शब्द का रूढ 'शिव' अर्थ प्रतीत होने लगता है, तथापि 'अभिधा' के ऋतु-वर्णन के प्रस्ताव से, नियन्त्रित हो जाने के कारण, इस गद्य में प्रयुक्त किये गये 'महाकाल' आदि शब्द अपने यौगिक—'महान् या अत्यन्त दीर्घ', दुरतिवह, 'काल' इत्यादि अर्थ का अभिधान करके ही कृत-कृत्य हो जाते हैं। इसके पश्चात् जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह 'शब्दशक्तिमूलध्वनन' व्यापार से ही प्रतीत होता'[१५] है। यही बात उपर्युक्त पद्यात्मक उदाहरण के विषय में भी कही जा सकती है।

इस 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम ध्वनि' में दूसरा अर्थ किस प्रकार प्रतीत होता है; दूसरे शब्दों में, इस 'अर्थान्तर-प्रतीति' के विषय में 'अभिधा' व्यापार की परिधि कितनी है, और 'ध्वनन' व्यापार की कितनी ?—इस विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। इस 'ध्वनि' में स्वभावतः, अनेकार्थक शब्दों का संयोजन होता है, और जो दो अर्थ प्रतीत होते हैं, उन दोनों के प्रतिपादन में भी शब्द पूर्णतया समर्थ होते हैं, क्योंकि वे दोनों ही अर्थ उन शब्दों के 'संकेतित' अर्थ होते हैं। किन्तु 'प्रकरणादि' शब्दों के 'अभिधान'-सामर्थ्य को किसी एक

---

१५. दे०, 'लोचन'०, पृ० २४१ : "अत्र ऋतुवर्णन-प्रस्ताव-नियन्त्रिता अभिधाशक्तयः, अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकाल-प्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारा-देव शब्द शक्तिमूलात्।"

प्रस्तुत अर्थ में नियन्त्रित कर देते हैं, इस नियन्त्रण के पश्चात्, जो दूसरा अप्रस्तुत अर्थ प्रतीत होता है, वह ध्वनिवादी आचार्यों के मत से इस 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम ध्वनि' का विषय होता है। 'श्लेष' अलंकार में भी अनेक अर्थों वाले शब्दों का संयोजन होता है, और एक से अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं, किन्तु वहाँ किसी अर्थ में शब्दों का 'अभिधान'-सामर्थ्य सीमित नहीं होने पाता, इसलिये वहाँ पर दोनों अर्थ 'अभिधेय' अथवा 'वाच्य' ही होते हैं। या तो इस 'श्लेष अलंकार' के स्थलों में कोई प्रकरण आदि नहीं होता, या दोनों ही अर्थ प्रकृत होते हैं, कोई 'अप्रस्तुत' अर्थ नहीं होता, इसलिये दोनों अर्थों की प्रतीति भी सुसम्बद्ध होती है। इसके विपरीत, उपर्युक्त 'ध्वनि' में प्रस्तुत अर्थ में 'प्रकरणादि' के कारण, 'अभिधा' का नियन्त्रण हो जाने से दूसरा 'प्रतीयमान अप्रस्तुत' अर्थ असम्बद्ध हो जाता है। प्रस्तुत अर्थ के साथ उस 'अनभिधेय' अर्थ की असम्बद्धता को दूर करने के लिये इन दोनों अर्थों में 'उपमान-उपमेय-भाव' आदि की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार, इस 'शब्द-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि' में 'उपमा', 'रूपक,' 'व्यतिरेक', 'विरोध' आदि अनेक अलंकार 'व्यंग्य' होते हैं।

(९) 'शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम ध्वनि' के विषय में चार मत।

'शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम ध्वनि' में होने वाली 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति के विषय में 'लोचन' के अनुसार प्रथम मत यह है कि इस 'ध्वनि' में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उन-उदाहरणार्थ, पूर्वोक्त गद्य में 'महाकाल' आदि शब्दों की 'अभिधा' ज्ञाता को पहले ही जगत् के संहारक 'शिव' आदि के अर्थ में मालूम है—अर्थात्, ज्ञाता को यह पहले ही पता है कि 'महाकाल' आदि शब्दों का 'रूढ' अर्थ—जगत् का संहारक, एक विशेष देवता होता है। उसके पश्चात् प्रसंग आदि (यहाँ ग्रीष्म के वर्णन आदि) के कारण, इन शब्दों का एक प्रकृत अर्थ निश्चित हो जाता है और उस अर्थ के बोध के पश्चात् जो 'अर्थान्तर' प्रतीत होता है, वह 'ध्वनन'-व्यापार से ही होता है, इसलिये इस 'ध्वनि' में 'शब्दशक्तिमूलत्व एवं व्यंग्यत्व' एक दूसरे के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'अर्थान्तर' में 'अभिधा' शक्ति को ग्रहण करने वाले ज्ञाता को उस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिए उस अर्थ की 'शब्दशक्तिमूलता' सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यह प्रतीति 'अभिधा' के विराम के पश्चात्, एक दूसरे 'ध्वनन' व्यापार से ही होती है, इसलिये इस अर्थ की 'व्यंग्यता' में कोई आशंका नहीं रहती।[१६]

इस विषय में दूसरा मत यह है कि वह दूसरी शक्ति भी 'अभिधा' ही है, किन्तु दूसरे 'प्रतीयमान' अर्थ के बोध करा देने के अवसर पर, यह दूसरी 'अभिधा' शक्ति ग्रीष्म

---

१६. दे०, 'लोचन', पृ० २४१-४२ : "अत्र केचिन्मन्यन्ते—'यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं, ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यंग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्'—इति।"

एवं भीषण देवता-विशेष के सादृश्यात्मक अर्थ के सामर्थ्य को सहकारी के रूप में स्वीकार करती है, अतएव इसका रूप 'ध्वनन'-व्यापार जैसा हो जाता है। दूसरे शब्दों में 'अभिधा' आदि व्यापार शब्द की अर्थ के बोधन के अनुकूल शक्ति-विशेष के रूप में ही उपस्थित होते हैं, केवल सहकारिवर्ग के भेद से उनमें भेद हो जाता है। जो 'संकेत ग्रहणमात्र' की सहकारिता से, अर्थ का बोध करवा देती है, शब्द की उस स्वाभाविक शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं। उस 'संकेत'-ग्रहण से अतिरिक्त अर्थ के सामर्थ्य आदि की सहकारिता से शब्द की जो अर्थ-बोधन की शक्ति है, उसे 'ध्वनन' व्यापार कहा जाता है—अर्थात्, संकेतित' अर्थ को ही अर्थ के सामर्थ्य आदि के सहकार से, बोध करा देने के कारण, इस दूसरी 'अभिधा' शक्ति का स्वरूप 'ध्वनन'-व्यापार के समान ही हो जाता है।'[१७]

तीसरे मत के अनुसार, जहाँ दो या अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहाँ जितने अर्थ प्रतीत होते हैं, शब्द भी वस्तुतः उतने ही होते हैं, क्योंकि भाट्ट मीमांसकों का सिद्धान्त है कि "शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते", तथा "अर्थभेदात् शब्द-भेदः।" अतएव शब्द से जितने भी अर्थ प्रतीत होते हैं, उन सबका 'अभिधा' से ही बोध होता है, और अर्थ की प्रतीति के अनुकूल उतने ही शब्दों का 'अध्याहार' हो जाता है। 'शब्द-श्लेष' में शब्द का भेद होने से प्रथम अर्थ के बोध के पश्चात् दूसरा शब्द दूसरे अर्थ के बोध के लिये उपस्थित हो जाता है। 'अर्थ-श्लेष' में भी, 'शक्ति के भेद से शब्द का भेद होता है' इस नियम से पहले अर्थ के बोध के पश्चात् दूसरा शब्द 'अध्याहार' से उपस्थित हो जाता है। वह शब्द कभी तो 'अभिधा' व्यापार से उपस्थित होता है, जैसे, विदग्ध-गोष्ठियों में दो प्रश्नों के एक ही उत्तर देने के प्रसंग में 'कः इतोधावति'? (यहाँ से कौन दौड़ता है?) तथा, 'किं गुणविशिष्टो धावति'? (किस प्रकार के गुण से युक्त, दौड़ता है?) इन दोनों प्रश्नों का एक ही 'श्वेतो-धावति' उत्तर देने के प्रसंग में ('श्वा, इतो धावति' 'यहाँ से कुत्ता दौड़ता है' तथा 'धवल-गुण-युक्त (श्वेतः) दौड़ता है।) यहाँ पर जो दो शब्द उपस्थित होते हैं, वे 'अभिधा' व्यापार से ही आते हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों में दोनों ही अर्थ प्रकृत होते है, अतएव इन दोनों अर्थों में 'वाच्यता' अवश्यम्भावी है। यही बात-'शब्द-श्लेष' अथवा 'सभङ्ग श्लेष' और 'अर्थ-श्लेष' या 'अभङ्ग-श्लेष' के विषय में कही जा सकती है। इनमें दोनों ही अर्थ 'प्राकरणिक' होने से, उनके प्रतिपादक शब्द 'अभिधा' व्यापार से ही प्रस्तुत होते हैं। इसके विपरीत, कुछ स्थल ऐसे होते हैं, जहाँ 'अभिधा' प्रकृत अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः वहाँ दूसरा शब्द 'ध्वनन' व्यापार से ही आता है। यद्यपि ऐसे स्थलों में भी जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह 'व्यञ्जना' व्यापार से उपस्थित होने वाली उस शब्द की 'अभिधा' शक्ति से ही प्रतीत होता है, तथापि वहाँ शब्दान्तर की उपस्थिति

---

१७ दे०, वही, पृ० २४२: "अन्ये तु—साभिधव द्वितीयार्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषण-देवता विशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते, ततो ध्वनन व्यापार रूपोच्यते इति ।।"

क्योंकि 'ध्वनि' व्यापार-मूलक हुई होती हैं, इसलिये उस अर्थ को 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य' अर्थ कहना ही युक्ति[१८]संगत है।

चतुर्थ मत के अनुसार, दूसरे मत में अर्थ के सामर्थ्य से जो दूसरे अर्थ की उपस्थिति स्वीकार की गई हैं, उस अर्थ की सामर्थ्य से वस्तुतः, दूसरी 'अभिधा'-शक्ति ही 'प्रतिप्रसूत' अथवा पुनरुज्जीवित हो जाती है, उससे जिस अर्थ का बोध होता है, वह यथार्थ में 'अभिधेय' ('वाच्य') ही होता है, 'ध्वनन' व्यापार से प्रतीत नहीं होता; फलतः, यह अर्थ का 'अभिधान' ही है, 'ध्वनन' नहीं। किन्तु इस अर्थ की प्रतीति के अनन्तर, उस दूसरे अप्रकृत अर्थ का प्रथम 'प्राकरणिक' अर्थ के साथ जो 'अभेदारोप' होता हैं, अर्थात्, इन दोनों प्रकार के अर्थों में जो 'उपमेय-उपमान-भाव' की कल्पना की जाती है, वह किसी अन्य शब्द से उपस्थित नहीं होती, किन्तु उस सन्दर्भ में प्रयुक्त किये गये, शब्द से ही प्रस्तुत होती है, अतएव यह 'रूपणा' 'ध्वनन' व्यापार से ही होती हैं। इस 'रूपणा' के मूल में दूसरी शब्द-शक्ति या 'अभिधा' अवस्थित होती है, क्योंकि उसके विना, इस 'रूपणा' का उत्थान ही सम्भव नहीं। जब तक प्रथम 'प्राकरणिक अर्थ, के प्रतियोगी के रूप में दूसरी 'अभिधा' शक्ति से दूसरा अर्थ प्रतीत नहीं हो जाता, तब तक दोनों अर्थों में से, दूसरे अर्थ की असम्बद्धता का निराकरण करने के लिये, 'उपमेय-उपमान-भाव' का आरोप ही सम्भव नहीं हो सकता, इसलिये इस 'ध्वनि' को 'शब्दशक्तिमूल अलंकार-ध्वनि' कहना युक्तियुक्त[१९] ही है। वृत्ति का निम्नलिखित वाक्य भी इस मत का समर्थन करता हैं: "एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे 'वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदि'त्य-प्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः।" (दे०, 'ध्वन्या०', पृ०-२४४)।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होने पर उसमें किसी प्रकार की असम्बद्धता का भान न हो, वहाँ 'श्लेष' अलंकार होता है, और

---

१८. दे०, 'लोचन', पृ० २४२: "एके तु—'शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषे-ऽपि 'शक्तिभेदाच्छब्दभेद' इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभि-धाव्यापारात्, यथोभयोरुत्तरदानाय "श्वेतो धावति" इति; प्रश्नोत्तरादौ वा, तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्' इति।"

१९. दे०, 'लोचन', पृ० २४३: "इतरे तु—द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीया ऽभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयतएव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु, तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा, सा तावद्भात्येव, न चान्यतः, शब्दादिति, सा 'ध्वनन'व्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यना-शङ्कनीयत्वात्। तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनु-त्थानात्। अत एवालंकार ध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि।"

जहाँ वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधायक न हो जाय, इस दृष्टि से, दूसरे अर्थ की 'प्राकरणिक' अर्थ के साथ 'उपमेय-उपमान-भाव' की कल्पना करनी पड़, वहाँ 'शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि' होती है। पूर्व उदाहृत पद्यों में से 'दृष्ट्या केशव !' इत्यादि में 'सलेशम्' पद से ही असम्बद्धता का निराकरण हो जाता है। इस पद्य में प्रधानतया, दूसरा अर्थ ही विवक्षित है, पहला अर्थ तो इस अर्थ के 'गोपन' के लिये ही उपस्थित होता है, इस पद्य में 'आरोपण' की आवश्यकता नहीं होती। 'येन ध्वस्त-मनोभवेन' इत्यादि पद्य में 'माधव' तथा 'उमाधव' (=शिव) दोनों की स्तुति प्राकरणिक है, इसलिये किसी भी अर्थ की असम्बद्धता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। 'तस्या विनापिहारेण' इत्यादि पद्य में 'अपि' शब्द ही दोनों अर्थों की असम्बद्धता का निराकरण कर देता है, इसलिये दोनों अर्थों में 'अभेदारोप' करने की आवश्यकता नहीं रहती। अतएव इन सभी उदाहरणों में 'श्लेष' अलंकार मानना युक्तियुक्त है। इसके विपरीत, 'प्रकरणादि' से जहाँ एक अर्थ निश्चित हो जाय, और दूसरा 'अनभिधेय' अर्थ प्रतीत होने लगे, परन्तु उस अर्थ के कारण वाक्य में 'असम्बद्धार्थाभिधायकत्व' न आ जाय, इसलिये जहाँ उन दोनों अर्थों में 'अभेदारोपण' की अनिवार्य आवश्यकता उपस्थित हो जाय, वहाँ 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' का विषय मानना ही युक्तियुक्त है, क्योंकि असम्बद्ध अर्थ को सहृदयों का 'संवेद्य' नहीं माना जा सकता, अतएव 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' में दूसरे अर्थ की प्रतीति के विषय में 'उपमानउपमेय-भाव' की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार, इस 'अलंकार-ध्वनि' में सर्वत्र प्राधान्य-'व्यतिरेचन' निन्हव' आदि व्यापारों का ही होता हैं। इनमें ही 'आस्वाद' की प्रतीति होने से, ये व्यापार ही प्रधानतया, विश्रान्ति के स्थान माने जाते हैं, 'उपमेय' इत्यादि स्वरूपतः, चमत्कार के केन्द्र नहीं होते।[२०]

'काव्य-प्रकाश' में अनेक अर्थों वाले शब्द के 'वाचकत्व' के संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर, 'अवाच्य' अर्थ की प्रतीति करा देने में शब्द का जो व्यापार होता है, उसे 'शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना' माना गया[२१] है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रथम मत के समान आचार्य मम्मट भी अप्राकरणिक वस्तु एवं उपमादि अलंकार—दोनों को ही 'व्यंग्य' मानते हैं। 'कुवलयानन्द' (दे०, संबद्ध प्रकरण) तथा 'रस-गंगाधर' के द्वितीय आनन के प्रारम्भ में भी (दे० चौ० संस्क०, पृ० ४-३८) इस 'शाब्दी व्यञ्जना' का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ विस्तार के भय से इस समस्त विवेचन का सिंहावलोकन भी सम्भव नहीं। संक्षेप में, 'कुवलयानन्द' के लेखक अप्पय दीक्षित 'काव्य-प्रकाश' की 'शाब्दी व्यञ्जना' विषयक निम्नलिखित कारिका (दे०, पा० टि० २१) के अपने व्याख्यान में इस व्यञ्जना के स्थल में

---

२०. दे०, 'लोचन', पृ० २४५ : "तेनोपमारूपेण व्यतिरेचन-निन्हवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालंकार-ध्वनौ मन्तव्यम्।"

२१. दे० 'काव्य-प्रकाश', २।१९ : "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥"

प्रतीत होने वाले प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक दोनों ही अर्थों को 'अभिधेय' ही मानते[२२] हैं। उनके मत के अनुसार, यहाँ पर केवल 'उपमा' को ही व्यंग्य' माना जा सकता है। इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि 'काव्य-प्रकाश' की निम्नलिखित कारिका (दे०, पाद टि-२१) का यह अभिप्राय सम्भव नहीं, क्योंकि अप्पय दीक्षित के इस व्याख्यान को स्वीकार कर लेने पर तो इस कारिका का 'वाचकत्वे नियन्त्रिते' अंश व्यर्थ हो जाता है। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ 'शाब्दी व्यञ्जना' में अप्राकरणिक अर्थ को 'व्यंग्य' मानने वाले प्राचीनों के उपर्युक्त सिद्धान्त को शिथिल मानते हैं। उनका अपना मत है कि 'योगरूढ' शब्दों के प्रयोग में "रूढि योगापहारिणी' न्याय से जब 'रूढि' से उन शब्दों का 'यौगिक' अर्थ नियन्त्रित हो जाता है, तब 'रूढ' अर्थ के बोध हो जाने के पश्चात्, जहाँ 'यौगिक' अर्थों की भी प्रतीति होने लगती है, वहाँ 'शाब्दी व्यञ्जना' का ही विषय मानना चाहिए।[२३] "व्यञ्जना' और नवीन कविता" के चतुर्थ परिच्छेद में साहित्याचार्य पण्डित राममूर्ति त्रिपाठी ने 'शाब्दी व्यञ्जना' के विषय में सभी प्राचीन तथा आधुनिक मतों को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। इस विषय का विस्तृत विवेचन वहाँ द्रष्टव्य है।

(१०) 'शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि' के चार भेद।

'ध्वन्यालोक' में 'शब्दशक्तिमूल अलंकार ध्वनि' का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, किन्तु परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों के अनुसार, इस 'ध्वनि' का 'वस्तु' रूप दूसरा भेद भी होता है। इसके उदाहरण के रूप में 'काव्य-प्रकाश' में निम्नलिखित प्राकृत गाथा उद्धृत की गई है—

"पंथिअण एत्थ सत्थरमत्थि, मणं पत्थरत्थले गामे।
उणणअ पओहरं पेक्खिऊण, जइ वससि ता वसस्॥"

अर्थात् "हे पथिक! इस पहाड़ी गाँव में 'सत्थर' (विस्तर अथवा शास्त्र) तो बिलकुल नहीं है। हाँ, यदि उठे हुए, पयोधरों (स्तनों अथवा बादलों) को देखकर, ठहरना चाहते हो, तो ठहर जाओ।" यह 'स्वयं-दूती' नायिका की किसी पथिक के प्रति उक्ति है। इस गाथा में 'सत्थर'' 'पत्थर'' 'पओहर' आदि शब्द दो अर्थ के वाचक हैं। प्रकरणवश पहले अर्थ का बोध हो जाने पर, 'यदि उपभोग करने में समर्थ हो, तो ठहर जाओ'—इत्यादि 'वस्तुरूप' दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है।

'व्यञ्जकता' की दृष्टि से इस 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' के उपर्युक्त दोनों भेदों के भी पद एवं वाक्यगत होने से, दो-दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार 'शब्द-शक्तिमूल संलक्ष्य क्रम—

---

२२. दे०, 'रसगंगाधर', द्वितीय आनन, पृ० ३० (चौ०, विद्याभवन संस्क०) :—
"तस्मान्नानार्थस्या प्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचां सिद्धान्तः शिथिल एव।"

२३. दे०, वही, पृ० ३८ (पूर्वोक्त संस्क०)—
"योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्यानियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥"

व्यंग्य-ध्वनि' के निम्नलिखित चार भेद होते हैं : (१) 'पदगतशब्दशक्तिमूलअलंकारध्वनि" (२) 'वाक्यगतशब्दशक्तिमूलवस्तु ध्वनि" (३) 'पदगतशब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि" तथा (४) 'वाक्यगतशब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि ।'

(११) 'अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम-ध्वनि' ।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में 'अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि' वहाँ होती है, जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही 'वाच्य' अर्थ से भिन्न, किसी दूसरे अर्थ को 'व्यञ्जना' व्यापार से अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ—

"एवं वादिनि देवर्षौ, पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामासपार्वती ।।"

इस पद्य में 'लीला से कमलपत्रों की गणना' अपने स्वरूप को गौण बना कर, शब्द के 'अभिधा' व्यापार के विना ही 'शृङ्गार रस' के व्यभिचारि-भाव 'लज्जा' को प्रकाशित करती है। इस पद्य को 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि' का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' केवल वहीं होता है, जहाँ विना किसी व्यवधान के साक्षात् शब्दों से निवेदित, अपने 'विभावादि' के द्वारा ही 'रसादिकों' की प्रतीति होती है[२४]।

यद्यपि 'रस' एवं 'व्यभिचारि-भाव' कदाचित् भी 'वाच्य' नहीं हो सकते' सदा 'व्यंग्य ही होते हैं, तथापि वे सभी 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के विषय नहीं बनते, जहाँ स्थायी एवं व्यभिचारि-भाव से सम्बद्ध पूर्ण विभाव एवं अनुभावों के वर्णन से तत्काल ही 'रस' की अभिव्यक्ति हो जाती है, वहीं 'अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य'[२५] होता है। व्यभिचारिभाव तो 'रस'-परतन्त्र होते हैं, उनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं होती। जिस प्रकार, माला में सूत्र सर्वत्र अनुस्यूत रहता है, उसी प्रकार, 'व्यभिचारिभावों में भी स्थायि-भाव ओतप्रोत रहता है, अतएव उनकी चर्वणा भी स्थायि-भाव की चर्वणा में ही विश्रान्त हो जाती है। इस प्रकार 'विभाव" 'अनुभाव' एवं 'व्यभिचारि-भावों' से जहाँ विना किसी व्यवधान के तत्काल ही 'रसादि' की प्रतीति हो जाए, उसी स्थल में 'असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में कुमारी कन्यायों के विषय में 'कमलदलों की गणना' और 'अधोमुखता' 'लज्जा' से भिन्न किसी अन्य हेतु से भी सम्भव है, इसलिए इस पद्य को सुन कर, सहृदय का हृदय तत्काल ही 'लज्जा' की अनुभूति में विश्रान्त नहीं होता। किन्तु पहले की

---

२४. दे०, 'ध्वन्या०' पृ० २४८ : "न चायमलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः।"

२५. दे०, 'लोचन', पृ० २४८-४९ : "एतदुक्तं भवति—यद्यपि रस-भावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्ति स्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः।"

हुई तपश्चर्या आदि के वृत्तान्त का स्मरण करने के अनन्तर ही 'लज्जा' का ज्ञान होता है। इसलिए यहाँ 'लज्जा' रूप व्यभिचारि-भाव' संलक्ष्यक्रम 'व्यङ्ग्य' से ही प्रकाशित[२६] होता है।

(१२) 'अर्थ-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि' के ३६ भेद।

'अर्थ-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि' में 'व्यञ्जक' अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है: (१) स्वतः सम्भवी (जो काव्य के अतिरिक्त, औचित्य के कारण, लोक में भी सम्भव हो सके), (२) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध तथा (३) कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध। यह तीनों प्रकार का अर्थ, या तो 'वस्तु' के रूप में, या 'अलङ्कार' के रूप में उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार इस 'ध्वनि' के ६ रूप हो जाते हैं। और प्रत्येक रूप से या तो 'वस्तु' रूप 'व्यङ्ग्य' प्रकाशित होता है, या 'अलङ्कार' रूप। इस प्रकार, यदि 'व्यङ्ग्यत्व' की दृष्टि से विचार किया जाय, तो इस 'अर्थ-शक्त्युद्भव अनुरणन-रूप संलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि' के मूलतः, द्वादश भेद होते हैं: (१) स्वतः सम्भवी 'वस्तु' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, (२) स्वतः सम्भवी 'वस्तु' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (३) स्वतः सम्भवी 'अलङ्कार' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, तथा (४) स्वतः सम्भवी 'अलङ्कार' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (५) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध 'वस्तु' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, (६) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध 'वस्तु' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (७) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध 'अलङ्कार' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, (८) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध 'अलङ्कार' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (९) कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध 'वस्तु' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, (१०) कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध 'वस्तु' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (११) कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध 'वस्तु' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य, (१२) कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध 'अलङ्कार' से 'वस्तु' व्यङ्ग्य, तथा (१२) कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध 'अलङ्कार' से 'अलङ्कार' व्यङ्ग्य।

इन द्वादश भेदों के 'व्यञ्जक' पद, वाक्य एवं प्रबन्ध होते हैं, अतएव 'व्यञ्जकता' की, दृष्टि से, इन भेदों के समस्त (१२ × ३) = ३६ भेद हो जाते हैं। इन सभी भेदों के उदाहरण 'ध्वन्यालोक' 'काव्य-प्रकाश' आदि ग्रन्थों में दिये गये हैं। यहाँ विस्तार के भय से उन सभी को उद्धृत करना सम्भव नहीं।

(१३) 'उभय-शक्तिमूल संलक्ष्य-क्रम ध्वनि'।

यद्यपि शब्द तथा अर्थ—दोनों की शक्ति से उद्भूत होने वाले 'ध्वनि' के भेद का पृथक् प्रतिपादन 'ध्वन्यालोक' में उपलब्ध नहीं होता, तथापि 'अनुरणन रूप संलक्ष्य-क्रम 'ध्वनि' के 'अर्थ-शक्त्युद्भव भेद को, 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य से पृथक् करने के प्रसङ्ग में 'ध्वन्यालोक' के दूसरे उद्योत की २३वीं कारिका में 'उभय-शक्त्युद्भव' भेद की सूचना भी मिल जाती

---

२६. दे०, ०'लोचन', पृ० २४९: व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्प-स्थायि-चर्वणा-विश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु, 'पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यते' इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं, अपि तु प्राग्वृत्त-तपश्चर्यादि-वृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रम-व्यङ्ग्यतैव।"

है। परवर्ती आचार्यों ने इस सूचना के आधार पर 'ध्वनि' के उपर्युक्त 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' विभाग में 'उभयशक्त्युत्थ' भेद का भी सोदाहरण विवेचन किया है। यह भेद केवल वाक्य में ही सम्भव है, अतएव इस 'उभयशक्तिमूल ध्वनि' का केवल एक भेद ही होता है। 'काव्य-प्रकाश' (दे०, चतुर्थ उल्लास, सू० ५५) में इस 'ध्वनि' के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य उपलब्ध होता है :

> "अतन्द्रचन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा।
> तारकातरला श्यामा, सानन्दं न करोति कम् ?॥"

इस पद्य के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ उस ज्योत्स्नाधवल, रात्रि का वर्णन करता है। जिसमें मेघ आदि से अनावृत चन्द्रमा, आभूषण है, जिसने काम को प्रबल बना दिया है; जो तारों से तरलित है। इस पक्ष में 'श्यामा' शब्द का अर्थ रात्रि हैं। ऐसी रात्रि किसको आनन्दित नहीं कर देती ? दूसरा अर्थ, 'श्यामा'—अर्थात्, षोडशवार्षिकी युवती को लक्ष्य करता है, "जो मनोहर, चन्द्राकार शिरोभूषण से आभूषित हैं, जिसने मन्मथ को उद्दीप्त कर दिया है, जिसकी पुतलियाँ चञ्चल हैं, अथवा तारों के समान, जिसका 'तरल' (हार के मध्य की मणि) चमक रहा है।" इन दोनों अर्थों में से एक अर्थ में 'प्रकरणवश' 'अभिधा' नियन्त्रित हो जाती हैं, और उस प्रकृत अर्थ के साथ दूसरे अप्रकृत अर्थ के 'उपमेय-उपमान-भाव' की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार, इस पद्य में 'उपमा' अलंकार 'व्यंग्य' है। यहाँ प्रधानतया, शब्द एवं अर्थ—दोनों ही इस 'उपमा' अलंकार के व्यञ्जक हैं, अतएव यह 'ध्वनि' उभयशक्तिमूल है। इस पद्य में कुछ पद, उदाहरण के लिए, 'चन्द्र', 'तारका', 'श्यामा' आदि ऐसे हैं—जिनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता, अतएव यहाँ 'ध्वनि' शब्दशक्तिमूल है। कुछ पद ऐसे भी हैं, जैसे—'समुद्दीपित-मन्मथा', 'सानन्दं न करोति कम्', जिनका परिवर्तन हो सकता है, अतएव इस 'ध्वनि' को अर्थशक्तिमूल भी कहा जा सकता है। शब्दों की 'परिवृत्ति-सहिष्णुता' एवं 'असहिष्णुता' के आधार पर इस 'ध्वनि' की उभयशक्तिमूलता व्यवस्थित हो जाती है।

१४. 'ध्वनि' के शुद्ध एक पञ्चाशत् भेद

'ध्वनि' के उपर्युक्त भेदों का संकलन करने से उसके ५१ शुद्ध भेदों की गणना की जा सकती है। आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में इन भेदों का व्यवस्थित विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार, 'ध्वनि' के इन भेदों को निम्नलिखित तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) 'अविवक्षितवाच्यध्वनि'

१—'पदप्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि।'
२—'वाक्यप्रकाश्य ,, ,, ,,।'
३—'पद-प्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत ,, ,,।'
४—'वाक्यप्रकाश्य ,, ,, ,,।'

(ख) 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' ('असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' ।

१ —'पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' ।
२—'वाक्यप्रकाश्य ,, ,, ।'
३—'पदैकदेशप्रकाश्य ,, ,, ।'
४—'रचनाप्रकाश्य ,, ,, ।'
५—'वर्ण-प्रकाश्य ,, ,, ।'
६—'प्रबन्ध-प्रकाश्य ,, ,, ।'

(ग) 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' (='संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि'):—

१—'शब्दशक्तिमूल पदप्रकाश्य वस्तुरूपव्यंग्य ध्वनि ।'
२—' ,, ,, अलंकाररूप ,, ।'
३—' ,, वाक्यप्रकाश्य-वस्तुरूप ,, ।'
४—' ,, ,, अलंकाररूप ,, ।'
'अर्थशक्तिमूल पदप्रकाश्य १२ श विधध्वनि ।'
,, वाक्यप्रकाश्य १२ शविध ,, ।
,, प्रबन्धप्रकाश्य १२ शविध ,, ।
=३६
'शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि' १
=१

इस प्रकार, शुद्ध 'ध्वनि-काव्य' के सब मिलाकर ५१ भेद निष्पन्न हो जाते हैं ।

१५. आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'ध्वनि' के शुद्ध पञ्चत्रिंशत् (=३५) भेद

'ध्वन्यालोक' में यद्यपि उपर्युक्त सभी भेदों का किसी-न-किसी रूप में उल्लेख मिल जाता है, तथापि कहीं भी 'ध्वनि' के भेदों की सुव्यवस्थित गणना नहीं की गई है । आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में दो स्थानों पर (द्वितीय उद्योत के पृ०—२८१ पर, तथा तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में) 'ध्वनि' के प्रभेदों की गणना की है । द्वितीय उद्योत में' ध्वनि' के निम्नलिखित ३५ भेद गिनाए गए हैं : 'अविवक्षितवाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के दो मूल भेद हैं । पहले भेद के दो प्रभेद हो जाते हैं : (१) 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य तथा (२) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ।' दूसरे—अर्थात्, 'विवक्षितान्यपरवाच्य' भेद के भी दो प्रभेद हैं : (१) 'अलक्ष्यक्रम', तथा (२) 'अनुरणनरूप व्यंग्य ।' इनमें से पहले 'असंलक्ष्यक्रम' के अनन्त भेद हैं । दूसरा 'अनुरणन-रूप व्यंग्य' दो प्रकार का है : (१) 'शब्द-शक्तिमूल', तथा (२) 'अर्थशक्तिमूल ।' इन दो भेदों में से भी अन्तिम भेद, अर्थात्—'अर्थशक्तिमूल' ३ प्रकार का होता है : (१) 'कविप्रौढोक्तिकृत-शरीर', (४) 'कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति-कृत-शरीर', तथा (३) 'स्वतःसम्भवी ।' इन तीन भेदों में से प्रत्येक व्यञ्जक-'वस्तु' एवं अलंकार तथा

'व्यंग्य वस्तु' एवं 'अलंकार' भेद से चार प्रकार का होता है। इस प्रकार, 'अर्थ-शक्तिमूल' के कुल द्वादश (=१२) भेद होते हैं। इन भेदों में पहले चार भेद (१) 'अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य', (२) 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य', (३) 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य', तथा (४) 'शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यंग्य' मिला देने से 'ध्वनि' के मुख्य १६ भेद हो जाते हैं। ये सभी भेद 'पद-प्रकाश्य' एवं 'वाक्य-प्रकाश्य' होने से द्विधा विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार, 'ध्वनि' के १६×२=३२ भेद निष्पन्न होते हैं। 'अलक्ष्यक्रम व्यंग्य'—वर्ण, पद, वाक्य संघटना एवं प्रबन्ध-प्रकाश्य होता है। उसके पद एवं वाक्य-प्रकाश्यभेद उपर्युक्त गणना में सम्मिलित हो चुके हैं। किन्तु इन भेदों के अतिरिक्त इस 'ध्वनि' के 'व्यञ्जकत्व' की दृष्टि से भी तीन भेद और होते हैं: (१) 'वर्ण-प्रकाश्य', (२) 'संघटना प्रकाश्य', तथा (३) 'प्रबन्ध-प्रकाश्य।' उपर्युक्त ३२ भेदों में मे तीन भेद जोड़ देने से आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार 'ध्वनि' के विशुद्ध भेदों की संख्या पञ्चत्रिंशत् (=३५) हो जाती है।

'काव्य-प्रकाश' में 'लोचन' में बतलाए गए उपर्युक्त ३५ भेदों से १६ भेद अधिक कहे गए हैं। ये सभी अधिक भेद 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि से सम्बन्ध रखते हैं। आचार्य मम्मट ने 'अनुरणन' रूप 'अर्थशक्तिमूल' ध्वनि को प्रबन्ध-प्रकाश्य भी स्वीकार किया है। इस प्रकार, इस 'ध्वनि' के प्रभेदों में 'काव्यप्रकाश' के अनुसार, १२ भेदों की वृद्धि हो जाती है। 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' का एक भेद 'वस्तु' व्यंग्य के रूप में भी होता है। इस भेद के भी पद तथा वाक्यप्रकाश्य होने से, इस 'ध्वनि' में भी दो प्रभेदों की संख्या बढ़ जाती है। इस के अतिरिक्त 'उभयशक्तिमूल अनुरणन-रूप व्यंग्य' का ही एक वाक्यगत भेद 'काव्य-प्रकाश' में अधिक माना गया है, और 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' को 'काव्य-प्रकाश' में 'पदैकदेश-प्रकाश्य'—अर्थात्, पद के किसी एक अंश—'प्रकृति या प्रत्यय' से प्रकाशित होने वाला भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार, दो भेद और भी बढ़ जाने से, 'लोचन' एवं 'काव्य-प्रकाश' में १२+२+१+१=१६ भेदों का अन्तर हो जाता है।

'ध्वन्यालोक' के 'शब्दशक्तिमूल' भेद के विवेचन से प्रतीत होता है कि आचार्य आनन्द वर्धन इस भेद में केवल 'अलंकार'—रूप 'व्यंग्य' अर्थ की प्रतीति को ही चमत्कारक मानते हैं। उनका निम्नलिखित वाक्य इस बात का स्पष्ट संकेत करता है: "यस्मादलंकारो, न वस्तुमात्रं, यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते, स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्" (दे०, 'ध्वन्या०', पृ० —२३५)। उन्होंने इस 'ध्वनि' से 'श्लेष अलंकार' को उसमें शब्द-शक्ति' से दो वस्तुओं के प्रकाशित होने के कारण- पृथक् माना है: "वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः।" (दे०, वही, पृ०—२३५)। उनके इस कथन से प्रतीत होता है कि 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' में 'वस्तु' नहीं, किन्तु 'अलंकार' प्रकाशित होता है। यद्यपि, इस वक्तव्य के पश्चात्, उन्होंने दूसरे 'अलंकार' की प्रतिभा में भी 'श्लेष अलंकार' को स्वीकार किया है, और 'श्लेष' से पृथक् इस 'ध्वनि' के विषय को अन्य सुदृढ आधारों पर भी, व्यवस्थित किया है (दे०, 'ध्वन्या०', पृ०—२३६-४१)। मूल ग्रंथ के इस स्वारस्य के आधार पर 'लोचन' में 'शब्दशक्तिमूल अनुरणन-रूप व्यंग्य' का केवल एक 'अलंकार'

रूप भेद ही स्वीकार किया गया है। किन्तु 'श्लेष' अलंकार का विषय जब इस 'ध्वनि' से सर्वथा पृथक् रूप में निश्चित किया जा सकता है, तब कोई कारण नहीं रहता, जो इस 'ध्वनि' के भी 'वस्तुरूप' का निराकरण कर सके, इसलिए परवर्ती आचार्यों का इस 'ध्वनि' के दो—अर्थात्, पदगत तथा वाक्यगत अधिक भेद स्वीकार कर लेना भी युक्तियुक्त है। स्वयं 'ध्वन्यालोक' में भी इस अनुरणन रूप 'ध्वनि' के 'उभय-शक्तिमूल' भेद की सूचना मिल जाती है, इसलिए इस आधार पर 'उभय-शक्तिमूल ध्वनि' के वाक्यगत-भेद का प्रतिपादन भी उचित ही है।

'अर्थ-शक्तिमूल अनुरणन रूप' ध्वनि के प्रबन्धगत भेदों के लिए भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में एक कारिका (३।१५) लिखी गई हैं :

"अनुस्वानोपमात्मापि, प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते, सोऽपि केषुचित् ॥"

किन्तु यह कारिका 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के प्रबन्धगत भेद के प्रतिपादन के प्रसंग में आई है। 'अर्थशक्तिमूल अनुरणन रूप ध्वनि' के इस कारिका के सम्बद्ध कर देने को असंगत मान कर, 'लोचन' में इस कारिका के यथाश्रुत अर्थ को स्वीकार नहीं किया गया। फलतः, 'लोचन' में इस कारिका का सम्बन्ध निम्नलिखित अगली कारिका से माना गया है—

"सुप्तिङ्वचनसम्बन्धस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥"

इस कारिका में 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' के पदैकदेशगत 'व्यञ्जकत्व' का निर्देश किया गया है। इन सभी 'सुप्, तिङ्, वचन' आदि व्यञ्जकों का मूल ग्रंथ में सोदाहरण विस्तृत विवेचन हुआ है, किंतु आचार्य आनन्दवर्धन के एक वाक्य से प्रतीत होता हैं कि वे 'पद' के किसी एक अंश की 'व्यञ्जकता' को 'पद-वाक्यरचना' के 'व्यञ्जकत्व' में ही गतार्थ मानते थे : "एतच्च सर्वं पदवाक्य-रचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि, वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्"। (दे०, 'ध्वन्या०', पृ०—३५८)। इस प्रकार, आचार्य आनन्दवर्धन को 'व्यञ्जकत्व' की दृष्टि से 'पदैकदेश-गत' भेद अभीष्ट न होने से '०लोचन' में 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के 'व्यञ्जकत्व' की दृष्टि से किए गए भेदों में 'पदैकदेशगत' अतिरिक्त भेद की गणना नहीं की गई। किन्तु इस तर्क-पद्धति का अनुसरण न करने पर तो, 'वर्ण' को भी 'पद' में ही गतार्थ स्वीकार किया जा सकता है, फिर उसके आधार पर इस 'अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' के 'वर्णगत' एक अतिरिक्त भेद की कल्पना क्यों की जाए? इसी प्रकार, 'पद' एवं 'वाक्य' को भी प्रबन्ध के अन्तर्गत माना जा सकता है। अतएव परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में 'पदैकदेशगत व्यञ्जकत्व' के आधार पर भी, 'अलक्ष्यक्रम ध्वनि' का एक पृथक् भेद स्वीकार किया गया है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, 'ध्वन्यालोक' में उपर्युक्त कारिकायें—'अनुस्वानोपमात्माऽपि' (३।१५) इत्यादि, तथा 'सुप्-तिङ् वचन-सम्बन्धैः' (३।१६) इत्यादि 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' के विवेचन के प्रसंग में आई हैं, अतएव '०लोचन' में पहली कारिका

को 'असंलक्ष्यक्रम' से तथा दूसरी कारिका को 'अनुस्वानोपम०' इत्यादि पूर्वोक्त कारिका से सम्बद्ध करने के लिए, इन दोनों कारिकाओं की विशेष व्याख्या की गई है। इस व्याख्या का सारांश यह है कि कदाचित् 'अनुरणन-रूप-व्यंग्य ध्वनि' प्रबन्ध से भी साक्षात् रूप से अभिव्यक्त होती है, और इस प्रकार अभिव्यक्त होने वाली इस 'ध्वनि' का 'रसादि' रूप 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' में पर्यवसान हो जाता है तथा "सुप्, तिङ्, वचन-सम्बन्धः" इत्यादि कारिका में निर्दिष्ट 'सुप्', तिङ्', आदि सर्वत्र वक्ता के विशेष अभिप्राय के 'अभिव्यञ्जक' होते हैं। इनसे वक्ता का अभिप्राय 'अनुस्वान' के रूप में आभासित हुआ करता है, परन्तु किन्हीं उदाहरणों में यह 'अनुस्वान' के रूप में अभिव्यक्त होने वाला, अभिप्राय 'विभावादि' 'का भी व्यञ्जक बन जाता है, और अपने उस रूप में अभिव्यक्त होने वाले, वे 'विभावादि' 'रसादिकों' को अभिव्यक्त करने लगते हैं। इस प्रकार, 'सुप्', 'तिङ्', आदि परम्परा से 'विभावादि' के अभिव्यञ्जन के द्वारा 'रसादि' के भी अभिव्यञ्जक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, 'वर्ण, पद, वाक्य, संघटना तथा प्रबन्ध' या तो 'विभावादि' के प्रतिपादन के द्वारा साक्षात् 'रसादि' को अभिव्यक्त करते हैं, या परम्परा से 'विभावादि' की व्यञ्जना के द्वारा। प्रथम पक्ष में, विशुद्ध 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' होती है, दूसरे पक्ष में प्रबन्धगत 'अनुस्वानोपम' ध्वनि अभिव्यक्त होकर, 'रसादि' के 'विभावादि' का अभिव्यञ्जन करती है, और इस प्रकार परम्परा से 'रसादिक' अभिव्यक्त होते हैं। अर्थात्, कभी साक्षात् प्रबन्ध से तो 'अनुरणन'-रूप ध्वनि प्रकाशित होती है, और फिर, उसका पर्यवसान 'रसादि' ध्वनि में हो जाता है। 'महाभारत' में प्रबन्धगत 'गृध्र-गोमायु'-सम्वाद आदि इस प्रकार की 'ध्वनि' के उदाहरण हैं। 'महाभारत' के शान्तिपर्व, अध्याय-१५३ में 'गृध्र-गोमायु' सम्वाद आया है। इस सम्वाद में पहले तो प्रबन्ध से गृध्र एवं गोमायु (गीदड) का अभिप्राय अभिव्यक्त होता है, फिर उसका पर्यवसान 'शान्त रस' में हो जाता है। यदि इस प्रकार की प्रबन्धगत 'ध्वनि' का 'रसादि' में पर्यवसान स्वीकार नहीं किया गया, तो प्रायः, सभी महाकाव्यों में आने वाले ऐसे प्रसंग नीरस हो जायेंगे।[२७]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य अभिनवगुप्त 'प्रबन्धगत अनुरणन रूप व्यंग्य' का 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' में अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं, और 'सुप्, तिङ्' आदि 'पदैकदेश' से अभिव्यक्त होने वाली 'रसादि ध्वनि' को भी 'पद, वाक्य एवं रचना' से अभिव्यक्त होने वाली 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' में ही गतार्थ कर देते हैं। इस प्रकार, उन्होंने 'अर्थशक्ति मूल ध्वनि' के प्रबन्धगत द्वादश भेद स्वीकार नहीं किए, और 'असंलक्ष्यक्रम' में पदांश से अभि-

---

२७. दे०, ०'लोचन'; पृ० ३४५ : "एतदुक्तं भवति-प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूप-व्यंग्यो ध्वनिः साक्षाद्युज्यते, स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति।" तथा वही, पृ० ३४८ : "एतदुक्तं भवति-वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद् रसोऽभिव्यज्यते, विभावादिप्रतिपादनद्वारेण, यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति, तत्र बन्धस्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्व-प्रसंगादादावुक्तम्। अधुना तु, वर्णपदादीनामुच्यद इति।"

व्यक्त होने वाला, पृथक् भेद नहीं माना। 'उभयशक्तिमूल' के एकमात्र 'वाक्यगत' भेद का भी निर्देश नहीं किया तथा 'शब्दशक्तिमूल' में 'वस्तुरूप व्यंग्य' के पद तथा वाक्यगत दो भेदों का भी उल्लेख नहीं किया। फलतः, उनके मत के अनुसार, 'ध्वनि' के केवल ३५ विशुद्ध भेद ही निष्पन्न होते हैं।

कविराज विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के चतुर्थ परिच्छेद में आचार्य मम्मट की 'ध्वनि' के भेदों की उपर्युक्त गणना का अनुसरण किया हैं। किन्तु उन्होंने 'लक्ष्यार्थ' एवं 'व्यंग्यार्थ' की किसी अन्य अर्थ की 'व्यञ्जकता' के विषय में भी, 'स्वतः सम्भवी' आदि उपाधियों की दृष्टि से विचार किया है। आचार्य मम्मट भी 'लक्ष्य' एवं 'व्यंग्य' अर्थ को किसी अन्य 'व्यंग्य' अर्थ का व्यञ्जक मानते हैं, परन्तु सामान्य रूप से अर्थ-मात्र को व्यञ्जक स्वीकार करके, ये दोनों आचार्य 'अर्थ-शक्तिमूल-ध्वनि' के उपर्युक्त द्वादश भेद ही स्वीकार करते हैं। 'साहित्य-दर्पण' के हिन्दी टीकाकार विद्यावाचस्पति श्री शालग्राम शास्त्री 'व्यञ्जक' अर्थ के समान, 'व्यंग्य' अर्थ के भी 'स्वतः सम्भवी', 'कविप्रौढोक्ति सिद्ध' आदि भेद हो सकने की सम्भावना को स्वीकार करते है। किन्तु वे भी प्राचीन परम्परा के अनुसार, 'ध्वनि' के उपर्युक्त ५१ विशुद्ध भेदों के स्वीकार कर लेने के ही पक्ष में हैं।

'काव्यानुशासन' के लेखक आचार्य हेमचन्द्र 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' को 'शब्दशक्तिमूल' तथा 'अर्थ-शक्तिमूल' होने से, दो ही प्रकार का मानते हैं। उनका कथन हैं कि 'उभयशक्तिमूल' को 'शब्दशक्तिमूल' से पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ पर भी, प्रधानतया, शब्द ही व्यञ्जक होता[२८] है। 'उभय-शक्तिमूल' के उपर्युक्त "अतन्द्रचन्द्राभरणा" इत्यादि उदाहरण में व्यंग्य अर्थ का निर्देश करते हुए, उन्होंने लिखा है: "अत्र शब्दशक्त्या रात्रियोषितोरुपमा व्यंग्या। यद्यपि 'समुद्दीपितेति' 'सानन्दमिति' चार्थोऽपि व्यञ्जकस्तथापि न शब्दशक्तिवनार्थशक्तिरुन्मीलतीति शब्दशक्तिरेव व्यञ्जिका।" (दे०, 'काव्या०') पृ० ६८) 'गौणी' तथा 'लक्षणा' की पृष्ठभूमि पर अभिव्यक्त होने वाले, उपर्युक्त 'अविवक्षितवाच्य व्यंग्य' का भी उन्होंने पद-गत एवं वाक्य-गत 'गौण शब्दशक्तिव्यंग्य' तथा लक्षक-शब्द-शक्तिव्यंग्य' के स्वरूप का निर्देश 'काव्यानुशासन' में (दे०, पृ—६३) निम्नलिखित शब्दों में किया गया है: "अनेकार्थस्य मुख्यस्य शब्दस्याभिधालक्षणे व्यापारे संसर्गादिभिर्नियन्त्रिते, मुख्यस्य च गौणलाक्षणिक रूपस्य शब्दस्य मुख्यार्थबाधनिमित्तप्रयोजनैर्गौणीलक्षणारूपे व्यापारे नियन्त्रिते, मुख्यस्य शब्दस्य वस्त्वलंकार-व्यञ्जकत्वे, मुख्यस्य च वस्तुव्यञ्जकत्वे सति, शब्दशक्तिमूलो व्यंग्यः। स च प्रत्येकं द्विधा। पदे वाक्ये च।"

इसके अतिरिक्त 'अर्थशक्तिमूल' में अर्थ का 'स्वतः-सम्भवी' आदि, उपर्युक्त त्रिविध विभाग भी उन्हें अभीष्ट नहीं। उनके मत के अनुसार, कवि की 'प्रौढोक्ति' के विना तो

---

२८. दे०, 'काव्यानु०', पृ० ६३: "उभयशक्तिमूलस्तु शब्दशक्तिमूलान्नातिरिच्यते शब्दस्यैव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वात्।"

'स्वतः सम्भवी' अर्थ ही अकिञ्चित्कर है, तथा 'कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति' को भी कवि प्रौढोक्ति से पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि काव्य का कर्ता और वक्ता कवि ही होता है, अतएव काव्य में पाए जाने वाले, 'स्वतः सम्भवी' तथा 'कवि-निबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ को भी 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' अर्थ के ही अन्तर्गत मानना चाहिए।[२९] आचार्य हेमचन्द्र 'रसादि' को भी 'अर्थशक्तिमूल' ही मानते हैं, उनका मत है कि ये 'अर्थशक्तिमूल रसादि' केवल पद, वाक्य तथा प्रबन्ध से ही अभिव्यक्त होते हैं।[३०] 'पदैकदेश' का तो वे 'पद' में ही अन्तर्भाव करते है तथा वर्ण एवं रचना को साक्षात् माधुर्यादि गुणों का अभिव्यञ्जक मानते हैं। उनका मत है कि इन दोनों का, 'गुणों' के द्वारा परम्परा से ही 'रसादि' की अनुभूति में उपयोग हो सकता है।[३१]

पण्डितराज जगन्नाथ भी 'वर्ण' तथा 'रचना' के द्वारा 'माधुर्यादि' गुणों की व्यञ्जकता के विषय में, आचार्य हेमचन्द्र से सहमत[३२] हैं। 'संलक्ष्यक्रम ध्वनि' के 'अर्थ-शक्ति-मूलक' भेद में भी वे व्यञ्जक अर्थ को (१) 'लोकसिद्ध' तथा (२) 'प्रतिभामात्र-निवर्तित होने से केवल दो प्रकार का ही मानते हैं। उनके मत के अनुसार, 'कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ भी तो कवि की 'प्रतिभा' से ही निवर्तित होता है, अतः उसकी पूर्वोक्त 'प्रतिभानिवर्तित' अर्थ से पृथक् गणना करना अनुचित है, क्योंकि इस प्रकार तो कवि वर्णित वक्ता के द्वारा वर्णित वक्ता के कल्पित अर्थ को भी व्यञ्जक माना जा सकता है। यदि यह कहा जाए कि कवि वर्णित वक्ता के द्वारा वर्णित वक्ता भी तो कवि वक्ता ही होता है, अतः उसका अन्तर्भाव 'कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ में ही हो जाता है, तो इस तर्क के अनुसार तो 'कवि-निबद्ध-वक्ता' भी 'लोकोत्तर-वर्णना-निपुणत्व' कवित्व से पृथक् नहीं माना जा सकता, अतः उसको 'ध्वनि' के किसी पृथक् भेद का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।[३३]

---

२९. दे०, 'काव्यानु०', पृ० ७२-७४।

३०. दे०, वही, पृ० ८२ : "रसादिश्च ।। रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावस्थिति भावसन्धिभावशवलत्वान्यर्थशक्तिमूलानि व्यंग्यानि । चकारः पदवाक्यप्रबन्धानु कर्षणार्थः ।"

३१. दे०, वही, पृ० ८७ : "वर्णरचनायास्तु साक्षान्माधुर्यादिगुणव्यञ्जकत्वमेव । तद् द्वारेण तु रसे उपयोग इति गुण-प्रकरण एव वक्ष्येते इतीह नोक्ते ।"

३२. दे०, 'रसगङ्गाधर', प्रथम 'आनन', पृ० ३७० (चौ०, विद्याभवन संस्क०) "वर्णरचना-विशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्माना भावाच्च ।"

३३. दे०, 'रसगङ्गाधर', द्वितीय 'आनन', पृ० २१३ (पूर्वोक्त संस्क०) "प्रतिभा निर्वतित-त्वाविशेषाच्च, कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्नपृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः । न च तस्यापि कव्युम्भितत्वानपाया-

फलतः, पण्डितराज जगन्नाथ के मत में 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' दो प्रकार का होता है : (१) 'शब्दशक्तिमूल' तथा (२) 'अर्थशक्तिमूल'। इनमें से पहला 'व्यंग्य' के 'वस्तु' तथा 'अलंकार' रूप होने से, दो प्रकार का होता है। दूसरा भी चतुर्विध व्यञ्जक अर्थ—अर्थात्, (१) 'लोकसिद्धवस्तु', (२) 'लोकसिद्ध अलंकार', (३) 'प्रतिभामात्र निर्वर्तितवस्तु' तथा (४) 'प्रतिभामात्र निर्वर्तित अलंकार' में से प्रत्येक के 'वस्तु' तथा 'अलंकार' रूप द्विविध 'व्यंग्य' अर्थ के व्यञ्जक होने से आठ प्रकार का हो जाता है। इस प्रकार, पण्डितराज के मत में 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के १० भेद होते हैं। इनमें 'उभयशक्तिमूल' का एक, असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' के ४, एवं 'लक्षणामूलक' ध्वनि के दो भेद जोड़ देने से, 'ध्वनि' के प्रथमतः, २+८+१+४+२=१७ भेद हो जाते हैं। इनमें भी उपर्युक्त 'शब्दशक्तिमूलक', अर्थशक्तिमूलक' तथा 'लक्षणामूलक' भेदों में से प्रत्येक के पद-गत तथा वाक्यगत दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार 'ध्वनि' के शुद्ध भेद केवल २८ हो सकते हैं, ५१ नहीं।

(१६) 'ध्वनि' के संकीर्ण एवं संसृष्ट भेद।

'ध्वनि' के उपर्युक्त ५१ अथवा ३५ विशुद्ध भेदों के अतिरिक्त अनेक 'संकीर्ण' एवं 'संसृष्ट' भेद भी स्वीकार किए जाते हैं। 'लोचन' 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' में इन भेदों की गणना के विषय में भी मत-भेद हैं। 'ध्वनि' के ये भेद उपर्युक्त ५१ विशुद्ध भेदों के पारस्परिक सम्मिलन का, या 'गुणीभूत-व्यंग्य' के साथ 'ध्वनि' के तथा अपने विशुद्ध या संकीर्ण भेदों के मिश्रण का परिणाम होते हैं। यह सम्मिश्रण 'त्रिविध-संकर' की तथा एक प्रकार की 'संसृष्टि' की प्रक्रिया के अनुसार, हो सकता है। इस द्विविध प्रक्रिया से पारस्परिक सम्मिश्रण का फल यह होता है कि 'ध्वनि' एवं 'गुणीभूत-व्यंग्य' के भेद अनन्त हो जाते हैं।

(क) ०'लोचन' के अनुसार 'ध्वनि' के संकीर्ण एवं संसृष्ट भेदों की गणना।

'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत की ४३वीं कारिका में 'ध्वनि' एवं 'गुणीभूत-व्यंग्य' के भेद-प्रभेदों की संख्या का निर्देश मिलता है।[३४] मिश्रित भेदों की दृष्टि से 'ध्वनि' के भेद-प्रभेद या तो (१) स्वतः अपने भेदों से सम्मिश्रित हो सकते हैं, या (२) 'गुणीभूत व्यंग्य' से या (३) 'वाच्य अलंकार' से। इस प्रकार प्रधानतया, मिश्रण के तीन प्रकार सम्भव हैं। इन तीनों में से भी प्रत्येक सम्मिश्रण या तो संकर की प्रक्रिया से होता है. या संसृष्टि की प्रक्रिया से—अर्थात्, दो भेद परस्पर या तो 'नीर-क्षीर' के समान मिलते हैं, या 'तिल-तण्डुल' के समान, निरपेक्ष रूप से दो भेदों का सम्मिलन होता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त

तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति वाच्यम्, प्रथमोज्झितस्यापि लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व-लक्षणकवित्वानपायात्पृथग्भेदप्रयोजकतानुपपत्तेः।"

३४. दे०, 'ध्वन्या०', ३।४३ : "स गुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा॥"

तीन भेदों के ६ प्रकार हो जाते हैं। 'संकर' की प्रक्रिया के भी तीन प्रकार होते हैं: (१) अनुग्राह्यानुग्राहकभाव, (२) सन्देहास्पदत्व तथा (३) एकपदानुप्रवेश। अनुग्राह्यअनुग्राहक भाव को 'अंगांगिभाव' भी कहा जाता है। इस प्रकार का सम्मिश्रण तब होता है, जब एक भेद प्रधान और दूसरा उसका अंग बन जाता है। 'सन्देह-संकर' में एक अधिष्ठान में अनेक भेदों का सन्देह हो जाता है, और किसी साधक अथवा बाधक प्रमाण के अभाव में, किसी एक भेद के पक्ष में निर्णय कर सकना असम्भव हो जाता है। 'एक-पदानुप्रवेश' को एकाश्रय स्थित भी कहा गया है। इसमें किसी एक ही आश्रय में, दो भेदों की स्थिति होती है। 'संकर' की उपर्युक्त त्रिविध प्रक्रिया से और संसृष्टि की एकविध प्रक्रिया से, यदि उपर्युक्त प्रधान भेदों के सम्मिश्रण का संकलन किया जाए, तो द्वादश भेद उपलब्ध होते हैं: अर्थात्, उपर्युक्त तीन भेदों के ९ भेद 'संकर' की प्रक्रिया से और तीन भेद 'संसृष्टि' की प्रक्रिया से प्राप्त[३५] होते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, 'वनि' के विशुद्ध ३५ भेदों की गणना की जा चुकी है। उनका मत है कि 'गुणीभूत-व्यंग्य' के भी उतने ही (३५) भेद होते हैं: "पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्दा उक्तास्ते गुणीभूत व्यंग्यस्याऽपिमन्तव्याः।" (दे०, 'लोचन', पृ०-५०१-२)। दोनों को जोड़ देने से कुल (३५+३५)=७० भेद हो जाते हैं। 'अलंकार' तो असंख्य हो सकते है। अतएव उनके संम्मिश्रण में 'अलंकारत्व'-सामान्य के आधार पर, उन सभी के केवल एक भेद की गणना युक्तिसंगत होगी। फलतः, कुल मिलाकर (७०+१)=७१ भेद हो जाते हैं। इनकी त्रिविध 'संकर' एवं एक प्रकार की 'संसृष्टि' से गुणा करने पर (७१×४)=२८४ भेद उपलब्ध होते हैं "तत्र संकरत्रयेण संसृष्ट्या च गुणेन द्वे शते, चतुरशीत्यधिके" (दे०, 'लोचन', पृ०-५०२)। इन भेदों की यदि मुख्य ३५ भेदों से गुणना कर दी जाय' तो 'ध्वनि' के 'संकीर्ण' एवं 'संसृष्ट' भेदों की संख्या २८४×३५=९९४० हो जाती है। 'लोचन' में यह संख्या ७४२० लिखी है: "तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि, त्रिंशत्यधिकानि भवन्ति।" (दे०, 'लोचन', पृ०-५०२)। 'लोचन' के इस पाठ का अर्थ स्पष्टतया, असंगत हैं, क्योंकि २८४ को ३५ से गुणा करने पर '७४२०' संख्या प्राप्त नहीं होती। इन दोनों का गुणनफल ९९४० आता है।

(ख) 'काव्य-प्रकाश' के अनुसार 'ध्वनि' के संकीर्ण एवं संसृष्ट भेद।

आचार्य मम्मट ने गुणीभूत-व्यंग्य के शुद्ध भेदों की गणना भिन्न प्रकार से की है। उनकी गणना में 'ध्वन्यालोक' की निम्नलिखित कारिका (२।२९) में प्रतिपादित सिद्धान्त का ध्यान रक्खा गया है:

---

३५. दे०, 'लोचन', पृ०-५०१: "स्वभेदैर्गुणीभूतव्यंग्येनालंकारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः, तत्रापि प्रत्येकं संकरेण संसृष्ट्या चेति षट्। संकरस्यापि त्रयः प्रकाराः—अनुग्राहकभावेन, संदेहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः।"

"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण, यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां, काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥"

अर्थात् जब 'वस्तुमात्र' से 'अलंकार' व्यंग्य हो, तब उसे 'ध्वनि'-काव्य ही मानना चाहिये, 'गुणीभूत-व्यंग्य' नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में काव्यत्व की स्थिति का आश्रय 'व्यंग्य-अलंकार' ही होता है। आचार्य मम्मट की गणना के अनुसार, 'ध्वनि' के शुद्ध ५१ भेदों में से ९ भेद ऐसे हैं, जिनमें 'वस्तुमात्र' से 'अलंकार' व्यंग्य होते हैं। वे भेद 'अर्थ-शक्तिमूल' के 'स्वतः-सम्भवी, कवि प्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' भेद में पदगत वाक्य-गत एवं प्रबन्धगत होने से कुल ३ × ३ = ९ हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार, ये ९ भेद केवल 'ध्वनि'-काव्य के ही हो सकते हैं, अतएव 'ध्वनि' के केवल ५१—९ = ४२ भेदों में 'व्यंग्य' अर्थ का गुणीभाव सम्भव हैं। 'काव्य-प्रकाश' के पञ्चम उल्लास के प्रारम्भ में प्रधानतया, 'गुणीभूत व्यंग्य' के ८ भेदों का निर्देश किया गया है। यहाँ आचार्य मम्मट का अभिप्राय यह है कि 'गुणीभूत व्यंग्य' के उपर्युक्त ४२ प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार का 'गुणीभाव' ८ रूप धारण कर सकता है। कहीं 'व्यंग्य' के (१) अगूढ होने के कारण, (२) कहीं अस्फुट होने के कारण, (३) कहीं किसी अन्य का अङ्ग होने के कारण, (४) कहीं स्वतः, 'वाच्य' अर्थ की सिद्धि का अङ्ग होने के कारण, (५) कहीं उसकी प्रधानता के सन्दिग्ध होने के कारण, (६) कहीं 'वाच्य' एवं 'व्यंग्य' अर्थ की तुल्यप्रधानता के कारण, (७) कहीं 'व्यंग्य' अर्थ की असुन्दरता के कारण और (८) कहीं किसी 'व्यंग्य' अर्थ के 'काकु'-अर्थात्, स्वर विकार से आक्षिप्त होने के कारण, 'व्यंग्य' अर्थ प्रधान न रह कर, गौण, बन जाता[३६] हैं। इस प्रकार उपर्युक्त ४२ भेदों में ८ प्रकार से 'व्यंग्य' अर्थ का गुणीभाव सम्भव है। अतएव 'काव्य-प्रकाश' के अनुसार, 'गुणीभूत व्यंग्य' के शुद्ध भेद ४२ × ८ = ३३६ होते हैं।

'ध्वनि' के अपने ही शुद्ध भेदों का जब 'संसृष्टि' की प्रक्रिया से परस्पर सम्मिश्रण होता है, तो 'ध्वनि' के ५१ भेदों में से प्रत्येक अपने 'सजातीय' एवं 'विजातीय' भेदों से संसृष्ट होता हैं। इस प्रकार, 'ध्वनि' का 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य' भेद अपने सजातीय किसी दूसरे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' के साथ और शेष विजातीय ५० अन्य भेदों के साथ निरपेक्ष रूप से संसृष्ट हो सकता हैं। यही नियम अन्य सभी भेदों के विषय में भी प्रवृत्त होता है, अतएव यह तो स्पष्ट ही है कि 'ध्वनि' के शुद्ध ५१ भेदों में से प्रत्येक के 'संसृष्टि' की प्रक्रिया से ५१ भेद हो जाते हैं। इन सभी परस्पर संसृष्ट भेदों का योग ५१ × ५१ = २७०१ होता है। 'संकर' की त्रिविध प्रक्रिया से गुणा कर देने पर ये २६०१ भेद २६०१ ×

---

३६. दे०, 'काव्य-प्रकाश', पञ्चम उल्लास, सू० ६६ :
"अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये, काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यंग्यमेव गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।"

३=७८०३ रूप धारण कर लेते हैं। इन दोनों संख्याओं का योग २६०१+७८०३= १०४०४ होता है। इस प्रकार, 'काव्य-प्रकाश' की गणनाशैली के अनुसार, यह योग 'ध्वनि' के 'संसृष्ट' एवं 'संकीर्ण' भेदों की सम्पूर्ण संख्या का सूचक है। 'ध्वनि' के इन संसृष्ट एवं संकीर्ण, १०४०४ भेदों में यदि उसके ५१ विशुद्ध भेदों को भी मिला दिया जाय, तो 'ध्वनि' के कुल १०४५५ (१०४०४+५१) भेद उपलब्ध होते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास की निम्नलिखित कारिकाओं से यह बात प्रमाणित हो जाती हैं : (६२) भेदास्तदेक पञ्चाशत्।' ०० '(६३) तेषां चान्योन्ययोजने।' संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।" (६४) 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः' (=१०४०४)। (६५) 'शरेषुयुगखेन्दवः' (=१०४५५)।।"

(ग) 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार 'ध्वनि' के संकीर्ण एवं संसृष्ट भेद।

कविराज विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' के चतुर्थ परिच्छेद में 'ध्वनि' के सम्पूर्ण भेदों की गणना करने के प्रसंग में निम्नलिखित कारिकायें लिखी हैं : (४।११) "तदेवमेकपञ्चाशत्भेदास्तस्यध्वनेर्मताः। संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया। वेदखाग्नि-शराः (=५३०४)। 'शुद्धैरिषुवाणाग्निसायकाः' (=५३५५)।। 'ध्वनि' के शुद्ध भेदों के विषय में कविराज विश्वनाथ एवं आचार्य मम्मट में कोई मतभेद नहीं है। दोनों ही 'ध्वनि' के विशुद्ध ५१ भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु 'ध्वनि' के ससृष्ट एवं संकीर्ण भेदों की गणना में दोनों आचार्यों ने दो भिन्न प्रणालियों का आश्रय लिया है। आचार्य मम्मट की प्रणाली का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कविराज विश्वनाथ संकलन-पद्धति के आधार पर 'ध्वनि' के संसृष्ट एवं संकीर्ण भेदों की गणना करते हैं।

कविराज विश्वनाथ के द्वारा संकलन-पद्धति से गणना किये जाने के मूल में जो विचारधारा है, उसको इस प्रकार प्रकट किया जा सकता हैं। 'ध्वनि' का प्रथम 'अर्थान्तिर संक्रमित' नामक भेद एक तो अपने 'सजातीय' भेद के साथ और ५० विजातीय भेदों के साथ भी संसृष्ट हो सकता है, अतएव 'संसृष्टि' की प्रक्रिया से इस प्रथम भेद के ५१ प्रकार हुए, किन्तु 'ध्वनि' के दूसरे भेद 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' के केवल ५० संसृष्ट भेद ही सम्भव हैं। यह भेद एक अपने सजार्तीय के साथ और ४९ विजातीय भेदों के साथ ही संसृष्ट हो सकता है। 'अर्थान्तिर-संक्रमित-वाच्य' के साथ, इस भेद की संसृष्टि होने पर जितने प्रकार सम्भव थे, उनकी गणना प्रथम भेद में ही हो चुकी है, अतएव फिर से उन संसृष्ट भेदों की गणना करना पुनरुक्तिमात्र होगी। इस प्रकार, 'ध्वनि' का तृतीय भेद, एक अपने 'सजातीय' और ४८ 'विजातीय' भेदों से संसृष्ट होकर ४९ प्रकार का होता है। इस प्रणाली से गणना करने पर, प्रत्येक भेद में १,१ संख्या कम होती जाती है' और 'ध्वनि' का अन्तिम ५१ वाँ भेद केवल अपने 'सजातीय' से संसृष्ट होकर केवल एक ही प्रकार का होता है। 'विजातीय' भेदों के साथ, उसकी जो 'संसृष्टि' हो सकती थी, उसकी गणना पूर्वोक्त भेदों में ही समाविष्ट हो जाती है। अतएव एक से लेकर, ५१ तक की संख्या को आपस में जोड़ देने से 'ध्वनि' के संसृष्ट भेदों की कुल संख्या का आकलन हो सकता है।

इस प्रकार के योग की संक्षिप्त विधि 'लीलावती' की निम्न कारिका में बतलाई गई है :

"एकोराशिर्द्विधास्थाप्य, एवमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनाऽसमोगुण्यः, एतत् संकलितं लघु ॥"

इस कारिका का भावार्थ यह है कि एक से लेकर जितनी संख्या तक संकलन (=योग) करना हो, उस अन्तिम संख्या को दो बार लिखकर, एक संख्या में एक और जोड़ दो। ऐसा करने पर एक संख्या सम और दूसरी विषम हो जाती हैं। अब सम संख्या का आधा करके उससे विषम संख्या को गुणा कर दो। दोनों संख्याओं का (विषम संख्या एवं सम संख्या के आधे भाग का) गुणनफल ही एक से लेकर, उस संख्या तक का योग होगा। इस नियम के अनुसार, एक से ५१ तक की संख्याओं का संकलन इस प्रकार होगा : ५१+१ =५२=२६×५१=१३२६। इस प्रकार कविराज विश्वनाथ के अनुसार 'ध्वनि' के
—२
संसृष्ट भेदों की संख्या १३२६ है। अब यदि 'ध्वनि' के संकीर्ण भेदों की गणना करनी हो तो इस संख्या को 'संकर' की त्रिविधता के कारण तीन से गुणा कर देना होगा। फलतः, 'ध्वनि' के संकीर्ण भेद इस मत के अनुसार, १३२६×३=३९७८ होंगे। इन दोनों संख्याओं को जोड़ देने से 'ध्वनि' के सम्पूर्ण संसृष्ट एवं संकीर्ण भेद १३२६+३९७८= ५३०४ होते हैं, और इन भेदों में शुद्ध ५१ भेद को जोड़ देने से 'ध्वनि' के सभी प्रकार के भेदों की संख्या ५३०४+५१ = ३५३५५ हो जाती है।

आचार्य मम्मट ने 'विरोध अलंकार' के भेदों की गणना के प्रसंग में संकलन-पद्धति का अवलम्बन किया है। उनके अनुसार, एक ही अधिष्ठान में परस्पर-विरुद्ध धर्मों की प्रतीति में 'विरोध' या 'विरोधाभास' अलंकार होता हैं। और वे विरुद्ध धर्म चार प्रकार के हो सकते हैं : (१) जाति, (२) गुण, (३) क्रिया तथा (४) द्रव्य। इनमें से प्रथम, जाति का जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य चारों के साथ विरोध सम्भव हैं, गुण का अपने सजातीय गुण तथा विजातीय क्रिया एवं द्रव्य के साथ विरोध होता है, अतएव उसके चार भेद न होकर केवल तीन ही भेद होते हैं। गुण का जाति के साथ जो विरोध हो सकता था, वह तो जाति के उपर्युक्त चार भेदों में से दूसरे भेद में ही गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार क्रिया का अपनी सजातीय क्रिया तथा द्रव्य के साथ विरोध सम्भव है, और द्रव्य का केवल द्रव्य के साथ ही विरोध हो सकता है, क्योंकि इनमें से प्रथम के अर्थात्, क्रिया के जाति तथा गुण के साथ विरोध में जो दो भेद हो सकते थे, वे पूर्व भदों में ही गतार्थ हो चुके हैं, और दूसरे के तीनों भेद पूर्वोक्त भेदों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस शैली के अनुसार गणना करके आचार्य मम्मट ने विरोध अलंकार के दश भेद ही स्वीकार किये हैं (४+३ +२+१=१०)।

जिस संकलन-पद्धति का आचार्य मम्मट ने 'विरोध अलंकार' के भेदों की गणना के प्रसङ्ग में प्रयोग किया है, उस पद्धति का उन्होंने 'ध्वनि' के भेद-प्रभेद की गणनाओं में

प्रयोग नहीं किया। 'काव्य-प्रकाश' के अनेक टीकाकारों ने इस वैषम्य के आधार का अन्वेषण किया है। उन्होंने अनुमान किया है कि 'ध्वनि' के भेदों की गणना में संकलन-पद्धति का अवलम्बन इस कारण से उचित नहीं है, क्योंकि एक भेद की दूसरे भेद के साथ, जो 'संसृष्टि' होती हैं, उनमें से प्रत्येक में अपना विशिष्ट वैचित्र्य सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य' की 'अत्यन्त-तिरस्कृत वाक्य' के साथ जो संसृष्टि होती है, उसमें 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का प्राधान्य हो सकता है। इसी प्रकार, दूसरी बार 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' की जो 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' के साथ, संसृष्टि होगी, उसमें काव्य की चारुता का केन्द्र 'अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य' ही हो सकता है। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त दोनों भेदों को एक ही भद न मान कर, दो पृथक्-पृथक् भेद मानना अधिक युक्ति संगत होगा। यही बात, अन्य भेदों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने 'ध्वनि' के भेद-प्रभेदों की गणना के अवसर पर उपर्युक्त सकलन-प्रणाली का उपयोग नहीं किया।

'विरोधाभास' अलंकार के भेदों की गणना में उपर्युक्त संकलन-प्रणाली के अवलम्बन का समर्थन सरलता से किया जा सकता है। इस 'अलंकार' में या तो ऐसे दो धर्मों का अभिधान होता है, जो किसी एक अधिकरण से सम्बद्ध रूप से प्रसिद्ध हों, किन्तु कवि के वर्णन से उन दोनों धर्मों की उस एक अधिकरण से असम्बद्धता आभासित होती हो, या ऐसे दो धर्मों का, जो किसी एक अधिकरण से असम्बद्ध रूप में प्रसिद्ध हों, किन्तु कवि ने उनका उस अधिकरण से सम्बद्ध के रूप में प्रतिपादन किया हो :

"विरोधश्चैकाधिकरणसम्बद्धत्वेनप्रसिद्धयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम्,

एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनं वा" (दे०, 'का० प्र०' के दशम उल्लास में 'विरोध अलंकार' पर नागेश भट्ट की टीका उद्द्योत, पृ० १२०)। इस प्रकार एक अधिकरण में विरुद्धधर्मों का पारस्परिक भासमान विरोध ही इस 'अलंकार' के चमत्कार का मुख्य केन्द्र सिद्ध होता है। यहाँ जाति, गुण आदि के आपस के विरोध में, किसका प्राधान्य है, और कौन गौण है, यह कह सकना वस्तुतः असम्भव होगा, और साथ ही, असंगत भी। अतएव इस 'अलंकार' में संकलन-प्रणाली को स्वीकार करने का औचित्य स्वतः सिद्ध है। उसके लिये किसी विनिगमक हेतु देने की आवश्यकता, सम्भवतः, नहीं[३७] है।

---

३७. आचार्य विश्वेश्वर की 'आलोक' की टीका 'दीपिका' के पृष्ठ ४३८ पर निम्न वाक्य लिखा गया है : "टीकाकारों ने 'काव्य-प्रकाश' की गुणन प्रक्रिया के समर्थन के लिए यह एक प्रकार दिखाया है। परन्तु 'विरोधालंकार' वाले स्थल में भी इसी प्रकार का वैजात्य क्यों नहीं माना, इसका कोई विनिगमक हेतु नहीं दिया है, इसलिये मूल शंका का निवारण नहीं हो पाता।

अपने प्रभेदों के साथ, 'संसृष्टि' एवं 'संकर' की प्रक्रिया के आधार पर उपर्युक्त १०४५५ भेदों के अतिरिक्त 'ध्वनि' के ३३६ 'गुणीभूत व्यंग्य' एवं वाच्य अलंकारों के अनन्त भेदों के साथ भी संसृष्ट एक संकीर्ण होते हैं। इस प्रकार यह कथन यथार्थ है कि 'ध्वनि' के प्रभेद और उन प्रभेदों के भेदों की गणना हो सकना असम्भव है ' इन भेदों का केवल दिग्दर्शनमात्र हो सकता हैं (दे०, 'ध्वन्या०', ३।४४)। संक्षेप में 'ध्वनि' निम्न लिखित रूपों में प्रकाशित हो सकती है : (१) अपने प्रभेदों के साथ संकीर्ण रूप में अर्थात्, 'संकर' की उपर्युक्त त्रिविध प्रक्रिया के आधार पर 'नीर-क्षीर' के समान, मिश्रित रूप में, (२) अपने अवान्तर भेदों के साथ संसृष्ट रूप में, अर्थात्-संसृष्टि की प्रक्रिया के अनुसार 'तिल-तण्डुल-न्याय' से मिथः निरपेक्ष रूप में, (३) 'गुणीभूत व्यंग्य' के साथ संकीर्ण, तथा (४) संसृष्ट रूप में, और 'वाच्य अलंकारों' के साथ, (५) संकीर्णं तथा (६) संसृष्ट रूप में, एवं (७) संसृष्ट 'अलंकारों' के साथ संकीर्ण तथा (८) संसृष्ट रूप में। आचार्य अभिनव गुप्त का कथन है कि इन ८ रूपों के अतिरिक्त 'ध्वनि' के दो अन्य रूप भी हो सकते हैं : (१) संकीर्ण अलंकार से संसृष्ट तथा (२) संकीर्ण अलंकार से संकीर्ण (दे०, 'लोचन' पृ० ५१६)। 'ध्वनि' के उपर्युक्त सभी रूपों के उदाहरण 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्द्योत में दिये गये हैं। यहाँ उन सभी का उल्लेख अनावश्यक होगा। केवल दिङ्मात्र प्रदर्शन के लिये कतिपय पद्यों को उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा।

'ध्वनि' के 'संलक्ष्यक्रम' एवं 'असंलक्ष्यक्रम' दो भेद पूर्वोदाहृत 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य में सम्मिश्रित हुए हैं। यह सम्मिश्रण 'अनुग्राह्यानुग्राहक-भावरूप 'संकर' की प्रक्रिया के आधार पर हुआ है। इस पद्य में 'लज्जा' की प्रतीति 'अनुरणन' रूप 'संलक्ष्यक्रम' के 'अर्थशक्त्युद्भव' भेद के अन्तर्गत मानी जा सकती है। यहाँ पर 'लज्जा' पार्वती के अभिलाषहेतुक 'विप्रलम्भ शृङ्गार' का व्यभिचारिभाव है। इस 'लज्जा' रूप व्यभिचारिभाव से 'विप्रलम्भ शृङ्गार' अनुगृहीत होकर अभिव्यक्त हो रहा है। अतएव इस पद्य में 'संल क्ष्यक्रम अनुरणन रूप अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' का एवं 'असंलक्ष्यक्रम विप्रलम्भ शृङ्गार' रूप 'ध्वनि' का परस्पर 'अनुग्राह्यानुग्राहक भाव' अथवा अंगांगि-भाव के रूप में सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार इस पद्य को 'ध्वनि' के अपने अवान्तर भदों के साथ, संकीर्ण रूप के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

'संकर' के दूसरे भेद ('सन्देह-सकर') के आधार पर 'ध्वनि' के अपने ही अवान्तर भेदों के संकीर्ण होने के उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित प्राकृत गाथा 'ध्वन्यालोक' एवं 'काव्य-प्रकाश' दोनों ही ग्रन्थों में उद्धृत की गई है।

"खणपाहुणिआ देअर एसा जाआए किंपि दे भणिदा।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई॥'

अर्थात्, "हे देवर! उत्सव में निमन्त्रण दे कर बुलाई गई, उसको तुम्हारी जाया ने न जाने क्या कह दिया कि वह शून्य वलभी गृह में रो रही है, उस बेचारी को मना लो

न।" यदि इस पद्य के कहने वाली कोई ऐसी कामिनी है, जो स्वयं अपने देवर पर अनुरक्त है, तो इस पद्य में प्रयुक्त 'अनुनीयताम् पद 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य' होगा और उस अवस्था में इस पद का 'प्रिय भाषणादि' के द्वारा परितोष कर देना, रूप 'वाच्यार्थ' 'एकान्तोचित सम्भोग से उसे सन्तुष्ट कर दो', इस प्रकार के अर्थान्तर में परिणित हो जायेगा, और तब 'व्यंग्य' यह होगा कि "उस नायिका में तुम्हारे 'अनुराग' को मैंने जान लिया।" इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि यह 'अनुनीयताम्' पद अपने 'वाच्य' अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ हो, तब इस पद्य की कहने वाली कामिनी के 'ईर्ष्या, कोप' आदि तात्पर्य 'व्यंग्य' अर्थ के रूप में प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्था में इस पद्य में 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' होगी। यहाँ कोई ऐसा साधक या बाधक प्रमाण नहीं है, जिससे किसी एक के पक्ष में निर्णय किया जा सके, इसलिए इस पद्य में 'सन्देह-संकर' के आधार पर 'ध्वनि' के दो अवान्तर भेदों का सम्मिश्रण हुआ है।

'स्निग्धश्यामल' इत्यादि पद्य (दे०, पृ०—५) में संकर के तीसरे प्रकार—'एक व्यंजनानुप्रवेश' के रूप में 'रस-ध्वनि' एवं भाव ध्वनि' का सम्मिश्रण हुआ है। इस पक्ष में 'विप्रलम्भ शृंगार' तथा उसके व्यभिचारी 'शोक' के आवेग की 'भावध्वनि' के रूप में समान अभिव्यजनों से अभिव्यक्ति हो रही है। इस पद्य में ही 'ध्वनि' के अवान्तर भेदों की संसृष्टि भी उपलब्ध होती है। यहाँ प्रयुक्त किए गए 'लिप्त' आदि पदों में 'वाच्यार्थ' अत्यन्त तिरस्कृत है, और 'गामादि' पदों में वाच्यार्थ 'अर्थान्तर में संक्रान्त' हो गया है। इस प्रकार इन दोनों की इस पद्य में निरपेक्ष स्थिति होने से यहाँ 'ध्वनि' के दो अवान्तर भेद परस्पर संसृष्ट हो गए हैं।

'गुणीभूत-व्यंग्य' का 'ध्वनि' के भेद के साथ 'अंगांगि-भाव संकर' 'न्यक्कारोह्यमेव मेयदरयः'—इत्यादि पद्य में उपलब्ध होता है। इस पद्य में सभी पदों एवं पदांशों से प्रतीत होने वाले 'व्यंग्यार्थ' रावण के क्रोध के अभिव्यंजक हैं। अतएव इस पद्य में 'रौद्र रस' प्रधानतया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस पद्य के प्रत्येक पद से भी अनेक विशिष्ट 'गुणीभूत व्यंग्य ध्वनित' होते हैं। उन सभी की व्याख्या इस परिच्छेद में अन्यत्र हो चुकी है। ये पदों से द्योत्य 'गुणीभूत व्यंग्य' विभावादि' के रूप में इस 'रौद्र रस' को ही अनुगृहीत करते हैं। अतएव इस पद्य में 'अनुग्राह्यानुग्राहक-भाव' के अनुसार, 'असंलक्ष्यक्रम' एव 'गुणीभूत व्यंग्य ध्वनियाँ' संकीर्ण हुई हैं। यहाँ, 'गुणीभूत व्यंग्य' के आश्रय विभिन्न पदों के अर्थ हैं, और 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' वाक्यार्थ के आश्रित हैं, फलतः, आश्रयों के भिन्न होने के कारण, इन दोनों ध्वनियों की संकीर्णता में किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता। 'एकाश्रयानुप्रवेश' नामक 'संकर' की प्रक्रिया के 'गुणीभूत-व्यंग्य' एवं ध्वनि के भेदों की 'संकीर्णता' में भी कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि एकाश्रय से ही दो 'व्यंग्य अर्थ पृथक्तया अभिव्यक्त हो सकते हैं, उनमें से एक प्रधान होता है और दूसरा गौण। इस प्रधानता एवं गुणीभाव के कारण उनमें परस्पर एकाश्रय में रहने पर भी, विरोध नहीं होता। यदि एक ही 'व्यंग्य' अर्थ को 'प्रधान' एवं गौण कहा जाता, तो 'विरोध' हो सकता था, परन्तु ये दोनों 'व्यंग्य' अर्थ पृथक् होते हैं, यद्यपि इनका अभिव्यंजक आश्रय एक होता है। जिस प्रकार 'वाच्य-वाचक-भावों' में 'संकर' एवं 'संसृष्टि' का व्यवहार प्रसिद्ध है, उसी प्रकार इस व्यवहार को व्यंग्य-व्यंजक भाव में भी स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जिस पद्य में कुछ पद 'अविवक्षितवाच्य' हों, और अन्य कुछ पद 'संलक्ष्यक्रम अनुरणन रूप व्यंग्य' के व्यंजक हों, वहाँ 'ध्वनि' एवं गुणीभूत 'व्यंग्य' की संसृष्टि होती है। उदाहरणार्थ :—

> **"तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां,**
> **क्षेमं भद्र ! कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।**
> **विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदूच्छेदोपयोगेऽधुना,**
> **ते जाने, जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ।।**

अर्थात्, "हे भद्र, उन गोप वधूओं के विलास के सुहृत् तथा राधा के एकान्त क्रीडा के साक्षी कालिन्दी के किनारे के लतागृहों की तो कुशल है न? अथवा अब जबकि कामशय्या के बनाने के लिए उनके कोमल किसलयों के तोड़ने का उपयोग विच्छन्न हो गया है, तब वे नीलकान्ति को विकीर्ण करने वाले पल्लव, मुझे ऐसा लगता है कि जरठ होते जा रहे होंगे।" इस पद्य में 'विलाससुहृदाम् तथा 'राधारहः-साक्षिणाम्' पद 'लतावेश्म' (लताकुंज) के विशेषण हैं। 'सुहृत्ता' तथा 'साक्षित्व' दोनों ही चेतन के धर्म हैं, जो अचेतन 'लतावेश्म' में नहीं रह सकते, अतएव इन दोनों पदों में ही 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि का 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' भेद अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार 'ते' पद से अनुभूत अनेकगुण-गणों की अभिव्यक्ति हो रही है, और 'जाने' पद भी उत्प्रेक्ष्यमाण अनन्त धर्मों का व्यंजक है। वे सभी 'व्यंग्य' अर्थ 'वाच्य' अर्थ की चारुता के निष्पादक होने से, गौण हो जाते हैं। 'ते' पद से अभिव्यक्त होने वाले 'व्यंग्य' अर्थ की अपेक्षा प्रधानतया, चारुत्व का हेतु 'स्मरणरूप वाच्य अर्थ' अधिक चमत्कारक है। इसी प्रकार, 'जाने' पद से अभिव्यक्त होने वाले, अनेक 'व्यंग्य' अर्थ उत्प्रेक्षा-रूप 'वाच्य' अर्थ की प्रधानता के ही सम्पादक हैं। इस समस्त पद्य से 'प्रवास' पर आधारित 'विप्रलम्भ शृंगार' रूप 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' प्रकाशित हो रहा है। तथा उपर्युक्त 'गुणीभूत-व्यंग्यों के साथ उसकी निरपेक्ष-अवस्थिति होने से यहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य' एवं 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' की संसृष्टि उपलब्ध होती है। इसी प्रकार यहाँ 'अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' तथा 'ते' एवं 'जाने' पदों से अभिव्यक्त होने वाले 'वाच्यार्थ' की अपेक्षा से गुणीभूत व्यंग्य' की भी संसृष्टि है।

'ध्वनि' के असंलक्ष्यक्रम' भेदों के साथ, 'वाच्य अलंकारों' की संकीर्णता तो प्रायः सरस एवं सालंकार काव्यों में उपस्थित रहती है। कभी 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' से भिन्न अन्य भेदों का भी 'वाच्य अलंकारों' के साथ, संकर उपलब्ध होता है, जैसे आचार्य आनन्दवर्धन के "याव्यापारवती रसान्" इत्यादि पद्य में 'विरोध' अलंकार एवं 'अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि' की संकीर्णता स्पष्ट है। इसी प्रकार 'वाच्य अलंकारों' के साथ, 'ध्वनि' के अन्य भेदों की संसृष्टता भी सम्भव है। उनके अनेक उदाहरण 'ध्वन्यालोक' में दिए गए हैं।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेद

—डॉ० मीरा द्विवेदी
लेक्चरर, संस्कृत-विभाग
वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली (राजस्थान)

ध्वनिदर्शन के बिना काव्य-सौन्दर्य का साक्षात्कार असम्भव है क्योंकि काव्यसौन्दर्य व्यंग्यार्थ में रहा करता है। आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने अपने अर्थ को तिरस्कृत करके अपने से अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ को प्रकाशित करें ऐसे काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं।[1] आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण प्रतीयमान और वाच्यार्थ के अतिशय के आधार पर किया है। यदि वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमानार्थ अतिशयित होता है, तब ध्वनि काव्य होता है। वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यह है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चमत्कार का चारुत्व अधिक होता है।[2]

ध्वनिकार ने इसी प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर काव्य के मुख्यतः दो भेद किये हैं। ध्वनि-पूर्व युग में अर्थात् वामनाचार्य पर्यन्त काव्य के वर्गीकरण की स्थिति भिन्न थी। उस समय काव्य के वर्गीकरण का आधार उसकी विषय-वस्तु, शैली आदि बहिरंग साधन ही थे ; काव्य के चारुत्व की सम-विषम या उच्चावच स्थिति के अर्थात् काव्य के अन्तरंग तत्त्व के आधार पर काव्य विभाजन नहीं किया गया था। ध्वनि-संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य की काव्य व्यवस्था में सर्व प्रथम काव्य का यह विभाजन उसके अन्तर्गत साधन 'चारुत्व' पर निर्भर हुआ। आह्लादकता रमणीयता अथवा सौन्दर्यानुभूति के आधार पर काव्य का वर्गीकरण किया गया। उनके अनुसार ललना लावण्य की तरह सहृदयों के लिये आकर्षक जिस ध्वनि तत्त्व[3] का प्रतिपादन किया गया है उसी ध्वन्यमान या प्रतीयमान अर्थ की जहाँ प्रधानता रहती है उस काव्य को ध्वनि-काव्य कहते हैं परन्तु जहाँ ध्वन्यमान अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में ही अधिक चमत्कार प्रतीत होता है ; ध्वनि या व्यंग्यार्थ

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः। —ध्वन्यालोक १/१३

२. चारुत्वोकर्ष निबंधना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
—ध्वन्यालोक १/१३ की वृत्ति से

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥—वही १/४

अप्रधान गौणरूप में रहता है, काव्य के इस प्रभेद को गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं।[४] इस प्रकार आनन्दवर्धन व्यंग्य की चारुता के आधार हर काव्य का विभाजन ध्वनि काव्य, गुणीभूत-व्यंग्य काव्य तथा चित्रकाव्य के रूप में करते हैं। वस्तुतः वे चित्रकाव्य को काव्य की संज्ञा देना नहीं चाहते। उसको वे काव्य की अनुकृति समझते हैं[५] तथा ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य को काव्य प्रतिपादित करते हैं।[६] ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य की सत्ता व्यंग्य की प्रधानता, अप्रधानता के आधार पर होती है। जहाँ व्यंग्य का सम्वन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व प्रकर्षयुक्त हो जाता है वह गुणीभूत व्यंग्य नामक, काव्य का द्वितीय भेद है।[७] यह गुणीभूत व्यंग्य भी व्यंग्य प्रधान अर्थात् ध्वनि काव्य के समान आह्लाद के तथा उपादेय है। क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ चमत्कार जनक भले ही रहे परन्तु उसका जो चमत्कार है वह वहाँ व्यंग्यार्थ के किसी न किसी प्रकार के पुट के कारण ही होता है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन इसे ध्वनि निष्पन्द ही मानते हैं तथा रसादि के तात्पर्य से इसे ध्वनिरूप वाला ही कहते हैं।[८]

आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए आचार्य मम्मट ने प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता के आधार पर काव्य का त्रिधा विभाजन किया है लेकिन व्यंग्य के तारतम्य के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम संज्ञा का प्रतिपादन उनकी मौलिक उद्भावना है। उन्होंने ध्वनि काव्य को उत्तम[९], गुणीभूत काव्य को मध्यम तथा चित्रकाव्य को अवर काव्य[१०] की संज्ञा प्रदान की है। मम्मट के अनुसार जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक अथवा उसके तुल्य चमत्कार जनक होता है उसे गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं।[११] यथा—

"ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिनामुखच्छाया॥"

---

४. व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तं तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूत व्यंग्यो नाम काव्य प्रभेदः प्रकल्प्यते।
—वही, ३/३५ की वृत्ति से

५. ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यकाव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। —वही, ३/४३ की वृत्ति से

६. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते॥— वही, ३/४२

७. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥— वही, ३/३५

८. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥—वही, ३/४१

९. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
—(काव्यप्रकाश १/४)

१०. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। —वही, १/५

११. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। —वही, १/५

प्रस्तुत श्लोक में विप्रलम्भाभास आस्वादनीय है तथा संकेतभंग व्यंग्यार्थ है। 'दत्त संकेतानागत।' रूप व्यंग्यार्थ यहाँ सहृदय को उतना आह्लादित नहीं करता जितना कि मुखच्छायामालिन्य रूप वाच्यार्थ करता है। संकेतभंगरूप व्यंग्यार्थ मुखमालिन्य रूप वाच्यार्थ के द्वारा ही विप्रलम्भाभास पोषक है, स्वतंत्र रूप से नहीं। अतः व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो गया है फलतः गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है।

विश्वनाथ ने काव्य का वर्गीकरण विषयवस्तु तथा ध्वनि परम्परा उभयविधि दृष्टि से किया है। व्यंग्य की केवल दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं—पहली प्रधान, दूसरी गौण। प्रथम स्थिति में ध्वनिकाव्य होता है, द्वितीय स्थिति में गुणीभूत व्यंग्य। इसके बाद तीसरी स्थिति विश्वनाथ के अनुसार असम्भव है। अतः वे चित्र काव्य को काव्य स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। गुणीभूत व्यंग्य को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य से उत्तम नहीं अर्थात् वाच्यार्थ के समान ही हो या उससे न्यून हो, उसे गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं।[१२]

विश्वनाथ के अनुसार काव्य वह वाक्य है जो कि रसात्मक होता है। चित्रकाव्य में अलंकारों का ही चमत्कार होने के कारण रसात्मकता नहीं होती है अतः इन्होंने चित्र काव्य का काव्यत्व नहीं माना। परन्तु ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य इन दोनों प्रकार के काव्यों में रस के व्यंग्य होने से रसात्मकता विद्यमान रहती है; इन दोनों में काव्यत्व निहित रहता है। इस प्रकार काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य इन दोनों भेदों के करने में विश्वनाथ ने ध्वनिकार का ही आश्रय लिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर ही काव्य विभाजन करते हुए चार प्रकार के काव्य माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। मम्मट का उत्तम काव्य ही पण्डितराज का उत्तमोत्तम काव्य है।[13] मम्मट के गुणीभूत व्यंग्य को जगन्नाथ के उत्तम तथा मध्यम काव्य भेदों में समाहित किया जा सकता है क्योंकि गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेदों में से असुन्दर आदि कुछ भेद जगन्नाथ के मध्यम काव्य की परिभाषा से मिलते जुलते है। जहाँ व्यंग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कारी होता है। वह द्वितीय श्रेणी का अर्थात् उत्तम काव्य है।[१४] यथा—

'राघवविरहज्वालासन्तापितसह्यशैल शिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥"

इस पद्य का वाच्यार्थ है कि रामचन्द्र के हृदय की विरहाग्नि से तप्त सह्यपर्वत के शिखरों पर शिशिरकाल में सुख से सोते हुए कपिगण हनुमान् पर कुपित हो रहे हैं। इस वाच्यार्थ से यह अर्थ ध्वनित होता है कि हनुमान् ने जानकी के कुशल समाचारों से राम के

---

१२. अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। —साहित्यदर्पण ४/१३

१३. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्।
—रसगंगाधर, प्रथमआनन

१४. यत्र व्यंग्यमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्। —वही

हृदय को शान्त कर दिया है। चमत्कारी होने पर भी यह व्यंग्यार्थ अकस्मात् हनुमान् के ऊपर होने वाले वानरों के क्रोधरूप वाच्यार्थ की उपपत्ति में सहायक हो जाने से प्रधान रूपेण प्रतीत नहीं हो पाता। अतः यह उत्तमोत्तम काव्य न होकर उत्तम यानि कि गुणीभूत व्यंग्य काव्य ही है।

जहाँ वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्यार्थ के चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया न अनुभूत हो वह मध्यम काव्य कहलाता है।[१५]

इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) भेदों में व्यंग्य यद्यपि गुणीभूत रहता है तथापि द्वितीय में व्यंग्य जागरूक अर्थात् चमत्कार विशेष जनक होने से अनुभव योग्य रहता है और तृतीय में व्यंग्य चमत्कार विशेष जनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य होता है। अतः समासोक्ति प्रभृति जिन अर्थालंकारो में व्यंग्य गौण होकर भी चमत्कारी हो उन अर्थालंकारों से युक्त काव्यों का द्वितीय भेद में और दीपकादि जिन अर्थालंकारों में व्यंग्य गौण हो साथ ही साथ चमत्कारी भी नहीं हो उन अर्थालंकारों से युक्त काव्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए।[१६]

पण्डितराज ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्य की स्थिति को एक अत्यंत सरल एवं सुन्दर लौकिक उदाहरण से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार किसी राजकन्या के दुर्दैववशात् दासी वन जाने पर जो स्थिति होती है वही स्थिति इसमें चमत्कारी होने पर भी वाच्यार्थ का उपपादक हो जाने से व्यंग्यार्थ की हो जाती है। चमत्कार का कारण व्यंग्यार्थ ही होता है किन्तु वाच्यार्थ की सेवा में नियुक्त हो जाने से वह अप्रधान बन जाता है।

अतः गुणीभूत व्यंग्य काव्य वस्तुतः वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्य विशिष्ट हुआ करता है तथा उसमें ध्वनिकाव्य के समान ही सहृदय हृदय को आकर्षित करने की क्षमता होती है। इसीलिए इसे ध्वनि काव्य का निष्यन्द कहा गया है।

काव्य में व्यंग्य की गौणता विविध प्रकार से हो सकती है। इसी आधार पर गुणीभूत व्यंग्य काव्य के आठ भेद स्वीकार किये गये हैं। आनन्दवर्धनाचार्य तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन करके यत्र तत्र गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का उल्लेख किया था किन्तु उन्होंने स्पष्टतया गुणीभूत व्यंग्य के भेद प्रभेदों का विवेचन नहीं किया। फिर भी ध्वन्यालोक तथा लोचन में गुणीभूतव्यंग्य काव्य के विविध प्रकारों का स्वरूप सामान्य रूप से दृष्टिगत होता है। अतः कह सकते हैं कि अगूढ़, अपरस्याङ्ग, वाच्य सिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर रूप में मम्मट ने

---

१५. यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।—वही

१६. अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकगुणीभूतव्यंग्ययोः प्रविष्टं निखिलालंकारप्रधान काव्यम्।—(रसगंगाधरः प्रथमानन)

१७. तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपोद्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयोलक्षणीयः सहृदयैः।
—(ध्वन्यालोक, ३/३७ की वृत्ति से)

गुणीभूतव्यंग्य के जो आठ भेद गिनाये हैं;[१८] विश्वनाथ ने भी जिनका अनुकरण किया है[१९], उनकी रूपरेखा ध्वनिकार तथा लोचनकार द्वारा निर्धारित अथवा रूपायित की जा चुकी थी।

१. अगूढ व्यंग्य—

व्यंग्य के अगूढ होने से तात्पर्य है उसका स्पष्ट रूप से प्रतीत होना। काव्य के इस रूप में व्यंग्य की प्रतीति असहृदय को भी सहजता से हो जाती है इसलिये उस अगूढ व्यंग्य की प्रधानता न होने से उसको गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। काव्य में व्यंग्य के चमत्कार का निरूपण 'कामिनीकुचकलशन्याय' से किया गया है—

"नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चिद्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥"

सार यही है कि महाराष्ट्र देश की स्त्री के कुचकलश के समान न बहुत अस्पष्ट और न बहुत स्पष्ट केवल सहृदयमात्र संवेद्य व्यंग्यार्थ ही शोभित होता है। इससे भिन्न असहृदय-(सामान्य) व्यक्ति को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहज ही हो जाये उसे अगूढ़ व्यंग्य कहते हैं। यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिरेकेण युनक्तिकर्णौ।
कांचीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि॥

अर्थात् शत्रुओं द्वारा की जाने वाली निन्दा (पाण्डुपुत्रों की तिरस्कृति) आकर कानों में गरम की गई सुईयों के समान जिसके चुभती हैं वह मैं (अर्जुन) आज करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। सम्प्रति मैं जीवित होते हुए भी मृतकल्प हूँ। क्या करूँ?

जीवित व्यक्ति में जीवनाभाव नहीं हो सकता अतः 'जीवन' पद यहाँ निन्दित जीवन रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। यहाँ अनुताप का आधिक्य व्यंग्य है और जन साधारण को भी वाच्यार्थ के समान ही उसका बोध हो जाता है अतः यह अगूढ़ गुणीभूत

---

१८. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।
—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, ४५.४६ का०

१९. तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं वाच्यसिद्ध्यंगम्॥
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढ़म्।
व्यंग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ॥
—साहित्यदर्पण, चतुर्थपरिच्छेद, १३, १४, का०

व्यंग्य है। ध्वनिकार तथा लोचनकार की कुछ पंक्तियाँ अगूढ़ व्यंग्य के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।[२०]

२. अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग्य—

अपरांग व्यंग्य से तात्पर्य है कि जहाँ वाक्य का तात्पर्यभूत अर्थात् विषयी रूप प्रधान अर्थ रसादि या वाच्यादि अर्थ हो तथा दूसरा व्यंग्य रसादि अथवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य वस्तु या अलंकारादि व्यंग्य उसका अंग हो उसको अपरांग गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहते हैं। यहाँ व्यंग्यार्थ वाक्य के तात्पर्यभूत किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग अर्थात् उपकारक होता है। यथा—

"अयं सः रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥"

रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर भूरिश्रवा की पत्नी विलाप करती हुई कहती है कि यह वही (रति क्रीडा में) करधनी को खीचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला नाभि, ऊरू तथा जघन का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को ढीला करने वाला हाथ है।

इस उदाहरण में श्रृंगार रस व्यंग्य है, जो करुण रस का अंग हो गया है। रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर किया गया उसकी पत्नी का विलाप यहाँ प्रधान है। अतः इस श्लोक का प्रधान रस करुण है। वह स्त्री रतिकाल में होने वाले उस हाथ के विविध कार्यों का स्मरण भी कर रही है। इसलिए श्रृंगार रस भी अभिव्यक्त हो रहा है। स्मर्यमाणश्रृंगार प्रकृत करुण रस का अंग बन गया है क्योंकि परिपोषक होने से श्रृंगार अंग है तथा परिपोष्य होने के कारण करुण अंगी है। अतः अपरांग गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है।

अपरस्यांग व्यंग्य की गौणता अनेक प्रकार की हो सकती है। जैसे—रस की रस के प्रति अंगता, भाव की भाव के प्रति अंगता, रस की भाव के प्रति अंगता, भाव की रस के प्रति अंगता, भाव की रसाभास, भावभास के प्रति अंगता, भाव की भाव शान्ति तथा भाव सन्धि के प्रति अंगता, भावोदय की भाव के प्रति अंगता, भाव सन्धि की भाव के प्रति अंगता भाव शबलता तथा भाव शान्ति की भाव के प्रति अंगता, भावोदय, भाव शान्ति, भावसन्धि, भाव शबलता की रस के प्रति अंगता आदि।

कुछ साहित्यशास्त्रियों ने इसे अलंकार रूप माना है।[२१] रस, भाव, रसाभास भावाभास एवं भावशान्ति के अंग बन जाने पर क्रमशः रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी एवं समाहित

---

२०. यत्र हि व्यंग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तित व्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते।—ध्वन्यालोक १/१४
वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढ़तेत्यर्थः। उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढ़तां निधानवदपेक्षत इति भावः। —ध्वन्यालोकलोचन १/१४

२१. एते च रसवदाद्यलंकाराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालंकारतया-उक्तानि, तथापि कश्चिद्ब्रूयादित्येवमुक्तम्।—काव्यप्रकाश, ५/४५ की वृत्ति से

अलंकार होते हैं।[२२] भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता के अंगरूप में स्थित होने पर अपने-अपने नामानुसार अलंकार होते हैं।[२३]

अपरांग व्यंग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य काव्य का संकेत भी आनन्दवर्धन की अधोलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है।[२४]

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपिशब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यंग्यस्य कदाचिद्
वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूत व्यंग्यता।"

अर्थात् अतिरस्कृत वाच्यशब्दों से प्रतीयमान व्यंग्य का काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्यता हो जाती है।

३. वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य—

जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के अधीन होती है, अर्थात् जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में अंग बन जाता है, वहाँ वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य होता है।

यथा—

"भ्रमिमरतिमलसहृदतां प्रलयं मूर्च्छा तमः शरीरसादम्।
मरणंच जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥"

अर्थात् मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष वियोगिनियों के लिए मानसिक अशान्ति, विषय-भोग में अरुचि, उदासीनता, ज्ञान एवं चेष्टा का अभाव, मूर्छा, अंधापन, शारीरिक पीड़ा तथा प्राणनाश कर देता है।

यहाँ विषपद से हालाहल व्यंग्य है तथा वह मेघ पर आरोपित सर्परूप वाच्यार्थ की सिद्धि में उपकारक हो गया है अतः वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ कवि का अभिप्राय रूपक की ही सुन्दरता प्रदर्शित करना है। यदि व्यंग्य को यहाँ रूपक का निश्चायक वाच्यसिद्ध्यंग न मानें तो 'जलद इव भुजगः' इस पूर्व पदार्थ प्रधान उपमित समास में उपमालंकार की प्रसक्ति हो जायेगी जो कि यहाँ अभीष्ट नहीं है।

गुणीभूत व्यंग्य के इस भेद का संकेत आनन्दवर्धन की अधोलिखित पंक्तियों से भी प्राप्त हो रहा है—

"येषु चालंकारेषु सादृश्य मुखेन तत्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगिता निदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यंग्यस्यैव विषयाः।"[२५]

---

२२. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ॥
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमितिक्रमात् ॥—साहित्यदर्पण, १०।९५, ९६

२३. भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदारुयकाः।—वही, १०।९७

२४. ध्वन्यालोक, ३/३४ की वृत्ति से

२५. ध्वन्यालोक ३/३७ कारिका की वृत्ति से

तात्पर्य यह है कि रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि अलंकार सादृश्यमूलक हैं, इनमें से एक उपमा को छोड़कर शेष सबमें सादृश्य गम्यमान अर्थात व्यंग्य होता है। वह व्यंग्य सादृश्य वाच्य अलंकार के चारुत्वातिशय का हेतु होता है। अतः व्यंग्य वाच्य की अपेक्षा गौण हो जाने से उसे गुणीभूत व्यंग्य ही माना जायेगा।

४. अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य—

जिस काव्य में व्यंग्य गूढ़ हो अर्थात् पूर्णतः स्पष्ट न हो उसे अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इस व्यंग्यार्थ को सहृदयजन भी आसानी से नहीं समझ पाते हैं। यथा—

"अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेद भीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥"

इस उदाहण में व्यंग्यार्थ है कि जिससे तुम अदृष्ट न हो और जिससे वियोग का भय उत्पन्न न हो वैसा उपाय करो। यहाँ अदृष्टे इत्यादि में व्यंग्यार्थ अस्पष्ट है। सहृदयों को भी अस्पष्ट प्रतीत होने से यहाँ अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य है।

आनन्दवर्धन भी इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहने के पक्ष में नहीं जो अस्फुट हो अथवा वाच्य की सिद्धि में सहायक हो।[२६] इन भेदों को तो गुणीभूत व्यंग्य में ही रखा जा सकता है क्योंकि किसी न किसी रूप में यहाँ व्यंग्य तो होता ही है।

५. संदिग्धप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य—

जहाँ यह संदेह निरंतर बना रहे कि वाच्यार्थ अधिक चमत्कार जनक है अथवा व्यंग्यार्थ, उसे संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। यथा—

"हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥"

चन्द्रमा के आरम्भ में समुद्र के उद्वेलित हो उठने के समान अधीर शिवजी ने बिम्बफल के समान रक्त अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपने तीनों नेत्रों को घुमाया।

प्रस्तुत उदाहरण में शिव पार्वती के मुख का चुम्बन करना चाहते थे? यह व्यंग्य प्रधान है अथवा वाच्य रूप नेत्रों का संचरण प्रधान है? यह सन्देहास्पद है। अतः सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूत काव्य का उदाहरण है। क्योंकि कवि ने यहाँ कोई ऐसी साधक-बाधक युक्ति नहीं दी है जिससे यह सिद्ध हो कि यहाँ शिव निष्ठ पार्वती विषयक रतिभाव के अनुभाव रूप से वर्णित चेष्टा और धैर्यच्युति के द्वारा शृंगार रसास्वाद विवक्षित है अथवा नेत्र चेष्टा और धैर्यच्युति के अनुभावों से चुम्बन में औत्सुक्यादि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति होकर शिवनिष्ठ पार्वती विषयक रतिभाव की चर्वणा अभिप्रेत है।

---

२६. यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टेन भासते।
वाच्यस्यांगतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥—ध्वन्यालोक, ३/३१

६. तुल्य प्राधान्य व्यंग्य—

जहाँ ध्वन्यर्थ तथा वाच्यार्थ के चमत्कार में न्यूनाधिक्य न दिखाई दे वहाँ तुल्य प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है। यथा—

"ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥"

अर्थात् ब्राह्मणों के अपमान का त्याग आपके ही कल्याण के लिये है। ऐसा करने पर जामदग्न्य आपके मित्र बने रहेंगे। अन्यथा आपसे क्रुद्ध हो जायेंगे।

यहाँ परशुराम समस्त क्षत्रियों के समान राक्षसों का भी क्षण भर में विनाश कर देगा, इस व्यंग्यार्थ की तथा उक्त वाच्यार्थ की समान रूप से प्रधानता है।

सन्दिग्ध प्राधान्य एवं तुल्य प्राधान्य नामक गुणीभूत व्यंग्य के काव्य प्रकारों में व्यंग्य की प्रधानतया प्रतीति नहीं हो पाती है। इसीलिये आनन्दवर्धन कहते हैं—

"व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
ससासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥"[२७]

७. काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य—

जहाँ काकु नामक ध्वनि विकार से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ के विना वाच्यार्थ का स्वरूप निष्पन्न ही नहीं होता, वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य होता है। यथा—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुश्शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥"

वेणीसंहार का प्रस्तुत श्लोक भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति है। जिस भीमसेन ने कुरुकुल के संहार की प्रतिज्ञा की है; वही युधिष्ठिर की सन्धि नीति की बात सुनकर 'न मथ्नामि' अर्थात् नहीं मारुँगा आदि निषेधार्थक वचन कहता है। अतः ये वचन बाधित होकर काकु से 'मथ्नाम्येव' रूप में व्यंग्यार्थ की प्रतीति करा रहे हैं। यह व्यंग्यार्थ मथन-निषेध रूप वाच्यार्थ के समान ही प्रतीत हो रहा है। अतः काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है। आनन्दवर्धन भी स्वीकार करते हैं कि काकु से यदि कहीं अर्थान्तर की प्रतीति दिखाई देती है वह व्यंग्य के गौण होने से गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत ही होती है।[२८]

८. असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य—

जहाँ पर व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारी होता है, वहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य होता है। यथा—

---

२७. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, परिकर श्लोक

२८. अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
साव्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिमाश्रिता ॥ —वही, ३/३९

"वानीर कुञ्जोड्डीन शकुनि कोलाहलं श्रृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगनि ।।"

बेतस-कुञ्ज में उड़ते हुये पक्षियों के कोलाहल को सुनकर गृहकार्य में लगी वधू के अंग-प्रत्यंग शिथिल हो रहे हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में 'संकेत देने वाला कोई उपनायक लताकुञ्ज में प्रविष्ट हो गया है' इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा 'अंग-प्रत्यंग शिथिल हो रहे हैं' यह वाच्यार्थ अधिक चमत्कार जनक हैं अतः असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य है ।

अभिनव गुप्त के अनुसार भी व्यंजकत्व व्यापार चारुता के अभाव में सम्भव नहीं है ।[२९] अतः जब व्यंग्य का चारुत्व वाच्य की अपेक्षा न्यून होगा तो वह गुणीभूत व्यंग्य ही माना जायेगा ।

इस प्रकार मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य के प्रकर्ष के आधार पर गुणीभूत व्यंग्य के मुख्य आठ भेद माने हैं । इन भेदों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भेद भी सम्भव हैं । जिस प्रकार ध्वनि काव्य के शुद्ध एवं संकीर्ण भेद- प्रभेद सम्भव हैं उसी प्रकार गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भी अनेक शुद्ध एवं संकीर्ण भेद-प्रभेद सम्भव हैं ।[३०]

आचार्य मम्मट ने ध्वनि काव्य के मुख्य इक्यावन (५१) भेद स्वीकार किये है। चूंकि गुणीभूतव्यंग्य काव्य में वस्तुव्यंग्य-अलंकार निरूपित नौ (९) भेद नहीं हो सकते क्योंकि अनलंकृत वस्तुरूप वाच्य के द्वारा अलंकारों का अभिव्यंजन हो तो निश्चय ही वे अभिव्यंग्य अलंकार 'ध्वनि' हैं क्योंकि जो भी काव्य सौन्दर्य विद्यमान है वह इन्हीं पर निर्भर होता है । अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य के बयालीस (४२) मुख्य भेद सम्भव हैं । अष्टविध गुणीभूतव्यंग्य काव्य में प्रत्येक के ये बयालीस भेद हो जाने से गुणीभूतव्यंग्य काव्य के (४२ × ८) = ३३६ (तीन सौ छत्तीस) भेद हो जाते हैं ।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के इन शुद्ध भेद प्रभेदों का, जो कि स्वयं अलंकार रूप भी हो सकते हैं और अलंकार सहित भी, उनका संकर एवं संसृष्टि की सम्भावनाओं में ध्वनि के साथ सम्मिश्रण भी हो सकता है ।[३१] इस प्रकार ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के शुद्ध एवं संकीर्ण भेदों को मिलाने से इनकी संख्या अतिभूयसी हो जाती है ।[३२]

इस प्रकार मम्मटादि विद्वानों ने व्यंग्य के चारुत्व प्रकर्ष के आधार पर उत्तम, मध्यम काव्यों का विभाजन करके मध्यम को गुणीभूतव्यंग्य काव्य प्रतिपादित किया है । ध्वनि का ही निष्यंदभूत होने के कारण यह उतना ही सहृदयों को आनन्दित करता है जितना कि ध्वनि काव्य आह्लादित करता है ।

---

२९. चारुरूपं विश्रान्तिस्थानं, तदभावे स व्यंजकत्वव्यापारो नैव उन्मीलति, प्रत्यावृत्त्य वाच्य एव विश्रान्तेः' क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत् ।
—ध्वन्यालोक लोचन, ३/४४

३०. एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ।
सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टि संकरैः ।।—काव्यप्रकाश, ५/४६

३१. स गुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सहप्रभेदैः सह ।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते वहुधा । —ध्वन्यालोक, ३/४३

३२. अन्योन्य योगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी । —काव्यप्रकाश, ५/४७

अभिधावृत्ति विमर्श

—म०म० डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
९४, संस्कृतनगर, सेक्टर १४,
रोहिणी, दिल्ली-११००८५

भाषा मानव समाज में व्यवहृत होने वाले अनिवार्य पदार्थों में से एक है। यदि यह कहें कि भाषा के विना मानव समूह समाज के रूप में परिणत ही नहीं हो सकता तो अनुचित न होगा। क्योंकि कोई समूह एक इकाई के रूप में परिणत होने पर ही समाज कहा जाता है, तथा वैचारिक एकता के आधार पर ही कोई समूह इकाई के रूप में परिणत होता है, और विचारों का विनिमय भाषा के माध्यम से ही होता है।

भाषाशास्त्र के अनुसार यद्यपि वाक्य, पद तथा पद के अवयवभूत धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय अथवा विभक्तियाँ, उपसर्ग आदि भाषा के अनेक अवयव हैं, किन्तु अर्थ प्रतीति की दृष्टि से वाक्य को ही अर्थ प्रत्यायन में सक्षम इकाई सामान्यतः स्वीकार किया जाता है।

भाषा के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन करने वाले मीमांसा न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों में इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार हुआ है कि अर्थ बोध पदों से होता है या वाक्य से अथवा पदांशों से? प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक वाक्य को ही भाषा की मूल इकाई स्वीकार करते हैं[1], जिसे मीमांसा और काव्यशास्त्र की परम्परा में **अन्विताभिधानवाद** के नाम से जाना जाता है। इसका तात्पर्य है कि वाक्यगत अनेक पद अन्वित होकर एक इकाई के रूप में एक समष्टि रूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

व्याकरण शास्त्र में यद्यपि 'प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग परिमाण वचनमात्रे प्रथमा'[2] 'वर्त्तमाने लट्'[3] 'परोक्षे लिट्'[4] 'कर्मण्यण्'[5] 'भूते'[6] 'कुत्सिते'[7] ह्रस्वे'[8] आदि सूत्रों को देखकर लगता है

१. पदैरेवान्वितस्वार्थमात्रोपक्षीणशक्तिभिः।
स्वार्थश्चेद्बोधिताः बुद्धो वाक्यार्थोऽपि तथा सति॥
—वाक्यार्थमातृका १.२ पृ० ३२

२. पाणिनीय अष्टाध्यायी २.३.४६
३. वही, ३.२.१२३
४. वही, ३.२.११५
५. वही, ३.२.१
६. वही, ५.३.८४
७. वही, ५.३.७४
८. वही, ५.३.८६

कि इस शास्त्र में पद ही नहीं पदांश भी अर्थ के अभिधायक हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि इस शास्त्र में भी वाक्यों को ही अर्थों की अभिधायक इकाई स्वीकार किया गया है और तभी कहा गया है कि—

'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मण कम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युः निरर्थकाः ॥'[९]

अर्थात् जिस प्रकार 'ब्राह्मणकम्बल' आदि समस्त पदों में 'ब्राह्मण' आदि पदांशों का कोई स्वतन्त्र अर्थ स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' आदि वाक्यों में भी 'देवदत्त' आदि शब्दों (ध्वनियों) का परमार्थतः कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है ।

उपर्युक्त दो परम्पराओं के अतिरिक्त अन्यत्र पदों में भी अर्थ की सत्ता परमार्थतः स्वीकार की जाती है ।

वाक्यों अथवा पदों को सुनकर श्रोता को अर्थ की प्रतीति होती है यह तो सर्वविदित है । किसी वाक्य विशेष अथवा पद विशेष को सुनकर अर्थ विशेष की ही प्रतीति होती है चाहे जिस अर्थ की प्रतीति नहीं । इसके हेतु पर विचार करते हुए भाषा शास्त्रियों ने प्रत्येक वाक्य और वाक्यार्थ अथवा पद और पदार्थ के बीच संकेत अथवा शक्ति विशेष की कल्पना की है । इस शक्ति को ही **"अभिधा शक्ति"** कहा जाता है ।

किस पद या वाक्य का किस अर्थ के साथ संकेत है अथवा किस पद या पदार्थ में किस अर्थ के अभिधान की शक्ति है इसे जानने के लिए मुख्य रूप से लोक व्यवहार उपाय है यद्यपि व्याकरण उपमान (सादृश्य) कोश आप्तवचन वाक्यशेष विवृति (व्याख्यान) और सुविदित अर्थ वाले पदों की सन्निधि से भी अभिधान शक्ति का ग्रहण होता है ।[१०] उदाहरण के रूप में हम 'दाशरथि' पद को लें । दशरथ संज्ञापद अयोध्या के एक प्राचीन राजा, जो अज के पुत्र कौशल्या के पति एवं राम-लक्ष्मण के पिता थे, का बोधक है, यह सर्वविदित है । इस दशरथ शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय का प्रयोग देखकर 'दाशरथि' पद का अर्थ दशरथ का पुत्र राम है; इसका बोध व्याकरण के द्वारा होता है ।

'गवय' गौ के सदृश होता है' इत्यादि बोध के अनन्तर गो सदृश पदार्थ के बोधन में 'गवय' पद की शक्ति का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है । 'पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी' इत्यादि अमरकोश के वचनों के द्वारा 'पीताम्बर' पद में विद्यमान 'विष्णु' पदार्थ का बोध कराने की शक्ति का ग्रहण होता है । "कोयल को 'पिक' भी कहते है" इस आप्तवचन से पिक शब्द में कोकिल अर्थ के बोध कराने की शक्ति है यह बोध होता है ।

व्यवहार शक्ति के ग्रहण का सबसे मुख्य साधन है । 'गाम् आनय' 'गाम् बधान' अश्वम् आनय,' अश्वम् बधान' इत्यादि उत्तम वृद्ध के वाक्यों को सुनकर और उसके बाद

---

९. वाक्यदीप

१०. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।
—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ० २९६

मध्यम वृद्ध की विविध प्रवृत्ति को देखकर बालक को 'गो' 'अश्व' 'आनय' 'बधान' आदि पदों में स्थित उनके अर्थों की बोधकशक्ति का ग्रहण व्यवहार से ही होता है।

'यव' शब्द दीर्घ शूक विशेष के बोधन की शक्ति है इसका बोध "वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्र शातनम्। मोदमानश्चतिष्ठन्ति यवा: कणशशालिन:।" इत्यादि वाक्य शेष से होता है। इस पद का कंगु अर्थ में प्रयोग म्लेच्छ देश में शक्ति भ्रम के कारण होता है, वहाँ शक्ति का ग्रहण नहीं होता।

पद अथवा वाक्य और पदार्थ अथवा वाक्यार्थ के मध्य विद्यमान अभिधा शक्ति का बोध कभी कभी विवरण के द्वारा भी होता है। प्रत्येक शास्त्रों में प्रयुक्त होने वाली पारिभाषिक शब्दावली एवं उनके अर्थ के बीच अर्थ बोधकता का ग्रहण विवरण के बिना संभव नहीं है। 'अनुमितिकरणमनुमानम्'[११] 'व्याप्यस्य पक्ष वृत्तित्व धी: परामर्श उच्यते'[१२] 'मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते येन लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।'[१३] 'वृद्धिरादैच्'[१४] आदि परिभाषायें विवरण के अन्तर्गत ही आती है।

कभी कभी अभिधायक पद और अभिधेयार्थ के मध्य अभिधायकता शक्ति का बोध प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से भी होता है। 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' इत्यादि वाक्यों में जो व्यक्ति पिक पद का अर्थ पहले से नहीं जानता वह व्यक्ति वाक्यगत अन्य पदों के अर्थों को समझकर 'पिक' पद का अर्थ 'कोयल' है, इस तथ्य को प्रसिद्ध पदों के सान्निध्य वश ही ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार अभिधायक पद अथवा वाक्य और अभिधेयार्थ के बीच अभिधा शक्ति के बोधक अनेक उपाय हैं।

इस अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत होने वाला पद सदा एक प्रकार का नहीं होता। कभी वह जाति रूप होता है तो कभी व्यक्ति (द्रव्य) रूप, और कभी गुण अथवा क्रिया रूप।[१५] पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग न करके 'यदृच्छा' शब्द का प्रयोग किया है। इस (यदृच्छा शब्द) पद की व्याख्या करते हुए कैय्यट ने स्पष्ट किया है कि 'पदार्थगत प्रवृत्ति की अपेक्षा किये बिना ही वक्ता अर्थ के लिए जिस शब्द का प्रयोग करता है, वह 'यदृच्छा शब्द' है।[१६] इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए उद्योतकार

---

११. तर्कसंग्रह, पृ० ६०

१२. कारिकावली, ६८

१३. काव्यप्रकाशकारिका, ९ पृ० ३१

१४. पाणिनीय अष्टाध्यायी, १.१.१

१५. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:। जातिशब्दा:, गुणशब्दा:, क्रियाशब्दा: यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था:। महाभाष्य ऋलृक् सूत्रभाष्य १.१.२.२ पृ० १०१
—(निर्णय सागर, १९५१)

१६. अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य य: शब्द प्रयोक्तृभि: प्रायेणैव प्रवर्त्तते स यदृच्छा शब्दो डित्थादि:।—महाभाष्य प्रदीप, १.१.२.२.

नागोजि भट्ट कहते हैं कि—'एक व्यक्तिपदार्थ में वक्ता द्वारा स्वेच्छा पूर्वक जिस पद में संकेत स्वीकार किया जा रहा है वह यदृच्छा शब्द है।[१७]

न्याय सूत्रकार गौतम ने व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थाः''[१८] कहते हुए अर्थ को जाति आकृति और व्यक्ति रूप से केवल तीन प्रकार का स्वीकार किया है। उनका मानना है कि इन तीनों में एक ही शक्ति (अभिधाशक्ति) रहा करती है।[१९] 'गौर्गच्छति,' 'गवां समूहः' 'गां ददाति' इत्यादि वाक्यों में 'गौ' पद का अर्थ व्यक्ति रूप मान कर ही इस पद का प्रयोग हुआ है। क्योंकि गमन क्रिया, समूह भाव और दान कर्मकता आकृति और जाति में संभव नहीं है। 'गौः पदा न स्प्रष्टव्या' अर्थात् गौ को पैर से नहीं छूना चाहिए इत्यादि वाक्यों में 'गौः' पद गो जाति रूप अर्थ का बोध कराता है। जब कि मिट्टी अथवा काष्ठ से बने खिलौनों'(क्रीडनकों) में 'अयं गौः, अयमश्वः, अयं हस्ती' आदि वाक्यों में गौ, अश्व और हस्ती आदि शब्द जाति अथवा व्यक्ति रूप अर्थ के बोधक न होकर आकृति रूप अर्थ का बोध कराते हैं।

व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने उपर्युक्त तीन को पदार्थ न मानकर जाति और व्यक्ति के साथ गुण और क्रिया को भी पदार्थ माना है। वे इन चारों को ही पदार्थ मानने के सन्दर्भ में तर्क देते हुए कहते हैं कि जिस समय किसी बहुत बड़े गौओं के समूह के बीच बैठे हुए गोपाल से वक्ता पूछता है 'क्या यहाँ कोई गाय है ? तुम उसे देख रहे हो? तो उस समय गो पद द्वारा द्रव्य रूप अर्थ ही विवक्षित रहता है। किन्तु जिस समय धर्मशास्त्र कहता है 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः;' 'सुरा न पेया' वहाँ जाति रूप अर्थ विवक्षित रहता है व्यक्ति रूप नहीं। यदि ऐसे स्थलों पर व्यक्ति रूप अर्थ विवक्षित हो तो एक ब्राह्मण की हत्या न करके एक सुरा का पान न करके अन्यत्र स्वेच्छाचारिता विवक्षित होने लगती।[२०] 'श्वेता गौः पीवरीकृता,' 'कपिला गौः' 'देवदत्तः ओदनं पचति' इत्यादि वाक्यों में गोगत श्वेत और कपिल धर्म गुण रूप है और ओदन गत पाक क्रिया रूप, जिनका अभिधान श्वेता कपिला और पचति आदि में होता है अतः वाच्यार्थ गुण और क्रिया रूप भी मान जाता है और उसके वाचक पदों को गुणशब्द और क्रिया शब्द कहते हैं।

अर्थ बोध की इस व्यवस्था में यह प्रश्न सहज भाव से उपस्थित होता है कि समस्त लौकिक व्यवहार व्यक्ति रूप अर्थ में ही सम्पन्न होते हैं जाति, गुण और क्रिया रूप अर्थ में नहीं।

---

१७. स्वेच्छया एकस्यां व्यक्तौ संकेत्यमानः शब्दो यदृच्छा शब्दः।
—महाभाष्य प्रदीपोद्योत, १.१.२.२.

१८. न्याय सूत्र २.२.६४

१९. पदार्थ इत्येकवचनं तु तिसृष्वत्येकैव शक्तिरिति सूचनाय।
—विश्वनाथ वृत्ति २.२.६४

२०. कश्चिन्महति गोमण्डले गोपालकमासीनं पृच्छति 'अस्त्यत्र कांचिद्गाम्पश्यसीति।... नूनमत्र द्रव्यं विवक्षितम्। (पृ० ६७)। (वार्तिक) **धर्मशास्त्रं च तथा।** (भाष्य) एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तम् 'ब्राह्मणेन हन्तव्यः, सुरा न पेयेति। एकं ब्राह्मणमहत्वा एकां सुरामपीत्वा अन्यत्र कामचारः स्यात्।
—महाभाष्य १.२.३. पृ० ६७-६२

गाम् आनय आदि वाक्यों में आनयन गो व्यक्ति का होता है। 'ब्राह्मणाः मान्याः' जैसे वाक्यों में माननीयता सभी ब्राह्मणों की बनने पर भी मानन क्रिया ब्राह्मण व्यक्ति में ही सम्पन्न होती है। 'शुक्लां गां गृहाण' वाक्य में भी ग्रहण क्रिया गो व्यक्ति विषयक ही सम्पन्न होगी, शुक्ल गुण विशेष विषयक नहीं। अतः व्यवहाराश्रय के कारण व्यक्ति में ही संकेत क्यों न माना जाये ? किन्तु भाषाविदों ने केवल व्यक्ति में शक्ति को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति में अलग अलग शक्तिबोध अथवा संकेत ग्रहण स्वीकार करना पड़ेगा, फलतः शक्ति की अनन्तता का दोष उपस्थित होगा।[२१] इस दोष से बचने के लिए मुकुल भट्ट आदि आचार्यों ने अर्थ बोध को उपाधि मूलक माना है। अर्थात् अपने अपने अर्थों का बोध कराने में सभी शब्दों की प्रवृत्ति उपाधियों से उपरञ्जित विषय का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक हुआ करती है।[२२] उपाधि प्रथमतः दो प्रकार की होती है-**वक्ता द्वारा आरोपित और वस्तु का सहज धर्म**। वक्ता अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु का कोई नाम रख लेता है, जैसे किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र या शिष्य का 'देवदत्त' नाम रखा है, इस स्थिति में देवदत्त इस उपाधि का आरोप उसमें (पुत्र या शिष्य में) हो जाता, फलतः 'देवदत्त' पद का प्रयोग करने पर उसका ही बोध होता है। वह देवदत्त उपाधि वक्ता द्वारा आरोपित है।

कुछ उपाधियाँ वस्तु का सहज धर्म होती हैं। वस्तु के धर्म के भेद से इन उपाधियों के दो प्रकार होते हैं कुछ वस्तु-धर्म **सिद्ध धर्म** होते हैं और कुछ साध्य धर्म। इनमें प्रथम को सिद्ध उपाधि और द्वितीय को साध्य-उपाधि कहते हैं। क्रिया शब्द साध्य उपाधि वाले होते हैं। जैसे 'पचति'। यहाँ पचति आदि पदों से जिस अर्थ का बोध होता है वह पाकरूप अर्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि पाक के समय अधिश्रयण अर्थात् पकाने के पात्र बटलोई, कड़ाही, कूकर आदि में जल आदि के साथ चावल आदि को अग्नि पर चढ़ाने से लेकर अग्नि पर से उतारने तक पाक आदि पदों के वाच्य वस्तु के धर्म में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है, अतः पाक आदि क्रिया को साध्य वस्तु धर्म माना जाता है।

सिद्ध वस्तु धर्म रूप उपाधि जाति और गुण भेद से पुनः दो प्रकार की मानी गयी है। इनमें से **जातिरूप उपाधि** पदार्थ की प्राणप्रद उपाधि है। जाति से सम्बद्ध हुए विना कोई वस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती। इसीलिए आचार्य भर्त्तृहरि ने कहा है—'नहिं गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।[२३] अर्थात् 'गौ केवल स्वरूपमात्र से न गौ होती है, न गौ से भिन्न पदार्थ। बल्कि गोत्व से सम्बद्ध होने के कारण वह गौ होती है। गुणरूप सिद्ध उपाधि स्वरूप को प्राप्त वस्तु में वैशिष्ट्य का आधान करती है। इसी उपाधि के कारण कोई वस्तु सामान्य वस्तु से भिन्न हो जाती है और वह **विशेष वस्तु** कहलाती है। जैसे शुक्ल आदि गुण। इन शुक्ल आदि गुणों के कारण शुक्ल वस्त्र सामान्य वस्त्र से भिन्न 'विषयवस्तु' कहलाते हैं। किन्तु इस शुक्ल धर्म के कारण उसे वस्त्र आदि कहा जाए

---

२१. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथापि आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्त्तुं न युज्यते। काव्य प्रकाश

२२. सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधि निवन्धना प्रवृत्तिः।—अभिधावृत्तमातृका, पृ० ६

२३. वाक्यपदीय।

ऐसी बात नहीं है, जैसे कि गोत्व घटत्व या वस्त्रत्व आदि धर्मों से युक्त होने के कारण गो घट या वस्त्र पदार्थ गो घट या वस्त्र कहे जाते हैं। क्योंकि किसी भी पदार्थ को जातिरूप उपाधि के कारण ही अपना स्वरूप प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (इसकी चर्चा अभी पूर्व पंक्तियों में की जा चुकी है) इस प्रकार **जातिरूप वस्तु धर्म** (उपाधि) के कारण स्वरूप को प्राप्त वस्तु में **गुण रूप वस्तु धर्म** विशेषता का आधान करता है।[२४]

मीमांसाशास्त्र के आचार्य जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (व्यक्ति) में अभिधा शक्ति (संकेत) मानने की अपेक्षा जाति में अभिधा को स्वीकार करना अधिक उचित मानते हैं। उनका कहना है कि शुक्लता गुण हिम, जल, दूध, शंख आदि में यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार का है फिर भी जिस कारण सभी को शुक्ल कहा जाता है उसका कारण शुक्लत्व जाति ही है। इसी प्रकार गुड़ तण्डुल आदि पदार्थों में होने वाली पाक क्रिया भी भिन्न भिन्न प्रकार की है फिर भी उन सभी में विद्यमान क्रिया को पाक क्रिया कहा जाता है ; इसका कारण भी पाकत्वक्रिया सामान्य अर्थात् जाति ही है। इसी प्रकार बालक वृद्ध अथवा शुक सारिका आदि द्वारा उच्चारण किये गये डित्थ आदि शब्दों में तथा प्रतिक्षण परिवर्त्तित हो रहे 'डित्थ' आदि पदार्थों में भेद निश्चित रूप से विद्यमान हैं फिर भी उन्हें डित्थ आदि के रूप में जाना जाता है, इसका कारण उनमें विद्यमान डित्थत्व आदि जाति ही है अतः सभी शब्द व्यवहार के पीछे जाति ही कारण है यह कहा जा सकता है।[२५]

आचार्य मुकुल भट्ट इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि गुण-शब्दों और क्रिया शब्दों के अभिधेय व्यक्तियों में परस्पर भेद होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती है, उसका हेतु गुण एवं क्रिया रूप उपाधियों का होना ही है, जाति नहीं। जिस प्रकार एक ही मुख तेल, तलवार, जल और शीशा आदि प्रतिबिम्ब को दिखाने वाले उपकरणों के भेद से अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार एक ही शुक्ल आदि गुण व्यक्ति भिन्न भिन्न देश और काल में विविध कारण सामग्रियों से उत्पन्न शंख आदि आश्रय विशेष के कारण विविध रूप में अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार क्योंकि यहाँ शुक्ल आदि गुण व्यक्ति एक ही है, जबकि जाति अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहा करती है अतः शुक्लत्व आदि जाति नहीं हो सकती। फलतः शुक्ल आदि शब्दों को जाति वाचक नहीं कहा जा सकता। और इसी कारण अभिधा शक्ति (संकेत) जाति अर्थ में नहीं मानी जा सकती।[२६] 'पचति' आदि क्रिया पदों के वाच्य पचन आदि अर्थों और डित्थ आदि शब्दों और डित्थ आदि अर्थों के मध्य सम्बन्ध के लिए भी यही बात कही जा सकती है।

---

२४. अभिधावृत्तमातृका पृ० ८

२५. हिमपयः शंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधान प्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं, गुडतन्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्ध शुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

—काव्य प्रकाश, पृ० २९

२६. अभिधावृत्तमातृका, पृ० ११

जाति रूप अर्थ को अभिधेयार्थ (मुख्य अर्थ) स्वीकार करने वाले आचार्यों के मत में व्यक्ति रूप अर्थ की प्रतीति अविनाभाव सम्बन्ध पर आश्रित लक्षणा के द्वारा होती है। कारण यह है कि अभिधा शक्ति जाति रूप अर्थ का बोध करा कर स्वयं क्षीण शक्ति हो जाती है, वह व्यक्ति रूप विशेष्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं रह पाती।[२७] और क्योंकि व्यक्ति रूप अर्थ के विना जाति रूप गो आदि अर्थ यज्ञ आदि का साधन नहीं बना सकता अतः शब्द की शक्ति से प्रतीति कराये गये जाति रूप अर्थ के सामर्थ्य से ही जाति की आश्रयभूत व्यक्ति का आश्रय कर लिया जाता है। फलतः व्यक्ति की यह प्रतीति लाक्षणिकी अर्थात् लक्षणा द्वारा होती है यह स्वीकार किया जाता है।[२८]

यह लक्षणा व्यापार शब्द में रहने वाला व्यापार नहीं है, बल्कि अर्थ में रहने वाला व्यापार है और अभिधा व्यापार का ही एक प्रकार है। इसी कारण आचार्य मुकुल भट्ट ने अभिधा व्यापार के दो भेद किये थे—अव्यवहित रूप से अर्थ की प्रतीति कराने वाला मुख्य व्यापार एवं मुख्य अर्थ का व्यवधान होने पर लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति कराने वाला लक्षणा व्यापार।[२९] काव्यशास्त्र के प्रमुख-आचार्य महिमभट्ट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्वीकार किया था कि शब्द में केवल एक शक्ति (अभिधा-शक्ति) ही रहा करती है। लक्ष्य अथवा व्यंग्य कहे जाने वाले अन्य अर्थों की प्रतीति शब्द से प्रतीत अर्थ के द्वारा हुआ करती है। उनके मत में लक्षणा व्यापार शब्द का व्यापार न होकर अर्थ का व्यापार है।[३०]

वाग्व्यवहार में अभिधा शक्ति से सामान्यतः इन जाति आदि अर्थों की प्रतीति होती है और उसके फलस्वरूप समाज में विचारों का आदान प्रदान चलता रहता है। इस समस्त व्यवहार की आधारभूत शक्ति अभिधा का आश्रय क्या है? इस प्रश्न पर मीमांसा शास्त्र के आचार्यों ने गम्भीर विचार किया है। आचार्य कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि अभिधा शक्ति का आश्रय पद हैं, जबकि आचार्य प्रभाकर और उनके अनुयायी अभिधा का आश्रय वाक्य को स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में दोनों ही परम्पराओं के आचार्य अपने अपने पक्ष में लाघव सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं जो वाचस्पति मिश्र कृत **तत्त्व बिन्दु**, पार्थसारथि मिश्र

---

२७. (क) अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥—तन्त्रवार्त्तिक, पृ० ३५४
(ख) विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिविशेषणे।—मीमांसा न्याय
—अभिधावृत्तमातृका पृ० ५ से उद्धृत

२८. यस्य तु शब्द व्यापारावगम्यार्थ पर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्।........ जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण याग साधनभावं न प्रतिपद्येत इति शब्द प्रत्यायित जाति सामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते तेनासौ लाक्षणिकी।
—अभिधावृत्तमातृका, पृ० ५

२९. एवमयं मुख्य लाक्षणिकात्म विषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधा व्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थ विषयः सान्तरार्थं निष्ठश्च।—वही, पृ० ५

३०. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लक्षणा।
—व्यक्तिविवेक कारिका, १-२७

कृत वाक्यार्थ निर्णय और शालिकनाथ कृत **वाक्यार्थ मातृका वृत्ति** में द्रष्टव्य है। विस्तार भय से हम उसकी चर्चा यहाँ न करेंगे।

पद में अभिधा शक्ति स्वीकार करने वाले आचार्यों के मत में अभिधा-शक्ति से प्रत्येक पद के अर्थ की पृथक्-पृथक् प्रतीति होने पर उन का परस्पर अन्वय होता है उसके अनन्तर अन्वित वाक्यार्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है ऐसा प्राचीन मीमांसकों का मत है। परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त लक्षणा पद और लक्षणाशक्ति के लिए प्रयुक्त लक्षणा पद के अर्थों में भ्रम न हो इस दृष्टि से वाक्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति को तात्पर्य शक्ति के नाम से स्मरण किया है। स्मरणीय है कि पूर्ववर्त्ती आचार्य वर्त्तमान काल में विदित लक्षणा शक्ति के लिए प्रायः **गुणवृत्ति** शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। तथा उनके अनुसार जहाँ अविनाभाव वश अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ अर्थबोधक शक्ति विशेष को लक्षणा कहा जाता है एवं जहाँ लक्ष्यमाण अर्थ गुण अर्थात् साधर्म्य आदि के कारण प्रतीत होता है वहाँ गुणवृत्ति स्वीकार की जाती है।[३१]

अर्थ प्रतीति और अर्थ की ग्राह्यता में अतिशय उत्पन्न करने की दृष्टि से कविगण काव्य वाक्यों (कविता) में बहुधा अलंकारों का प्रयोग करते हैं। ये अलंकार कवि के कथन में सौन्दर्य (चत्कार) तो उत्पन्न करते ही हैं, किन्तु उनकी योजना का मुख्य प्रयोजन सामान्य वाक्यों से प्रतीत न होने वाले अर्थ विशेष की प्रतीति कराना होता है। 'मार्गं मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' आदि कालिदास जैसे रससिद्ध कवियों के वचनों में उप्मा आदि अलंकार जिस विशिष्ट अर्थ तक पहुँचा देते हैं, उनके (उपमा आदि अलंकारों के) विना उस अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है अथवा उसके लिए कवि को सुदीर्घ वाक्य-योजना करनी पड़ती। क्योंकि यहाँ कवि को वह अनुगमन विवक्षित नहीं हैं जैसा अनुगमन 'सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा' में अभीष्ट है। स्मृतियों द्वारा श्रुतिका अनुगमन एक विशिष्ट अनुगमन है जो बात श्रुति में कथित है स्मृतियाँ उसे नहीं कहतीं बल्कि उनमें वह कहा जाता है जो श्रुति में विवक्षित होकर भी अकथित है, अथवा श्रुति से अविरुद्ध हैं, श्रुति की भावना के विपरीत नहीं है। कालिदास जैसे रससिद्ध कवियों की रचनाओं में उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए ही हुआ है। इसी कारण काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों को अभिधा अथवा विचित्र अभिधा के रूप में स्वीकार किया है।[३२]

---

३१. अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥—मन्त्रवार्त्तिक, ३५४

३२. (क) अलंकाराणाञ्चाभिधात्वमुपगतं तस्याः भङ्गीभणितिरूपत्वात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २२

(ख) विचित्रं यत्र वक्रोक्ति वैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा॥
—वक्रोक्ति जीवित, १.४२

(ग) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।—भामह, काव्यालंकार, २.८५

यह विचित्र अभिधा, अभिधा सामान्य का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से वक्ता का अभिप्राय मनोरम बन कर श्रोता के अन्तस्तल तक पहुँचता है और वहाँ प्रतिष्ठित होता है। इस अभिधा का विस्तार अनन्त है। स्मरणीय है कि महिम भट्ट और मुकुल भट्ट आदि कुछ आचार्य सामान्य अभिधा का ही अनन्त विस्तार स्वीकार करते हैं और समस्त वाग्व्यवहार को अभिधा के वृत्त के अन्दर ही स्वीकार करते हैं। इसी मान्यता को मानस में रखकर मुकुल भट्ट ने लक्षणा का भी अभिधावृत्त के अन्तर्गत ही विवेचन किया है और लक्ष्य अर्थ को **अर्थावसेय** कहा है।[33] महिम भट्ट अभिधा से अतिरिक्त किसी अन्य शब्द व्यापार को मानना उचित नहीं मानते इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। अभिधा वृत्ति को मुख्यवृत्ति और अभिधेयार्थ को मुख्य अर्थ तो सभी आचार्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। संक्षेप में यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि शब्द ब्रह्म की उपासना अभिधावृत्ति के विना सम्भव नहीं है तथा अभिधा की सहायता से शब्द ब्रह्म में निष्णात होकर परब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

---

३३. अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।—अभिधावृत्तमातृका, पृ० ४
यस्य तु शब्द व्यापारावगम्यार्थ पर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्। ....
सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते।···एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्द-
स्याभिधा व्यापारो द्विविधः प्रतिपादितः।—वही, पृ० ५

लक्षणा-विमर्श

—डॉ० ठाकुर दत्तो जोशी
एम०ए०, पी-एच०डी०, साहित्याचार्य,
उपाचार्यः, संस्कृत-विभागः,
जोधपुर विश्वविद्यालयः, जोधपुरम्

सुविदितमेव संस्कृतकाव्यशास्त्रविकासविदां विदुषां यच्छब्दव्यापारे अर्थस्तु वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यभेदेन त्रिविधो मतः। एषां स्वरूपमपि साहित्यदर्पणकारेण विश्वनाथेन निम्न-प्रकारेण प्रत्यपादि—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया तास्स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥

शब्देषु लक्षणावादस्य चर्चा न केवलं काव्यशास्त्रिभिः कृता, अपितु निरुक्तव्याकरण-न्याय-मीमांसा-वेदान्तादिषु ग्रन्थेष्वपि सर्वत्र लक्षणायाः प्रसारो दृष्टिपथमायाति। अस्या एव-लक्षणायाः शास्त्रनिवहेषु उपचाराऽऽरोपिताक्रिया-गुणवृत्तिमक्त्यारोपादीनि नानानामानि दृष्टिपथमवतरन्ति।

मुख्यार्थसम्बन्धेनामुख्यार्थप्रतिपादकः शब्दव्यापारो लक्षणा इति निगद्यते। मुख्यार्थस्य बाधे जात एव तत्सम्बन्धिनोऽर्थस्य बोधकत्वाल्लक्षणाऽभिधापुच्छभूतेत्यपि कथ्यते। यतोहि मुख्यार्थबाधशायामेव लक्षणायाः प्रसारः।

अभिधापुच्छभूता लक्षणावृत्तिर्न केवलमालङ्कारिकैरेवापितु मीमांसकैर्वैयाकरणै-स्तार्किकैरप्यभिधया वक्तुर्विवक्षितार्थस्य प्रतीत्यभावेऽप्रत्ययनार्थमुररीकृताः लक्षणाशक्तिः, एषा काव्ये अनेकधा प्रसरणशीला भवति। शोभाकरमिश्रस्तु लक्षणां काव्यस्य जीवनं मनुते स्म।

ध्वनिसिद्धान्तस्य विस्तरेण व्याख्यां कुर्वतः आनन्दवर्धनाचार्येण ध्वन्यालोके अभाववादिनां, भक्तिवादिनां, अनिर्वचनीयवादिनाञ्च विप्रपत्तयः समुपस्थापिताः, तत्र भक्तिशब्देन लक्षणा गौणी च उभे एव ग्रहणीये वर्तेते। लक्षणायाः सर्वप्रथमं रूढिः प्रयोजनवती च भेदद्वयमुररीकृतं सुधीभिः, किन्तु केचन आचार्याः विषयेऽस्मिन् नैवैकमत्यं विभ्रति।' कुमारिलभट्टस्यानुसारेण रूढालक्षणा नैव संगच्छते। यतोहि कुमारिलभट्ट मुकुलभट्ट प्रभृतयो विद्वांसो निरूढायाम् अभिधानवद् अर्थसमर्पकतामुररीकुर्वन्ति। तद्यथा—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

केचन विद्वांस आमनन्ति, यद्बाधस्य स्थितौ रूढा, बाधाऽभावेऽभिधावदर्थप्रदा निरूढालक्षणा भवति। निरूढा, लक्षणारुपेणाङ्गीकार्या न वेति विषये विवादाः सन्त्यनेके।

उपलब्धप्रमाणानुसारेण सर्वप्रथम आचार्यो हेमचन्द्रः काव्यानुशासने रूढा, लक्षणेतिरूपेण नाङ्गीचकार, काव्यप्रकाशस्य प्राचीनौ टीकाकारौ सोमेश्वरमाणिक्यचन्द्राचार्यौ निरूढामभिधावन्मन्वाते । 'निरूढा इति भ्रष्टोपचारप्रतीतयो लक्षणा इति 'लक्षणा' शब्दाः । अभिधानवद् वृक्षादिनामवत्' तयोः कथनमेतदुक्तविचारधारासमर्थनाय अलम् ।

महिमभट्टोऽपि रूढिमूलां लक्षणां नाभ्युपैति । नरेन्द्रप्रभसूरिरपि कथयति—'रूढिलक्षणा त्वभिधातुल्यैव, तेनात्र नोदाह्रियते ।' नागेशोऽपि प्रब्रूते —रूढालक्षणाऽनादिवृद्धव्यवहारमूलकत्वाच्च शक्ति (अभिधा) वदेव ।

अधुना प्रसङ्गोपात्तत्वाद् रूढिलक्षणा विषयको विवादः प्रस्तूयते—मम्मटप्रभृतिभिराचार्यैः प्रयोजनाभावादस्या भेदा नैव कृताः । तद्भेदविषये बद्धादरेषु आचार्येषु विश्वनाथो मूर्धन्यं स्थानं बिभर्ति, यतस्तेनाष्टौ भेदाः कृता रूढिलक्षणायाः । निरूढायामपि प्रयोजनं मन्वानः गोकुलनाथोपाध्यायस्तस्या निरूढाया उपादानलक्षणालक्षणलक्षणेतिमाध्यमेन भेदद्वयमुररीचकार । साहित्यसारकर्ता अच्युतरायोऽपि दीक्षितमतमेवानुसरति । आशाधरभट्टोऽपि जहदजहद्जहद जहदिति माध्यमेन निरूढालक्षणां त्रिधा विभेद । अप्पयदीक्षितोऽपि वृत्तिवार्तिके प्रोक्तवान्—'गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम् । इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा—निरूढा फललक्षणा च' इत्युक्त्या निरूढायाभेदं स्वीचकारारूढा लक्षणा सर्वदैव निर्व्यंग्या भवति इत्यामनन्ति केचन आचार्याः। राद्धान्तस्य निराकरणं कुर्वन् गोकुलनाथोपाध्यायो निरूढायां प्रयोजनस्य सत्तां स्वीकुर्वन् निरूढाया उपादानलक्षणालक्षणलक्षणेति भेदद्वयमङ्गीचकार 'भक्ति (लक्षणा) विवेक' नामके ग्रन्थे कथितञ्च तेन—'यत्तु व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ' इति काव्यप्रकाशकारवचनं, तत्र रहितेऽर्थेऽनन्तरमपिकारः प्रक्षेप्तव्यो न त्वेवकारः । अर्थात् व्यङ्ग्येन रहिता इति पदस्य पश्चात् 'अपि' शब्दोऽपि संयोजनीय : सर्वदर्शनसंग्रहकारस्य माधवाचार्यस्यानुसारेण रूढिलक्षणायां प्रयोजनस्यापेक्षैव न भवति । अलङ्कारसारकर्ता भावदेवः काव्यप्रकाशटीकाकारो गोविन्दठक्कुरश्च मतमेनमनुसरतः ।

लक्षणाया प्राचीनता:—लाक्षणिकशब्दानां प्रयोगस्तु मानवैर्भाषाज्ञानस्य प्रारम्भिकावस्थायामेव विदित आसीत् । भाषाविज्ञानविश्लेषणपरेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु भाक्तप्रयोगाणामुल्लेखो यत्रतत्र सम्प्राप्यते,तथापि एतरेयब्राह्मणे भक्तिशब्दस्योल्लेख अस्त्येव यास्कप्रणीतेनिरुक्तेऽपि—'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणवाक्यानि भवन्ति' इत्युक्तमेव ।

ब्राह्मणग्रन्थेषु तत्तद्गुणानामाधारेण, उपमानस्य उपमेयनाम्ना व्यवहरणमेव भक्तिशब्देन गृह्यते । सैव भक्तिः गौणी वृत्तिर्वा कालान्तरे लक्षणाशब्देन व्यवहृता अभवत् ।

उद्भटाचार्येण गुणवृत्तिर्नामा एका वृत्तिरुल्लिखिता । काव्यालंकारसूत्रे तेन गौणलाक्षणिकार्थौ निरूपितौ। उक्तञ्च तेनयद् सादृश्यनिमित्तेन विहिता लक्षणैव वक्रोक्तिपदवाच्या भवति ।

सुविदितमेव अलंकारशास्त्रविकाशविदां विदुषां यल्लक्षणा रूढिप्रयोजनवती भेदाभ्यां द्विधा प्रयोजनवती लक्षणा च गौणीशुद्धा भेदमाध्यमेन भेदद्वयं बिभर्ति । उपचारस्तत्र कारणम् । तद्यथागौण्यामुपचारः उतवा साधर्म्यं प्राप्यते, किन्तु शुद्धायां तस्य अभाव एव परिलक्ष्यते ।

प्राचीनमीमांसकासास्तदनुयायिनश्च गौणीं लक्षणातश्च भिन्नां वृत्तिं स्वीकुर्वन्तीति तथ्यमे-तदर्वाचीना विद्वांसोऽपि सम्यग्विदांकुर्वन्त्येव[1] आलंकारिकाः सादृश्यमूलकलक्षणां गौणीनाम्ना समुच्चरति, किन्तु मीमांसकाः 'गौणी तु लक्षणातो भिन्ना वृत्तिः इति, आमन्ति। विषयेऽस्मिन् मान्यतैषा प्रसरति तेषां—'यद्गौण्यां शब्दप्रयोगः सम्प्राप्यते। लक्षणायान्तु न। 'गौणे शब्दप्रयोगः न लक्षणायाम्' आद्यस्योदाहरणं 'गौर्वाहीक': 'सिंहोमाणवकः' अपरस्य प्रसिद्धोदा-हरणम्—'गंगायां घोषः'।

मान्यतैषा आलंकारिकैर्नाङ्गीक्रियते, तन्मते हेतुकोट्यां समापतितः शब्दप्रयोगो गौण्या लक्षणायाश्च भेदको नैव भवितुम् अर्हति।

यतो हि आलङ्कारिकैः प्रकारान्तरेण शब्दप्रयोगे सारोपा तदभावे साध्यवसाना भेदद्वयमेव अस्मिन् प्रकरेण स्वीकृतमासीत्।

मीमांसका यां गौणीतिनाम्ना आचचक्षिरे, मीमांसकैरालंकारिकैस्तत्रापि लक्षणा समाम्नाता, मीमांसकेष्वपि प्राभाकरा गौणी पृथग्वृत्तिरूपेणामन्ति। भाट्टमीमांसका लक्षणाया-मेव गौणीमन्तर्भावि उपचारस्य मिश्रणादमिश्रणाच्च लक्षणां गौणीशुद्धाभेदाभ्यां विभज-याञ्चक्रुः।

गौण्याः प्रसार—

यास्कसमये (७०० ई० पू०) लक्षणाविषयकतत्त्वानां चर्चा समारब्धासीत्, तथापि स्पष्टरूपेण तस्या पारिभाषिकत्वं उतवा स्वरूपञ्च कुमारिलभट्टात्पूर्वं नैव सम्प्राप्यते। भर्तृहरिणा (५७५-६५१ ई०)गुणवृत्तिविषये अथवा लक्षणाविषये गौणशब्दः व्यवहृतः।[2] कुमारिलभट्टः (६५०-७५० ई०) आद्याचार्य आसीत् येन गौणीवृत्तिर्लक्षणातो भिन्ना स्वीकृता; लक्षणञ्चोभयोः पृथग् पृथग्रूपेण कृतम्।[3]

अनुमीयते यल्लक्षणाया द्वौमुख्यौ भेदौ गौणीशुद्धेति अष्टमशताब्देः पूर्वं नैवास्ताम्। उद्भटाचार्येण लक्षणाशब्दस्य प्रयोगो विहित एव। वामनेन काव्यालंकार सूत्रवृत्तौ कविसन्दर्भ

---

१. गौणी स्वतन्त्रवृत्तिः अभिधातो लक्षणातश्च विलक्षणा इति वेदवादिनां मीमांसकानां सिद्धान्तः। स एव च मधुसूदनसरस्वतीपादेनाङ्गीकृतः।
नरेन्द्रनाथः चौधुरी, काव्यतत्त्वसमीक्षा, मोतीलालबनारसीदासः, दिल्ली १९५९ ई० पृ० ३१८।
तथैव—मीमांसकास्तु गौणीमपि लक्षणातो भिन्नां स्वीकुर्वते, अपरे नैयायिकादयस्तु लक्षणातोऽभिन्नां लक्षणाप्रभेदाख्यां वा मन्यते।
—बदरीनारायणसिंह, शाब्दबोधविमर्शः, गोदोलिया, वाराणसी, सं० २०८० पृ० २६५।

२. सर्वशक्तेषु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वञ्चोपजायते ।।
भर्तृहरिः वाक्यपदीयम्, मोतीलालबनारसीदासः दिल्ली १९७१ ई० पृ० ९५

३. अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।
—कुमारिलभट्टः, तन्त्रवार्त्तिकम्, चौ० वि० वाराणसी, १९९५ ई० पृ० ३१८

प्रकरणे गौणशब्दस्य तथैव वक्रोक्त्यलङ्कारस्य वर्णनावसरे च लक्षणाशब्दस्य प्रयोगो विहितः।

आनन्दवर्धनाचार्येण गौण्याः कृते गुणवृत्तेस्तथा लक्षणाशब्दस्यापि प्रयोगो विहित एव मीमांसाकौस्तुभकारेण खण्डदेवेन सप्तदशशताब्द्यामभिहितम्, स्वशक्यनिष्ठगुणवत्ता एव गौणी-वृत्तिः अनेन ज्ञायते एतावत्कालपर्यन्तमपि गौणी वृत्तेः पृथग्वृत्तिरूपेण समर्थका आचार्यास्तेषां मान्यता च दृष्टिपथमायाति।

वस्तुतः कुमारिलभट्टसमये या गौणीवृत्तिर्लक्षणातो भिन्ना स्वतंत्ररूपेण च सम्प्रतिष्ठिता आसीत्, सैव मुकुलभट्टस्य अभिधावृत्तिमातृकायां लक्षणाया भेदद्वयान्तर्गत द्वितीयभेदरूपेण अर्थादुपचारस्य भेदद्वयान्तर्गतद्वितीयभेदरूपेण गौणनामतया ख्यातिमाज-गाम।

भट्टस्यानुसारेणोपचारः शुद्धगौणभेदेन द्विविधः, पुनः आरोपाध्यवसानाभ्यां द्विधा विभागमाप्नुतः। एवमुपचारश्चतुर्विध.। इत्थमुपचारसाध्यमेन विभाजिता गौणी, मम्मटेन काव्यप्रकाशे प्रयोजनवती लक्षणावर्णनावसरे लक्षणाङ्गरूपेण तद्भेदरूपेणोपन्यस्ता तथा स्थायि-रूपेण मीमांसकाभिमताया गौण्या वृत्तो समावेशो लक्षणायामेव विहितः।

मम्मटप्रभृत्यालंकारिकाणां समर्थनं धर्मराजाध्वरीन्द्रः, कणादतर्कवागीशः, अन्नम्भट्ट-प्रभृतयो नैयायिका अप्यकार्षुः। वस्तुतः गौणीभिन्नवृत्तिः इत्येषा धारणा अष्टमशताब्दि-पर्यन्तं मीमांसकेषु बद्धमूला आसीत्। अग्रेऽपि मीमांसकानुयायिनः शालिकनाथ-भोजराज-रुय्यक-गागाभट्टप्रभृतयो विद्वांसो मूर्धन्यं स्थानं बिभृति। गागाभट्टो (१७ वीं० श०) गौण्याः पृथगस्तित्वं समर्थयन् प्राह-गौणीभिन्नवृत्तिरूपेणास्वीकुर्वाणे तु 'यजमानः प्रस्तरः' वैदिक-वाक्येऽस्मिल्लक्षणा नैव भविष्यति। यतोऽत्र यजमानप्रस्तरयोर्यागकारतारूपगुणयोगाद् यजमानपदं प्रस्तरे गौणमस्ति, अतः गौणीवृत्तिर्लक्षणातो भिन्ना एव।

गौण्या पृथक्तायाः समर्थका आचार्या—

एतेषु समर्थकेषु आचार्येषु मुख्यतया शालिकनाथः, भोजः, हेमचन्द्राचार्यः, मंखकः, गागाभट्टः, भट्टशंकरश्चापि वर्तते। एतेषां मतानि विस्तरभिया नैवोल्लिख्यन्ते।

गौण्याः पृथगस्तित्वस्य विरोधिनः आचार्या—

एते आचार्याः 'गौणी न भिन्नवृत्तिः' इति विचारधारायाः पृष्ठपोषकास्सन्ति। एतेषु प्रामुख्यं भजन्ति—अजिसेनः, चण्डीदासः, विश्वनाथः, विद्यानाथः, साहित्यरत्नाकरकारः, धर्मसूरिः, जगदीशतर्कालंकारः, धर्मराजाध्वरीन्द्रः, कणादतर्कवागीशः, अप्ययदीक्षितः, नागेशः, अन्नम्भट्टः, गोकुलनाथोपाध्यायप्रभृतयो विद्वांसः।

साररूपेण वक्तुं पार्यते यन्मीमांसकाः गौणीं लक्षणातो भिन्ना तथातिरिक्तां वृत्ति-मंगीकुर्वन्ति। कुमारिलभट्टादिभिः लक्षणाया गौण्याश्च परिभाषानेकरूपेण विहिताः। अष्टमशताब्दिपर्यन्तं गौण्याः लक्षणायाश्च पूर्णपार्थक्यं दृष्टिपथमवतरति।

लक्षणाभेदकानि तत्त्वानिः—

लक्ष्यार्थे तथा लक्षकार्थे मिथोभेदे सति शुद्धा लक्षणा भवति, अभेदे तु गौणी लक्षणा भवतीति राद्धान्तौ मुकुलभट्टस्य, किन्तु तस्य परवर्तिनोऽन्ये मम्मटादय उपचारमेव गौणी-

शुद्धयोर्भेदकतत्त्वं स्वीकुर्वन्ति भट्टः शुद्धोपचारगौणोपचारभेदाभ्यामुपचारस्य द्विधा विभाजनं करोति। तदनुसारेण शुद्धायां गौण्यां चोपचारस्य सम्मिश्रणं सम्प्राप्यते। भट्टः शुद्धोपचार-गौणोपचार भेदाभ्याम् उपचारमिश्रालक्षणां द्विधा विभज्य तयोरपि सारोपासाध्यवसानेति भेदद्वयं व्यधात्।

मम्मटाचार्योऽपि भट्टेन समं शुद्धायाः उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा च भेदद्वयं व्यधात्, किन्तु गौण्याः शुद्धायाश्च भेदकतत्त्वविषये नैवैकमत्यमुभयो आचार्ययोः।

मुकुलभट्टमम्मटयोस्ताटस्थ्यसिद्धान्तविषयको मतभेदः

द्वयोराचार्ययोः मतभेदविषयको मुख्याधारः 'गंगायां घोषः' इति लक्षणापरकं वाक्य-मस्ति यतोऽत्र तटरूपस्यार्थस्य विषये नैवैकमत्यं विभ्रतः, इदन्तु स्पष्टमेव यन्मुख्यार्थबोधजाते सति गंगाशब्दो लक्षणया तटरूपमर्थं व्यनक्ति। विवादस्य कारणमस्ति बाधितगगाशब्दः, 'तटे घोषः' इत्यर्थस्य प्रतीतिं कारयति उत वा गङ्गाशब्दस्यार्थस्य सम्बन्धोऽपि तटेन सह अवि-छिन्नरूपेण विद्यते।

विषयेऽस्मिन् मुकुलभट्टः स्वकीयं मन्तव्यं प्रस्नोति—यद्यप्यत्र गंगाशब्देन तटरूपार्थ एवोपस्थितो भवति, गङ्गया सम्बद्धस्य तटरूपार्थस्योपस्थिति नैव भवति, तथाप्यत्र गंगाशब्द-स्योपयोगिता इदमेव तत्तटं गंगाव्यतिरिक्तानां नदीनां न किंतु गंगानद्या एवेति प्रतीतिः सुस्थिरा भवति।[४]

अस्याभिप्रायोऽयमेव यदुक्तवाक्ये घोषस्याधिकरणरूपं तटं मनसि कृत्वा 'गंगायां घोषः' 'न वितस्तायां नद्याम्' एवंप्रयोगो विधीयते, तदा तटस्य विशिष्टजलप्रवाहेण सह जात उपरागो नैव विधीयते, तदा तटस्य विशिष्टजलप्रवाहेण सह जात उपरागो नैव प्रतीयते, यतो हि तदीयजलप्रवाहविशेषस्तस्य तटस्य प्रतीतिस्तटस्थरूपेण अर्थाद् भिन्नरूपेणैव करोति, अयमेव राद्धान्तो मुकुलभट्टीयताटस्थ्य सिद्धान्तनाम्ना विज्ञायते।[५]

मुकुलभट्टस्य मान्यतामिमां मम्मटो नैवांगीचकार। तेन शुद्धायामुपचारस्य मिश्रणं नैवाङ्गीक्रियते। मम्मटानुसारेण शुद्धायामुपचारस्य राहित्यं भवति, अतोऽत्र सादृश्यविर-हिताया लक्षणायाः प्रयोजकत्वे सति शुद्धालक्षणा भवति, मुकुलभट्टस्ताटस्थ्यमर्थाल्लक्ष्यार्थ-लक्षकार्थयोर्भेदं गौणीशुद्धयोर्भेदकं धर्मं स्वीकरोति।

भट्टस्यानुसारेण गौणीलक्षणास्थले सादृश्याधिक्याल्लक्ष्यलक्षकयोरभेदस्य प्रतीतिर्जायते। यथा गौर्वाहीक इत्यत्र गौणीलक्षणास्थले द्वयोः पदार्थयोऽभेदप्रतीतिः स्पष्टैव, किन्तु शुद्धा-लक्षणायाम् उपादानलक्षणायां लक्षणलक्षणायाञ्च भेदद्वयोऽपि लक्ष्यलक्षकार्थयोर्भेदः सम्प्राप्यते।

गौण्याः शुद्धायाश्च भेदकधर्मरूपेण स्वीकृतस्यभट्टस्वीकृत ताटस्थ्यसिद्धान्त-

४. 'गंगायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन 'गंगायां घोषो न वितस्तायामिति गंगाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्थ स्रोतो विशेषणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्त-त्वेन उपरागो न प्रतीयते, तटस्थत्वेन एव तस्य तटस्य प्रत्ययात्।
—मुकुलभट्टः, अभिधावृत्तमातृका चौ०सं०सी० आ० वाराणसी, १९५३ ई० पृ० २०

५. तत्रैव, पृ० २०

स्य मम्मटेन तदनुयायिभिश्च खण्डनमकारि, केचन परवर्तिनः आचार्या तु भट्टस्वीकृत-तात्पर्यसिद्धान्तमसमर्थयन्त उपचारस्य कृतेऽरुचिं प्रदर्शयन्ति, किन्तु बहुमतम् उपचारसमर्थकानाम् आचार्याणामेव दृष्टिपथमायाति ।

ताटस्थ्यसिद्धान्तसमर्थनपरा आचार्याः—

महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यः काव्यप्रकाशस्य स्वकीयायांटीकायां ताटस्थ्यसिद्धान्तं समर्थयन्नाह—घोषपदस्यान्वयसिद्धये गंगापदात्तीरार्थस्य प्रतीतिर्जायते, किन्तु सा गङ्गात्वेन नैव भवति, यदि गङ्गात्वेन प्रतीतिं स्वीकुर्मस्तत्र लक्षणा न भविष्यति । लक्षणायाः सिद्ध्यर्थं गङ्गापदाद्बाधपुरस्सरं तटरूपार्थस्य प्रतीतिरावश्यकी, यदि गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतिर्भवेत् चेत्तत्र घोषान्वयः कथं भविष्यति । गङ्गाप्रवाहेण सममेव प्रवाहावछिन्ने तटेऽपि घोषस्य स्थितिरशक्या, अतो गङ्गातटयोस्ताटस्थ्य भिन्नत्वेन प्रतीतिर्वा समीचीना ।[६]

मम्मटमतं चिखण्डयिषुः काव्यप्रकाशस्य टीकाकारो गोकुलनाथोपाध्यायो भट्ट-प्रवर्तिताध्वानमन्वगच्छत् । अयं महानुभावस्तटे गंगाधर्मस्य शीतत्वपावनत्वादेः प्रतीतिं मनुते, किन्तु तत्र लक्ष्यलक्षकयोर्गङ्गातटयोस्ताटस्थ्यं विभाति इत्यपि स्वीचकार ।[७]

आचार्यविश्वेश्वरोऽपि भट्टाचार्यस्यानुकरणं कुर्वाणोऽलङ्कारकौस्तुभे स्वमतं प्रस्तौति । यथा प्रवाहे घोषस्य निर्मितिरसम्भवा तथैव गङ्गात्वप्रकारेऽपि विज्ञेया ।[८]

ताटस्थ्यस्य स्थाने उपचारसमर्थका आचार्याः—

मम्मटो मुकुलभट्टस्य ताटस्थ्यसिद्धान्तं खण्डयन्नाह—

यदि लक्ष्यार्थे लक्षकार्थे च भेदं स्वीकुर्मश्चेदनिष्टापत्तिर्भविष्यति, अर्थात् गंगाया प्रवाहे एवं तटे भेदप्रतीतिरूपताटस्थ्यस्य स्वीकरणे तु शीतत्वपावनत्वाधिक्यस्य प्रतीतिर्न भविष्यति, यल्लक्षणाया वस्तुतो मुख्यं प्रयोजनम् ।

उक्तप्रतीतिस्तु गङ्गाशब्दस्य यो जलप्रवाहरूपो मुख्योऽर्थः तेन सहाभेदप्रतीतावेह भवितुमर्हति । अत एव 'गङ्गायां घोषः, वाक्यमेतद् उपन्यस्यते, अन्यथा गंगातटे घोषः, इति मुख्यशब्दस्य कथने ततो गंगायां घोषः' इति वाधितस्य वाक्यस्य च प्रयोगे को भेदः ।[९]

६. 'गंगायां घोषः' इत्यादौ घोषान्वयार्थं तीरप्रतिपादने स्वार्थस्य गंगायामप्रतिपाद्यत्वात् तद्वाच्यार्थे नैव तत्प्रतिपादनात्। महेश्वरन्यायालंकारः काव्यप्रकाशटीका, शिवनाथगांगुली-पब्लिशिंग हाउस लिमिटेडः, कलकत्ता, १९३७ ई०, पृ० ५२

७. तटादौ गङ्गाधर्मस्य पावनत्वादेरवगम इति प्रक्रिया, सा लक्ष्यलक्षकयोस्ताटस्थ्येन न सम्भवतीति भावः । गोकुलनाथोपाध्यायः काव्यप्रकाशटीका, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, १९६१ ई०, पृ० ६८

८. अत एव गंगायां घोषः इत्यादावपि गङ्गात्वेनैव तटस्य नान्वयो गंगात्वेन प्रकारेण प्रवाहे घोषबाधबुद्धौ तेनैव प्रकारेण तीरेऽपि तदन्वयानुपपत्तेः, न च गंगात्वेन प्रवाहे घोषबाधबुद्धेर्गंगात्वं प्रकारकतीरविशेष्यक बुद्धित्वमिति वाच्यम् । समानप्रकारकात्वेनैव बाधबुद्धीनां प्रतिबन्धकत्वात् ।
—विश्वेश्वरः, अलङ्कारकौस्तुभम् निर्णयसागरमुद्रणालयः, मुम्बई १८९८ ई०, पृ०२१२

९. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां हि गंगाशब्दः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषत प्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गाशब्दमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गा तटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ।
—मम्मटः, काव्यप्रकाशः ज्ञानमण्डललिमिटेडः वाराणसी, १९६० ई० पृ० ६१

गङ्गात्वे तटे च एकत्वस्य प्रतीतिर्निहिता वर्तते, यदि ताटस्थ्यं स्वीकुर्मश्चेत् प्रयोजनस्य प्रतीतिरतिशयरूपेण च भविष्यति। अतो लक्ष्यलक्षकार्थयोरर्थाद् गंगातटयोरभेदमवमत्य तयोः परस्परं भेदं मत्वा ताटस्थ्यसिद्धान्तस्य स्वीकरणं नैव वरम्। यतो तटेन सह गंगायाः सम्बन्धमात्रमेव प्रतीयेत चेत्तर्हि शीतत्वपावनत्वातिशयस्य कृते 'गंगायां घोषः' इति कथने का क्षतिः। सम्बन्धमात्रस्य प्रतीतिस्तु अत्रापि भवत्येव, एवं प्रकारेण मम्मटाचार्येण भट्टसिद्धान्तस्य खण्डनमकारि।

मम्मटप्रतिपादितोपचारस्य समर्थका आचार्याः—

काव्यकल्पलतावृत्तिकारोऽमरचन्द्रयतिः, न्यायपरिशुद्धेः रचयिता श्रीनिवासाचार्यः प्रतापरुद्रीयस्य रचयिता विद्यानाथश्च मतमिममनुसरति। काव्यप्रकाशस्य टीकाकारश्चण्डीदासस्य ब्रूते--"तटस्थे लक्षणाशुद्धा" सिद्धान्तोऽयं दूषणपरः।[10] गोपालभट्टोऽपि काव्यप्रकाशस्य टीकायां भेदरूपताटस्थ्यविषये स्ववैमत्यं प्रकटयामास।[11] गोविन्दठक्कुरोऽपि तटरूपार्थस्य प्रतीतिर्गंङ्गात्वेनैव समीचीनं मनुते। तीरत्वादिप्रतीतिर्नाङ्गीकृता तेन, यतोहि तीरेघोषः इति कथनेनापि तत्प्रतीतिर्सम्भवात्।[12] गङ्गा शब्देन जलप्रवाहावच्छिन्नस्य तटस्य प्रतीतिर्निर्वाध रूपेण कथं भवितुमर्हति इति समाधत्ते प्रदीपकारः।[13] वैयाकरणो नागेशो मम्मटमेवानुसरति कथयति च लक्ष्यलक्षकयोरभेदप्रतीतिः शैत्यपावनत्वादि प्रतीतये अङ्गीकरणीया।[14]

लक्षणाया बीजम्—

लक्षणाबीजस्वीकर्तॄणामाचार्याणां विविधा वादाः प्रसरन्ति। केचन आचार्या अन्वयानुपपत्तिमेव लक्षणाया बीजं स्वीकुर्वन्ति। अन्ये तात्पर्यान्वयानुपपत्तिमेवावश्यकमङ्गीचक्रुः।

---

१०. 'तटस्थे लक्षणा शुद्धेति' मतं दूषणपरं वा, नत्वन्ययोग व्यवच्छेदपरं मन्तव्यम्।
—चण्डीदासः काव्यप्रकाशटीका, जयकृष्णदासगुप्ता विद्याविलासमुद्रणालयः, वाराणसी, १९३३ ई० पृ० ४९

११. अनयोः······भेदरूपम् अन्योन्याभावस्वभावं ताटस्थ्यलक्षणं माध्यस्थं न विद्यते।
—गोपालभट्टः, काव्यप्रकाशटीका, राजकीयमुद्रणालयाध्यक्षः, १९२५ ई० पृ० ५४-५५

१२. अस्ति हि गङ्गात्वादिपदैस्तीरादिप्रतिपादने गङ्गादिनिष्ठपावनत्वादिरूपप्रतिपिपादयिषत प्रयोजनसम्प्रत्ययः। तत्र गङगात्वादिति प्रतीतिरेव बीजम्, नतु तीरत्वादिप्रतीतिरेव 'तीरेघोषः' इत्यत्रापि तत्प्रतीति प्रसंगात्।
—गोविन्दठक्कुरः काव्यप्रकाशटीका, निर्णयसागरमुद्रणालय, मुम्बई, १९१२ ई० पृ० ३१

१३. कथं गङ्गाशब्दादिभिः गङ्गत्वादिकं तीरे बोध्यते इति चेत्, उच्यते। शब्देन लक्ष्येऽर्थे-प्रतिपादिते तत्र मुख्याभेदो व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते। तदेतदुक्तम्—'तटादीनां गङ्गादि-शब्दैः प्रतिपादने तत्त्व प्रतिपत्तौ प्रतिपिपादयिषित—प्रयोजनसम्प्रत्ययः इति
—गोविन्दठक्कुरः, काव्यप्रकाशटीका, पृ० ३१

१४. 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गागत शैत्यादिः प्रतीयते मध्ये तीरादौ गङ्गाभेदप्रतीतिः। नागेशः, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, चौ०सं०सी०आ०वाराणसी, १९७१ ई० पृ० १०१

अपरे समन्वयवादिनस्तु उभयोरेव स्वीकरणं वरं मेनिरे । चतुर्थकोट्यां वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाया कारणं स्वीकर्तारः चित्सुखाचार्यधर्मसूरिप्रभृतय आचार्या प्रामुख्यं भजन्ते । एते तात्पर्यानुपपत्तेस्स्थाने वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिं स्वीकुर्वन्ति । गोकुलनाथोपाध्यायोनिराकांक्षत्वादीन्यनेकानि कारणानि लक्षणाया व्यावहार । केचनाचार्या वेदे लक्षणायाः निबन्धनं नैव स्वीचक्रिरे । यतोहि तत्र तात्पर्याभावात् स्वाभाविककार्यपरत्वस्यानपलापाच्च लक्षणायाः कृते नावकाशः ।

केषांचिदाचार्याणां कथनमस्ति यद 'गंगायां घोषः' इत्यत्र गंगाप्रवाहे घोषस्यान्वयो नैव संगच्छते, अतोऽत्रान्वयस्यानुपपन्नत्वाद् गंगापदं लक्षणाया तटरूपमर्थं बोधयति । वाक्येऽस्मिन् अभिधया वाच्यार्थेन गंगाप्रवाहेण सह घोषस्यान्वितिर्नैव संगच्छते । एषैवान्वयानुपत्तिरित्याचक्षते । अतोऽत्र मुख्यार्थबाधस्य सत्त्वाल्लक्षणया यदा गंगाशब्दस्तटरूपमर्थं व्यनक्ति, तदैव गंगाशब्दस्य घोषाधिकरणतां सिद्धयति । एवंविधस्थलेष्वेवाचार्यैर्लक्षणाया बीजमन्वयानुपपत्तिरित्यङ्गीकृतम् ।

परवर्तिभिराचार्यैः कथितम् यदि केवलम् अन्वयानुपपत्तिमेव लक्षणाया कारणं स्वीकुर्मश्चेत् 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि स्थलेषु लक्षणा न भविष्यति, यतो ह्यत्र काकेभ्यो दधिरक्षणस्यान्वयो भवत्येव, न वाच्यार्थे बाध इति । इदमप्यत्र ध्येयमस्ति यत्काकपदेन काकसमुदायरूपेऽर्थो नाभिप्रेतः । अत्र वक्तुस्तात्पर्यं सकलदध्युपघातकप्राणिमात्रएव, अतः केवलमन्वयानुपपत्तिमेव लक्षणायां कारणं न वरम् इति तात्पर्यसमर्थकानामाचार्याणां मान्यता विद्यते ।

प्राप्तप्रमाणानुसारेण चन्द्रालोककारः जयदेव एव प्रथमः आलंकारिक आसीत् येन तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाया कारणं बीजं वोररीकुर्वता 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्, वाक्येऽस्मिन् अन्वयानुपपत्तेरभावो, 'गंगायां घोषः' इत्यादिस्थलेषु च तात्पर्यानुपपत्तेः सत्ता स्वीकृता । अत्र धर्मराजाध्वरीन्द्रोऽपि जयदेवमनुसरति ।

विश्वनाथन्यायपञ्चाननस्तात्पर्यानुपपत्तेः 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' उदाहरणेन सह एकमन्यमुदाहरणं 'यष्टीः प्रवेशय' इति प्रयच्छन् ब्रूते—यद्यन्वयानुपपत्तिरेव लक्षणाया बीजं स्वीक्रियेत 'चेद्यष्टीः प्रवेशय' इत्यादिस्थलेषु लक्षणा न भविष्यति । यतो हि यष्टिधरेषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरसत्वात् । किन्त्ववक्त्रा भोजनतात्पर्यादेव यष्टयः प्रवेशय इति आज्ञप्ताः । तथैवोक्तोदाहरणेऽपि काकपदस्य सकलदध्युपघातकेऽपि लक्षणास्ति, यतः सर्वेभ्यो दधिरक्षाणं वक्तुस्तात्पर्यम् अतस्तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाया बीजम्[१५] ।

एवं मौनिश्रीकृष्णभट्टः, तथैव जगदीशतर्कालंकारः, अन्नम्भट्टप्रभृतयो नैयायिकाः । काव्यप्रकाशस्य टीकाकारा महेश्वरन्यायालंकाराच्युतरायप्रभृतयो विद्वांसश्च तात्पर्यानुपपत्तिं लक्षणाया बीजं मन्वते ।

---

१५. यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाया बीजं स्यात्तदा 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यत्र लक्षणा न स्यात् । यष्टिधरेषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरसम्भवात्, तेन यष्टिधरेषु भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा एवं काकदध्युपघातके लक्षणा सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात् । —न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २२

अन्येऽपि केचन चित्सुखाचार्यप्रभृतयो मनीषिणो लक्षणाया कारणमन्वयानुपपत्तिमवमत्य वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिमेव लक्षणाया कारणरूपेणोपस्थापयन्ति, तदनुसारेण पदार्थानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे या वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिर्भवति सैव लक्षणाया नियामिका। अत एव इदं लक्षणं निर्दुष्टम्। यतो हि लौकिक वैदिकवाक्येषु सर्वत्र लक्षणैषा संघटते।[१६]

वेदेषु अपि 'वायुर्वै क्षेपिष्टा देवता' अर्थाद् वायुरेव शीघ्रगामी देवोऽस्ति, इत्यादिषु स्थलेषु वाच्यार्थान्वयस्य सम्भवेऽपि कैमर्थक्याकांक्षावलेन देवताप्राशस्त्यमाध्यमेन कर्मप्राशस्त्ये लक्षणाऽङ्गीकर्तुं शक्यते, अतो वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेष लक्षणायाः क्षेपिकेति निश्चयः।

धर्मसूरिरपि चित्सुखाचार्यस्य समर्थनं करोति। पण्डितराजोऽपि नैयायिकसमर्थितं तात्पर्यानुपपत्तिमेवाङ्गी करोति।

गोकुलनाथोपाध्यायेन भक्ति (लक्षणा) विवेकनामके ग्रन्थे लक्षणाया विविधानि बीजानि विवेचितानि। विस्तरभिया नैवात्र प्रदीयन्ते। काव्यप्रकाशस्य केचन टीकाकारा वैद्यनाथवामनप्रभृतयस्तात्पर्यानुपपत्तेः समर्थका आचार्या विद्यन्ते।

पूर्वोक्तानामाचार्याणां विवादेऽश्रद्दधानाः केशवमिश्र-राजचूडामणिदीक्षित-परमानन्द चक्रवर्तीप्रभृतयो विद्वांसोऽन्वयानुपपत्त्या सह तात्पर्यानुपपत्तिमपि लक्षणायाः कारणमङ्गीकुर्वन्ति।

लक्षणायाः पदगतत्वं वाक्यगतत्वं वा ?—

लक्षणा पदगता भवति वाक्यगता वा इति विषये नानाविधावादाः विप्रतिपत्तयश्च दृष्टिपथमायान्ति। मीमांसकधुरीणाः पदे वाक्ये च लक्षणायाः सत्तां स्वीकुर्वन्ति नैयायिका लक्षणाया वाक्यगतत्वं परिहरन्तः पदगतत्वमेव समर्थयन्ति। वेदान्तिनोऽपि नैयायिकवल्लक्षणायाः पदगतत्वं समर्थयन्तो वाक्यगतलक्षणाविषयेऽपि नानुदारा भान्ति, यतस्तन्मतानुसारेण वाक्येऽपि लक्षणा सम्भवा।

स्वकीयां मान्यतां प्रति दृढीयसीमास्थां प्रकटयन्तो नैकभावभाज आलंकारिका अपि द्विधा विभाजिता दृष्टिपथमायान्ति। तद्यथा—शम्भुभट्ट-गागाभट्ट-जगदीशतर्कालंकार-प्रभृतयो विद्वन्मूर्धन्या मीमांसका वाक्यगतलक्षणा समर्थकास्सन्ति। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां नैयायिको विश्वनाथपञ्चाननो वाक्यगतलक्षणायाः खण्डनं प्रकुर्वाणो लक्षणायाः पदगतत्वमेव-वाभीष्टं मेने। वेदान्तिनो धर्मराजाध्वरीन्द्रस्यानुसारेण वाक्येऽपि लक्षणा स्वीकरणे न कापि क्षतिः। आलंकारिकेषु मम्मटाप्ययदीक्षित-विश्वेश्वरप्रभृतयो विद्वन्मूर्धन्याः लक्षणायाः पदगततत्वमेवामनन्ति। विश्वनाथानन्तदासनरसिंह प्रभृतयय आचार्या वाक्यगतलक्षणामपि समर्थयन्तो दृष्टिपथमायान्ति, वस्तुतो मम्मटादिभिरस्या भेदा नैव कृताः।

---

१६. तस्मात्पदानां 'पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणा क्षेपिकेति, तदेव लक्षणं लक्षणायाः............इत्यादावस्ति पदार्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः।

—चित्सुखाचार्यः तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालयः वाराणसी, १९६६ ई० पृ० २६३।

गौण्या उपादान लक्षणलक्षणा भेदा—

प्रयोजनवत्या गौण्या अपि विश्वनाथ-महेश्वरन्यायालंकार-नागेशादिभिरूपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणाख्यौ यौ भेदौ कृतौ, तावप्यतिरञ्जितावेव, यतो गौणीलक्षणा तत्रैव भवति यत्र स्वार्थस्य परित्यागो भवति, अत एव गौणीलक्षणा सर्वदा जहत्स्वार्था एव भवति। प्रयोजन-वत्यास्तु अजहत्स्वार्थान्वितत्वस्य प्रश्न एव नैव समुदेति। अर्थात्स्वार्थं नैव विजहाति सा। अस्यां स्थितौ मुख्यार्थोऽपि तत्रैव स्थास्यति, इति तु निश्चप्रचमेव एवं विधेषु स्थलेषु मुख्यार्थेन सह सादृश्यं कथं भविष्यति ? मान्यतैषा प्रसरति, यत्सादृश्यं सर्वदैव भिन्नवस्तुना सह भवति; न स्वकीयेन सह, अतो गौण्याः सारोपा साध्यवसाना भेदांगीकरणे न कापि क्षतिः, यतः सा सर्वदैव जहत्स्वार्थैव भवति। मम्मटप्रभृतयो विद्वांसो मतमेनमंगीकुर्वन्ति। किन्तु जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्थारूपेण गौण्या विभाजनं कथं समीचीनताकोटिमाटीकते ?

प्रयोजनवती लक्षणायां प्रयोजनरूपव्यंग्यस्य गूढागूढत्वाच्चमत्कारस्यातिशयत्वान्नयन-त्वाच्च षड्विधा या प्रयोजनवत्याः पुनर्द्विवाविभाजनं समीचीनमेव, आचार्याणां बहुमतमेतद्-विभाजनमेतदंगीकरोति, यद्यपि अस्या अपि धर्मधर्मिगतत्वेन पदवाक्यगतत्वेन च काल्पनिकं विभाजनं भेदोपबृंहणे अवश्यमेव सहायं कर्तुं क्षमं, किन्तु चमत्कारस्याभाव एव तत्र परि-लक्ष्यते। भेदानेतान्स्वीकुर्वाणे त्वानन्त्यदोषःप्रसज्यते, यतो हि आसां जात्यादि भेदेनाप्यसङ्ख्य भेदा गणयितुं शक्याः। तत्राप्येवं चमत्काराऽसम्प्रक्तानां लक्षणाया भेदानां स्वीकरणं वरं नवेति सहृदयजनवेद्यम्।

अष्टमशताब्दिपर्यन्तं लक्षणाया भेदविषयको चर्चा नैव प्राप्यते। मीमांसका यज्ञीय-प्रक्रियासु औपचारिक शब्दानां प्रयोगंकुर्वन्तिस्म। जैमिनिस्तथा गौतमो लाक्षणिकप्रयोगाणां वर्गीकरणमकार्ष्टम्, पतञ्जलिनापि प्रयोजकसम्बन्धानां चर्चा कृता। वामनेन शंकराचार्येण चोपचारायामुख्यशब्दाय वा लक्षणा शब्दस्य।

लक्षणाभेद विषयेऽपि मतिवैचित्र्यं विदुषाम्—

इति तु प्रथितमेव सर्वप्रथमं मम्मटेनैव लक्षणाया भेदा व्यवस्थितरूपेण विभाजिताः। तन्मते षड्विधा लक्षणा, प्रयोजनस्य गूढागूढत्वेन द्वादशविधा भवति, एषु द्वादशभेदेषु रूढि-लक्षणायाः समावेशात् सामस्त्येन लक्षणायास्त्रयोदशभेदा जायन्ते।

विवेकदृष्ट्या विलोकयामश्चेदिमे भेदा विद्वद्ग्रन्थेषु विस्तारदृष्ट्या आकुञ्चनदृष्ट्या च निःसीमानं गाहन्ते, यतो रसप्रदीपकर्ता प्रभाकरभट्टस्तथैव यशवन्तयशोभूषणस्यानुवादक आसोपा रामकर्णो लक्षणाया द्वावेव भेदावुररीचक्रतुः।

विस्तारवादे दृष्टिपातं कुर्मश्चेद्विश्वनाथस्य स्थानं मूर्धन्यमस्ति, यतस्तेन लक्षणाया अशीतिभेदा उररीकृताः। उभयत्रापि सीमा अतिग्रसिता वर्तते।

अनेके आचार्या रूढिलक्षणाया अपि भेदान् विवेचयामासुः, तत्रापि विश्वनाथो मूर्धन्यं स्थानं लभते, यतो हि तेन तस्याप्यष्टौ भेदाप्रकल्पिता। द्वितीयं स्थानं रूढेः षड्विधत्वमंगी-कुर्वतः आचार्य जयदेवस्यास्ति।

आचार्याणां बहुमतं रूढिलक्षणायां किमपि व्यंग्यं प्रयोजनं वा न भवतीति विचार-धारायाः समर्थनं विदधाति, यतः सा रूढिमूला, अतो मम्मटप्रभृतिभिराचार्यैः रूढिलक्षणा शुद्धागौणीभेदाभ्यां न विभाजिता, नहि तत्रोपादानलक्षणाया लक्षणलक्षणायाश्च सत्ता तैस्स्वी-

कृता। केचन आचार्यास्तु रूढिलक्षणाया भेदानां विषये बद्धादरास्सन्ति। द्विसंख्यादारभ्य अष्टसंख्यापर्यन्तं भेदास्तस्या प्रकल्पिताः।

लक्षणाया प्रथमो भेदो रूढिस्तस्यापि षड्विधत्वं सर्वप्रथमं जयदेवेन स्वीकृत्य रूढि विस्तारक्षेत्रे नवा दृष्टिः प्रदत्ता, परवर्तिना काव्यप्रकाशस्य टीकाकारेण चण्डीदासेन रूढि-लक्षणायाश्चातुर्विध्यं समर्थितम्। दर्पणकारो विश्वनाथस्तस्याष्टौ भेदान् परिगण्य जयदेव मप्यतिशेते। अप्पयदीक्षितचूड़ामण्यादयो रूढिलक्षणाया द्वैविध्यमेव मेनिरे। गोकुलनाथो-पाध्यायो रूढ्यास्मैविध्यमेव वरं मेने, किन्त्वच्युतरायो गौणी-शुद्धा-विरुद्धा-लक्षितलक्षणेतिरूपेण चतुर्धा विभाजितां लक्षणां पुनः निरूढाप्रयोजनवतीभेदेन द्विधा विभज्य रूढायाश्चातुर्विध्यं स्वीचकार।

प्रयोगो विहितः। वामनोऽमुख्यशब्दं निरूढ-गौण-लाक्षणिक-नामभिस्त्रिधा विभक्तवान्। लाक्षणिकशब्दोऽर्थल्लक्षणा सादृश्यनिबन्धना असादृश्यनिबन्धना इति नाम्ना विभजते, अग्निपुराणकारः सर्वप्रथममौपचारिकीमर्थल्लक्षणां गौणी तथा लाक्षणिकी भेदेन द्विधा विभक्तवान्।

आनन्दवर्धनेनापि उपचारो गुणवृत्तिर्वा, निरूढाप्रयोजनवती भेदाभ्यां द्विधा विभक्ता, प्रयोजनवतीमपि अभेदोपचाररूपेण लक्षणारूपेण च द्विधा विभज्य, लक्षणारूपामपि तां पदगतत्वेन तथा वाक्यगतत्वेन द्विधा विभजते स्म सः।

मुकुलभट्टोऽभिधाया दशभेदानां विवेचनसन्दर्भे षड्विधाया लक्षणाया अन्तर्भावाया-भिधावृत्तिमातृकायां वहूपयतितवान्। भट्टस्य लक्षणाविभाजनसरणिमनुसरता मम्मटेन लक्षणाया यद्वर्गीकरणं कृतं, तदनुसारेण लक्षणा रूढिप्रयोजनमूलकत्वेन द्विधा विभज्यते।

प्रयोजनवत्यपि उपादानलक्षणारोपाध्यवसानाधारेण षड्विधत्वमधिगच्छति परवर्ति-भिराचार्यैर्बहुमतेन एषा विभाजनपद्धतिरनुसृता, अपवादस्वरूपाज्जयदेवाच्युतरायप्रभृतीन् विदुषोविहाय सर्वेऽपि आचार्या मम्मटस्वीकृतलक्षणायाः षड्विधत्वमांशिक परिवर्तनपारवर्ध-नाभ्यां सह स्वीचक्रुः।

मम्मटांगीकृतलक्षणायाः षड्विधत्वविषये प्राचीन टीकाकारो माणिक्यचन्द्रस्तदुत्तर-वर्तिनो गोपालभट्ट विद्याचक्रवर्ती-गोविन्दठक्कुरभीमसेन-वामनझलकीकरप्रभृतय प्रमुख-ष्टीकाकारा अन्ये च नरेन्द्रप्रभसूरि विश्वनाथ देवप्रभृतय आलंकारिका अपि ऐकमत्यं बिभ्रति। शुद्धाया भेदानां विन्यासविषये विसंवादो भवतु नाम, किन्तु षड्विधत्वविषये न विवादः।

अपवाद स्वरूपाः केचनाचार्याः षड्विधाया लक्षणाया समाकुञ्चनं कुर्वन्ति। तन्मध्ये लक्षणा पञ्चविधामता विचारधाराया समर्थको वृत्तिदीपिकाकारो मौनिश्रीकृष्णभट्टः प्रामुख्यं भजते। सामस्यरूपेण भेदद्वयोः पक्षपातिनो भट्टप्रभाकराऽऽसोपारामकर्णौ मुख्यौस्मः।

मम्मटाङ्गीकृतलक्षणाभेदानां परिवर्तनमपि परवर्तिभिर्दार्शनिकैर्विहितम्। आलङ्कारिका अपि एताननुययुः। केचनाचार्या उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा इत्यस्य स्थाने अजहल्लक्षणा जहल्लक्षणा नामकरणं वरं मेनिरे। पण्डितराजाच्युतरायाप्ययदीक्षितादयो विद्वांस आचार्या एवं विधा एव। नञ्जराजयशोभूषणकर्ता नरसिंह एतयोः स्थाने अजहद्वाच्या जहद्वाच्येति नामकरणं व्यदधात्।

प्रकरणेऽस्मिन् एतदपि उल्लेखनीयमस्ति वेदान्तिप्रभावभरितान्तःकरणा आलङ्कारिका

अपि एतयोर्द्वयोः सम्मिश्रणात्मकं प्रयोजनवत्यास्तृतीयमपि भेदं जहदजहल्लक्षणा नाम्ना स्वीचक्रुः, एतेष्वाचार्येषु विद्याधराप्ययदीक्षिताच्युतरायविद्याभूषणादयः प्रामुख्यं भजन्ते। राजचूडामणिस्तु काव्यदर्पणे जहती, अजहती जहदजहतीति नामकरणं वरं मेने।

इति तु निगदित चरमेव यद्रूढालक्षणाया विषये आचार्या नैवैक्यमत्यभाजिनस्तथैव गौण्यारुपादानलक्षणालक्षणलक्षणाभेदविषयेऽपि विवादः प्रचलति, केचनाचार्या गौणीलक्षणायाः प्रोक्तभेदद्वयं कृत्वा सारोपासाध्यवसानाधारेण भेदविस्तारं प्रकुर्वन्तो गौण्या अप्यष्टधा-विभाजनं नानुचितं मन्यन्ते। एवं विधेष्वाचार्येषु चण्डीदास-विश्वनाथ-महेश्वरन्यायालङ्कार-प्रभृतयो विद्वांस आयान्ति।

वैयाकरणो नागेशो यद्यपि गौणी जहत्स्वार्थाऽजहत्वार्था भेदेन द्विधा विभक्तवान्, किन्तु सारोपासाध्यवसानाभेदद्वयम् अजहत्स्वार्थाया एवाङ्गीचकार, न तु जहत्स्वार्थाया यतो हि गौणी सदा जहत्स्वार्था एव भवति।

विद्याधरस्य प्रयोजनवतीलक्षणाया विभाजनसरणिर्भिन्नैव। एकावल्यामयं प्रयोजन-वतीं क्रमशः शुद्धा, सारोपा, साध्यवसानाभेदैस्त्रिधाविभक्तवान्, तदनन्तरं प्रथमं शुद्धां लक्षणां जहल्लक्षणा-अजहल्लक्षणा-जहदजहल्लक्षणा इति रूपेण त्रिधा विभज्य सारोपासाध्यवसानो-ऽपि गौणीशुद्धाभेदमाध्यमेन द्विधा विभक्तवान्।

एवंलक्षणाभेदविषये मतिवैचित्र्यं आचार्याणां स्पष्टमेव। लक्षणाया भेदानां वर्गी-करणप्रसंगे इदमपि ध्यातव्यमस्ति यच्चण्डीदासः 'लक्षणा तेन षड्विधा' इत्यस्याभिप्रायोऽव-गच्छतिरूढिप्रयोजनोपादानाऽऽरोपाध्यवसानरुपायाः षडुपाधेः कारणादेव लक्षणा षट्प्रकारा भवतीति।

अस्या मान्यताया विरोधं गोविन्दठक्कुर-राजानकानन्दप्रभृतयष्टीकाकाराश्चक्रुः, यतो हि एतद्व्यतिरिक्ताः प्रकारा अपि दृष्टिपथमायान्ति। चण्डीदासमान्यतानुसारेण एवं विधेषु स्थानेषु स्थलेषु वा का प्रकारा भविष्यति ? प्रश्नोऽयमसमाधेयः।

अभिधा मुख्यार्थविषयिणी शक्ति या वाच्यार्थबोधायालम्। यदा किमपि पदं मुख्यवृत्या अभिधया वा विवाक्षितार्थस्य बोधाय नालम्, तदान्या वृत्तिः प्रवृत्ता भवति, सा च लक्षणा नाम्ना प्रथितास्ति। अस्यां यत्रतत्र आचार्याणां विप्रतिपत्तयः दृष्टिपथमायान्ति लक्षणाप्रवाहे, तन्मया आचार्यमान्यतानुसारेण स्वमनीषया च यत्किञ्चिद् यथाकथञ्चिद् विद्वन्निवहानां पुरतः समुपस्थापनाय प्रयासो विहितः। इत्यलम्।

तात्पर्यशक्ति का काव्यार्थ-बोध

—डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी
२६१, बाघम्बरी मार्ग, भारद्वाजपुरम्
इलाहाबाद-६ (उ०प्र०)

वाणी का उच्चारण कैसे होता है तथा पद एवं वाक्य के अर्थबोध की प्रक्रिया क्या है, इन सबका बहुत सूक्ष्म विवेचन हमारे भारतीय शब्दशास्त्रियों ने किया है। महर्षि पतंजलि के शब्दानुशासन (व्याकरण-महाभाष्य) तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय में इस विवेचन की सूक्ष्मता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है, आज के पाश्चात्त्य ज्ञान से प्रभावित भाषा-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान ने उसकी सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता के आगे अभी अपने चरण नहीं रखे हैं, आगे जो भी हो। हमारे यहाँ अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर सूक्ष्म चिन्तन करते हुए भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों से आगे बढ़ने का दावा किया। और जहाँ अर्थ-बोध में अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यशक्तियों से काम लिया जाता था। उन्होंने नयी शब्दशक्ति व्यंजना (ध्वनि) की प्रतिष्ठा की और कहा कि काव्य का अर्थ विना व्यंजना के जाना नहीं जा सकता, साहित्य के ये शास्त्रकार कश्मीर के रहने वाले थे। ध्वनि या व्यंजना की स्थापना प्रथम आनन्दवर्धन (नवीं शती ई०) ने की, उनके बाद अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने उनकी इस स्थापना का अनुमोदन तथा विस्तार ऐसा किया कि अतथ्य या तथ्य जो भी हो, व्यंजना को अच्छे काव्य का पर्याय मान लिया गया, और सभी परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से व्यंजना का साधुवाद किया। सुदूर उत्कल के आचार्य विश्वनाथ (१४ वीं शती ई०) ने अपने साहित्यदर्पण ग्रन्थ में व्यंजना की स्थापना में वैसा ही उत्साह दिखाया तथा तर्क प्रस्तुत किये जैसा कि उत्साह तथा तर्क की प्रस्तुतियाँ आचार्य मम्मट (११वीं शती ई०) के काव्य प्रकाश में दीखती हैं। साहित्यदर्पणकार द्वारा व्यंजना का समर्थन तथा विस्तत व्याख्या इसलिए भी अतिशय महत्त्व रखती है, यतः तव तक कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ की रचना कर ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था। साहित्य के सभी आचार्यों ने अभिधा तथा लक्षणा शब्द शक्तियों को तो निर्विरोध मान्यता प्रदान की है, लेकिन लक्षणा के अनन्तर काव्य का गूढ़ अर्थ या हृदय को छूने वाला भाव जिस शक्ति से प्रकट होता है, बोध की सरणि में आता है उस शक्ति की साहित्य-वैज्ञानिक व्याख्या या मनोवैज्ञानिक व्याख्या में आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तात्पर्य, ध्वनि (व्यंजना) या वक्रोक्ति का निरूपण किया है।

इसमें व्यंजना शक्ति को कुछ अपने आप ज्यादा लोकप्रियता प्राप्त हो गयी। साहित्य के परवर्ती शास्त्रकारों मे व्यंजना को कवि की लोकोत्तर प्रतिभा या सारस्वत वाणी का ही पर्याय मान लिया जैसा कि आनन्दवर्धन के उद्‌गार हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

इसके फलस्वरूप जो भी काव्य में अतिशायी सौन्दर्य दिखाई पड़ा, वह चाहे उक्ति मात्र का हो, अलंकार का हो, प्रबन्ध का हो सब का सब व्यंजना का चमत्कार है—इस मान्यता से अभिभूत हो उठा। लेकिन यह कहना कि सरस्वती केवल उसी व्यंग्य अर्थवस्तु को प्रकट करती है, यह केवल किसी आचार्य की बात है सरस्वती ऐसा नहीं कह रही हैं। तात्पर्य और वक्रोक्ति इन दोनों का व्यंजना से अन्तर इस बात का रहा कि व्यंजना असंलक्ष्यक्रम-शब्दार्थव्युत्पत्ति से ही काव्य के सौन्दर्य बोध को प्रकट कर देने की शब्दशक्ति है किन्तु तात्पर्य और वक्रोक्ति में काव्यार्थ-बोध के लिए क्रमोपलब्ध शब्द-व्युत्पत्ति की प्रक्रिया है। व्यंजना की स्थापना भावनावादी साहित्यशास्त्रकारों ने की है, तात्पर्य शक्ति के प्रतिष्ठाता अर्थव्युत्पत्ति के व्याख्याता मीमांसक हैं और वक्रोक्ति (वक्रता) में अर्थ-बोध का दर्शन करने वाले शब्द की परिस्पन्द-शक्ति के दृष्टा कुन्तक जैसे साहित्य विद्या के गिरि शिखर हैं। यह सामान्य परिचय इस बात के लिए है कि शब्दशक्तियों की कल्पना के इतिहास में तात्पर्य शक्ति का अध्याय कहाँ है। आगे हम इसकी चर्चा विस्तार से कर रहे हैं।

वाक्य के कहने-सुनने के साथ साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध अभिधा शक्ति से होता है। अभिधान (कथन) के अनन्तर ही अर्थ का ज्ञान हो जाना अभिधा शक्ति का विषय है।[1] एक बार संकेतित अर्थ का बोध करा देने के पश्चात् सम्पूर्ण बोध (अभिव्यक्ति) कराने में अभिधा समर्थ नहीं होती, एक बार रुक कर फिर उसका क्रियाशील होना असंभव है।[2]

अभिधा शक्ति से संकेतित मुख्य अर्थ का बोध लोक-व्यवहार का ही विषय है, जहाँ काव्यार्थ-बोध की बात आती है वहाँ अभिधा के अनन्तर दूसरी शब्द शक्तियाँ अग्रेसर होती हैं।

जब मुख्य अर्थ के बोध में बाधा उत्पन्न होती है तब रूढ़ि अथवा विशेष प्रयोजन से जिस किसी विशेष अर्थ को जिस अर्थ-बोध-प्रक्रिया से लक्षित किया जाता है उस शब्द शक्ति या उसकी बोध-प्रक्रिया को लक्षणा कहते हैं।[3]

---

१. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। —(काव्यप्रकाश)
२. अभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासम्भवाभिधानात्।
समयापेक्षयार्थावगमन शक्ति ह्यभिधा। —(लोचन)
३. मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ (काव्यप्रकाश)
बाधक विधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।—(लोचन)

जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा शक्ति का सहारा लिया जाता है उस प्रयोजन की सिद्धि जिस शब्दशक्ति की प्रक्रिया से सम्भव होती है उसे व्यंजना कहते हैं।[४] ध्वनिवादियों ने इस व्यंजना को महिमा मण्डित करते हुए कहा है—प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ महाकवियों की वाणी में कुछ दूसरी वस्तु है जो गुण-अलंकार आदि अवयवों से अतिरिक्त युवती के लावण्य के समान चमत्कृत (शोभित) होता है।[५] काव्य का यह ध्वनन-व्यापार अभिधा शक्ति के द्वारा अर्थावगमन के प्रतिभाससे पवित्रित सहृदय की प्रतिभा की अर्थद्योतन शक्ति है।[६] अभिधा और ध्वनि (व्यंजना) शक्तियों के बीच लक्षणा शक्ति की स्थिति हो भी सकती है, नहीं भी होती है। यदि रूढि या प्रयोजनवश वाधा के योग को दूर करने के लिए लक्षणा शक्ति को अवकाश मिलता है तो वह व्यंजना की सिद्धि के लिए ही होता है। लक्षणा कवि की वाणी का अन्तिम अर्थ-बोध प्रकट करने के पहले ही गति-हीन (प्रक्रिया से बाहर) हो जाती है।[७]

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों से प्रकट होने वाले अर्थों को क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहा जाता है। इनमें व्यंग्य अर्थ ही काव्य को जीवन्त बनाता है, यह बात कश्मीरी साहित्यशास्त्रकारों की अपनी मान्यता है।

कश्मीरी विद्वानों ने जब तक व्यंजना की स्थापना नहीं की थी इसके पूर्व काव्य के सहृदयश्लाघ्य अर्थ-बोध को तात्पर्य द्वारा ही जानते थे। काव्य के गूढ अर्थों को तात्पर्यमुद्रा[८] की प्रक्रिया से भावक[९] प्रकट करते थे। तात्पर्यमुद्रा का अर्थ तात्पर्य शक्ति है। व्यंजना की

---

४. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।। —(काव्यप्रकाश)

५. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।। —(ध्वन्यालोक)

६. अर्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रित प्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः।
—(लोचन)

७. न लक्षणात्मा उक्तादेव हेतोः स्खलितगतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलितगतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधानिमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। —(लोचन)

८. तत्त्वाभिनिवेशी (भावकः) तु मध्ये सहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्—
शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः ।।
—(काव्यमीमांसा, अध्याय ४)

९. काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश ।।—(काव्य मीमांसा, अध्याय ४)

स्थापना के बाद भावक[10] को सहृदय[11] कहा जाने लगा।

व्यंजना की स्थापना के बाद भी काव्य की अर्थ-बोध-प्रक्रिया में तात्पर्यशक्ति का वर्चस्व वर्तमान रहा है, इसका आभास व्यंजनावादियों द्वारा बार-बार तात्पर्यशक्ति का खंडन किये जाने से होता है। यही नहीं मम्मट ने शब्दशक्तियों के विवेचन में तात्पर्यशक्ति का अस्तित्व अलग से बनाये रखा—

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ।। आकांक्षायोग्यता सन्निधिवशाद् लक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।। वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।।

—(काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास, सूत्र ७)

मम्मट का यह उल्लेख तात्पर्यशक्ति की परिभाषा भी है। आचार्य का कहना है कि कुछ मनीषियों के मत में तात्पर्य भी एक शब्दशक्ति है, और तात्पर्यार्थ भी वाक्य का कोई अर्थ होता है (अथवा काव्य का अर्थ होता है)। तात्पर्य शक्ति की व्याख्या इस प्रकार से है—किसी वाक्य का उच्चारण होने पर वाक्य में प्रयुक्त (जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य) पदार्थों का अन्वय किये जाने से उन पदार्थों से भिन्न जो वाक्यार्थ प्रकट होता है (शोभित होता है) वह तात्पयार्थ है। सूत्र में 'केषुचित्' कहा है उसका अर्थ है केषांचित् मीमांसकानाम्। अर्थात् यह मीमांसकों का मत है। मीमांसकों में वाक्य की अर्थ-व्युत्पत्ति-प्रक्रिया पर दो मत हैं। पहला मत अभिहितान्वय सिद्धान्त मानने वालों का है जिनके मत में वाक्य के भिन्न भिन्न पदार्थों का अन्वय हो जाने पर वाक्यार्थ प्रकट होता है। दूसरा मत उनका है जो अन्विताभिधान मानते हैं, उनके मत में वाच्य कहे जाने पर पदार्थ स्वयं अन्वित होकर ही प्रकट होते हैं इस प्रकार समन्वित पदार्थ (वाच्य) ही वाक्यार्थ होता है। पहला मत मीमांसकों का बहुमान्य पक्ष है। दूसरा मत कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर भट्ट (गुरू) और उनके अनुयायियों का है। दूसरे के मतानुसार जहां अखण्ड वाक्य ही अन्वित पदार्थ के रूप में वाक्यार्थ-बोध करा देता है, अर्थ-बोध की यह प्रक्रिया बाण की नोक के समान बढ़ती और प्रबलतर होती जाती है, यह प्रक्रिया 'इषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' है और बिना अन्तिम बोध के इस प्रक्रिया का विराम नहीं होता। इनके मत में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की मान्यता है अर्थात् शब्द जिस अर्थ को लक्ष्य कर प्रयुक्त हुआ है वही उसका शब्दार्थ है, तथा अन्वित पदों का वाक्य उस अर्थ का बोध कराकर ही विराम लेगा उसके पूर्व नहीं। इसमें व्यंजना-

---

१०. सन्ति पुस्तक विन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे-गृहे ।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्टनिकुट्टिताः ।। (काव्यमीमांसा, अध्याय ४)

११. (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः......
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।। – (ध्वन्यालोक, १।१)

(ख) सहृदय हृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्य लक्षणम् ।—(ध्वन्यालोक, १।१)

(ग) काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः......
सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः ।। —(ध्वन्यालोक १।२)

व्यापार की आवश्यकता नहीं होगी, तात्पर्यशक्ति उसका बोध कराकर ही अपनी परिणति प्राप्त करती है ।

प्रभाकर (गुरु मत) का यह सिद्धान्त—'यत्परः-शब्दः स शब्दार्थः', तात्पर्य की उक्त वितत शक्ति के रूप में आनन्दवर्धन और कुन्तक की काव्य-रचना-प्रक्रिया के ही समानान्तर है या इन आचार्यों का सिद्धान्त गुरुमत के उक्त वाक्य का पर्याय है । आनन्द-वर्धन कहते हैं—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ —(ध्वन्यालोक, १/८)

वह व्यंग्य अर्थ और उसके बोध की सामर्थ्य का संयोगी शब्द-ये दोनों ही विरल होते हैं, कोई-कोई होते हैं, ऐसे शब्द-अर्थ का प्रयोग महाकवि की प्रतिभा का प्रमाण है । उनको यत्न-पूर्वक ही जाना जा सकता है ।

इसी से मिलती-जुलती घोषणा आचार्य कुन्तक की है—

शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।

अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्द सुन्दरः ॥—(वक्रोक्तिजीवित, १/९)

अर्थात् इस काव्य-मार्ग में (काल की रचना प्रक्रिया में) अन्य शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अथ का वाचक कोई (अकेला) एक शब्द ही होता है और सहृदों को आनन्दित करने वाला अपने स्पन्द से सुन्दर अर्थ ही काव्य का अर्थ होता है ।

उक्त दोनों आचार्यों के मत में काव्य की रचना में सहृदयाह्लाद अर्थ विरल ही होता है और उसे प्रकट करने वाला उसका वाचक शब्द कई पर्यायों के रहते हुए भी कोई एक होता है । उसके प्रयोग में कवि की प्रतिभा प्रमाण है ।

गुरुमत में तात्पर्यशक्ति का लक्षण 'तत्परः शब्दः स शब्दार्थः' भी तो यही बात कहता है । अर्थात् शब्द जिस अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है वही उसका शब्दार्थ है, उस अर्थ का बोध कराये बिना शब्द की बोध-प्रक्रिया विराम क्यों ग्रहण करेगी, वह प्रक्रिया (व्यापार) चाहे बाण की नोक की तरह दीर्घदीर्घतर हो अथवा दीपक के प्रकाश की तरह सहसा (श्रवण के अनन्तर ही) प्रस्फुटित हो जाने वाला हो । इस विषय में अभिनव गुप्त ने जो आपत्तियाँ प्रकट की हैं, वे केवल शास्त्रीय हैं। वे कहते हैं कि यह बात कैसे मानी जा सकती है कि तात्पर्यशक्ति बाण की तरह अधिक से अधिक कार्य की प्रक्रिया है, उस तरह जैसे बलवान् द्वारा प्रयुक्त बाण शत्रु के कवच और उसके मर्म स्थान को भी विदीर्ण कर देता है । यदि यह ऐसा होगा तो क्या एककार्य होगा, एक हो नहीं सकता, विषय, सहकारी भेद (संकेत ग्रहण, शक्यार्थबोध, वक्तृवैशिष्ट्य) से अनेक होगा और असजातीय होगा । ऐसा होने पर एक ही शब्द-व्यापार से यह अर्थ-बोध नहीं होगा । तथा यदि सजातीय मानते हैं तो पदार्थ के विवेचकों ने सजातीय कार्य में शब्द, कर्म, बुद्धि का रुक रुक कर व्यापार(कार्य-रत होना) अस्वीकार कर दिया है ।[१२]

---

१२. अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारि भेदादसजातीय एव मुक्तः । सजातीये च कार्ये विरम्य-व्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः । असजातीये चास्मन्नय एव ।
—(ध्वन्यालोक, ३।४ का लोचन)

अभिनव गुप्त ने यहाँ पर 'सजातीये च कार्ये विरम्य-व्यापारः शब्द कर्म बुद्ध्या-दीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः।' यह कह कर अपनी व्याख्या को कवि की रचना-प्रक्रिया से अलग कर लिया है और शब्द के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से भी, यतः यहाँ उन्होंने मन का नाम नहीं लिया है। मन कवि के काव्य का तो मूल कारण है ही, वही संस्कारों का जन्म दाता है, वाणी के जन्म का कारण भी मन ही है और मन का विरम्य व्यापार निषिद्ध नहीं है, यह न्यायदर्शन से स्पष्ट है। मनोव्यापार (चित्तवृत्ति) को आनन्दवर्धन ने भी कवि की काव्यसृष्टि का कारण माना है।[13]

अभिज्ञान शाकुन्तल के पाँचवे अंक के आरम्भ में राजा दुष्यन्त तो अपने राजभवन में है और उसका मन और कहीं कार्यरत तथा उसके साथ भी है, इसीलिए वह सुखी भी है दुःखी भी है। और दुःख के कारण को समझ नहीं पा रहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि॥

—(अभि० शाकु० ५/२)

'पाणिनीय शिक्षा' के अनुसार वाणी के जन्म के आरम्भ की प्रक्रिया मन के धरातल से ही घटित होती है—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥—(पाणिनीय शिक्षा ६-७)

(आत्मा या बुद्धि) मन को बोलने के लिए नियुक्त करती है, तब मन शरीर की अग्नि पर जोर डालता है, अग्नि वायु को प्रेरित करता है और वायु हृदय में चक्कर काटते हुए स्वर को जन्म देता है जो बाहर आकाश में स्फुट ध्वनि में सुनायी पड़ता है।) इसलिए वाणी और शब्द के अर्थ-बोध की प्रक्रिया में मन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आचार्य अभिनव गुप्त तात्पर्य शक्ति के निराकरण में शब्द कर्म बुद्धि के विरम्य व्यापार निषेध का सिद्धान्त अपनाते हैं यह तो ठीक है, लेकिन इससे तात्पर्यशक्ति की वितत प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह मन का अबोधपूर्व (अन्तर्मन का) व्यापार है जो सही लक्ष्य पर पहुँच कर शान्ति या आनन्द में मग्न हो कर विश्राम ग्रहण करता है।

यहाँ तक अन्विताभिधानवादी के तात्पर्य शक्ति का यह संक्षिप्त व्याख्यान है। जिनके अनुसार अपने-आप अन्वित पदार्थ वाक्य का स्वरूप ग्रहण कर अर्थ-बोध प्रस्तुत कर देते हैं।

वाक्यपदीय में वैयाकरण ने भी वाक्य के अर्थ-बोध में कुछ ऐसी ही प्रक्रिया की मान्यता की है। वे अखंड पदवाक्य को नाद (व्यंजक) तथा अर्थ को व्यंग्य (स्फोटक) स्वीकार करते हैं—

१३. चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्ति विशेष-मुपजनयति तदनुत्पादने वा कवि विषयतैव तस्य न स्यात्।

—(ध्वन्यालोक उद्योत ३।४३)

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा ।
व्यंग्य व्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ —(वाक्यपदीय १।९७)

इस प्रकार अन्विताभिधानवादी की तात्पर्य शक्ति, वाक्यपदीय का नाद-स्फोट सिद्धान्त तथा अभिनव गुप्त का ध्वनन द्योतन व्यंजन प्रत्यायनावगमनादि व्यंजना व्यापार एक ही सरणि पर स्थित हैं। और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो यह कहेंगे कि एक ही बोध-शिखर की ऐसी चमक है जो दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न हो जाती है, अथवा अन्तर्मन से उठने वाली ऐसी बोध-लहर है जिसे प्रत्येक पंडित अपने मन के तादात्म्य के अनुसार अपने-अपने नूतन-बोध से आस्वादित करना चाहेगा। काव्य की रचना और उसके अर्थ-बोध का धरातल प्रत्येक कार्य का अपना होता है। प्रत्येक कार्य की यह नवीनता न हो तो काव्य रचना की पुनरावृत्ति होने लगेगी। केवल कथा दूसरी हो जाने से काव्य नया नहीं हो जाता, कवि के शब्द-अर्थ प्रयोग का वैशिष्टय जो प्रत्येक कवि का अपना होता है, पूर्व की अपेक्षा उसके काव्य की नूतनता का कारण बनता है। तात्पर्यशक्ति और व्यंजनाव्यापार यह सब काव्य के अर्थ-बोध का स्थूल विभाजन है, अर्थ-बोध की सूक्ष्म प्रक्रिया में इन दोनों के संगम से नयी बोध-शक्ति का उदय हो जाता है। जिसमें व्यंजना-व्यापार तो विलुप्त हो सकता है लेकिन तत्परक शब्द और तात्पर्य अर्थ की प्रक्रिया तरंगित होती रहती है। प्रत्येक कवि का अर्थ बोध और उसकी शब्दशक्ति सूक्ष्म रूप से उस कार्य की अपनी सृष्टि है, इसलिए साहित्यविद्या का पंडित इनका इदमित्थं व्याख्यान नहीं कर सकता। प्रवेश-कक्षा के छात्रों को समझाने के लिए कोई भी बात कही जा सकती है। आचार्य दण्डी (चौथी शती ई०) ने भी इसी तथ्य की सृष्टि प्रकारान्तर से की है, वे कहते हैं कि कवियों के वैदर्भ और गौड मार्ग का भेद बहुत स्पष्ट है, उनके स्वरूप भिन्न हैं, लेकिन उनके भेद जो प्रत्येक कवि में स्थित हैं, उनके अपने हैं, उनको नहीं कहा जा सकता—

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥

—(काव्यादर्श १।१०१)

यतः—

इक्षु क्षीर गुणादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥

—(काव्यादर्श १।१०२)

ईख, दूध और गुड सभी मीठे होते हैं लेकिन इनकी मिठास में महान् अन्तर है, मिठास की इस भिन्नता को सरस्वती द्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

अतः मिठास और अर्थ-बोध का चमत्कार सब के अपने-अपने हैं यही उनकी नूतनता है। उनको सिद्धान्त की बद्ध रेखा में जानने का प्रयत्न करना उनके नूतनत्व का तिरस्कार है।

अब हम अभिहितान्वय तात्पर्यशक्ति की अर्थ-बोध-प्रक्रिया से भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें। तात्पर्यशक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसकों की यह प्रथम और मूल धारणा है। वाक्य का अन्वय जान कर अर्थ-बोध की प्रक्रिया की ओर अग्रसर होना—अर्थ को जानने

के लिए बुद्धि की सहायता से मन की वाणी को जन्म देता है। और यदि कहीं वह वाक्य कवि की रचना है अर्थात् कवि द्वारा प्रयुक्त है तो यह प्रक्रिया और भी गूढ़ हो जाती है।

किसी भी वाक्य का जीवन (विधेय) उसमें प्रयुक्त क्रिया में होता है, यदि क्रिया का प्रयोग न हो तो वाक्य अधूरा ही रहेगा और उसका कोई अर्थ न होगा। कुमारिल (मीमांसकों) का सिद्धान्त क्रिया को ही वाक्यार्थ मानता है। क्रिया का नाम भावना है—'भावप्रधानमाख्यातम्' (निरुक्त)। भावना 'भू' धातु से निष्पन्न पद है जिसका अर्थपद है होना घटमानता, कार्य की क्रियाशीलता, सत्ता आदि। यदि कहीं वाक्य में भावना (क्रिया) का प्रयोग नहीं है तो उसका अर्थ करने के लिए क्रिया का अध्याहार करना पड़ेगा—

भावनैव च वाक्यार्थः,

('शुक्लो गौः' इत्यादिषु आख्याताभावात् कथं भावनाया वाक्यार्थत्वम्? अत आह—)

—सर्वत्राख्यातवत्तया ॥

(तत्राख्यातमध्याह्रियते, अन्यथा वाक्यस्यापरिपूर्णत्वात्।)

—(श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरणम् ३३०)

भावना (क्रिया), मन और अर्थ-बोध-तीनों ही एक ही बिन्दु पर क्रमशः (क्षण में या क्षणों के अन्तराल से) संगम करते हैं और समूचा वाक्य बोध या अभिव्यक्ति में परिणत हो जाता है। तात्पर्यशक्ति का यही अभिहितान्वय स्वरूप है। मीमांसक ने यहाँ पर मन के स्थान पर बुद्धि का संगम स्वीकार किया है, वे प्रथम ही प्रत्येक पदार्थ की भिन्न-भिन्न बुद्धि स्वीकार करते हैं और वाक्यार्थ बोध के समय परस्पर विशिष्ट समस्त पदार्थ विषयों को आत्मसात् करने वाली एक बुद्धि की सत्ता मानते हैं—

क्षणिकाऽयुगपद्भावे का बुद्धिः कामपेक्षते।

(ननु सर्वाभिः पदार्थबुद्धिभिरन्ते परस्परविशिष्टपदार्थविषया बुद्धिरेका जनयितव्यास्ति।)

अतएव विशिष्टा धीस्ताभिर्नैकोपजन्यते ॥

यतः कल्पेत सर्वास्तं संसर्गं स्तदपेक्षया।

—(श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, २३)

अनेकगुण जात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता।

एकयैव तु बुद्ध्यासौ गृह्यते चित्ररूपया ॥

—(श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण ३३१)

वस्तुतः सच बात यह है कि जिसे मीमांसक परस्पर विशिष्ट समस्त पदार्थ विषया एक बुद्धि कहते हैं, वह एक बुद्धि नहीं, एकमात्र मन है, तथा परस्पर विशिष्ट समस्त पदार्थ विषय (मन की सहकारी) बुद्धि की तत्परताएँ हैं।

हम जब अभिहितान्वय तात्पर्यशक्ति के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा कर लेते हैं और उसमें मन को अग्रिम स्थान देते हैं तब कवि के वाक्य का अतिशय गूढ़ अर्थ यह तात्पर्यशक्ति ही प्रकट कर सकती है। यहाँ इस प्रसंग में आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध ध्वनि सम्बन्धी उदाहरण

गाथा सप्तशती की गाथा के अर्थ की परीक्षा की जाती है। इस निकर्ष में तात्पर्य और व्यंजना शक्तियों की इयत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को वाच्य से नितान्त विलक्षण बताते हुए कहा कि ध्वनि का पहला भेद (वस्तु ध्वनि) ही वाच्य से दूर (नितान्त भिन्न) है। वाच्य अर्थ विधि रूप है तो ध्वनि का अर्थ-बोध प्रतिषेध रूप होता है। जैसाकि इस प्राकृतगाथा का काव्य बोध हम जानते हैं—

भम धम्मिअ वीसत्थो स सुणओ अजजमारिओ देण।
गोला णइ कच्छ कुडङ्ग वासिणा दरिअ सीहेण ।।
[भ्रम धार्मिक विश्रब्धः सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकूलकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ।।]

गाथा का अर्थ है कि हे धार्मिक ! अब तुम निर्भय होकर यहाँ भ्रमण करो, आज उस कुत्ते को उस भयानक सिंह ने मार दिया जो गोदावरी नदी के किनारे कुंज में रहने लगा है।

और गाथा का काव्य बोध इस प्रकार है—गोदावरी नदी का कुंज प्राय स्थान किसी अल्हड़ युवती का उसके अपने प्रेमी युवक से मिलने का स्थान है। पुजारी (धार्मिक) वहाँ प्रायः फूल तोड़ने या घूमने आ जाता है, उस युगल प्रेमियों का पाला हुआ कुत्ता उसे भौंक कर वहाँ आने से मना करने का प्रयास करता था। पुजारी फिर भी आता रहा। तब युवती ने नया उपाय सोचा, कुत्ते को वहाँ से हटा दिया, और जब पुजारी वहाँ फिर घूमने और फूल तोड़ने आया तो उसने उसको कुत्ते की याद दिलाते हुए कहा—'पुजारी जी ! आप अब निर्भय होकर यहाँ घूमने आया कीजिए, जो कुत्ता आपको भौंकते-भौंकते काटने दौड़ता था, उस कुत्ते को यहीं गोदावरी के कूल-कुंज में जो अब रहने लगा है उस भयानक सिंह ने मार डाला। अल्हड़ युवती इतना कहकर तो शान्त हो गयी, लेकिन पुजारी से ऐसी घटना उल्लेख कर उसने उसको यह सख्त चेतावनी दी, कि हे कुत्ते से डरने वाले पुजारी, जान लो कि अब यहां सिंह रहता है, इसलिए जान की खैर चाहते हो तो यहाँ आने का दुस्साहस मत करना। इस प्रकार उसने पुजारी को आने से मना किया। और अपने मिलन स्थान को विजन (एकान्त) और सुरक्षित रखने की प्रक्रिया रच डाली।

इस गाथा के इसी व्यंग्य-अर्थ (ध्वन्यर्थ) का व्याख्यान आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट प्रभृति आचार्य करते हैं। आनन्दवर्धन ने तो केवल यही कह कर कि वह ध्वनि-अर्थ 'कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः' होता है, कह कर इस गाथा को उद्धृत कर दिया, पर अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में इस गाथा को लेकर अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य और चतुर्थ कोटि में व्यंजना शक्ति की विस्तृत व्याख्या की है। तात्पर्य को उन्होंने लक्षणा से पूर्व केवल अन्वय विधायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जैसाकि अभी पहले उल्लेख किया गया है अन्विताभिधान तात्पर्य शक्ति को भी उन्होंने शब्द कर्म-बुद्धि का विरस्य व्यापार प्रतिषेध कह कर इस गाथा का काव्यार्थ-बोध कराने में असमर्थ बताया है। अर्थात् इषु की तरह उसके दीर्घदीर्घतर व्यापार की संभावना नहीं हो सकती। केवल व्यंजना (ध्वनि) ही इस काव्यार्थ बोध को प्रकाशित (उजागर) करेगी।

व्यंजना शक्ति से गाथा का जो काव्यार्थ उक्त आचार्यों ने प्रकाशित किया है, ऊपर उसका उल्लेख हो चुका। अब हम गाथा के रचयिता कवि की ओर लौटते हैं। गोदावरी नदी के गिरि ग्राम में रचित इस गाथा-सूक्ति में कवि का मूल भाव क्या वही है जो ध्वनि के आचार्यों ने व्याख्यान किया है, या सही काव्यार्थ अभी शेष रह गया है ? इसका पता इसमें प्रयुक्त क्रिया (भावना) के भलीभाँति विश्लेषण से ही किया जा सकता है, उसमें ध्वनि-शक्ति की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि 'भावनैव च वाच्यार्थः' यह अभिहितान्वय का सिद्धान्त है, आनन्दवर्धन ने भी विधि और निषेध रूप से क्रिया-प्रयोग में ही काव्यार्थ की परिणति स्वीकार की है। लेकिन यहाँ क्रिया की सही परिणति क्या है ? इसकी परीक्षा अभी शेष है।

हम गाथा को उसके अर्थ बौद्ध पुजारी के मन बुद्धि की दृष्टि से व्याख्यायित करना चाहें तो क्या व्याख्यान होगा ? कवि की दृष्टि अल्हड़ युवती के अल्हड़ वाक्य-निबन्धन में जितनी तेज है, उतनी ही गम्भीर उसके अर्थवेत्ता के चयन में भी है। इसीलिए उसने गाथा का श्रोता पुजारी को बनाया है जो अल्हड़ युवती और उसकी अजनबी वचन-भंगिमा को समझ सकता है। पुजारी ने समझा होगा, ध्वनि के आचार्यों ने भले ही न समझा हो। बात यह है, युवती को कुछ ऐसी बात कहनी थी जिससे पुजारी बिल्कुल डर जाय और इस ओर न आया करे। इसलिए उसने सिंह की उपस्थिति का आभास दिया। पुजारी के बिना कुछ कहे-सुने दिया। पुजारी ने पूर्व दिनों की भाँति कुत्ते को न देखकर इधर-उधर दृष्टि डाली होगी। युवती ने मौका पाकर उस खोज-दृष्टि के उत्तर में जो बात कही है, कवि ने उसे परिमित चमत्कृत शब्दों में निबद्ध कर दिया। जिसके गूढ़ अर्थ की जिज्ञासा में साहित्यशास्त्रकारों की चार शताब्दियाँ बीत गयीं और अर्थ गूढ़ ही बना रह गया। अन्यथा इसके अर्थ को जानने के लिए यह मनोयोग क्यों करना पड़ता ?

गाथा का ठीक अर्थ जानने के लिए उसके वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं के अर्थ को अच्छी तरह समझा जाना चाहिए। गाथा में दो क्रियाएँ हैं—(१) **भ्रम** (पुजारी, तुम स्वतन्त्र विचरण करो), (२) सिंहेन शुनकः **मारितः** (तुम्हें परेशान करने वाले कुत्ते को सिंह ने मार डाला) यहाँ पर दोनों क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन इसकी दूसरी क्रिया में गाथा का समग्र काव्यार्थ छिपा हुआ विद्यमान है। मीमांसा के अनुसार 'भावनैव वाक्यार्थः' है अर्थात् क्रिया का बोध ही काव्यार्थ का बोध है। मुख्य क्रिया का अर्थ है कि कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया और इसलिए अब पुजारी निर्भय होकर आया करे। क्रिया को सुनकर, कि सिंह ने कुत्ते को मारा है पुजारी ने युवती की अल्हड़ता को समझ लिया। यह बात अल्हड़पन में कही गयी है, उसने मारने की सत्यता की अर्थ व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जो व्यंजना का विषय नहीं है, कर्त्ता, कर्म और क्रिया के औचित्य संयोग का विषय है, तब उस पुजारी को ध्यान में आया कि सिंह कुत्ता और बिल्ली को नहीं मारता, उसकी दहाड़ सुन-कर सारा वन काँप जाता है, गाँव में रहने वाले कुत्ता-बिल्ली उसके सामने आ ही नहीं सकते और युवती कहती है कि कुत्ते को सिंह ने मार दिया है, उसका यह कथन उसकी चातुर्य-भंगिमा का अनूठा सौन्दर्य प्रकट करता है, जो असत्य से सत्य की सृष्टि है। पुजारी बुद्धिमान् है, सारी बात उसकी समझ में आ गयी, उसने अपने को युवती का अपराधी पाया, जो यहाँ कुंज में फूल तोड़ने आकर उसके और प्रेमी के मिलन में बाधा डालता है।

तथा उसे यह निश्चय करने की प्रेरणा मिली कि अब भविष्य में वह वहाँ न आया करेगा, और इस स्थल पर अल्हड़ युवती को निर्भर अभिसार करने देगा, अन्त में यह विधि ही गाथा का तात्पर्य बोध है अतः विधि वाक्य की निषेध में परिणति नहीं हुई, उसका स्थानान्तरण हो गया है, तात्पर्य शक्ति का निर्गलितार्थ है, कवि का अभीष्ट है, इस अर्थ के प्रकाशित होते ही युवती के अल्हड़ वचन-भंगिमा का सौन्दर्य कितना ही चमत्कृत हो उठता है। यहाँ यह बात निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि पुजारी युवती की अल्हड़ता और उसके वचन की असत्यता को भलीभाँति जान रहा है, कवि की गाथा का यही अभीष्ट काव्यार्थ है, अन्यथा यदि पुजारी युवती की बात को सत्य मानता तो गोदावरी नदी के उस गिरि ग्राम में कुहराम मच जाता, पुजारी सिंह की उपस्थिति जब गाँव वालों को बता देता तो सभी सिंह के आखेट के लिए धनुष-बाण ताने निकल पड़ते।

व्यंजना शक्ति को माध्यम बनाकर उक्त गाथा का जो अर्थ उन-उन आचार्यों ने किया है वह अर्थ अन्तिम काव्यार्थ-बोध नहीं है, और न ही अन्तिम अर्थ व्यंजना शक्ति से जाना जा सकता है। उस अर्थ को हम तात्पर्य शक्ति से ही जान पायेंगे। और तभी युवती की अल्हड़ उक्ति का सौन्दर्य चमत्कृत होगा, जो कि कवि को अभीष्ट है, व्यंजना शक्ति के अर्थ-बोध में तो वह पुजारी के लिए सत्य वचन है।

हमारे इस निरूपण का यह अर्थ नहीं है कि व्यंजना शक्ति की सत्ता नहीं है। वरंच बात यह है कि अभिधा, लक्षणा के अनन्तर अपने-अपने सन्दर्भों के अवकाश से व्यंजना (ध्वनि) और तात्पर्य दोनों ही शब्द शक्तियाँ अर्थ-बोध की प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं। काव्यार्थ-बोध में दोनों का अपना सत्य है और जहाँ व्यंजना असमर्थ हो जायेगी वहाँ तात्पर्य से ही कवि के अभीष्ट अर्थ को जाना जा सकेगा।

दूसरी बात यह है कि जब भी काव्य-रचना का आरम्भ हुआ होगा तब से ही यह काव्य-वाङ्मय अर्थ-बोध की दृष्टि से द्विधा विभक्त है। आचार्य दण्डी (४ थी शती ईस्वी) ने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का निरूपण करने के पश्चात् काव्य-रचना का द्विधा विभाजन स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति भेद से घोषित किया है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

—काव्यादर्श, २/३६३

यह विभाजन कवि की काव्य-रचना में तो स्थित ही रहा, काव्यार्थ-बोध में भी यह द्वैधता ज्यों की त्यों प्रतिष्ठापित रही। जहाँ पद-व्युत्पत्ति और अर्थ-व्युत्पत्ति के विश्लेषण से ही काव्य का अर्थ प्रकाशित होता है यह वक्रोक्ति का क्षेत्र है तथा अभिहितान्वय तात्पर्य शक्ति का विषय है। दूसरी ओर व्यंजना शक्ति और अन्विताभिधानवाद दोनों ही काव्यार्थ बोध की एक ही कोटि को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते है। और अर्थ-बोध की यह प्रक्रिया स्वाभावोक्ति का क्षेत्र है।

वाक्यपदीय में जो नाद और स्फोट के व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध का निरूपण है प्रायः उसी के समानान्तर अन्विताभिधान का वाक्यार्थ-बोध भी आता है। तथा काव्यार्थ-बोध के क्षेत्र में इसी का विस्तृत व्याख्यान व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्धों के ध्वनि-भेदों में होता है। ध्वनि-

भेदों की कल्पना कर काव्यार्थ-बोध के क्षेत्र में बड़े उल्लास से व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा का उद्घोष किया गया। व्यंजनावादियों ने दूसरों के मतों के खण्डन में अत्यन्त तत्परता दिखायी है और तात्पर्य शक्ति को तो पदों के अन्वय मात्र में सीमित कर दिया है, जब कि तात्पर्य शक्ति का वाक्यार्थ-बोध के प्रसंग में लम्बा विस्तार है, अन्वय तो उसकी पहली प्रक्रिया है। सबसे मुख्य बात यह है कि तात्पर्य शक्ति के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त क्रिया (भावना) ही वाक्यार्थ बोध है, इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यार्थ-बोध का सरल मार्ग तात्पर्य-प्रक्रिया से ही प्राप्त होता है।

जैसाकि आचार्य दण्डी ने कहा है काव्य वाङ्मय के मुख्य दो स्वरूप है—स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति। उसी प्रकार काव्यार्थ-बोध की भी दो प्रक्रियाएँ हैं—व्यंजना (ध्वनि) और तात्पर्य। वक्रोक्ति की ही तरह तात्पर्य का विस्तार व्यंजना से अधिक है। बोध-शक्ति की प्रक्रिया और व्युत्पत्ति को देखते हुए ध्वनि (व्यंजना) के कई भेद प्रकारान्तर से तात्पर्य-शक्ति के ही व्याख्यान हैं, उदाहरण के लिए—अविवक्षित वाच्य ध्वनि (अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि) शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के भेद तथा इन ध्वनि-भेदों के व्यंजक मुख से प्रतिपादित पद वाक्य प्रकाशता के काव्य-प्रकार। कुन्तक द्वारा वक्रता का सैद्धान्तिक विवेचन अपने विस्तार में काव्य के लालित्य का जो बोध कराता है, व्यंजना शक्ति द्वारा वैसे लालित्य को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, व्यंजना शक्ति तो 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' जैसी काव्योक्तियों में केवल अनन्त व्यंग्य अर्थ का ही निर्देश करती है, लालित्य और सौन्दर्य की व्याख्या उसमें नहीं सम्भव हो पाती, भाव या रस की अभिव्यक्ति ही उसकी शुद्ध प्रकृति है। और वक्रता-सिद्धान्त का विवेचन अनजाने रूप से तात्पर्य की गूढ शक्ति का विस्तृत व्याख्यान है जिससे काव्यवस्तु के नित्य नूतन सोन्दर्य (रमणीयता, लालित्य) को प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

व्यञ्जना विचार

— डॉ० किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत-विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय
नैनीताल (उ०प्र०)।

साहित्यशास्त्र में, शब्द से अर्थ की प्रतीति कराने वाले तथा शब्द और अर्थ को परस्पर सम्बद्ध करने वाले व्यापार को शब्दशक्ति, शब्दवृत्ति और शब्दव्यापार कहा जाता है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् यह तथ्य उपस्थित होता है कि काव्यशास्त्रियों ने मुख्यरूप से चार शब्दशक्तियों को माना है—(एक) अभिधा, (दो) लक्षणा, (तीन) तात्पर्या तथा (चार) व्यंजना। इनमें अभिधाशक्ति तो सर्वमान्य शब्दशक्ति है। किन्तु अन्य तीन शक्तियों को अपने अस्तित्व के लिए विरोधियों का सामना करना पड़ा। सर्वाधिक विरोध तो 'व्यंजनावृत्ति' का हुआ, जो ध्वनिवादी आचार्यों को अभीष्ट है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो शब्दशक्तियों में व्यंजनावृत्ति का अर्थावबोध के लिए जो महत्त्व है, वह अन्य वृत्तियों का नहीं है। इसलिए इसके बाह्य एवं आभ्यंतर स्वरूप का समझना साहित्यकारों एवं साहित्यमर्मज्ञों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

'व्यंजना' शब्द विशिष्टता अर्थ सूचक 'वि' उपसर्गपूर्वक, स्पष्ट करना, प्रस्तुत करना चित्रण करना, चमकना, सजाना अर्थ वाली 'अञ्ज्' 'धातु' से, साधन अर्थसूचक 'ल्युट्' प्रत्यय एवं स्त्रीलिंग सूचक 'टाप्' प्रत्यय के योग से बना है।[1] अतः 'व्यंजनाशक्ति' का शाब्दिक अर्थ है—वह शब्दशक्ति, जो अर्थ को स्पष्ट करे; प्रस्तुत करे; चित्रित करे; चमकादे; और सजादे।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'।—ध्वन्यालोक, १/१

और व्यंजना को उसका प्राण माना है—

'व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः'। —ध्वन्यालोक, १/१८

आचार्य आनन्दवर्द्धन के उपर्युक्त कथन और उनके सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का परिशीलन करने से अनुभव होता है कि उनके लिए 'ध्वनि' की स्थापना जितनी आवश्यक थी, 'व्यंजना-वृत्ति' की अनिवार्यता की सिद्धि भी उतनी ही आवश्यक थी। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' शब्द को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के आधार पर जो पाँच अर्थ किए हैं—

---

१. वामनशिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी-कोश, पृ०सं० ९८३

(क) ध्वनति इति ध्वनिः (वाचक शब्द);
(ख) ध्वनति इति ध्वनिः (वाच्यार्थ);
(ग) ध्वन्यते इति ध्वनिः (व्यंग्यार्थ);
(घ) ध्वननमिति ध्वनिः (व्यंजना व्यापार) तथा
(ङ) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः (काव्य; (२) और जिनकी पुष्टि 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका प्रस्तुत करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त के अधोलिखित कथन से हो जाती है—

'अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। वाच्यवाचकसंमिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति म यमपदलोपी समासः। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अत एव साधारणहेतुमाह—व्यंजकत्वसाम्यादिति। व्यंग्यव्यंजकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः।—ध्वन्यालोकलोचन, १/१३ की व्याख्या

उनमें 'ध्वननमिति ध्वनिः' व्यंजनाव्यापार के लिए किया गया 'ध्वनि' शब्द का विश्लेषण भी व्यंजनाव्यापार की अपरिहार्यता का द्योतक है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन ने 'व्यंजना' शब्द 'ध्वन्यालोक' में कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया गया है। हाँ, व्यंजकत्व, ध्वनन, गमन, अवगमन आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश में उपर्युक्त शब्दों के साथ-साथ 'व्यंजना' शब्द का भी प्रयोग किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'व्यंजना' शब्द का प्रयोग किया है। इसके बाद व्यंग्यार्थ की अवबोधिका शक्ति का नाम 'व्यंजना' प्रसिद्ध ही हो गया। आनन्दवर्धन ने 'व्यंजकत्व', 'ध्वनन' आदि शब्दों से जिस प्रकार व्यंजनाव्यापार को 'ध्वन्यालोक में प्रतिष्ठित किया, वह व्यापार तब और भी सम्मानित हुआ, जब अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, नागेशभट्ट, अप्पयदीक्षित, आशाधरभट्ट, विद्यानाथ, विश्वनाथदेव, कविकर्णपूर, आचार्य आनन्द झा आदि काव्यशास्त्रियों ने इसे अनिवार्यरूपेण शब्दव्यापार मान लिया।

अब इस वृत्ति के अस्तित्व का उदघोष करने वाली, काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रदत्त, इसकी परिभाषाएँ प्रस्तुत हैं—

(क) आनन्दवर्धन—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

—ध्वन्यालोक, १/१३

---

२. (क) भर्तृहरि, वाक्यप्रदीप, ब्रह्मकाण्ड, कारिका ७५-८४, ९३-१०६
(ख) ध्वन्यालोक, १/१३ की व्याख्या से।

(ख) अभिनवगुप्त—

(i) ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनाश्रयः ।

—ध्वन्यालोक लोचन, पृ०सं० ६०

(ii) विशिष्टशब्दाभिधेयतया बिना तस्यार्थस्याव्यंजकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः । —वही, पृ०सं० १७२

(ग) मम्मट—

यस्य प्रतीरिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ।।
अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्याप्ततिरञ्जनम् ।।
शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्व व्यंजकत्वे तत् शब्दस्यं सहकारिता ।।

—काव्यप्रकाश, २/१४ का०उ० १५ का पूर्वार्घ १६;३/२३

(घ) विश्वनाथ—

विरतास्वभिधाधासु ययार्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यंञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

—साहित्यदर्पण, २/१२ का०उ०, १३ का पू०

(ङ) पण्डितराज जगन्नाथ—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ।

—रसगंगाधर, १/पृ० सं०३६

(च) अप्पयदीक्षित—

यत्र वाच्यातिशायिव्यङ्ग्यं स ध्वनिः ।

[श्रीवरानन्द ने चित्रमीमांसा की सुधा व्याख्या में इस लक्षण को इस तरह स्पष्ट किया है—यत्र काव्ये व्यङ्ग्यं व्यञ्जनाप्रतिपाद्यं वस्तु वाच्यातिशायि; वाच्यमित्युपलक्षणम् वाच्यलक्ष्यावतिशेतेऽतिक्रामति एवं रूपं भवेत् स ध्वनिः ।]

—चित्रमीमांसा, ग्रन्थारम्भप्रकरण, पृ०सं०१३

(छ) नागेशभट्ट—

मुख्यार्थवाघनिरपेक्षजनको, मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधरणः, प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धसंस्कारविशेषो व्यञ्जना ।

पदमलघुमञ्जूषा, पृ०सं० २०

(ज) आशाधरभट्ट—

(I) संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी ।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधीहेतुर्वृत्तिरञ्जना ।।

अस्त्रमन्त्रितवाणस्य वृत्तिवद् विविधार्थकृत् ।
एका शब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते ।।

—कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, १-२

(II) शक्यलक्ष्यातिरिक्तार्थबोधिकावृत्तिव्यञ्जना ।

—त्रिवेणिका, व्यञ्जनप्रकरण, पृ०सं० २४

(झ) विद्यानाथ—

अन्वितेषु पदार्थेषु वाक्यार्थोपस्कारार्थमर्थान्तरविषयः शब्दव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः ।

—प्रतापरुद्रीयम्, काव्यप्रकरण, पृ०सं० ६८

(ञ) विश्वनाथ देव—

वक्त्रादियोगमासाद्य वाधितार्थस्य बोधिका ।
वृत्तिर्यत्र भवेत् काचित् स शब्दो व्यञ्जको मतः ।।
प्रत्युज्जीवयति स्वकीयविभवैः शक्त्या परं कुण्ठितं
नानार्थैः सरसीकरोति सहसा सामाजिकानां मनः ।
वाधाद् भीतिरहो फलग्रहिलया त्यक्ता परं दूरतः
सेयं वारविलासिनीव विदुषामास्ते हृदि व्यंजना ।।

—साहित्यसुधासिन्धु, २/१९-२०

(ट) कविकर्णपूर—

अभिधालक्षणाक्षेपतात्पर्याणां समाश्रितः ।
व्यापारो ध्वननादिर्यः शब्दस्य व्यंजना तु सा ।।

—अलंकारकौस्तुभ, २/२९

(ठ) श्रीकृष्णशर्मा—

वाच्यलक्ष्यविभिन्नार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम् ।

—मन्दारमरन्दचम्पू, पृ०सं० १७९

(ड) हरिदाससिद्धान्तवागीश—

वाच्यलक्ष्येतरार्थबोधिका व्यंजना ।—काव्यकौमुदी, पृ०सं० ४३

(ढ) विद्याराम—

वाच्योऽर्थो वाऽथ लक्ष्योऽर्थो भूत्वात्मविषये स्फुटः ।
व्यंजयेत्कञ्चिदन्यार्थं यत्सा च व्यंजना स्मृता ।।—रसदीर्घिका, पृ०सं० ५८

(ण) नरसिंह कवि—

अन्वितेषु पदार्थेषु वाक्यार्थोपस्कारार्थम्
अर्थान्तरविषयशब्दव्यापारो व्यंजनावृत्तिः ।

—नञ्जराजयशोभूषण, पृ०सं० १६

(त) श्रीकृष्णभट्ट—

शक्तिलक्षणाद्यजन्यप्रतीतिजनकः शब्दादिनिष्ठो व्यापारो व्यंजनेति ।

—वृत्तिदीपिका, पृ०सं० १२

(थ) आचार्य छज्जूराम शास्त्री—

विरामे सति वृत्तीनां ययाऽन्योऽर्थः प्रकाश्यते ।
शब्दनिष्ठार्थनिष्ठा च व्यंजनावृत्तिरिष्यते ॥—साहित्यबिन्दु, पृ०सं० ५०

(द) आचार्य आनन्द झा—

मुख्यव्यंग्यार्थोपस्कारकतामावहन्नन्यः ।
प्रभवेदर्थो यत्र तु तद्ध्वनिसंज्ञं भवेत्काव्यम् ॥

\+ \+ \+

यत्रार्थः शब्दो वेत्यत्र प्रोक्तो हि 'वा' कारः
न समुच्चयार्थवाची किन्तु ज्ञेयो विकल्पार्थः ॥
एतेन व्यंजकता यत्रैकस्यैव नान्यस्य ।
नो तत्राप्यव्याप्तिः काव्ये ध्वनिरूपतापन्ने ॥

—ध्वनिकल्लोलिनी, २००, २०४-२०५

(ध) पं० राममूर्ति त्रिपाठी—

प्रमाणान्तर से अप्राप्त, किन्तु शब्दप्रमाण से प्राप्त उस अर्थ के प्रति किया गया व्यापार व्यञ्जना है जो शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से उपलब्ध न हो ।

—व्यञ्जना और नवीन कविता, पृ०सं० ३५

उपर्युक्त परिभाषाओं से व्यञ्जना की सिद्धि प्रत्यक्ष रूप से हो जाती है, इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती (जिन्होंने ध्वनि का उल्लेख आनन्दवर्धन सम्मत अर्थ में नहीं किया था) तथा परवर्ती ध्वनिविरोधियों के कथनों में भी ध्वनि की सिद्धि परोक्षरूप से हो जाती है और फलस्वरूप व्यञ्जनावृत्ति भी सिद्धवृत्ति के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेती है। उदाहरणस्वरूप अग्निपुराण में प्रस्तुत आक्षेपालङ्कार और पर्यायोक्तालंकार की परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं—

(क) श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति सचेतनः ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥

—अग्निपुराण, ३४५/१४

(ख) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः ॥—अग्निपुराण, ३४५/१८

यहाँ 'ध्वनिना व्यज्यते', 'अन्येन प्रकारेणाभिधीयते' 'ध्वनिः' इन पदों में ध्वनि तथा व्यञ्जना की स्पष्ट सत्ता विद्यमान है ।

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥—वही, ३३९/२

कथन में 'रसाभिव्यक्ति' और 'व्यज्यते' ये दो शब्द व्यञ्जनावाद और ध्वनिवाद के समर्थक हैं ।

अग्निपुराणकार के समान ही भामह[3] उद्भट[4] और दण्डी[5] का पर्यायोक्तलक्षण भी ध्वनि तथा व्यञ्जना की सत्ता का उद्घोष करता है।

अग्निपुराणकार और भामह द्वारा प्रदत्त समासोक्ति का लक्षण भी 'गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः' अपने इस अंश से ध्वन्यालोककार द्वारा प्रदत्तध्वनि के 'तमर्थं व्यङ्क्तः' से साम्य रखता है[6]। इसी तरह इन आलङ्कारिकों के अलङ्कार-लक्षणों में प्रतीयते, विभाव्यते आदि शब्दों का प्रयोग और एक अर्थ से दूसरे अर्थ का अवबोध होना भी ध्वनि और व्यञ्जना की सिद्धि करते हैं। प्रायः सभी सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमा व्यञ्जना द्वारा ही अनुभूति का विषय बनती है। किन्तु विस्तार के भय से हम यहां इन सभी स्थलों को प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः इन सबका उल्लेख करने में हमारा यही उद्देश्य है कि इन आचार्यों ने भले ही 'ध्वनि' और उसकी प्राणभूता 'व्यञ्जना' को अलग से परिभाषित नहीं किया या उसका स्वरूप नहीं बताया, फिर भी इनके ग्रन्थों से 'ध्वनि' और 'व्यञ्जना' के अस्तित्व की प्रतीति हो ही जाती है। यद्यपि पूर्ववर्ती इन आलङ्कारिकों के ग्रन्थों से प्रभावित होकर राजानक कुन्तक ने ध्वनि और व्यञ्जना को मानना नहीं चाहा है, किन्तु फिर भी उनके अधोलिखित कथन 'व्यञ्जना' के अस्तित्व के ही पोषक हैं—

(क) उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥—वक्रोक्तिजीवित, १/१०

(ख) प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्॥—वक्रोक्तिजीवित, १/४०

इस प्रकार 'व्यंजना को प्रत्यक्षरूप से न मानने वाले काव्यशास्त्री भी अपने वचनों से इसकी सिद्धि परोक्षरूप से कर ही देते हैं।

व्यंजना के प्रमुख भेद—

ध्वन्यालोककार द्वारा प्रदत्त ध्वनि की परिभाषा से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ दोनों व्यञ्जक होते हैं, अतः व्यञ्जना भी दो प्रकार की है, शाब्दी तथा आर्थी। शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद हैं: अभिधामूला व्यञ्जना तथा लक्षणामूला व्यञ्जना। इनमें से लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप आचार्य मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।
× × तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः॥

---

३. काव्यालङ्कार, ३/८-९

४. उद्भट, काव्यालङ्कार सार संग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या, पृ०सं० ३५९

५. काव्यादर्श, २/२९५

६. क—अग्निपुराण, ३४५/१६
ख—काव्यालङ्कार, २/७९
ग—ध्वन्यालोक, १/१३

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।
—काव्यप्रकाश, २/१३ का उत्तरार्ध, १४, १५ का पूर्वार्ध ।

अर्थात् लक्षणा के जो दो भेद होते हैं—रुढिलक्षणा तथा प्रयोजनवती लक्षणा, इनमें से प्रयोजनवती लक्षणा के प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार ही समर्थ होता है। क्योंकि जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लक्षणाव्यापार का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन का अवबोध व्यंजना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से नहीं हो सकता ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी लक्षणामूला व्यञ्जना का स्वरूप मम्मटसम्मत ही बताया है—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ।।—साहित्यदर्पण, २/१५

अभिधामूला व्यञ्जना का लक्षण मम्मट ने इस प्रकार किया है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ।—काव्यप्रकाश, २/१०

आचार्य विश्वनाथ ने भी अभिधामूला व्यंजना के लक्षण में मम्मट से ही सहमति प्रकट की है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ।।—साहित्यदर्पण, २/१४

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में बताया है कि अनेकार्थक शब्दों में उचित अर्थ का निर्णय करने के लिए संयोग, विप्रयोग, साहचर्य विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, अभिनयादि सहायक बन जाते हैं। इनके आधार पर ही निर्णय हो जाता है कि 'हरि' शब्द के अनेक अर्थों—विष्णु, इन्द्र सिंहादि में से कौन सा अर्थ शब्द के अर्थ के रूप में नियन्त्रित होगा । इस प्रकार भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट[७] संयोगादि हेतुओं से अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर, वाच्यार्थ (संयोगादि से नियन्त्रित एवं अभिधा शक्ति से निकला हुआ अर्थ) से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाली व्यंजना को अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।[८] पण्डितराज-जगन्नाथ ने नानार्थक स्थलों में संयोगादि से अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर, अप्राकरणिक अर्थ को अभिधा से ही बोध्य माना है । हाँ, ऐसे स्थलों में व्यंग्य उपमालंकार को अवश्य ही व्यंजनागम्य माना है[९] ।

---

७. वाक्यपदीय, २/३१५-१६
८. क—काव्यप्रकाश, २/१९ और उसके बाद की व्याख्या ।
ख—साहित्यदर्पण, २/१४ और उसके बाद की व्याख्या ।
ग—अलंकारकौस्तुभ, २/३१ और उसके बाद की व्याख्या ।
घ—कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, २-४
ङ—त्रिवेणिका, व्यंजनाप्रकरण, पृ०सं० २५
९. रसगंगाधर, द्वितीय आनन, पृ०सं० २-३४

आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने आर्थी व्यंजना का लक्षण इस प्रकार दिया है—

(क) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।
—काव्यप्रकाश, ३/२१ का उत्तरार्ध, २२

(ख) वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ।।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसम्भवा ।
—साहित्यदर्पण, २/१६, १७ का पूर्वार्ध

स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ ने आर्थी व्यंजना का लक्षण मम्मट-सम्मत ही दिया है। अतएव व्यंजना आर्थीव्यंजना का रूप तब धारण करती है, जब वह वक्ता, बोद्धा, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टादि के वैशिष्ट्य रूप कारणों से किसी अर्थ के द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराती है। कवि कर्णपूर, आशाधरभट्ट एवं नरसिंह भट्ट ने भी आर्थी व्यंजना के प्रसङ्ग में वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य को कारण माना है।[१०]

अर्थ के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार होने से आर्थी व्यंजना के भी तीन प्रकार हैं, जिनके सम्बन्ध में मम्मट, विश्वनाथ, कविकर्णपूर तथा आशाधरभट्ट के विचार क्रमशः प्रस्तुत हैं—

(क) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते ।—काव्यप्रकाश, २/७ का पूर्वार्ध

(ख) त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ।

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यंग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यंजनास्त्रिविधाः।
—साहित्यदर्पण, २/१७ का उ० तथा व्याख्या

(ग) अर्थोऽपि व्यंजको ज्ञेयः (वाच्यलक्ष्यव्यंग्यास्त्रय एवार्था गृह्यन्ते ।
—अलंकारकौस्तुभ, २/३०

(घ) एषा शब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते ।
—कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, २ का उ०

कहीं-कहीं पर शब्द और अर्थ दोनों की सम्मिलित व्यंजना भी होती है, इसलिए

---

१०. क—अलंकारकौस्तुभ, २/३२, ३३
ख—कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, २, ४
ग—नञ्जराजयशोभूषण, पृ०सं० २१

ऐसे स्थलों पर व्यंजना को उभयशक्तिमूला व्यंजना कहा जाता है।[११] इसके अतिरिक्त प्रकृति प्रत्ययमूला व्यंजना को भी माना गया है।[१२]

व्यंजनावादी आचार्यों ने व्यंजना के भेद-प्रभेद बताते हुए इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी प्रस्तुत किया है कि शाब्दी व्यंजना में शब्द प्रधान रूप से व्यंजक होता है और अर्थ उसका सहकारी व्यंजक होता है; तथा आर्थी व्यंजना में अर्थ प्रधान रूप से व्यंजक होता है और शब्द उसका सहकारी व्यंजक होता है[१३]।

व्यंजना के उदाहरण—

व्यंजनावृत्ति के लक्षण तथा उसके प्रमुख भेदों का परिचय देने के पश्चात् इस वृत्ति के द्वारा सहृदयसंवेद्य व्यंग्यार्थ से रमणीय कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

—ध्वन्यालोक, १/१३वीं कारिका की व्याख्या के अन्त में प्रस्तुत श्लोक।

प्रस्तुत श्लोक में 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति' का अभिधेयार्थ—सोने के फूलों वाली पृथिवी का चयन करते हैं, उसमें से सोने के फूलों को चुनते हैं—अनुपपन्न है, क्योंकि फूल चुनने का कार्य पुष्पित लता से ही हो सकता है। पृथिवी लता नहीं है; उसमें सोने के पुष्प भी नहीं होते हैं; न उसका चयन ही हो सकता है। इसलिए लक्षणा से अर्थ निकलता है-अत्यधिक धनसम्पत्ति, उसकी सरलता से प्राप्ति; फलस्वरूप सुखसमृद्धि। इस लक्षणा का प्रयोजन है—शूरवीर, कृतविद्य और सेवकों की प्रशंसा करना। लक्षणा का यह प्रयोजन व्यञ्जना शक्ति से ही अवबोध का विषय बनता है, और सहृदय समझ लेता है कि शूरवीर, विद्वान और सेवक ही सुलभसम्पत्ति को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना जानते हैं; निर्वीर्य, विद्याहीन और सेवाभाव रहित व्यक्ति नहीं। अतः इस श्लोक में लक्षणामूला व्यञ्जना का सहृदयहृदयहारी चमत्कार विद्यमान है।

(ख) सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धिया हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

—ध्वन्यालोक, २/२१ वीं कारिका से सम्बन्धित उदाहरण।

---

११. क—काव्यप्रकाश, ४/४१ के उत्तरार्ध का पहला भाग।
ख—साहित्यदर्पण, ४/६ के उत्तरार्ध का पहला भाग।
ग—नञ्जराजयशोभूषण, पृ०सं० १६
घ—अलंकारकौस्तुभ, ३/४५
ङ—कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३ का पूर्वार्ध।
१२. साहित्यदर्पण, २/१७ की व्याख्या में।
१३. क—काव्यप्रकाश, २/२०, ३/२३
ख—साहित्यदर्पण, २/१८

प्रस्तुत श्लोक में अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के माध्यम से ही व्यङ्ग्य विरोधालङ्कार का आनन्द रसिकों की अनुभूति का विषय बना है।

(ग) पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकत भाजनपरिस्थिता शङ्ख शुक्तिरिव ॥

—काव्यप्रकाश, २/७ वीं कारिका सम्बद्ध उदाहरण।

इस श्लोक में निश्चलता बलाका की आश्वस्तता (इतमीनान) को व्यञ्जना से सूचित करती है; उस आश्वस्तता से निर्जनता व्यञ्जना द्वारा अभिव्यञ्जित होती है। यहाँ बलाका की आश्वस्तता और फलस्वरूप सूचित जनराहित्य का वर्णन करके नायिका नायक को बताना चाहती है कि यह हमारे मिलने का उपयुक्त स्थान है। अथवा तुम झूठ बोलते हो कि तुमने यहाँ आकर मेरी प्रतीक्षा की। वस्तुतः तुम यहाँ नहीं आए, अन्यथा यह बलाका इस तरह निश्चल-निष्पन्द और आश्वस्त होकर नहीं बैठती। प्रस्तुत श्लोक में शब्दबोध्य अभिधेयार्थ के पश्चात् व्यञ्जना से निकलने वाला व्यङ्ग्यार्थ बार-बार व्यञ्जना के द्वारा नवीन और हृद्य व्यङ्ग्यार्थ को बनाता है। अतः यहाँ पर आर्थी व्यञ्जना है।

काव्यशास्त्रियों द्वारा उत्तमकाव्य की कोटि में प्रतिष्ठित प्रधानरूप से (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ की अपेक्षा) अधिष्ठित व्यङ्ग्यार्थरूप ध्वनिकाव्य[१४] व्यञ्जनावृत्ति के उपर्युक्त प्रकारों के माध्यम से ही सहृदयमनीषियों के आनन्दानुभव का विषय बनता है। इतना ही नहीं, मध्यमकोटि में आने वाले गुणीभूतकाव्य में भी, वाच्यार्थ के उपकारक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती हैं। यह अलग बात है कि, वाच्यार्थोपकारक होने के कारण (गौण हो जाने से) उसकी संज्ञा ध्वनि नहीं बनती—

(क) यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः।

—ध्वन्यालोक, २/२२ की व्याख्या।

(ख) किं च वाणीरकुंडगित्यादौ
प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्य भूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति।

—काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका से सम्बद्ध व्याख्याभाग।

उपर्युक्त विवेचन व्यञ्जना का बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप बताने में तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उसकी सिद्धि करने में समर्थ है। ध्वनिवादियों द्वारा उनके ग्रन्थों में निर्दिष्ट सम्पूर्ण ध्वनिकाव्य भेद-प्रभेद इसी व्यञ्जनावृत्ति के चमत्कार हैं। अतएव काव्य के रमणीयार्थ की अवबोधिका यह व्यञ्जनावृत्ति काव्यशास्त्रियों में मान्य और काव्यकारों में ग्राह्य है।

---

१४. क-ध्वन्यालोक, १/१३
ख-काव्यप्रकाश, १/४ का उत्तरार्ध।
ग-साहित्यदर्पण, ४/१ का उत्तरार्ध
घ-रसगंगाधर, १/पृ०सं० ३६
ङ-अलङ्कार कौस्तुभ, १/६

व्यञ्जनाविरोधियों के आक्षेप तथा उनका निराकरण—

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा संस्थापित, आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित, आचार्य मम्मट द्वारा पोषित तथा विश्वनाथ द्वारा समादृत इस व्यञ्जना वृत्ति को लोल्लट, धनिक-धनञ्जय, महिमभट्टादि आचार्यों ने स्वीकृति प्रदान नहीं की। इन विद्वानों का कहना है कि व्यङ्ग्यार्थ का अवबोध अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या, अनुमानादि से हो सकता है, उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्कता नहीं है। किन्तु व्यञ्जनावादी आचार्यों की बलवती मान्यता है कि ध्वनिकाव्यों में आत्मरूप में सुशोभित व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान, व्यञ्जना-वृत्ति के अतिरिक्त, और कोई भी वृत्ति अथवा प्रमाण नहीं करा सकते। अब ध्वनिकाव्य के भेदों में व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता एवं व्यञ्जनाविरोधियों के आक्षेपों पर खण्डनसहित प्रकाश डाला जा रहा है—

(एक) ध्वनि का सर्वप्रमुख भेद है—रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। इस काव्यभेद का वास्तविक अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। आचार्य मम्मट ने तो इसको प्रतीयमानार्थ का 'वाच्यता-असह' भेद कहा है। क्योंकि अभिधा से निकलने वाला वाच्यार्थ तो वाक्य में उपस्थित वाचक शब्दों का अर्थ होता है। जबकि रसादि ध्वनि में रसरूप अर्थ का ज्ञान वाक्य में उपस्थित शब्दों से नहीं होता। इसमें इस तरह की अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति नहीं बन पाती कि जहाँ-जहाँ रसादि शब्दों का प्रयोग होगा, वहाँ-वहाँ रसाभिव्यक्ति होगी, और जहाँ-जहाँ रसादि शब्दों का प्रयोग नहीं होगा वहाँ-वहाँ रसाभि-व्यक्ति नहीं होगी। वास्तव में रसादि ध्वनि की अभिव्यञ्जना तदनुकूल विभावानुभावादि के कथन से ही होती है। विभावानुभावादि के अभाव में रसाभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिए विभावानुभावादि वाच्य हैं और रसादि व्यङ्ग्य हैं। अतः रसादिरूप प्रतीयमानार्थ को समझने के लिए, शब्दों का संकेतग्रह के माध्यम से अर्थ बतानेवाली अभिधा शक्ति समर्थ नहीं है।[१५] इतना ही नहीं, इनको अभिधा द्वारा कहना काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में रसदोष कहलाता है-

(क) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता। × × × रसे दोषाः स्युरीदृशाः।

—काव्यप्रकाश, ७/६० का पूर्वार्ध, ६२ का अन्तिम चरण

(ख) रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि। × × ×दोषा रसगता मताः॥

—साहित्यदर्पण, ७/१२ का उत्तरार्ध, १५ का अन्तिमचरण

(ग) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता। × × × रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥

—साहित्यसुधासिन्धु, ५/१२८ का उत्तरार्ध, १३१ का तृतीय चरण

रसादि ध्वनि मुख्यार्थबाध, तद्योग और रुढि अथवा प्रयोजन—इन तीनों कारणों के न रहने से लक्षणा द्वारा भी बोध्य नहीं है।[१६] अतएव असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के अर्थावबोध के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना अनिवार्य है।

---

१५. क-ध्वन्यालोक, १/कारिका ४ की व्याख्या।
ख-काव्यप्रकाश, ५/कारिका ४७ की व्याख्या।
ग-साहित्यदर्पण, ५/१ कारिका की व्याख्या।

१६. (क) काव्यप्रकाश, २/१५ का चतुर्थचरण, १६; ५/४७ वीं कारिका पश्चात् का गद्यभाग।
(ख) साहित्यदर्पण, ५/३ और उसकी व्याख्या।

(दो) अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद हैं—

अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत। इन दोनों भेदों में वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है या अनुपपद्यमान हो जाता है। अतः अर्थसंगति के लिए लक्षणावृत्ति की आवश्यकता होती है। किन्तु इन दोनों भेदों में लक्षणा का प्रयोजन व्यङ्ग्य होने के कारण व्यञ्जनावृत्ति का विषय बन जाता है। क्योंकि यह प्रयोजन संकेतग्रह का विषय न होने के कारण अभिधाशक्ति से नहीं समझा जा सकता और मुख्यार्थबाधादि कारणों के अभाव में लक्षणागम्य भी नहीं है। अतएव व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही उस प्रयोजन को जाना जा सकता है। इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्यों में लक्षणा व्यञ्जना के विना व्यर्थ हो जाती है।[१७]

(तीन) अभिधामूला ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव भेद में, जहाँ अनेकार्थक शब्दों में संयोग-विप्रयोगादि द्वारा वाचकत्व का नियन्त्रण कर दिया जाता है, वहाँ वाच्यार्थभिन्न अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार द्वारा ही होती है इतना ही नहीं, ऐसे स्थलों पर अभिधेयार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में उपमेयोपमानभाव भी व्यञ्जनावृत्ति से ही जाना जा सकता है।[१८]

(चार) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अर्थशक्त्युद्भव (वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि) नामक भेद को यदि अभिधेय माना जाए, तो कुमारिलभट्टसम्मत अभिहितान्वयवाद के अनुसार अभिधा तो केवल पदार्थ का ही अवबोध करा पाती है, इसके बाद वाक्यार्थावबोध के लिए उसे तात्पर्यवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। इस तरह जो अभिधाशक्ति वाक्यार्थावबोधन में समर्थ नही है, वह वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में समर्थ नहीं हो सकती।[१९]

इसी प्रसङ्ग में प्रभाकर भट्ट का अन्विताभिधानवाद भी द्रष्टव्य है। इसके अनुसार अभिधा के द्वारा अन्वित पदार्थों से ही वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, पदार्थबोध के लिए अभिधा और वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्याख्या को वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि सामान्यरूप से अन्वित पदार्थ संकेतग्रह का विषय नहीं बन सकते। सामान्य विशेष के विना और विशेष सामान्य के विना अस्तित्वरहित होते हैं। इसलिए अभिधावृत्ति सामान्य-विशेषभूतार्थ का अवबोध कराती है। किन्तु 'गामानय' आदि वाक्यों में 'गां' और 'आनय' का सामान्यविशेष रूप से अन्वित अर्थ, जहां गौ के कर्मत्व को आनयन क्रिया से सम्बद्ध किया जाता है, का बोध कराने के बाद अभिधा व्यक्तिविशेषरूप अतिविशेषार्थ का बोध नहीं करा पाती। क्योंकि अभिधा से 'व्यक्तिविशेष' में सङ्केतग्रह मानने पर आनन्त्य और

---

१७. क-काव्यप्रकाश, २/१४ का उत्तरार्ध, १५; ५/४७ वीं कारिका के बाद का गद्यभाग
ख-संस्कृतनिबन्धावली, पृ०सं० ६३

१८. क-काव्यप्रकाश, २/१९; ५/४७ वीं कारिका के बाद का गद्यभाग।
ख-साहित्यदर्पण, २/१४ की व्याख्या।

१९. क-काव्यप्रकाश, ५/४७ का गद्यभाग।
ख-प्रतापरुद्रीय, काव्यप्रकरण, उदाहरण १४ के पूर्व।

व्यभिचार दोष आ जाते हैं। इस दोष से बचने के लिए अतिविशेषार्थरूप वाक्यार्थ अवबोध करने केलिए जब अभिधा को तात्पर्यवृति का आश्रय लेना पड़ता है, तब वाक्यार्थरूप वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमानार्थ रूप काव्य के मर्म का बोध उस अभिधा शक्ति से कैसे हो सकता है? स्पष्ट है कि इस अभीष्टार्थ के बोध के लिए व्यञ्जनावृत्ति को मानना ही होगा।[२०]

अतएव व्यङ्ग्यार्थबोध का कार्य अभिधावृत्ति से नहीं चल सकता, उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना चाहिए।

अभिधावादियों की मान्यता और व्यञ्जना—

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से व्यञ्जनावृत्ति काव्यार्थबोध के लिए आवश्यक वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है, तथापि आचार्य मुकुलभट्ट और आचार्य लोल्लट इस वृत्ति को अनावश्यक मानते हैं और अभिधा को ही सम्पूर्णकाव्यार्थबोध में समर्थ मानते हैं। किन्तु अधोलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा कि व्यञ्जनावृति के प्रति उनकी द्वेष भावना व्यर्थ है—

(क) अभिघा और लक्षणा—दो ही शक्तियों को मानने वाले, व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों का मानना है कि 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'। तदनुसार व्यङ्ग्यार्थ-रूप नैमित्तिक (कार्य) का निमित्त शब्द ही है। आचार्य अभिनवगुप्त एवं आचार्य मम्मट ने मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन किया है। यदि शब्द व्यंङ्ग्यार्थ का निमित्त है, तो उसमें निमित्तत्व दो प्रकार का है—कारकत्व और ज्ञापकत्व। शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं होता है, अर्थ का प्रकाशक होता है। अतः उसमें कारकत्व रूप निमित्तत्व नहीं माना जा सकता। शब्द किसी अर्थ का ज्ञापक तब बन सकता है, जब सङ्केतग्रह आदि से उसका ज्ञान हो सके। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि कुमारिलभट्ट और प्रभाकर भट्ट के मत को स्वीकार करने पर अभिधा सामान्य विशेष अर्थ का ही बोध करा पाती है, जब अतिविशेषरूप वास्तविक अर्थ के प्रति भी उसमें ज्ञापकत्व नहीं है, तब अभिधाशक्ति के माध्यम से शब्द व्यङ्ग्यार्थ-रूप नैमित्तिक का निमित्त (ज्ञापक) कदापि नहीं हो सकता।[२१] रस की अलौकिकता की सिद्धि करते हुए भी आचार्य मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ ने सिद्ध किया है कि रसरूप व्यंग्यार्थ तो अपने अभिव्यंजक विभावादि का भी कार्य और ज्ञाप्य नहीं है[२२]।

(ख) अभिधा के ही पक्षपाती मीमांसक विद्वान् भट्टलोल्लट का मानना है—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति। अर्थात् जैसे युद्धभूमि में योद्धा

---

२० क-काव्यप्रकाश, २/कारिका ६ के बाद की व्याख्या; कारिका ८ के पूर्वार्ध की व्याख्या; ५/४७ की व्याख्या।
ख-संस्कृतनिवन्धावली, पृ०सं० ६३

२१. क-ध्वन्यालोकलोचन १, पृ०सं० ९५-१००
ख-काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या का अंश।

२२. क—काव्यप्रकाश, ४/२७-२८ की व्याख्या के अन्तर्गत।
ख—साहित्यदर्पण, ३/२०, २१ का प्रथम चरण।

द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण शत्रुयोद्धा के कवच भेदने, वक्षःस्थल विदीर्ण करने और प्राणापहार करने में समर्थ होता है, वैसे ही एक ही अभिधाव्यापार दीर्घ-दीर्घतर होकर वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थादि अर्थों के अवबोध में समर्थ है। अतएव अभिधा के अतिरिक्त और शब्द-शक्तियों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका यह भी मानना है कि वाक्य में शब्द जिस अभिप्राय से बोला जाता है, वही अभिप्राय उसका अर्थ है, इस अभिप्राय के अवबोध के लिए व्यंजना अपेक्षित नहीं है। इस दृष्टि से 'नि शेषच्युतचन्दनस्तनतटम्' आदि उदाहरणों में व्यंजनावादियों ने स्पष्ट किया था कि वाच्यार्थ निषेधपरक है, और व्यंग्यार्थ विधिपरक है। इस व्यंग्यार्थ का बोध व्यंजना से होता है। मीमांसकों के मतानुसार वक्ता का विधिपरक अभिप्राय भी अभिधाशक्ति द्वारा ही वाच्य है।

किन्तु अभिधाशक्ति से व्यंग्यार्थबोध मानना भट्ट लोल्लट की हठधर्मिता ही है। क्योंकि यह कई बार स्पष्ट किया जा चुका है कि अभिधा संकेतग्रह से सम्बन्धित अर्थ का अवबोध कराने के बाद क्षीण हो जाती है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का अभिप्राय भी भट्ट लोल्लट नहीं समझ पाए हैं। इस वाक्य का तात्पर्य है कि पहले वाक्यों से अप्राप्त अर्थ का विधान आगे के वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा होता है। यदि इस वाक्य का तात्पर्य लोल्लटसम्मत ही मान भी लिया जाए तो 'ब्राह्मण, पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण, 'कन्या ते गर्भिणी जाता'--इन वाक्यों में अभिव्यक्त हर्ष अथवा शोक के सूचक शब्द तो हैं नहीं। इसलिए यहाँ 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के लोल्लटसम्मत अर्थ से अभिधा द्वारा निकलने वाला तात्पर्यार्थ नहीं मानना चाहिए। यदि इन स्थलों पर लोल्लट अभिधाव्यापार को ही मानने का हठ करते हैं, तो फिर लक्षणा को भी क्यों मानते हैं? लोल्लट का मत तो मुख्यार्थबाधादि कारणों के आने पर कार्य करने वाली लक्षणा का ही अस्तित्व समाप्त कर देने वाला है। अतएव यह मत सहृदय काव्यशास्त्रियों को हृद्य नहीं हो सकता[23]।

(ग) भट्ट-लोल्लट के मत से प्रभावित धनंजय ने तात्पर्यशक्ति को ही काव्य की अवबोधिका शक्ति मानते हुए कहा है—'कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः' (दशरूपक, ४/३७ वीं कारिका की व्याख्या)। किन्तु वाक्य में अन्वित अर्थ मात्र की बोधिका तात्पर्याख्या-वृत्ति, जिसकी पहुँच अर्थ की द्वितीय कक्षा तक ही है, चतुर्थ कक्षा में सुशोभित प्रतीयमानार्थ की अवबोधिका कैसे हो सकती है, अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अतएव लोल्लट के ही समान इनका मत भी रुचिकर नहीं है।—(साहित्यदर्पण, ५/१ की व्याख्या)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ की अवबोधिका शक्ति अभिधा व्यंग्यार्थ

---

२३. क—ध्वन्यालोकलोचन, १/पृ०सं० ९४
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या का भाग
ग—साहित्यदर्पण, ५/१ कारिका की व्याख्या का भाग।
घ—अलंकारकौस्तुभ, २/२९ की व्याख्या।
ङ—साहित्यसुधासिन्धु, २/१९ की कारिका के बाद।
च—कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, २५-३०

की अवबोधिका नहीं हो सकती। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है, इसकी अलौकिक रमणीयता और वाच्यार्थ से भिन्नता दिखाने के लिए ही आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। + + + स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा हि आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। × × × द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यति। × × तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द-व्यापारविषय इति वाच्यात् विभिन्न एव।—ध्वन्यालोक, १/४ तथा व्याख्या।

यहाँ पर आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थात् ध्वनिकाव्य के वस्तु, अलंकार और रस—ये तीन प्रकार बताते हुए स्पष्ट किया है कि ये तीनों प्रकार अपने भेद-प्रभेदों सहित वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने वस्तुध्वनि के उदाहरण देकर वाच्य और व्यंग्य में स्वरूपगत और विषयगत भेद बताये हैं।[२४] उनके मतानुसार—

१. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद के कारण इनके अवबोधक व्यापार भी भिन्न हैं। जहाँ शब्द अपने अर्थ को बताकर दूसरे अर्थ को बताता है, वहाँ 'अपना अर्थ' अभिधा से सिद्ध होता है और दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए व्यंजना को ही मानना पड़ता है। यदि इस दूसरे अर्थ को भी वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त न मानकर शब्द से ही सम्बन्धित माना जाएगा, तो वह दूसरा अर्थ (व्यंग्यार्थ) कैसे हो सकेगा। अतः वाच्यार्थ साक्षात् शब्द से सम्बन्धित है और व्यंग्यार्थ वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त है। इन दोनों अर्थों का यह भेद ही अभिधा और व्यंजना की आवश्यकता को सिद्ध कर देता है।

इस प्रकार एक ही शब्द अपने अर्थ का बोध कराता है और वही शब्द दूसरे अर्थ के अवबोध का हेतु बन जाता है। बोध कराना तथा बोध का हेतु बनना ये दो भिन्न बातें हैं। यही कारण है कि वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्यरूप दूसरा अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है।[२५]

२. अभिधाशक्ति वाचक शब्दों से ही अर्थ को सिद्ध करती है। जबकि व्यंजना-शक्ति वाचक शब्दों के अतिरिक्त अवाचक गीतध्वनियों (आलापादि) और शब्दरहित चेष्टाओं से भी विशिष्ट अर्थ का अवबोध कराने में समर्थ है। उदाहरण के लिए—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया तत् समुत्सृज्यवाऽप्यं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रविभागः ॥

---

२४. ध्वन्यालोक, १/४ कारिका से सम्बद्ध उदाहरण।
२५. ध्वन्यालोक, १/१३ ; ३/३३ की व्याख्या का भाग।

यहाँ 'नेत्रविभाग' (कटाक्ष) रूप चेष्टा से विशिष्टार्थ का प्रकाशन हुआ है, जो वाक्य में उपात्त शब्द का अर्थ नहीं है।[२६]

३. यद्यपि व्यंग्यार्थ भी शब्दव्यापार का विषय है, तथापि उसमें वाच्यता नहीं है, अपितु व्यंग्यत्व है। और फिर व्यंजनाव्यापार द्वारा निकलने वाला जो दूसरा अर्थ है, वह वाच्यार्थ को बताने वाले शब्द से भिन्न, शब्द और अर्थ (जो संकेतग्रह के वियष नहीं हैं) से भी बताया जा सकता है। जैसे 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द से शैत्य और पावनत्व रूप अर्थ को बताया जाता है। यहाँ शब्द और अथ में संकेतग्रह के अभाव में वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ पर अन्य शब्द से अन्य अर्थ की प्रतीति रूप प्रकाशन अभिधा का नहीं, व्यंजना का विषय है[२७]।

४. आनन्दवर्धन के मतानुसार वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय संगत नहीं होता। क्योंकि वेदान्ती और वैयाकरण पदार्थ-प्रतीति को मानते ही नहीं हैं, वे तो अखण्ड-वाक्यार्थ को ही मानते हैं। पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय मानने पर घटतदुपादानकारण-न्याय मानना होगा। तदनुसार मिट्टी आदि उपादान कारणों से घट बन जाने पर-ये कारण अलग से नहीं दिखाई पड़ते, उसी तरह वाक्य और वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद पद और वाक्यार्थ की सत्ता भी अलग-अलग नहीं दिखाई पड़ेगी। पदार्थों को वाक्यार्थ से अलग मानने पर वाक्यार्थ की प्रतीति भी नहीं हो पाएगी। क्योंकि पदसमुदाय ही वाक्य और पदार्थसमुदाय वाक्यार्थ है। अतः इनमें पदार्थ-वाक्यार्थ का नियम नहीं बन सकता। किन्तु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की स्थिति भिन्न है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ की प्रतीति समाप्त नहीं होती, अपितु व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ की प्रतीतिपूर्वक ही होती है। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घट-प्रदीपन्याय मानना चाहिए। जैसे घट को प्रकाशित करने के बाद भी दीपक और उसका प्रकाश समाप्त नहीं हो जाता, वैसे ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बाद भी वाच्यार्थ का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। ध्वन्यालोककार ने

'यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥—ध्वन्यालोक, १/१०

इस कारिका में जो पदार्थवाक्यार्थ न्याय प्रस्तुत किया है, उसका उद्देश्य मात्र यह बताना है कि जैसे पदार्थबोध वाक्यार्थबोध का उपाय है, वैसे ही वाच्यार्थ-बोध व्यङ्ग्यार्थ-बोध का उपाय है। किन्तु पदार्थ-वाक्यार्थन्याय में जो कारण-कार्य भाव है, वह वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ में नहीं है। क्योंकि पदार्थ-वाक्यार्थ की सत्ता अलग-अलग नहीं होती, किन्तु वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता अलग-अलग अनुभूति का विषय बनती है। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता एक साथ मानने से वाक्य का 'एकार्थत्वरूप लक्षण' दूषित होने का सन्देह भी व्यर्थ है, क्योंकि ध्वनि की परिभाषा अथवा और भी बहुत से स्थलों में काव्य-

---

२६. ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या भाग।
२७. क—ध्वन्यालोक, १/८ के पूर्वार्ध की व्याख्या, ३/३३ की व्याख्या।
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या।

शास्त्रियों ने एक वाक्य के वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ-दोनों अर्थ निकलने पर एक को प्रधान और दूसरे को गौण माना है। वाच्यार्थ गौण तथा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होने पर ध्वनिकाव्य और व्यङ्ग्यार्थगौण तथा वाच्यार्थ प्रधान होने तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य होता है अतएव एक अर्थ प्रकाशक है, दूसरा प्रकाश्य। दोनों में यह भेद मानने पर-दोनों के अवबोधक व्यापारों-अभिधा और व्यञ्जना को भिन्न-भिन्न मानना ही चाहिए।[२८]

(पाँच) अलौकिक पदार्थों के विषय में तर्क करने वाले नैयायिक भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को संकेतग्रहजनित कृत्रिम सम्बन्ध मानते हैं। वे दीपक को घटादि पदार्थों का व्यञ्जक मानते हैं अतएव वे व्यञ्जना विरोधी नहीं हो सकते। वे वाचकत्व के विषय में तर्क कर सकते हैं कि शब्द में वाचकत्व संकेतग्रह के पश्चात् उत्पन्न हुआ, अथवा शब्द में स्वाभाविक वाचकत्व है। किन्तु व्यंजक वाचकत्व के वाद का शब्दव्यापार है, इसलिए उसमें उन्हें सम्मत घट-प्रदीप न्याय घटित होगा ही।[२९](क)

(छः) ध्वन्यालोककार के मतानुसार शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकसम्बन्ध नियत सम्बन्ध है, जबकि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध अनियत सम्बन्ध है। क्योंकि वाच्यार्थ सदैव शब्द से निकलता है; और व्यङ्ग्यार्थ शब्द के अतिरिक्त प्रकरणादि से भी निकलता है। इसलिए शब्द और व्यङ्ग्यार्थ के सम्बन्ध को औपाधिक सम्बन्ध भी कहा जाता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ को, इस औपाधिक धर्म को अवास्तविक मानकर, उपेक्षा का विषय नहीं मानना चाहिए। क्योंकि व्यञ्जकत्व में लिङ्गत्वन्याय भी दिखाई पड़ता है। हाँ, यह लिङ्गत्व (यथा अग्नि में धूम का लिङ्गत्व) अपने आश्रय में अपनी इच्छानुसार कभी होता है और कभी नहीं होता, किन्तु अपने विषय (अग्नि) में नियत होता है। यही स्थिति व्यञ्जकत्व की भी है। वह शब्द रूप आश्रय में कभी होता है; और कभी नहीं भी होता है, व्यङ्ग्यार्थरूप विषय में अवश्य होता है। इसलिए व्यञ्जकत्व का यह लिङ्गत्व व्यङ्ग्यार्थ के प्रति है और उसे वाचकत्व से भिन्न करता है।

मीमांसक शब्द और अर्थ में वाचकवाच्य भाव रूप नित्यसम्बन्ध मानते हैं, इसके अतिरिक्त पौरुषेय एवं अपौरुषेयवाक्यों में भेद मानते हैं। यदि यह नित्यसम्बन्ध के अतिरिक्त व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव रूप औपाधिक सम्बन्ध भी मान लें, तो पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों में भेद का भी औचित्य सिद्ध हो जाएगा। अन्यथा दोनों वाक्यों से एक ही अर्थ निकलेगा।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए, दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक व्यापार को प्राप्त हो जाते हैं। यथा—चन्द्रमा सबको शीतलता पहुँचाने का स्वभाव रखता है, फिर भी विरहीजनों को सन्तप्त करने का उसका औपाधिक स्वभाव भी प्रसिद्ध है। पौरुषेय वाक्यों में शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी, औपाधिक सम्बन्ध के रूप में वाच्यातिरिक्त व्यञ्जकत्व भी मानना पड़ेगा। यह औपाधिक सम्बन्ध संकेतग्रह का विषय नहीं है, अतः व्यङ्ग्य है और व्यञ्जनावृत्तिगम्य है। अतः मीमांसकों को भी व्यञ्जनावृत्ति मानने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। हाँ, यह

---

२८ ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या से।

२९. (क) वही, वही।

बात और है कि ऐसे वाक्यों में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अविनाभूतरूप से सम्बन्धित होता है, उसकी पृथग्विवक्षा नहीं होती, अतः उसे ध्वनि की कोटि में रखना आवश्यक नहीं है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ की विवक्षा होने पर ही ध्वनि होती है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर औपाधिकधर्म के रूप में व्यङ्ग्यव्यञ्जक मानने में ध्वन्यालोककार का उद्देश्य मीमांसकों को इस वृत्ति को स्वीकृति देने के लिए तैयार करने का है (ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या का भाग; साहित्य दर्पण, ५/१ की व्याख्या)।

आचार्यों ने वोद्धा, स्वरूप, संख्या, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, प्रतीति, विषय आदि को भी भेदक तत्व माना है। इनके कारण भी व्यंजना का मानना अनिवार्य हो जाता है।[२९] इन भेदक तत्त्वों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

बोद्धभेद—

पद और पदार्थ की जानकारी रखने वाले वैयाकरण मात्र वाच्यार्थ के ज्ञानी होने के कारण सामान्य बोद्धा कहलाते हैं, जबकि व्यङ्ग्यार्थ को समझने वाले विदग्ध और सहृदय कहलाते हैं।[३०]

(ख) स्वरूप भेद—

काव्य के एक ही स्थल में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपगत भेद देखा जाता है। यथा—

भ्रमधार्मिक ! विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

प्रस्तुत उदाहरण में वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक है। काव्यों के परिशीलन से ऐसे और भी बहुत से उदाहरण मिल जायेंगे। जिनमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भिन्न-२ स्वरूप वाले होते हैं।[३१]

(ग) संख्याभेद—

वाच्यार्थ सबके लिए एक ही होता है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ बोद्धा, प्रकरणादि के भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। उदाहरणस्वरूप-गतोऽस्तमर्कः, का वाच्यार्थ-सूर्य अस्त हो

---

२९. (क) ध्वन्यालोक, १/४ की व्याख्या।
(ख) काव्यप्रकाश, ५/४७ के पश्चात् का गद्यभाग।
(ग) साहित्यदर्पण, ५/२ की व्याख्या।
(घ) कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, ३१-३२।

३०. (क) ध्वन्यालोक, १/७
(ख) काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका के बाद का गद्यभाग।
(ग) साहित्यदर्पण, ५/२ का व्याख्याभाग।
(घ) कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, ३३ का पूर्वार्ध।

३१. क-ध्वन्यालोक, १/४ से सम्बन्धित उदाहरण।
ख-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं करिका के बाद की व्याख्या।
ग-साहित्यदर्पण, ५/२ का व्याख्या भाग।

गया'-सबके लिए एक ही है। किन्तु इसका प्रतीयमानार्थ श्रमिक के लिए होगा कि अब कार्यसमाप्त करने का समय है। जबकि ग्वाले, अभिसारिका, नायक, माता, पिता, पुत्र, पुत्री-सभी की दृष्टि से इसका भिन्न-२ अर्थ होगा।[३२]

(घ) निमित्तभेद—

वाच्यार्थ शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण, कोशादि की सहायता से जाना जा सकता है, किन्तु व्यंग्यार्थावबोध के लिए व्याकरण, कोशग्रन्थादि के अतिरिक्त प्रकरणादिज्ञान एवं निर्मल बुद्धि भी आवश्यक है।[३३]

(ङ) कार्यभेद—

वाच्यार्थ का ज्ञान सामान्य प्रतीतिमात्र कराता है, जबकि व्यंग्यार्थ का ज्ञान चमत्कार की प्रतीति कराता है।[३४]

(च) प्रतीतिभेद—

वाच्यार्थ में केवल शब्दार्थ का ज्ञान होता है, जो चमत्काररहित होता है, जबकि व्यंगार्थ में चमत्कार की सत्ता होती है।[३५]

(छ) कालभेद—

वाच्यार्थ का ज्ञान पहले होता है, व्यंग्यार्थ का बाद में (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का यह पौर्वापर्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में दृग्गोचर होता है, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में नहीं होता)।[३६]

(ज) आश्रयभेद—

वाच्यार्थ की अवबोधिका अभिधा शक्ति केवल शब्द पर ही आश्रित है, जबकि

---

३२. क-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका के बाद की व्याख्या।
ख-साहित्यदर्पण, ५/२ कारिका की व्याख्या।

३३. क-ध्वन्यालोक, १/१२
ख-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका के बाद की व्याख्या।
ग-साहित्यदर्पण, ५/२ कारिका की व्याख्या।
घ-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३२ का उत्तरार्ध।

३४. क-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका की व्याख्या।
ख-साहित्यदर्पण, ५/२ कारिका की व्याख्या।

३५ क-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका की व्याख्या।
ख-साहित्यदर्पण, ५/२ कारिका की व्याख्या।
ग-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३१ का उत्तरार्ध।

३६. क-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं की कारिका की व्याख्या।
ख-साहित्यदर्पण, ५/२ कारिका की व्याक्या।
ग-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३१ का पूर्वार्ध।

व्यंजना केवल शब्द की ही शक्ति नहीं है, उससे निकलने वाला व्यंग्यार्थ शब्द के अतिरिक्त शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण, प्रकृतिप्रत्यय संघटना आदि का भी आश्रय लेता है।[३७]

(ऋ) विषयभेद—

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के तो विषय भी भिन्न-२ होते हैं। यथा—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि, वारितवामे, सहस्वेदानीम्॥

इस श्लोक में वाच्यार्थ का विषय है अविनीता नायिका। जबकि व्यंग्यार्थ का विषय (लक्ष्य) अविनीता नायिका के साथ-साथ उसका पति, प्रेमी, सपत्नी, सास, ससुर, सखियाँ पड़ौसी आदि भी हो सकते हैं।[३८]

आचार्य मम्मट का तो यहाँ तक कहना है कि यदि आप उपर्युक्त भेदक तत्त्वों के रहने पर भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भिन्न नहीं मानते तो फिर आप नीले और पीले में भी भेद न मानें। इस प्रकार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न व्यंग्यार्थ की अवबोधिका शक्ति व्यंजना ही है, अभिधा नहीं।[३९] वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद मानकर तथा व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करके ही 'रुचिंकुरु' (जिसका असभ्यार्थ व्यंजनावोध्य है) जैसे दोषोत्पादक उदाहरणों से कवि बच सकता है और अनित्य तथा नित्य दोषों का विभाग कर सकता है।[४०] इसके अतिरिक्त वह समझ सकता है कि भगवान् शङ्कर के पर्यायवाची-कपाली, पिनाकी, शिव, आशुतोष, मृत्युञ्जय आदि-शब्दों में से भयंकरता और दरिद्रता दिखाने की दृष्टि से—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिनः' इस उदाहरण में 'कपाली' शब्द का प्रयोग ही समुचित है। 'कपाली' शब्द की भयंकरता और दरिद्रता व्यंजनागम्य ही हैं, अभिधागम्य नहीं।[४१]

इस प्रकार व्यंजनावादी आचार्यों के मतानुसार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न व्यंग्यार्थ के अवबोध में अभिधा और दीर्घदीर्घतर व्यापार रूप तात्पर्या कदापि समर्थ नहीं है। अतः हमें व्यंजनावृत्ति को स्वीकार करना चाहिए।

---

३७. क-ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या।
ख-साहित्यदर्पण, २/१७ की व्याख्या; ५/२ की व्याख्या।
ग-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३२ का पूर्वार्ध।

३८. क-ध्वन्यालोक, १/४ की व्याख्या से।
ख-काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या से।
ग-साहित्यदर्पण, ५/२ की व्याख्या से।

३९. काव्यप्रकाश- ५/४७ की व्याख्या।

४१. काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या।

लक्षणावादियों की मान्यता और व्यंजना—

लक्षणावादी आचार्यों का मानना है कि लक्षणा से ही व्यंग्यार्थविबोध हो सकता है, इसलिए व्यंजनावृत्ति को मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि (क) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति, 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इन तीन स्थलों में 'राम' का वाच्यार्थ एक ही है-दाशरथि राम जबकि लक्ष्यार्थ क्रमशः—अत्यन्तदुःख सहिष्णु राम, निष्करुण राम और खरदूषणनिहन्ता राम-अर्थात् भिन्न-२ हैं। (ख) लक्ष्यार्थ के भी अर्थान्तिरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत आदि बहुत से भेद हैं। (ग) उसकी प्रतीति भी शब्द और अर्थ पर आश्रित है, तथा वह भी प्रकरणादि से जानने योग्य है। इसलिए प्रतीयमान अर्थ और उसकी अवबोधिका शक्ति व्यंजना को मानना अनावश्यक है।

किन्तु लक्षणावादियों की यह मान्यता निराधार है। लक्षणा का उपचार का आश्रय और व्यंजना का वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त होना भले ही एक जैसा लगे, किन्तु व्यंजना लक्षणा से भी भिन्न है। इनके स्वरूप और विषय इनके भेदक तत्त्व हैं। इन दोनों वृत्तियों का अन्तर अधोलिखित विवरण से समझा जा सकता है—

(एक) लक्ष्यार्थ नानाविध होते हुए भी अनेकार्थक (श्लिष्ट) शब्द के वाच्यार्थ के समान नियत ही होता है, व्यंग्यार्थ (अभिधामूलाव्यंजनागम्य) के समान अनियत नहीं होता। अतः मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध न रखने वाले व्यंग्य अर्थ का लक्षणा से अवबोध नहीं हो सकता। जबकि व्यंग्यार्थ-प्रकरणादि की विशेषता से नियतसम्बन्ध, अनियतसम्बन्ध और परम्परित सम्बन्ध-तीन प्रकार का होता है। उदाहरण के लिए—

(क) श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
सा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि॥

(ख) कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे, सहस्वेदानीम्॥

(ग) विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति॥

प्रथम श्लोक में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से है, अर्थात् नियतसम्बन्ध है। दूसरे उदाहरण में वाच्यार्थ का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से है, जबकि व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध कई व्यक्तियों से है अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अनियतसम्बन्ध है। तृतीय उदाहरण में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का परम्परित सम्बन्ध है। किन्तु लक्ष्यार्थ में ऐसे सम्बन्ध नहीं पाये जाते।[४२]

(दो) इसके अतिरिक्त इन, (अभिधामूला व्यंजना के) उदाहरणों में मुख्यार्थबाध के अभाव में लक्षणा तो कार्य ही नहीं कर सकती। पर क्या इनमें व्यंजना द्वारा व्यंग्यार्थ-बोध नहीं होगा? वह तो होगा ही। अभिधामूला व्यंजना से ही बोध्य रसादिरूप असंलक्ष्य-

———

४२. काव्यप्रकाश, ५/४७ से सम्बन्धित व्याख्या एवं उदाहरण।

क्रमव्यंग्य भी लक्षणागम्य नहीं है। इस बात को प्रस्तुत लेख में पहले ही कहा जा चुका है।[४३]

(तीन) लक्षणावृति को जब अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यंजना का ही आश्रय लेना पड़ता है, तो वह भला व्यंग्यार्थ का बोध कैसे करा सकती है ? यदि प्रयोजन सिद्धि के लिए लक्षणा को ही समर्थवृत्ति माना जाएगा, तो लक्षणा के लिए पुनः-पुनः प्रयोजन की कल्पना, लक्षणा को चमत्कारिणी बनाने वाली प्रयोजन-प्रतीति को ही नष्ट कर देगी, जो सहृदयों को रुचिकर नहीं लगेगी। लक्षणा तो मुख्यार्थ-बाध के पश्चात् उपस्थित होने वाले अर्थ की ही अवबोधिका है, किन्तु जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा प्रयुक्त की गई, वह प्रयोजन मुख्यार्थबाधादि के अभाव में लक्ष्य नहीं हैं, व्यंग्य ही है। अतः आश्रयदात्री व्यंजना का तिरस्कार न करके, उसके आश्रय में आना ही लक्षणा के लिए हितकर है। 'गंगायां घोषः', आदि उदाहरणों में अभिधा द्वारा बोधित मुख्यार्थ बाधित हो जाता है; तब लक्षणा से 'गंगातटे घोषः' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। किन्तु इस संगत अर्थ की प्रतीति कराने वाली लक्षणा के प्रयोजनभूत शैत्य-पावनत्व की अभिव्यक्ति, संकेतग्रह के अभाव में अभिधा का क्षेत्र नहीं है; अन्वयानुपपत्ति न रहने के कारण तात्पर्याख्या वृत्ति का भी विषय नहीं है; एवं मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय के अभाव में लक्षणा से भी गम्य नहीं है। उस प्रयोजन की अभिव्यक्ति तो केवल व्यंजना से ही हो ही सकती है।[४४]

(चार) जिस प्रकार अभिधा को संकेतग्रह की अपेक्षा होती है, उसीप्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रुढि या प्रयोजन—इन तीन की अपेक्षा रखती है। इसी लिए लक्षणा अभिधा की पुच्छभूता कहलाती है। वस्तुतः अमुख्यरूप से व्यवस्थित वाचकत्व-(अभिधा) ही गुणवृत्ति (लक्षणा) है। अभिधा व्यंग्यार्थबोध नहीं करा सकती तो उसीका दूसरा रूप लक्षणा व्यंग्यार्थबोध का, अर्थात् व्यंजनावृत्ति का, कार्य कैसे सम्पन्न कर सकती है ? लक्षणा अमुख्यतया अर्थावबोधक शब्द व्यापार है और व्यंजना मुख्यतया अर्थावबोधक

---

४३. क-ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या।
ख-काव्यप्रकाश, २/१५ का चतुर्थ चरण, १६; ५/४७ वीं कारिका के पश्चात् का गद्यभाग।
ग-साहित्यदर्पण, ५/३ और उसकी व्याख्या।
घ-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, ३४

४४. क-ध्वन्यालोक—१/१७
ख-काव्यप्रकाश, २/१४ के उत्तरार्ध से १८ के पूर्वार्ध तक।
ग-साहित्यदर्पण, २/१०; ५/३
घ-म०म० गोकुलनाथोपाध्याय, रसमहार्णवः, पृ० सं० १२
ङ-साहित्यसुधासिन्धु, २/१६ के बाद।
च-अलंकारकौस्तुभ, २/२६ की व्याख्या में।
छ-कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण, २१-२३

शब्द व्यापार है। व्यंग्यार्थ के तीनों रूप वस्तु, अलंकार और रस कभी-भी अमुख्यतया बोध का विषय नहीं बनते।[४५]

(पांच) लक्षणा व्यंजना का कार्य इसलिए भी नहीं कर सकती, क्योंकि व्यंजना से बोध्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा से बोध्य लक्ष्यार्थ के बाद होती है।[४६]

(छः) व्यंजना गुणवृत्ति (लक्षणा) का आश्रय तो लेती है, किन्तु तद्रूपा नहीं हो जाती। क्योंकि व्यंजना केवल लक्षणामूला ही नहीं होती, वह अभिधामूला भी होती है। लक्षणा व्यंजकत्वरहित स्थलों में भी देखी जाती है, जबकि व्यंजना चारुत्वहेतु के बिना नहीं होती। गुणवृत्ति (लक्षणा) वाच्याश्रय (कुन्ताःप्रविशन्ति), व्यंग्याश्रय (गंगायां घोषः) के अलावा लक्ष्यार्थ के सम्बन्धमात्र से चारुत्वरूप व्यंग्य की प्रतीति के बिना भी हो सकती है।[४७]

(सात) लक्षणा शक्ति केवल वाचकत्व पर आश्रित है, जबकि व्यंजना का आधार है व्यंजकत्व ; जो व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ के अतिरिक्त अवाचक वर्ण और शब्दरहित चेष्टा में भी रहता है।[४८]

(आठ) लक्षण-लक्षणा में जब एक अर्थ दूसरे अर्थ का बोधक बनता है, तब पहला अर्थ दूसरे अर्थ में ही परिणत हो जाता है। जैसे 'गंगाया घोषः' में गंगा शब्द अपने अर्थ को छोड़ कर ही तटरूप अर्थ की प्रतीति कराता है। व्यंजना के द्वारा जब एक अर्थ दूसरे अर्थ का बोध कराता है, तो प्रदीप की भाँति अपने को भी प्रकाशित करता है, यथा—'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'। इस उदाहरण में मुख्यार्थ का बोध अभिधा से हो जाता है; और फिर यही मुख्यार्थ व्यंजना के द्वारा श्रृंगाररस के व्यभिचारियों लज्जा, अवहित्था को व्यंजित करता है, तथा अपना अस्तित्व भी बनाए रखता है।[४९]

(नौ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में जहाँ अर्थ अपना परित्याग किये बिना ही अर्थान्तर को बताता है, यदि लक्षणावृत्ति को ही मान भी लिया जाए, तो प्रश्न उठता है कि जब अर्थ वस्तु, अलंकार और रस को प्रकाशित करता है, तब शब्द का कौन सा व्यापार प्रयुक्त होता है? इसका उत्तर है कि प्रकरणादि से सम्बन्धित शब्द के सामर्थ्य से ही अर्थ व्यंजक बनता है, इसलिए अर्थ के समान ही शब्द भी व्यंजक है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर शब्द के अर्थ की गति स्खलित न होना, संकेतग्रहादि की अनावश्यकता, दूसरे अर्थ की अलग से प्रतीति होना—इन तीन बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि यहाँ पर ये तीन बातें न होतीं,

---

४५. क-ध्वन्यालोक, १/१८; ३/३३ की व्याख्या।
ख-काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका की व्याख्या।

४६. काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका की व्याख्या।

४७. क—ध्वन्यालोक, १/१८ की व्याख्या, ३/३३ की व्याख्या
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या

४८. क—ध्वन्यालोक, १/१८
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या

४९. ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या

तो फिर यहाँ अभिधा के बाद लक्षणा की गति हो जाती ।[५०] लक्षणामूला ध्वनि में रमणीय व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना ही लक्षणा का कारण है । इन स्थलों में लक्षणा व्यंजना से मिलकर ही सहृदय को आह्लादित कर पाती है, तदेकरूपा होकर नहीं । 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं' इस पूर्वप्रदत्त उदाहरण से स्पष्ट है कि व्यंजना ही लक्षणा के लिए आवश्यक है, लक्षणा व्यंजना के लिए नहीं ।[५१] आनन्दवर्धन ने लक्षणा को ही व्यंग्यार्थबोध का व्यापार मानने का हठ करने वालों को उत्तर दिया है कि 'यदि लक्षणा से ध्वनि लक्षित होती है ; ऐसा कहा जाता है, तब तो अभिधावृत्ति से समस्त अलंकार वर्ग लक्षित हो जाएगा । फिर प्रत्येक अलंकार का लक्षण करना व्यर्थ ही हो जाएगा । अलंकारवादियों का परिश्रम निष्फल हो जाएगा । अतः व्यंग्यार्थबोध के लिए व्यंजना को मानना अनिवार्य है (ध्वन्यालोक, १/१९ के पूर्वार्ध की व्याख्या) ।

(दस) व्यंजकत्व वाचकत्व पर भी आश्रित होता है और लाक्षणिकत्व पर भी । तभी इसके दो रूप बनते हैं—अभिधाभूलाव्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना । यदि व्यंजकत्व किसी एक पर ही आश्रित रहता तो उसे उससे ही अभिन्न मान लिया जाता। किन्तु लक्षणा-मूलक होने के कारण उसे वाचकत्वरूप नहीं कहा जा सकता और अभिधामूलक होने के कारण गौण नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त-गीतादि रसादि विषयक जो व्यंजकत्व है, उसमें तो वाचकत्व और लाक्षणिकत्व का भी अभाव है । अत एव जब व्यंजना अभिधा और लक्षणा से भिन्न है, तो उसे भिन्न व्यापार मानना ही चाहिए । स्पष्ट है कि व्यंजना-वादी आचार्य आनन्दवर्धन शब्द की तीन वृत्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना-को मानने के ही अनुरोधी हैं[५२] ।

भुक्तिवादियों की मान्यता और व्यंजना—

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणीकरण सिद्धान्त तथा भुक्तिवाद के संस्थापक आचार्य भट्टनायक अभिधा के पश्चात् भावकत्व और भोजकत्व व्यापार से रस की अभिव्यक्ति करने के पक्षपाती हैं । किन्तु अभिनवगुप्त ने रस को व्यंग्य बताया है और स्पष्ट किया है कि भावकत्व और भोजकत्व-दोनों व्यापार अप्रसिद्ध हैं और इन दोनों का कार्य व्यंजनावृत्ति स्वयं करने में समर्थ है । आचार्य मम्मट ने भी अभिनवगुप्त के ही मत का समर्थन किया है[५३] ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्याख्या वृत्ति की भाँति व्यंजनावृत्ति भी सम्मान्या वृत्ति है, और काव्य के उस रसादिरूपरमणीयार्थ की अवबोधिका है, जिसे शेष तीन वृत्तियाँ नहीं बता पातीं । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा भी है—

---

५०. ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या

५१. वही ।

५२. ध्वन्यालोक, ३/३३ कारिका की व्याख्या ।

५३. क—अभिनवभारती, ६/३१ की व्याख्या ।
ख—काव्यप्रकाश, ४/२७-२८ की व्याख्या ।

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥—साहित्यदर्पण, ५/१

वेदान्तियों की मान्यता और व्यंजना—

वेदान्तियों के मतानुसार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को महावाक्य और अखण्डबुद्धिग्राह्यवाक्यार्थ माना है। क्योंकि इनमें ब्रह्मप्राप्तिरूप अखण्डरस की अनुभूति होती है। जब व्यक्ति को उपर्युक्त अनुभूति होती है, तब उसे इन वाक्यों में क्रिया-कारक का विभाग और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। क्योंकि जब ब्रह्म सत्य है, तो जगत् और उसके सभी व्यापार मिथ्या हैं। काव्यशास्त्रियों के मत में ब्रह्मज्ञान की दशा में इन वेदान्तियों को अखण्डवाक्य ही वाचक, और अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ लगता होगा। किन्तु वास्तविक जगत् में आते ही उन्हें भी वाक्य और वाक्यार्थ में पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी और शब्दशक्तियाँ भी माननी होंगीं। जैसा कि इन वेदान्तियों के ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात भी हो जाता है कि 'तत्त्वमसि' आदि महाकाव्यों में अर्थावबोध के लिए भागत्यागलक्षणा (उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा का मिश्रण) का आश्रय लिया जाता है। अतएव व्यावहारिक जगत् में उन्हें 'निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटम्' आदि में विधि को व्यंग्य, तथा 'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः' में निषेध को व्यंग्य मानना ही चाहिए और इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति को भी मानना चाहिए।[५४]

वैयाकरणों की मान्यता और व्यंजना

वेदान्तियों के समान वैयाकरण भी स्फोटरूप शब्दब्रह्म को मानते हैं और—

पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

—वैयाकरणभूषणसार, स्फोटनिर्णय, ६८

के अनुसार समष्टिरूप से वाच्य का अर्थ मानते हैं और इसे अखण्ड वाक्यार्थता का सिद्धान्त कहते हैं। किन्तु वैयाकरण भी व्यवहार के समय प्रकृति-प्रत्यय-उपसर्गादि द्वारा पद-पदार्थ के प्रति सखण्डबुद्धि रखते हैं। अतः उन्हें भी व्यंजना से निकलने वाले अर्थ को स्वीकार करना होगा।[५५] प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने भी व्यावहारिकता की दृष्टि से व्यंजना को अनिवार्य वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है[५६]। इसके अतिरिक्त ध्वनि तथा व्यंजना का स्रोत व्याकरण ही है, इसलिए

---

५४. क—वेदान्तसार, पृ०सं० ६८-८२
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७वीं कारिका की व्याख्या।

५५. क—वाक्यपदीय, २/२३९-२४०
ख—काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या।

५६. परमलघुमञ्जूषा, पृ०सं० २०

वैयाकरणों द्वारा व्यंजना का विरोध और उस विरोध के निराकरण की चिन्ता स्वयं ही समाप्त हो जाती है[५७]।

अनुमानवादियों की मान्यता और व्यंजना—

ध्वन्यालोककार ने मीमांसकों के लिए व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता सिद्ध करके उसमें लिङ्गत्वन्याय घटित किया था। इसलिए व्यंजकव्यंग्यभाव को लिङ्गलिङ्गिभाव मानकर, व्यंग्यार्थ को व्यंजना के स्थान पर अनुमान का विषय मानना चाहिए। अनुमानवादियों की यह मान्यता ध्वनिवाद के लिए इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अनुमानवादी अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरा शब्दव्यापार तो मानते ही हैं, भले ही उसे व्यंजना के स्थान पर अनुमिति कहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यंजकत्व का लिङ्गत्व व्यंग्यार्थ के प्रति अनियत है। अतएव इनमें लिङ्गलिङ्गिभाव सदा नहीं रहता। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है।

शब्दों के दो विषय हैं—अनुमेय और प्रतिपाद्य। अनुमेयरूप विवक्षा भी दो प्रकार की है—शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा तथा शब्दार्थप्रकाशनेच्छा। दोनों प्रकार की विवक्षा से श्रोता को केवल यह अनुमान होता है कि वक्ता कुछ कहना चाहता है, किन्तु क्या कहना चाहता है? यह अनुमेय नहीं, प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रतिपाद्य विषय के भी दो प्रकार हैं—वाच्य तथा व्यंग्य। क्योंकि वक्ता कभी अपने अभिप्राय को शब्दों से व्यक्त करना चाहता है और कभी बिना शब्दों के ही व्यक्त करना चाहता है। शब्दों का यह दोनों प्रकार का प्रतिपाद्य विषय अनुमेय कदापि नहीं हो सकता। यह इस लेख में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है[५८] कि नैयायिक कृत्रिम संकेतग्रह से और मीमांसक अकृत्रिम संकेतग्रह से शब्दार्थ का सम्बन्ध मानते हैं। किन्तु संकेतग्रह जनितअर्थ सदैव प्रतिपाद्य विषय नहीं होता और शब्द तथा प्रतिपाद्यविषय में लिङ्गलिङ्गिभाव एवं अनुमानव्यापार की सिद्धि भी नहीं होती। यदि शब्दार्थज्ञान में लिङ्गलिङ्गिभाव मानकर अनुमान से उसकी सिद्धि की जाएगी, तो अर्थ की यथार्थता के कारण उसमें सम्यकत्व अथवा मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होगी, जो काव्यजगत् में देखी जाती है। अनुमान से व्यंग्यार्थ की सिद्धि करने पर तो 'भ्रम धार्मिक' का अर्थ 'मत घूमो' निकलेगा ही नहीं, क्योंकि इससे वक्ता के कथन में संदेह होगा ही नहीं।

व्यंजकत्व, वाच्यवाचकत्व पर आश्रित रहता है, यह तथ्य पहले भी कई बार स्पष्ट हो चुका है। इसलिए उसे भी शब्द का सम्बन्धी कहा जाता है। हाँ, यह सम्बन्ध शब्द से प्रत्यक्षतः न होकर परम्परित सम्बन्ध है। इसलिए वक्ता की विवक्षारूप व्यंग्य में ही शब्द का व्यापार लिङ्गरूप में अनुमान से हो सकता है (अर्थात् श्रोता अनुमान लगाता है कि वक्ता कुछ कहना चाहता है)। किन्तु उसकी विवक्षा का विषय क्या है? इसका प्रतिपादन

---

५७. क—वाक्यपदीय, १/७५-८४, ९३-१०६
ख—महाभाष्य, १/पृ०सं० ४
ग—ध्वन्यालोक, १/१३ तथा ३/३३ की व्याख्या।
घ—काव्यप्रकाश १/४ की व्याख्या।

५८. प्रस्तुत शोधलेख, पृ०सं० २२२-२२३

वाचकत्व व्यापार से हो सकता है, अथवा दूसरे व्यापार से। यदि प्रतिपाद्य विषय वाच्य है, तो उसका अवबोधक व्यापार वाचकत्व अर्थात् अभिधा हो सकती है और विषय व्यंग्य है तो संकेतग्रह के अभाव में वाचकत्व व्यापार प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतएव दूसरा व्यापार मानना होगा और वह व्यापार है—व्यंजना।

व्यंजकत्व को लिङ्गत्वस्वरूप मानें भी तो यह केवल लिङ्गत्वरूप नहीं होता। यह तो बिना अनुमान के घटादि को प्रकाशित करने वाले दीपक में भी पाया जाता है। अतएव न तो वाच्यार्थ वाचक शब्द का अनुमेय है और न व्यंग्यार्थ व्यंजक शब्द का अनुमेय है। अतएव वाचक-वाच्यभाव तथा व्यंजकव्यंग्यभाव में लिङ्गलिङ्गिभाव नहीं होता। इसलिए व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। वक्ता की विवक्षा को अनुमेय मानकर उसमें जो लिङ्गत्वभाव माना गया था, वह वाच्य नहीं है, वाच्यार्थ की उपाधिमात्र है। यदि प्रतिपाद्य विषय को अनुमेय माना जाएगा तो शब्दार्थ के विषय में उठने वाली शंकाएँ निराधार हो जाएँगी और अनुमान से सिद्ध ज्ञान यथार्थ होने के कारण नीरस होगा, अतः काव्यत्व से दूर ही लगेगा। अनुमानवादी व्यंग्यार्थ की सत्यता-असत्यता प्रमाणित करने के लिए अनुमान को आवश्यक मानते हैं तो मानें। क्योंकि जिस प्रकार वाच्यार्थ के स्थलों में उसके सम्यक्त्व की प्रतीति के लिए अनुमान अर्थापत्ति आदि दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है, किन्तु वहाँ अभिधा व्यापार की प्रभुता नष्ट नहीं हो जाती। उसी प्रकार व्यंग्यार्थावोध में इन प्रमाणों से सहायता तो मिलती है, किन्तु व्यंजनाव्यापार का प्रभाव नष्ट नहीं हो जाता। वास्तविकता तो यह है कि काव्य में व्यंग्यार्थप्रतीति के लिए सत्यासत्यपरीक्षण के लिए प्रमाणान्तर पर विचार-विमर्श करना व्यर्थ है। क्योंकि काव्य से शीघ्र आनन्द प्राप्ति के स्थान पर नीरसता का अनुभव होने लगेगा। अत एव अनुमानजन्य लिङ्गिप्रतीति सर्वत्र व्यंग्यप्रतीति नहीं मानी जा सकती[५९]। आचार्य मम्मट ने तो आर्थी व्यंजना में शब्द को ही अर्थ का प्रमाण माना है, और प्रमाणों को नहीं।[६०] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने अभिव्यक्ति और अनुमिति को पर्याय नहीं माना। उनके मत में जब वाच्यार्थ ही अनुमान का विषय नहीं है, तो व्यंग्यार्थ कैसे हो सकता है। किन्तु इतना होने पर भी ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट जो आनन्दवर्धन के परवर्ती थे, ने ध्वनि और व्यंग्यार्थ को अनुमान का ही विषय माना है।[६१] आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठाप्राप्त व्यंजनाव्यापार को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए महिमभट्ट के मत का विरोध करके अनुमान को, व्यंजना से होने वाले कार्य के लिए असमर्थ माना है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—

> नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षमम्।
> आभासत्वं हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः॥—साहित्यदर्पण, ५/४

---

५९. ध्वन्यालोक, ३/३३ की व्याख्या।

६०. काव्यप्रकाश, ३/२३

६१. व्यक्तिविवेक, १-१

अर्थात् रसादिरूप व्यंग्यार्थ के बोधन में अनुमान समर्थ नहीं है। क्योंकि रसादि को अनुमेय मानने में जो हेतु दिए गए हैं, वे वास्तव में हेत्वाभास हैं। इसीप्रकार स्मृति भी रसादि की प्रतीति से भिन्न है।

उपर्युक्त कारिका के अनुसार रस, वस्तु और अलंकार व्यंग्य हैं, अनुमेय नहीं—इस बात को सिद्ध करने के लिए महिमभट्ट के अनुमितिवाद का विश्वनाथसम्मत खण्डन क्रमशः प्रस्तुत है—

१. व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के अनुसार—विभावानुभावादि से रसादि की प्रतीति अनुमान द्वारा होती है। क्योंकि विभानुभावव्यभिचारि आदि की प्रतीति ही रसादि की प्रतीति का साधन है। लोक में ये ही विभावानुभावादि व्यक्तियों के रत्यादि स्थायीभावों के अनुमापक हैं, वैसे ही काव्य में भी रत्यादि के अनुमापक हैं और रसादि के निष्पादक हैं। इन्हीं से अनुमान द्वारा रत्यादि स्थायिभाव आस्वाद के विषय बनकर रस कहलाते हैं। इस प्रकार विभावादिप्रतीतिरूपसाधन और रसादिप्रतीतिरूप साध्य में पौर्वापर्यक्रम अवश्य है। विभावादिप्रतीति और रसानुभूति में साधनसाध्यभाव मानकर उसे रसाभिव्यक्ति के स्थान पर रसानुमिति कहना चाहिए।

इस सम्बन्ध में विश्वनाथ ने दो प्रश्न उपस्थापित किए—

(क) क्या शब्दों से वर्णित अथवा अभिनय से प्रदर्शित विभावादि की प्रतीति से, रामादिगत रागादिभावों का ज्ञान ही रसरूप में माना जाए? अथवा (ख) काव्य-नाटक में वर्णित-प्रदर्शित विभावादि की भावना से भावित सहृदय सामाजिक के हृदय में उद्‌बुद्ध होने वाला स्वप्रकाशानन्द रस माना जाए? इनमें से पहले प्रश्न का उत्तर यदि यह है—कि 'विभावादि की प्रतीति से रामादिगत रत्यादि की प्रतीति हो जाती है' तो इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि रसानुमिति और रसाभिव्यक्ति एक ही तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त व्यंजनावादी आचार्य रामादिगत रत्यादि की प्रतीति को ही रस नहीं कह देते।

अब दूसरे प्रश्न का भी उत्तर यदि हाँ ही है, तो स्वीकार्य नहीं। क्योंकि अनुमान द्वारा विभावादि से स्वप्रकाशानन्दरूप रस की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि इसमें अनुमान के दो तत्त्वों—व्याप्ति और सिद्धहेतु—का अभाव है। इस बात को इस तरह समझा जा सकता है—यह सहृदय सामाजिक श्रृंगाररसवान् है। क्योंकि इसमें रामादिगत रत्यादिभाव का ज्ञान उसी प्रकार हो रहा है, जैसे दूसरे सहृदय सामाजिक में। किन्तु रसानुभूति में अनुमान की यह प्रक्रिया इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें 'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः' के समान 'यत्र-यत्र रामादिगत रत्यादि प्रतीतिः, तत्र-तत्र श्रृंगाररसप्रतीतिः' जैसी व्याप्ति नहीं बनती। इसके अतिरिक्त किसी भी सामाजिक में रामादिगत रत्यादि की प्रतीति अवश्य विद्यमान है, ऐसी पक्षधर्मता भी नहीं है।

महिमभट्ट ने इसीलिए कहा है कि—यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विक सञ्चारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र-तत्र श्रृंगारादिरसाविर्भावः' इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च। इसके साथ ही उनका कहना है कि व्यंग्यार्थ की सामग्री ही अनुमान की सामग्री है, तो रसाभिव्यक्ति के स्थान पर रसानुमितिवाद को ही मानना चाहिए।

साहित्यदर्पणकार ने महिममट्ट की इस उक्ति का उत्तर दिया है कि यदि अनुमान-प्रक्रिया के अनुसार उपर्युक्त व्याप्ति को मान लें तो 'रसध्वनि' की सिद्धि होगी, जो व्यंजनावादियों को अभीष्ट है। किन्तु अनुमानवादी आचार्य रसानुमिति को ही रसास्वाद मानते हैं, जबकि व्यंजनावादी आचार्य रस को स्वप्रकाशानन्द एकघनचमत्कारात्मक अनुभूति मानते हैं। क्योंकि रामादिगतरत्यादि की प्रतीति ही स्वप्रकाशानन्द रस का हेतु नहीं है। अनुमान की दृष्टि से यहाँ अर्थ से अर्थान्तर की सिद्धि होने के कारण हेत्वाभास भी उपस्थित हो जाता है। प्रमुख प्रतीयमानार्थ के रूप में प्रतिष्ठित रस अलौकिक आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय होने के कारण अनुमेय नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि रसध्वनि अनुमान का नहीं, व्यंजना का विषय है।[६२]

२. व्यक्तिविवेककार ने वस्तुध्वनि को भी अनुमेय माना है और उसका उदाहरण दिया है—

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ ने इस उदाहरण में अनुमानवाद का खण्डन करके इसमें आनन्दवर्धनसम्मत वस्तुध्वनि को ही प्रतिष्ठित किया है। क्योंकि वाच्य से असम्बन्धित अर्थ तो प्रतीत होता नहीं। यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति मानी जाएगी तो अव्यवस्था हो जाएगी। अतएव व्यंग्यव्यंजकसम्बन्ध मानना होगा और व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध में भी व्याप्ति स्वीकार करनी होगी। इसके लिए बोधक रूप वाच्यार्थ को लिङ्ग तथा बोध्यरूप व्यंग्यार्थ को लिङ्गी मानना होगा। इसलिए यहाँ वाच्यार्थरूपलिङ्ग से व्यंग्यार्थरूप लिङ्गी का ज्ञान अनुमान का ही विषय बनता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ भीरु का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भय का कारण नहीं होता—यथा गृह; और जहाँ-जहाँ भय का कारण होता है, वहाँ-वहाँ भीरु का भ्रमण नहीं होता, यथा नदी तीर। यहाँ इस गाथा में अन्वय-व्यतिरेकमूलक इस व्याप्ति के घटित हो जाने से व्यंजना को मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु महिमभट्ट की यह व्याख्या 'अनैकान्तिक' हेतु से युक्त है। क्योंकि भीरु व्यक्ति भी गुरु अथवा राजा के आदेश से, प्रिया के प्रति अनुराग से, अथवा युद्धादि के समय भय के कारणों से युक्त स्थानों में जाता है। वीरपुरुष अस्पृश्यता के कारण कुत्ते से भले ही डर जाए; किन्तु सिंह से नहीं डरता। इसलिए यहाँ सिंह की उपलब्धिरूप भय का हेतु 'विरुद्ध' भी है। गोदावरी नदी के किनारे सिंह की उपस्थिति किसी प्रमाण से सिद्ध भी नहीं की गई। कुलटा के कहने से उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है; अतः हेतु 'असिद्ध' भी है। दूषित हेतु से साध्य (व्यंग्यार्थविबोध) की सिद्धि न होने के कारण यहाँ अनुमान से कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटम्'। इस उदाहरण में भी चन्दनादि का

---

६२. क—व्यक्तिविवेक, पृ०सं० ४७७; ३/३१ कारिका
ख—साहित्यदर्पण, ५/४ की व्याख्या।

पुँछना, अधरोष्ठ की लालिमा का नष्ट होना आदि के हेतु आलिङ्गनादि के अतिरिक्त, स्नानादि भी हो सकते हैं।

काव्यों के ऐसे सभी स्थल प्रमाणरहित होने के कारण, व्याप्तिरूप नियतधर्म और त्रिरूपलिङ्ग के अभाव होने के कारण अनुमान का विषय नहीं बनते। इनमें व्यंजनाव्यापार ही सङ्गत है।[६३]

३. व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट तो—

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥

इस पद्य में रूपक अलङ्कार को भी व्यंग्य न मानकर अनुमेय मानेंगे। क्योंकि उनके मत में यहाँ अपने दर्शन-अदर्शन से, चक्रवाकमिथुन के संघटन-विघटन का कारण बनने वाला राधिका का मुख चन्द्रमा है, ऐसा अनुमान होता है। किन्तु उनका यह मत असंगत है। क्योंकि चन्द्र के अतिरिक्त दूसरा भी भयंकर पदार्थ अपनी उपस्थिति-अनुपस्थिति से चक्रवाक-मिथुन के संयोग-वियोग का कारण बन सकता है। अतएव यहाँ चन्द्ररूप हेतु 'अनैकान्तिक' है।

वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि में भ्रमणनिषेध एवं चन्द्रारोप 'एकान्तिक' हेतु के रूप में सिद्ध नहीं हो पाए हैं। इसलिए स्पष्ट है कि व्यंजना का कार्य अनुमान से नहीं हो सकता। वस्तुतः काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से बहुत सी रमणीय उद्भावनाएँ करता है, जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के फेर में अनुमानवादी का हेतु 'हेत्वाभास' में परिणत होकर अनुमान की संभावना को असंभव बना देता है। पर, ऐसे स्थलो में व्यंजना मानते ही सब आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और व्याप्ति तथा हेतु की नित्यधर्मिता सिद्ध करने का व्यर्थ परिश्रम नहीं करना पड़ता।[६४]

अनुमान की भाँति ही अर्थापत्ति सूचनबुद्धि और स्मृति भी व्यंग्यार्थबोध में असमर्थ है। अतएव व्यंजना ही मान्य है।[६५]

महिमभट्ट तो अभिधामूला व्यंजना के उदाहरणों में भी दूसरे व्यंग्यार्थ की सत्ता

---

६३. अ—व्यक्तिविवेक, पृ०सं० ४६४-४६६
क—काव्यप्रकाश, ५/४७ वीं कारिका की व्याख्या।
ख—साहित्यदर्पण, ५/४ कारिका की व्याख्या।
ग—प्रतापरुद्रीय, काव्यप्रकरण, उदाहरण १४
घ—साहित्यसुधासिन्धु, २/१९ के बाद
ङ—कोविदानन्द, व्यंजनालिरूपण, ३५
च—त्रिवेणिका, व्यंजनाप्रकरण, पृ०सं० २७-२८
छ—अलङ्कारकौस्तुभ, १/२९ कारिका की व्याख्या।
६४. साहित्यदर्पण, ५/४ कारिका की व्याख्या।
६५. वही।

नहीं मानेंगे। जबकि यहाँ सहृदयश्लाघ्य रमणीय प्रतीयमानार्थ की शोभा अनुभूति का विषय बनती है।[६६] उनके इन दृष्टिकोण को साहित्यदर्पणकार ने 'गजनिमीलिका' ही कहकर उसे 'प्रमादपूर्ण दृष्टिकोण' सिद्ध कर दिया है। विश्वनाथ का तात्पर्य है कि जैसे गर्वोन्मत्त हाथी अपनी छोटी सी आँखों को सिकोड़कर और भी छोटा कर लेता है, फलस्वरूप वास्तविकता का दर्शन नहीं कर पाता, वैसे ही महिमभट्ट ने भी अनुमान से व्यंग्यार्थावबोध करने की हठर्धमिता के कारण रमणीयता के ऐश्वर्य से युक्त व्यंजना की उपेक्षा कर दी है।[६७]

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि व्यंजनावृत्ति सम्मान्यावृत्ति है। क्योंकि यह वृत्ति ऐसे स्थलों पर काव्य के मर्मावबोध की अभिव्यक्ति कराती है, जहाँ अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यादि शब्दव्यापारों की गति कुण्ठित हो जाती है। इस शब्दवृत्ति को मानने से एक लाभ और भी होगा, वह यह कि अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से अर्थ की सत्यता-असत्यता का परीक्षण करने के नीरस और व्यर्थ प्रयास की भी अपेक्षा नहीं रहेगी। इसके अतिरिक्त अभिधा, लक्षणा आदि शब्दवृत्तियाँ तथा अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण व्यंजना-वृत्ति के सहकारितत्त्व हैं, इसलिए इनमें से किसी में भी व्यंजना का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। आनन्दवर्धनादि आचार्यों ने व्यंग्यार्थरूप ध्वनि काव्य की प्रतिष्ठा की है और सर्वाधिक हृद्य, रम्य, आस्वाद्य रसध्वनि को काव्य की आत्मा बताया है। इस रमणीय और काव्य के शीर्षस्थ प्रयोजन के अवबोध के लिए व्यंजनावृत्ति को मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ—

१. अग्निपुराण, महर्षि वेदव्यास, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६।

२. अभिधावृत्तिमातृका, मुकुलभट्ट, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली-७ प्रथम संस्करण, १९७७।

३. अभिनवभारती, अभिनवगुप्त, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९७३।

४. अलङ्कारकौस्तुभ, कविकर्णपूर, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, १९८१।

५. आधुनिक, संस्कृत काव्यशास्त्र, डॉ० आनन्दकुमार श्रीवास्तव, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-७, प्रथम संस्कण।

६. काव्यप्रकाश, मम्मट (विश्वेश्वर) ज्ञानमण्डल वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९६७।

---

६६. क-व्यक्तिविवेक, पृ० सं० ४७८-४७९
ख-काव्यप्रकाश, २/१९ का उदाहरण।
ग-साहित्यदर्पण, २/१४ का उदाहरण; ५/४ की व्याख्या।
घ-साहित्यसुधासिन्धु, २/१९ का उदाहरण।

६७. साहित्यदर्पण, ५/४ कारिका की व्याख्या।

७. काव्यप्रकाश, मम्मट (वामन झलकीकर), भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, षष्ठ संस्करण, १९५० ।

८. काव्यादर्श, दण्डी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७२ ।

९. काव्यालंकार, भामह, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८१ ।

१०. काव्यालंकार संग्रह, उद्भट, भण्डारकार इंस्टीट्यूट पूना, प्रथम संस्करण, १९२५ ।

११. चित्रमीमांसा, अप्पयदीक्षित, चौखम्बा संस्कृतसीरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

१२. दशरूपक, धनंजय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, १९७६ ।

१३. ध्वनिकल्लोलिनी, आचार्य आनन्द झा, कामेश्वर सिंह, दरभंगा, संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, प्रथम संस्करण, १९७८ ।

१४. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन (विश्वेश्वर), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७१ ।

१५. ध्वन्यालोक लोचनटीका (डॉ० रामसागर त्रिपाठी) मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम उद्योत, पुनर्मुद्रित संस्करण, १९७९, द्वितीय उद्योत द्वितीय संस्करण, १९७५; उत्तरार्ध, प्रथम संस्करण, १९८३ ।

१६. ध्वनिसिद्धान्त, डॉ० राममूर्ति शर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम सं० १९८० ।

१७. ध्वनिसिद्धान्त : विरोधी, उनकी मान्यताएँ, डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय । वसुमती प्रकाशन, ६०२ दारागंज इलाहाबाद-६, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

१८. नञ्जराजयशोभूषण, अभिनव कालिदास, ऑरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, प्रथम संस्करण, १९३० ।

१९. नाट्य शास्त्र, भरतमुनि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८० ।

२०. परमलघुमंजूषा, नागेश भट्ट, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, प्रथम संस्करण, १९८३ ।

२१. प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथ, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८१ ।

२२. महाभाष्य, पतंजलि (१-३ आह्निक) पं० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७१ ।

२३. रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन (प्रथम आनन) तृतीय संस्करण, १९७० ; द्वितीय आनन), तृतीय संस्करण, १९८३ ।

२४. रसमहार्णव, म०म० गोकुलनाथोपाध्याय, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, प्रथम संस्करण १९८१ ।

२५. वक्रोक्तिजीवित, राजानक कुन्तक, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८० ।

२६. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पुण्यपत्तन विद्यापीठ, संस्कृत प्राकृत ग्रन्थमाला, पूना, १९६५ ।

२७. वाग्भटालंकार, वाग्भटाचार्य, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम यन्त्रालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९०५ ।

२८. वृत्तिसमुच्चय (कोविदानन्द, त्रिवेणिका) आशाधरभट्ट, इन्दु प्रकाशन, रूपनगर दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, १९७८ ।

२९. वेदान्तसार, श्रीसदानन्द, चौखम्बा विद्यामवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, १९६८ ।

३०. वैयाकरण भूषणकार, कौण्डभट्ट, पं० तारकेश्वर चतुर्वेदी शास्त्री, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९४७ ।

३१. व्यक्तिविवेक महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

३२. व्यंजना और नवीन कविता, पं० राममूर्ति त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

३३. व्यंजनाविमर्शः, रविशंकर नागर, वन्दना प्रकाशन, सी-६/१६ मॉडल टाउन, दिल्ली-९, प्रथम संस्करण, १९७७ ।

३४. सरस्वतीकण्ठाभरण, भोजदेव, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९३४ ।

३५. संस्कृत निबन्धावली, डॉ० हरिनारायण दीक्षित, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, १९८५ ।

३६. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामनशिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, १९६६ ।

३७. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, चौखम्बा विद्यामवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, १९७६ ।

३८. साहित्यमीमांसा, राजानक रुय्यक, गवर्नमेंट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, प्रथम संस्करण, १९३४ ।

३९. साहित्यसुधासिन्धु, आचार्य विश्वनाथदेव, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८ ।

रस सामग्री

लेखक—डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी
हिन्दी—विभागाध्यक्ष
रजा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रामपुर (उ०प्र०)

भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ईसवी सन् के आरम्भ की रचना है। भारतीय काव्य शास्त्र के अब तक के प्राप्त ग्रंथों में यही सबसे प्राचीन हैं, किंतु भरत मुनि ने स्थान-२ पर अपनी धारणाओं के प्रमाण में आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भरत से पूर्व भी काव्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। रस-निरूपण भी सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। इसके संदर्भ में भी भरतमुनि ने आनुवंश्य श्लोकों के जो साक्ष्य दिये हैं, उनसे इसकी प्राचीनता की पुष्टि होती है।

भरत मुनि के अनुसार रस ही काव्य (नाट्य) का प्राणतत्त्व हैं। उनका विचार है कि रस से रीत कर कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं होता।[1] आगे वे प्रश्न करते हैं कि रस क्या है; और स्वयं ही इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि रस आस्वाद्य है और अपनी आस्वाद्यता के कारण ही 'रस' इस नाम से जाना जाता है।[2] इसके साथ ही मुनि अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र की स्थापना करते हैं—विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[3] इस सूत्र में यद्यपि यह उल्लेख नहीं है कि विभाव, अनुभाव और संचारी का संयोग किसके साथ होने से रस की निष्पत्ति होती है किंतु मुनि ने आगे जो रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया समझाई है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभावादि का यह संयोग स्थायी भाव के साथ होता है।

इस प्रकार, रस-सामग्री के अंतर्गत मूलतः ये चार तत्त्व आते हैं—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव। नाट्यशास्त्र में इन चारों की परिभाषा बतलाकर इनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है। विभावों के द्वारा जो अर्थ ले आया जाता है, वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो गम्यमान बनाया जाता है उसे 'भाव' इस प्रकार जाना जाता है।[3] तात्पर्य यह कि विभाव की उपस्थिति से ही भाव उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है, इसीलिए मुनि ने अन्यत्र 'विभाव' को कारण, निमित्त या हेतु का पर्याय

---

१. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। (ना०शा०अ०६, पृ० ९२)

२. रसः इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात् (वही, पृ० ९३)

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। (वही, पृ० ९३)

माना है (विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः) । विभाव के द्वारा जो अर्थ —भाव— ले आया जाता है, वह अनुमान के द्वारा गम्यमान या प्रतीति-योग्य होता है ।[४]

भरत मुनि के अनुसार रस रंगमंच पर उसी प्रकार निर्मित होता है जैसे पाकशाला में सुस्वादु व्यंजन । जैसे (पाक शाला में) नाना व्यंजन, ओषधि और द्रव्य के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, जैसे गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस निर्वतित होते हैं; वैसे ही नाना भावों से अवगत होते हुए भी स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं ।[५] वास्तव में, भरत मुनि का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे भोजन में अनेक व्यंजनों का मिश्रण होते हुए भी कोई विशिष्ट स्वाद ही प्रधान होता है, शेष समस्त व्यंजनों के स्वाद उस विशिष्ट स्वाद के व्यंजक—उपकारक बनकर उसे पुष्ट—उपचित—करते हैं, उसी प्रकार रस में भी प्रमुख स्वाद स्थायी भाव का होता है; संचारी भावों का स्वाद उस का पोषक होता है । स्थायी भाव विभाव के द्वारा उत्पन्न और अनुभाव के द्वारा गम्यमान होता है, तब तक वह भाव ही रहता है, रसत्व को प्राप्त नहीं होता । रसत्व को तो वह तब प्राप्त होता है, जब संचारी भावों के साथ उसका संयोग होता है । मुनि ने स्थायी भावों और रसों की जो अलग-अलग अभिनय-व्यवस्था की है, उससे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है । उदाहरण के लिए रति नामक स्थायी भाव की अभिनय-व्यवस्था में जिन विभावों और अनुभावों का उल्लेख है, प्राय : उन्हीं का उल्लेख संभोग शृंगार की अभिनय-व्यवस्था में भी है । फिर रति स्थायी और शृंगार रस में क्या अन्तर हुआ ? स्पष्ट ही, शृंगार के प्रसंग में व्यभिचारी भावों का उल्लेख किया गया है किन्तु रति स्थायी के प्रसंग में उनका कोई उल्लेख नहीं है । व्यभिचारी भावों की भरतोक्त परिभाषा[५] से भी यही लगता है कि मुनि को रस वहीं मान्य है जहाँ स्थायी भाव का संचारी भावों से संयोग हो ।

भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव—यह जो रस-सामग्री गिनायी है, वह परवर्त्ती काव्याचार्यों द्वारा भी मान्य हुई । यद्यपि इन चारों के संयोग से जो रस-निष्पत्ति होती है, उसके स्वरूप प्रक्रिया पर विद्वानों में मतभेद रहा, साथ ही भरत मुनि द्वारा गिनायी गयी रसभावादि की संख्या में भी समय-समय पर वृद्धि के प्रयत्न होते रहे, फिर भी रस-विवेचन का मूलाधार यही रहा ।

भरत मुनि ने आठ रस माने थे—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत । बाद में अभिनवादि आचार्यों ने शान्त को एक रस और मान लिया ।

---

४. विभावैराहृतो योऽर्थो हि अनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।। (वही ७/२)

५. यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्य-व्यंजनै-रोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति । (ना०शा० अध्याय ६, पृष्ठ ९३)

इस प्रकार रसों की संख्या नौ हो गयी। इसके बाद भी रस-संख्या में विस्तार होता रहा किंतु मुख्यतः मान्यता इन्हीं नौ रसों की रही।

इन रसों में से प्रत्येक का एक-एक स्थायी भाव है, जो रसत्व को प्राप्त होता रहा। मनोनुकुल अर्थ में मन की प्रवीणता रति है, जो श्रृंगार का स्थायी है। विकृत और असंगत वचन, कार्य एवं रूप रचना द्वारा उत्पन्न उल्लास हास है जो हास्य रस का स्थायी है। इष्टनाशादि से चित्त की विकलता शोक है, जो करुण का स्थायी है। प्रतिकूल के प्रति तीक्ष्णता क्रोध है, जो रौद्र का स्थायी है। किसी कार्य को आरम्भ करने का अभिनिवेश उत्साह, वीर रस का स्थायी है। भयंकर वस्तुओं के दर्शन या अपराध करने के कारण उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है जो भयानक रस का स्थायी है। किसी अरुचिकर वस्तु के दर्शन से उत्पन्न चित्तसंकोचजुगुप्सा है जो बीभत्स का स्थायी है। अलौकिक-असाधारण पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न चित्त का विस्तार विस्मय है जो अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है। तत्त्वज्ञान होने से सांसारिक विषयों में वैराग्य निर्वेद है, जो शान्त रस का स्थायी भाव माना गया है।

जहाँ तक संचारी या व्यभिचारी भावों का प्रश्न है, भरतोक्त तेंतीस संचारी ही प्रायः सर्वमान्य रहे हैं। 'निर्वेद' शांत रस का स्थायीभाव भी माना गया है और प्रथमसंचारी भाव भी। इन दोनों में अंतर यह किया जा सकता है कि स्थायी भाव निर्वेद तो तत्त्वज्ञान आदि से उत्पन्न सततवैराग्य की भावना है किन्तु निर्वेद नामक संचारी इष्टवियोग, आपत्ति, व्याधि आदि के कारण संसार को निरर्थक समझने या अपने आपको धिक्कारने की मनःस्थिति है। श्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि से मन की खिन्नता 'शंका' है। औद्धत्य के कारण दूसरों की उन्नति या गुणवृद्धि को न सह सकना 'असूया' है। मदिरापान आदि से उत्पन्न सम्मोह और आनन्द की स्थिति 'मद' है। रति क्रीडा, मार्ग चलने या जागरण आदि से उत्पन्न खेद 'श्रम' है। गर्भ, व्याधि या जागरण आदि से उत्पन्न शिथिलता 'आलस्य' है। दुःख-दारिद्रय, मनस्ताप आदि के कारण लघुता या हीनता 'दैन्य' है। इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान 'चिन्ता' है। भय, दुःख आवेग और अर्थचिंतन के कारण सुध-बुध खो बैठना 'मोह' है। समान वस्तु के चिन्तन या स्मरण से पूर्वानुभूत सुख-दुःखादि का स्मरण 'स्मृति' है। तत्त्वज्ञान, इष्ट प्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना या विषम परिस्थितियों में भी चित्त का चंचल न होना 'धृति' है। स्त्रियों के पुरुष-दर्शन, प्रतिज्ञा-भंग, पराजय आदि से उत्पन्न चित्त संकोच 'व्रीडा' है। मात्सर्य, द्वेष, राग आदि के कारण चित्त की अस्थिरता 'चपलता' है। इष्ट प्राप्ति आदि के कारण मन की प्रसन्नता 'हर्ष' है। किसी प्रिय या अप्रिय घटना से उत्पन्न हृदय की उत्तेजना 'आवेग' है। इष्टानिष्ट की प्राप्ति से चित्त की किंकर्त्तव्य विमूढ़ता 'जड़ता' है। श्री, विद्या, कुलीनता आदि से उत्पन्न अभिमान 'गर्व' है। असफलता, या असहायता की अनुभूति से उत्पन्न निरुत्साह 'विषाद' है। इष्ट वस्तु को तत्काल प्राप्त करने की उत्कंठा ही 'औत्सुक्य' है। दुर्बलता, मद, आलस्य, श्रम आदि के कारण चेतना के सम्मीलन की अवस्था 'निद्रा' है। ग्रहादि के आवेशन से उत्पन्न मनःक्षेप 'अपस्मार' है (जैसे, देवी-देवता के आ जाने की

स्थिति, या मिरगी रोग जैसी स्थिति)। निद्राभिभूत पुरुष के विषयानुभव का नाम **'स्वप्न'** है निद्रा और अज्ञान मिटने तथा सचेत स्थिति को प्राप्त होना **'विबोध'** है। निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण चित्त का अभिनिवेश **'अमर्ष'** है। भय, गौरव, लज्जा आदि से उत्पन्न भावों को चतुराई से छिपाना **'अवहित्था'** है। अपमान या दुर्व्यवहार से उत्पन्न चित्त की प्रचंडता **'उग्रता'** है। नीतिशास्त्र के अनुसार किसी तथ्य का निर्णय करना **'मति'** है। शारीरिक रोगों से उत्पन्न मानसिक संताप **'व्याधि'** है। भय, शोक, काम आदि से चित्त की भ्रान्ति **'उन्माद'** है। बिजली, उल्का या अन्य भयप्रद वस्तुओं से चित्त की व्यग्रता **'त्रास'** है। अनिश्चय या संदेह के कारण मन का ऊहापोह **'वितर्क'** है। किसी भीषण बीमारी या शस्त्रादि के घात से मरणासन्न हो जाने या मृत्युतुल्य कष्ट पाने की स्थिति मरण है।

आठ स्थायी और तेंतीस संचारी भावों के अतिरिक्त भरत मुनि ने आठ सात्त्विक भाव भी गिनाये हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ जाना), अश्रु और प्रलय (निश्चेष्ट या अचेत हो जाना)। इस प्रकार इन उनचास भावों को उन्होंने रसाभिव्यक्ति का हेतु माना है।[६]

मनोविज्ञान के आलोक में उक्त भावसम्पदा का निरीक्षण-परीक्षण करने वाले विद्वानों ने 'भाव' शब्द को संवेग (एमोशन) या 'मनोदशा' का पर्याय मान कर विवेचित करने का प्रयास किया है और इस आधार पर यह सिद्ध किया है कि श्रम, आलस्य, अपस्मार जैसे अनेक संचारी 'मनोदशा' न होने के कारण 'भाव' के शब्द के अंतर्गत नहीं आते। किन्तु वास्तव में भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग कहीं व्यापक अर्थ में किया है। उनके लिए जो काव्यार्थ को भावित करता है, वही भाव है (काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।) इसीलिए उन्होंने उन्चास भावों के अन्तर्गत सभी नाट्योपयोगी शारीरिक और मानसिक स्थितियों को रख लिया है। इसीलिए सात्त्विक भाव तो सभी विभिन्न मनोदशाओं से उत्पन्न शारीरिक लक्षण मात्र हैं और श्रम, आलस्य, निद्रा, अपस्मार आदि संचारी मुख्यतः शारीरिक स्थितियाँ ही हैं।

भाव-विवेचन के बाद विभाव और अनुभाव पर भी कुछ विचार कर लिया जाय। जैसा कहा जा चुका है, विभाव भावों के कारण होते हैं। इन कारणस्वरूप विभावों के लिए जिस व्यक्ति के हृदय में कोई स्थायी या संचारी भाव उदित होता है, उसे आश्रय कहते हैं। उदाहरण के लिए राम के हृदय में सीता के दर्शन से रति नामक स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होता है। तो राम आश्रय हुए, सीता विभाव हुईं। आचार्यों ने विभाव को भी दो भागों में बाँट दिया है—आलम्बन और उद्दीपन। यहाँ सीता, मान लीजिए, पुष्पवाटिका में हैं, वहाँ सुगन्धित फूल खिले हैं, शीतल, मंद, सुगन्ध पवन वह रहा है, वसन्त की ऋतु है, खिली चाँदनी है—यह सब परिवेश राम के हृदय में उत्पन्न रति भाव का उद्दीपन हुआ, अतः इसे उद्दीपन विभाव और सीता को आलम्बन विभाव कहा जायगा। अब, रंगमंच पर स्थित राम के हृदय में सीता के प्रति रतिभाव उत्पन्न हुआ है दर्शकों को इसकी प्रतीति कैसे होगी ? इसमें राम का सीता को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखना,

---

६. एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद् भावाः। (ना०शा०अ० ७ पृ० १०६)

अपने हृदय में सीता के प्रति उत्पन्न प्रेम के सम्बन्ध में लक्ष्मण को बताना आदि कायिक-वाचिक अनुभावों द्वारा तथा स्तंभ, रोमांच आदि सात्त्विक भावों द्वारा (जो एक प्रकार से अनुभाव ही हैं) गम्यमान बनाया जायेगा। उधर, राम के लिए सीता आलम्बन हैं तो सीता के लिए राम आलम्बन होंगे। उनके हृदय में उत्पन्न रति भाव की अभिव्यक्ति एक-टक होकर राम को देखने और अपनी सखियों से उनके सम्बन्ध में वार्तालाप करने आदि के अनुभावों से होगी। राम गम्भीर प्रकृति के चरित्र हैं। अत, वे सीता के प्रति उत्पन्न आकर्षण को मति-धृति आदि संचारियों से एक संयमित रूप प्रदान करते दिखायी देंगे। वे लक्ष्मण से कहेंगे—'मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।' इससे उनके रतिभाव को एक अद्भुत निर्मलता और गम्भीरता प्राप्त होगी और संचारियों के इस मिश्रण से वह श्रृंगाररसत्व को प्राप्त होगा। उधर, सीता के हृदय में नारी सुलभ सहज लज्जा के कारण 'व्रीडा' का संचार होगा, जिसे वे किंचिद् अधोमुख होने के अनुभाव से या मुख की लालिमा से व्यक्त करेंगी, या राम का रूपवर्णन सखियों के मुख से सुनकर पहले उनके हृदय में 'औत्सुक्य' नामक संचारी का उदय हो सकता है जिसका अभिनय वे त्वरा-प्रदर्शन या दीर्घ-निश्वास द्वारा कर सकती हैं। यह भी हो सकता है कि 'अवहित्था' संचारी के उदय द्वारा वे अपनी सखियों से अपने हृदय में उत्थित राम-विषयक रति को छिपाने का प्रयास करें, और इस अवहित्था की व्यंजना वचनविदग्धता या क्रिया विदग्धता के द्वारा गोपन भाव के अभिनय द्वारा करें। इस प्रकार राम-सीता का परस्पर रतिभाव रंगमंच पर विविध अनुभावों के द्वारा गम्यमान और संचारियों द्वारा पुष्ट रसत्व को प्राप्त होता है। राम जैसे धीरोदात्त नायकों की रति संलाप और परस्पर रूप-दर्शन के अनुभावों से गम्यमान और मति, धृति, जडता, औत्सुक्य, हर्ष, व्रीडा, अवहित्था आदि संचारियों द्वारा पुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होती दिखायी देती है, वहाँ धीरललित या कुछ अधिक विलासी नायक-नायिकाओं की रति कटाक्ष, चुंबन, आलिंगन आदि अनुभावों द्वारा गम्यमान और निद्रा विबोध, श्रम, आलस्य आदि संचारियों द्वारा पुष्ट होकर संभोग श्रृंगार रूप रसत्व को प्राप्त होती है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव-रूप रस-सामग्री का स्वरूप एवं उनकी पारस्परिक स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो गयी होगी। अब परम्परागत विभाव और अनुभाव के सम्बन्ध में कुछ और मुख्य बातें बता कर हम कुछ ऐसी बातों पर आयेंगे जिनका निर्वचन रस-विवेचन की सुदीर्घ प्राचीन परम्परा में नहीं मिलता। विभाव-विवेचन की परंपरा में नायक-नायिका भेद का विचार आरंभ से ही होता रहा और कालांतर में, श्रृंगार रस की प्रमुखता हो जाने के कारण, नायिका-भेद काव्यशास्त्र का एक स्वतंत्र अंग ही बन गया। नायकों के मुख्यतः चार भेद किए गए—

धीरोदात्त—धैर्यवान्, विनयी, अमानी और स्वाभिमानी।

धीरोद्धत—मायावी, प्रचंड, चपल, घमंडी, और आत्मप्रशंसक।

धीर प्रशांत—त्याग-तितिक्षा आदि सात्विक गुणों से युक्त।

धीर ललित—निश्चिन्त, कोमल स्वभाव, नृत्यगीतादिप्रिय।

नायिका-भेद का अत्यन्त विस्तार हुआ। सामाजिक दृष्टि से नायिका के अनूढा (अविवाहिता), स्वकीया और परकीया ये तीन भेद किये गये। वत: क्रम की दृष्टि से मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा—ये तीन भेद किए गए। नायक के प्रेम की दृष्टि से ज्येष्ठा, कनिष्ठा, समहिता और स्वाधीन वल्लभा ; नायक से संयोग-वियोग की दृष्टि से प्रवत्स्यत् पतिका, आगत पतिका, संयुक्ता, अभिसारिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, अन्यसंभोगदु:खिता, खंडिता, कलहान्तरिता और मुदिता; लोकाचार के भय से रतिगोपन-कारी प्रयत्नों की दृष्टि से गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता और अनुशयाना तथा स्वभाव की दृष्टि से उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद किये गये। नायक और नायिका के सखाओं, सखियों दूतियों के भी भेदोपभेद काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते हैं।

भरतमुनि ने जिन चार प्रकार के अभिनयों की व्यवस्था की उन्हें ही परवर्ती आचार्यों ने अनुभावों के भेदों के रूप में स्वीकार कर लिया। ये हैं—कायिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। शारीरिक चेष्टाओं द्वारा भावों की अभिव्यक्ति कायिक, वाणी द्वारा भावाभिव्यक्ति वाचिक, पात्रानुकूल और भावानुकूल वेशभूषा आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आती है। कायिक, वाचिक और आहार्य अभिनयों को चेष्टा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है किन्तु सात्त्विक अनुभाव (या भाव) वे हैं जो मन में किसी भाव के उद्रिक्त होने पर स्वत: ही उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे आँसू आ जाना, शरीर काँपने लगना, चेहरा पीला पड़ जाना आदि। उदाहरण के लिए क्रोध नामक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति के लिए मुट्ठियाँ बँध जाना, दाँत किटकिटाना आदि कायिक, तथा परुष एवं तिरस्कार पूर्ण वचन बोलना, ललकारना आदि वाचिक अनुभाव हो सकते हैं। भय की अभिव्यक्ति सिकुड़ने, भागने जैसे कायिक, दीन वचन जैसे वाचिक, अस्तव्यस्त वेशभूषा जैसे आहार्य तथा कंप और वैवर्ण्य जैसे सात्त्विक अनुभावों द्वारा होकर दैन्य, आवेग, विषाद, मोह आदि संचारियों से पुष्ट होकर 'भयानक-रसत्व' को प्राप्त हो सकती है।

यहाँ तक तो हमने रस-सामग्री के परम्परागत रूप पर विचार किया। अब आगे, परम्परा से कुछ हट कर विचार करेंगे और इस सम्बन्ध में कुछ नयी सम्भावनाओं का पता लगाएँगे। जैसा हम देख चुके हैं, भरतमुनि ने इसकी व्यवस्था नाट्य के, और वह भी रंग-मंच के, सन्दर्भ में की थी। उनका उद्देश्य नटों को ऐसी शिक्षा देना था जिससे वे रंगपीठ पर रसपूर्ण प्रस्तुति कर सकें और सुमनस् प्रेक्षक उसे देखकर हर्षादि को प्राप्त हों। परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रसंग में भी इसी रस व्यवस्था को फिट कर दिया। किन्तु नाट्य और काव्य में दो मौलिक अन्तर हैं। एक अन्तर तो अभिव्यक्ति के माध्यम का है। नाट्य में जहाँ रस-व्यंजना चतुर्विध अभिनय के माध्यम से होती है वहाँ काव्य में माध्यम केवल शब्द है। अर्थात् नाट्य में दर्शक के सामने नटों की कायिक, वाचिक आदि भंगिमाएँ होती हैं तो काव्य में पाठक के सामने केवल शब्द-भंगिमाएँ होती हैं। दूसरा अन्तर भाव-क्षेत्र का है। नाट्य की अपेक्षा काव्य का भावक्षेत्र अधिक विस्तृत है। उदाहरण के लिए प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, नीत्युपदेश, मूल्यगत चिंतन, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का निरूपण—आदि अनेक विषय काव्य में आस्वाद्य या रसनीय बनाये जा सकते हैं किन्तु

नाट्य में अभिनेय न होने के कारण, इन्हें स्थायी भाव के रूप में नहीं, मात्र संचारी के रूप में ही लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए तुलसी के 'रामचरितमानस' के पुष्पवाटिका-प्रसंग, भरत-मिलाप या राम-रावण युद्ध का अभिनय तो सफलतापूर्वक किया जा सकता है किन्तु खल-वंदना, वर्षा या शरद-वर्णन और भक्ति-ज्ञान-निरूपण आदि प्रसंगों को रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमें अभिनेयता का गुण नहीं है। अतः प्रथम, अर्थात् अभिव्यक्ति के माध्यम के अन्तर के कारण परम्परागत रस-सूत्र की काव्यशास्त्रीय व्याख्या में 'अनुभाव' का अर्थ 'शब्दभंगिमाएँ' होना चाहिए। दूसरे अन्तर अर्थात् भावक्षेत्र के विस्तार के कारण, यह मान लिया जाना चाहिए कि भरतमुनि द्वारा परिगणित आठ (या नौ रस) और उन्चास भाव काव्य की परिधि में आने वाले सम्पूर्ण अर्थ-विस्तार को नहीं समेट पाते। यही बात विभाव के सम्बन्ध में भी है। काव्य के सन्दर्भ में विभाव के अन्तर्गत सम्पूर्ण वस्तुयोजना को लेना होगा, केवल आलम्बन, उद्दीपन और आश्रय को ले लेने से काम नहीं चलेगा। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने काव्य और नाट्य के इस अन्तर को लक्षित न किया हो, यह बात नहीं। उन्होंने इसीलिए काव्य की शास्त्रीय व्याख्या का आधार शब्दार्थ के साहित्य को बनाया, विभावादि के संयोग को नहीं। कुंतक ने कहा कि वक्रकविव्यापारशाली शब्दार्थ के साहित्य द्वारा काव्य आस्वाद्य या रसनीय बनाया जा सकता है।[६]

अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' की आरंभिक वंदना में[७] उन्होंने 'सूक्ति परिस्पन्द' अर्थात् सुंदर उक्तियों के स्पन्दन, की तुलना नाट्यभवन' में होने वाले अभिनय से करके सम्भवतः इसी तथ्य की ओर इंगित किया है कि नाट्य में जो स्थान अभिनय का है, वही काव्य में सूक्ति परिस्पंद (अर्थात् शब्द-भंगिमाओं) का है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो कुंतक और भरत मुनि की स्थापनाएँ एक हैं। भरत मुनि ने नाट्य के लिए आस्वाद रूप रस की सामग्री का निर्वचन किया है तो आचार्य कुंतक नें काव्य को रसनीय बनाने वाली सामग्री का निरूपण किया है। शब्द, अर्थ एवं वक्रकविव्यापार काव्य की रस-सामग्री हैं। 'शब्द' का काव्य में वही स्थान है, जो 'अनुभाव' का नाट्य में। 'अर्थ' के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो भरत मुनि को 'विभाव' और 'भाव' से अभिप्रेत था। मुनि ने हृदयसंवादी अर्थ को और कवि के अंतर्गत भाव को भावित करने वाले को 'भाव' कहा है।[८] तात्पर्य यह कि कवि अपने हृदय-स्थित जिस अनुभूति को काव्य में संप्रेषित करना चाहता है वही भाव है और वही हृदय-संवादी अर्थ है। वस्तुविधान और पात्रयोजना तथा उसके द्वारा व्यंजित समस्त भावसंपदा कवि का संप्रेष्य है। 'वक्रकविव्यापार' के अन्तर्गत काव्य का सम्पूर्ण कलापक्ष आ जाता है। नाटक में जो स्थान 'निर्देशन' का है, वही काव्य में वक्रकविव्यापार का है। कौन सा

---

७. वक्रोक्तिजीवितम्, १/७-८

८. वही, १/१

६. ना०शा० ७/२, ७

पात्र किस प्रकार कहाँ कैसा अभिनय करे, कहाँ गीत वाद्यआतोद्य की कैसी व्यवस्था हो, रंग पीठ पर दृश्ययोजना किस प्रकार की हो, यह देखना निर्देशक का काम है, उसी प्रकार किस अर्थ के लिए कौन सा शब्द लाया जाय, उस शब्द को अभिधा, लक्षणा, व्यंजना की या अलंकारों की कौन सी भंगिमा प्रदान की जाय, मूल कथावस्तु में प्रकरणवक्रता या प्रबन्ध-वक्रता द्वारा क्या और कहाँ जोड़ा-घटाया जाय, कि वह रसावह बन सके —यह सब जानना, देखना, करना 'वक्रकविव्यापार' है। भरतमुनि ने अपने रस-सूत्र में 'निर्देशन' के तत्त्व को नहीं जोड़ा था, कुंतक ने 'वक्रकविव्यापार' को जोड़ कर रस-सामग्री के एक महत्त्वपूर्ण अंग को रेखांकित किया है। इस प्रकार के एक अर्थ (=वस्तुयोजना एवं भावसम्पदा), शब्द और वक्रकविव्यापार—काव्यरस की यह मूलभूत सामग्री हुई। आधुनिक शब्दावली में जब कवि के हृदय बीज रूप से कोई भाव उदित होता है तो वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए ऐसे वस्तुविधान की खोज करता है जिससे वही भाव सहृदय के हृदय में भी उदित हो सके। इस वस्तु-विधान को भावाभिव्यंजक बनाने के लिए वह शब्द विधान का सहारा लेता है। और फिर, उस वस्तु और शब्द को अपने वक्र कविव्यापार, द्वारा कुछ ऐसी भंगिमा प्रदान करता है, कुछ इस तरह तराशता-खरादता है कि सम्पूर्ण काव्यप्रस्तुति उसकी अनुभूति को सहृदय के लिए आस्वाद्य बना देती है। यही आस्वाद्यता रस का मूल और आर्ष रूप है जिसकी प्रतिष्ठा आद्याचार्य भरत ने 'रसः इति कः पदार्थः उच्यते आस्वाद्यात्, कह कर की थी। इस प्रकार, केवल शृङ्गारादि ही रस नहीं हैं; कवि की जो अनुभूति विभावादि के औचित्यपूर्ण संयोग द्वारा शब्दार्थ के वक्रतापूर्ण साहित्य द्वारा सहृदय केलिए आस्वाद्य बनायी जाती है, वह 'रस' और भाव, अनुभाव, विभाव या शब्द, अर्थ और वक्रकवि-व्यापार, उसकी मूलभूत सामग्री हैं।

अब एक बात और समझ ली जाय। कवि, काव्य और सहृदय—रस के ये तीन कोण हैं। नट किस प्रकार काव्यगत रस को संभव बनाते हैं, इसका विस्तृत विवेचन हो चुका।

अब सहृदय की रसानुभूति की सामग्री क्या है, इस पर भी विचार कर लिया जाय। रस-सिद्धान्त के प्राचीन अभिनवादि आचार्यों ने तो काव्यगत या नाट्यगत रस की किसी प्रकार की संभावना से इनकार कर दिया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि विभावादि के संयोग से जो भी रस-निष्पत्ति होती है, वह रंगमंच या काव्य में नहीं, सहृदय के अपने हृदय में होती है। उनके अनुसार, रंगमंच पर जिस भाव की सामग्री प्रस्तुत की जा रही होती है, सहृदय के हृदय में वासना रूप से अवस्थित वही भाव अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होता है। क्योंकि प्रस्तुत निबन्ध का विषय 'रसनिष्पत्ति' न होकर 'रस-सामग्री' है अतः हम इस विचार की अधिक समीक्षा न करके इतना ही कहना चाहेंगे कि भरतमुनि ने विभावादि रूप जिस रस-सामग्री का उल्लेख किया है, वह सहृदय में निष्पन्न होने वाले रस की नहीं अपितु रंगमंच पर अवस्थित होने वाले रस की है—यह बात नाट्य-शास्त्र के अध्ययन-मनन से भली भाँति समझी जा सकती है। तब सहृदय के हृदय में निष्पन्न होने वाले रस की सामग्री क्या है? सब से पहली बात तो यह है कि संपूर्ण नाट्य या काव्य-प्रस्तुति ही सहृदय की रसानुभूति के लिए 'विभाव' का काम करती है। दूसरे शब्दों

में काव्य/नाट्य की प्रस्तुति के प्रति सहृदय की अपनी प्रतिक्रिया ही उसका रसबोध है। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुति के प्रति सहृदय की यह प्रतिक्रिया उसके मन में होती है। भरतमुनि ने इसीलिए प्रेक्षक को 'सुमनस्' और 'ऊहापोहविशारद'[10] कहा है। परवर्ती अभिनव और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रसानुभूति को जो आत्मा का विषय बना दिया वह किसी भी भाँति उचित प्रतीत नहीं होता। लौकिक भावों की अनुभूतियाँ ही काव्य का विषय होती है और वे मन के द्वारा ही गम्य होती हैं, आत्मा द्वारा नहीं। अतः नाट्य/काव्यप्रस्तुति और सहृदय का मन ये दोनों वस्तुएँ सहृदयगत रस की मूलभूत सामग्री हुईं। सहृदय के मन के भीतर काव्य प्रस्तुति के प्रति अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। वह किसी पात्र के प्रति तदात्मक प्रतिक्रिया कर सकता है या प्रतिवेदनात्मक प्रतिक्रिया कर सकता है। राम की सीता-विषयक रति के प्रति उसकी अनुभूति तदात्मक और रावण की सीता विषयक रति के प्रति प्रतिवेदनात्मक हो सकती है। प्रथम स्थिति में उसकी अनुभूति रतिमूलक होगी, तो दूसरी स्थिति में क्रोध, जुगुप्सा या घृणामूलक। कहीं उसकी अनुभूति औत्सुक्यात्मक हो सकती है, जैसे जासूसी या घटनावैचित्र्यप्रधान उपन्यासों में; कहीं कोई विचारप्रधान रचना उसके लिए विचारोत्तेजक हो सकती है या किसी सूक्ति का उक्ति-वैचित्र्य कवि के कलात्मक चमत्कार के प्रति उसके मन में अनुशंसा का भाव उत्पन्न कर सकता है। डॉ० राकेशगुप्त ने अपनी पुस्तक 'साइकालाजिक स्टडीज इन रस' में इन स्थितियों का बड़ा तर्कसंगत निरूपण किया है और इन्हें काव्यास्वाद की निर्मायक अनुभूतियाँ (Components feelings) कहा है।[11] इनके अतिरिक्त, डॉ० गुप्त ने सहृदयगत रसानुभूति के कुछ निर्धारक तत्त्व भी माने हैं जिनमें काव्य यदि पाठ्य है तो पुस्तक की साज-सज्जा और श्रव्य है तो सुनाने वाले का स्वरलालित्य; काव्य-रचना या काव्यपाठ के श्रवण या पठन-पाठन का परिवेश तथा आस्वादक सहृदय की अपनी मनःस्थिति प्रमुख हैं।[12] तात्पर्य यह कि सहृदयगत रस की सामग्री के अन्तर्गत आस्वाद्य कृति, रचना या नाट्य-प्रस्तुति, सहृदय का अपना मन और उसके मन की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ तथा उसकी अपनी मानसिक स्थिति और आस्वादन-काल परिवेश ये सब बातें आती हैं।

---

१०. नाट्यशास्त्र २७/५१

११. साइकॉलॉजिकल स्टडीज इन रस अध्याय

१२. वही, अध्याय ४

रस-निष्पत्ति

—डॉ० नीरजा टण्डन
रीडर, हिन्दी विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

रस का विवेचन रस-निष्पत्ति से ही प्रारम्भ होता है। आचार्य भरतमुनि ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'नाट्यशास्त्र' में रस को नाट्य के अन्तर्गत प्राथमिकता देते हुए स्पष्ट उद्घोषणा की कि यद्यपि किसी भी ज्ञान का सम्पूर्ण विवेचन असम्भव है।[1] तथापि रस के अभाव में नाट्यांग बुद्धिग्राह्य होना सम्भव न होने के कारण सर्वप्रथम उसकी व्याख्या अपेक्षित है।[2] इस रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से होती है—

"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"।[3]

आचार्य भरतमुनि के इस प्रसिद्ध रससूत्र में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव सामग्रीपरक तत्त्व हैं तथा संयोग और 'निष्पत्ति' प्रक्रियापरक। रस के उपकरणों (विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव) का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस निष्पन्न हो जाता है। सूत्र में यद्यपि 'स्थायी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है; किन्तु अनेकत्र स्थायी का उल्लेख करते हुए आचार्य ने उसकी महत्ता और अनिवार्यता सिद्ध कर दी है; जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य का आशय है कि विभावादि का स्थायी से संयोग होता है।

आचार्य के रससूत्र की उनके परवर्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की गई है। इन व्याख्याओं को समझने के लिए सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि के रस विषयक विवेचन पर दृक्पात करना समीचीन प्रतीत होता है।

आचार्य के अनुसार रंगमंच पर रस की निर्मिति पाकशाला में निर्मित भोजन के समान होती है। विविध व्यंजनों, औषधियों, द्रव्यों के संयोग से जैसे रस निष्पत्ति होती है। जैसे

---

१. न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन।
कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः॥
एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि।
गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः॥—नाट्यशास्त्र, ६/६-७

२. तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते॥
—वही, ६/३१ वीं कारिका का परवर्ती गद्यभाग, पृ० २७३

३. वही, वही, पृ० २७४

गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों के संयोग से षाडवादि रस निर्वतित होते हैं ; वैसे ही नाना भावों से उपगत होते हुए भी स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।[४]

यहाँ आचार्य नाट्यरस और भोज्यरस को समकक्ष रखकर अपनी इस बात की पुष्टि करते हैं कि विविध अवयवों का संयोग या संयोजन ही रस निष्पत्ति का आधार है, चाहे वह व्यंजनों और औषधियों से निर्मित भोज्यरस हो अथवा अनेक अभिनयों और भावों से व्यंजित नाट्यरस। इस संयोग से कोई मौलिक सर्जन नहीं होता, अपितु कतिपय उपकरण नवीन रूप धारण कर लेते हैं।

रसत्व को प्राप्त स्थायी भाव का आस्वादन सुन्दर मन वाला प्रेक्षक उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार अनेक व्यंजनों से परिष्कृत अन्न का भोजन करते हुए सुन्दर मन वाला पुरुष रस का आस्वादन करता है और हर्षादि को प्राप्त होता है।[५]

ध्यातव्य है कि आचार्य की दृष्टि में यहाँ संयोग का अर्थ है—सामान्य-गुण-योग[६] और सामान्य गुण-योग का अर्थ है समान लक्षणों का सम्मिश्रण। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सामान्य गुण-योग से रस निष्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान मुनि की 'योऽर्थो हृदय संवादी[७] कारिका से हो जाता है। जिस प्रकार सूखी लकड़ी में अग्नि त्वरा से व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार जो अर्थ हृदय को अभिभूत करने वाले होते हैं, उनके भाव रस प्रतीति में कारण होते हैं। यहाँ सभी भावों का समान गुण है उनका हृदय संवादी होना।

सभी भावों के लक्षण समान होने पर भी स्थायी भाव ही रसत्व को कैसे प्राप्त हो जाता है ? इस विषय में आचार्य का मन्तव्य है कि—"जैसे समान अंग, प्रत्यंग वाले कुल, शील आदि के कारण राजा बन जाते हैं और शेष उनके अनुचर ; उसी प्रकार सभी भावों में से एक भाव स्थायी कहलाता है और अन्य विभाव, अनुभाव, संचारी भाव उसके सहयोगी बन जाते हैं।[८] इन विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से स्थायी भाव रस की

---

४. यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस निष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।—ना०शा० ६/ पृ० ३१४-३१५

५. यथा हि नानाव्यंजनं संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनय व्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः —वही ६/ पृ० ३१५-३१६

६. एभ्यश्च सामान्य गुणयोगेन रसा निष्पन्ते।—वही, पृ० ४१३

७. योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना॥—वही ७/७

८. यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रस नाम लभते। भवति चात्र श्लोकः—
'यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥—वही ७/ पृ० ३५१-५२

स्थिति को प्राप्त कर लेता है। रस की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक भावों, रसों, प्रवृत्तियों तथा वृत्तियों का संयोजन आवश्यक है।[९] इनमें से जिस एक का प्रस्तुतीकरण होता है, वह रस का स्थायी भाव मानना चाहिए और शेष को संचारी। स्थायी की प्रधानता होने के कारण सुमनस् प्रेक्षक स्थायी का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

आचार्य के मत का सार यह है कि "जिस प्रकार बीज की परिणति वृक्ष हैं और वृक्ष की परिणति पुष्प तथा फल, वैसे ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयुक्त स्थायी भाव की परिणति है रस।"[१०] इस आधार पर भरतमुनि की दृष्टि से उनके मत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—शकुन्तला, दुष्यन्तादि रूप आलम्बन विभाव, उद्यानादि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि रूप अनुभाव तथा हर्ष, श्रम, धृति, जड़ता, व्रीडा आदि रूप व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस रस का आस्वादन सुमनस् प्रेक्षक करता है और हर्षादि को प्राप्त होता है।

आचार्य भरतमुनि द्वारा वर्णित रस विषयक यह विवेचन अत्यंत व्यावहारिक एवं ग्राह्य है; इसमें तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र, या दर्शनशास्त्र को कोई स्थान नहीं दिया गया है; किन्तु भरतमुनि के परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने रस प्रक्रिया विवेचन के अवसर पर कार्य-कारण, ज्ञान-परिणामादि की संगति स्थापित करते हुए न्याय-दर्शन इत्यादि की पीठिका पर रससूत्र की व्याख्या की है, जिसके कारण यह विषय जटिल हो गया है।

इन व्याख्याओं की चर्चा करने से पहले यह ध्यातव्य है कि "विभावानुभावसंचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" सूत्र में वर्णित रस-सामग्री परवर्ती काव्यशास्त्रियों के विवाद का विषय नहीं थी। प्रायः सभी आचार्य यह बात स्वीकार करते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारि-भाव का स्थायी से संयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। किन्तु, रस के साथ विभावानु-भावसंचारी का सम्बन्ध किस प्रकार का है और इनके संयोग से रस किस प्रकार निष्पन्न होता है—ये प्रश्न काव्यशास्त्रियों की विचिकित्सा का विषय बने और रससूत्र में प्रयुक्त "संयोग" तथा "निष्पत्ति" शब्दों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। इन व्याख्याओं में मुख्यतः उपलब्ध चार व्याख्याएँ हैं—१. उत्पत्ति, २. अनुमिति, ३. उपभुक्ति तथा ४. अभिव्यक्ति। रससूत्र के व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मत को उत्पत्तिवाद, आचार्य शंकुक के मत को अनुमितिवाद, भट्टनायक के मत को भुक्तिवाद तथा आचार्य अभिनवगुप्त के मत को अभिव्यक्तिवाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

यह खेद का विषय है कि आचार्य भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों में से अधिकांश आचार्यों के मत आज अनुपलब्ध हैं। जो उपलब्ध हैं भी, वे अपने मूल रूप में नहीं। इतर

---

९. न ह्येकरसजं काव्यं नैकभावैकवृत्तिकम्।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः।
भावावाऽपि रसावाऽपि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा।—वही ७/ पृ० १२५-२६

१०. यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥—वही, ६/३९

ग्रन्थों में उद्धृत बिखरे हुए मतों का निर्दुष्ट विवेचन असम्भव और अशक्य है लेकिन अन्य कोई उपाय न होने के कारण उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही इन मतों को प्रस्तुत करना होगा। आचार्य अभिनवगुप्तकृत "ध्वन्यालोकलोचन", अभिनवभारती तथा आचार्य मम्मट-कृत "काव्यप्रकाश" में भट्टलोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक द्वारा की गई स्थापनाओं का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन आचार्यों के अतिरिक्त रससूत्र के व्याख्याता सांख्यवादियों की भी चर्चा की है। अब हम रस निष्पत्ति विषयक इन व्याख्याओं को क्रमशः प्रस्तुत करते हैं—

भट्टलोल्लट और उनका रसोत्पत्तिवाद—

भट्टलोल्लट कृत रस-विवेचन रस-प्रक्रिया की प्रथम सीढ़ी और भरतमुनि के रस-निष्पत्ति सूत्र के सर्वाधिक सन्निकट प्रतीत होता है। मीमांसा दर्शन को मानने वाले भट्ट लोल्लट के मतानुसार—"स्थायीभाव और विभावादि में कार्य-कारण सम्बन्ध से रस निष्पत्ति होती है। ललना आदि आलम्बन विभाव और उद्यानादि उद्दीपन विभाव स्थायि-भावरूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं; कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभाव रूप कार्य उत्पन्न चित्तवृत्ति को प्रतीति के योग्य बनाते हैं और निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रूपी सहकारीकारण स्थायी भाव को पुष्ट (उपचित) करके रस के रूप में परिणत कर देते हैं। यह रस मुख्य रूप से रामादि अनुकार्य में रहता है किन्तु नर्तक (अभिनेता) में भी तद्रूपता (रामादिरूपता) के कारण प्रतीत होता है।

कार्य-कारण सम्बन्ध में "कार्य" से तात्पर्य फल से होता है। इस दृष्टि से 'अनुभाव' को कार्य कहने से अनुपपत्ति होती है। क्योंकि अनुभाव अन्तिम परिणति नहीं है, विभावादि की उत्पत्ति की प्रक्रिया में अन्तिम परिणति तो रस है; इसलिए लोल्लट ने कटाक्षादि अनु-भावों को रस का कारण तथा विभावादि का कार्य मानकर इस अनुपपत्ति का निराकरण कर दिया है। इस प्रकार विभावादि से उत्पन्न, अनुभावादि से प्रतीतियोग्य बनाया गया और व्यभिचारी से उपचित स्थायी भाव ही रस हो जाता है। अनुपचित स्थायी रस नहीं हो सकता। यहाँ एक अनुपपत्ति और उत्पन्न होती है कि स्थायी भाव भी एक चित्तवृत्ति है और व्यभिचारी भाव भी। व्यभिचारी भावों के भी चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' नियम के अनुसार रतिरूप (स्थायी) और निर्वेदादि (व्यभिचारी) रूप दो चित्तवृत्तियाँ एक साथ नहीं रह सकतीं। इस विषय में भट्ट लोल्लट का मत है कि यहाँ स्थायीभाव के संस्कार रूप से विवक्षित होने के कारण इनकी उपस्थिति बाधक नहीं है; अतः इस अनुपपत्ति का भी निराकरण हो जाता है।[११]

---

११. (क) तथाहि पूर्वावस्थानां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषो-ऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्।

—ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० ४७

(ख) विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावाश्चित्त-वृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः,

क्रमशः

आचार्य लोल्लट के मत का सारांश यह निकलता है कि "विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस की उत्पत्ति होती है। स्थायी और रस में अन्तर नहीं है। अनुपचित अवस्था में जो स्थायी हैं; उपचित होने पर वे ही रस हैं। संयोग का अर्थ है सम्बन्ध। यह सम्बन्ध विभाव और स्थायी भाव में उत्पाद्य-उत्पादक रूप, स्थायी और अनुभाव में गम्य-गमक (प्रकाश्य-प्रकाशक) रूप और स्थायी और व्यभिचारी भाव में पोष्य-पोषक रूप है। जैसे यज्ञयागादि के निष्पादन से अपूर्व फल (पुण्य) की प्राप्ति होती है और यज्ञ करने वाले को उसकी सुखात्मक अनुभूति होती है; वैसे ही नाट्य रूप यज्ञ में विभावादिकारणों से रस रूप फल की उत्पत्ति होती है जिसका आस्वादन सामाजिक करता है। यह रस वस्तुतः तो रामादि अनुकार्यों में उत्पन्न होता है परन्तु नट में भी उसका आरोप कर लिया जाता है। जैसे सीपी में रजत न होने पर भी दर्शकों के मन में रजत की भ्रान्ति होती है; वैसे ही अनुकार्यगत रस की अवस्थिति अभिनेता में न होने पर भी सामाजिक को उसकी तद्रूपता के कारण भ्रान्ति होती है। जैसे रज्जु को सर्प समझ कर दर्शक उसमें सर्प का आरोप कर लेता है; वैसे ही अनुकर्ता अभिनेता को रामादि अनुकार्य समझकर उसमें अनुकार्य का आरोप सहृदय समझ लेता है।

विभाव और स्थायिभाव में उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध से रसोत्पत्ति मानने के कारण इस मत को उत्पत्तिवाद; स्थायी का उपचित रूप रस मानने के कारण उपचयवाद तथा सामाजिक द्वारा नट में रस की अवस्थिति आरोपित करने के कारण आरोपवाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

समीक्षा—

भट्टलोल्लट के रस-विवेचन में उनके परवर्तियों को अनेक आपत्तियों के दर्शन हुए। अभिनवभारती में आचार्य शंकुक द्वारा लोल्लट के विरुद्ध दिये गए आठ हेतुओं को उद्धृत किया गया है—

१. शंकुक की सबसे मुख्य आपत्ति यह है कि लोल्लट स्थायी भाव को ही रस मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'स्थायी उपचित होकर रस बनता है' यह बात अनुपयुक्त है।

तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणिभिश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात्। यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः।

दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि अपि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।—अभिनवभारती ६/ पृ० ४४२-४४३

(ग) एतद्विवृण्वते—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेप प्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभि रूपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।—काव्यप्रकाश ४/२८ का गद्यभाग

लिंग के अभाव में लिंगी का ज्ञान सम्भव नहीं है। जैसे बिना धुएँ के अग्नि का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, वैसे ही स्थायी के ज्ञान के लिए कारणभूत विभावादि लिंगों के बिना स्थायी का ज्ञान सम्भव नहीं है। रति आदि स्थायीभाव का साक्षात्कारात्मक ज्ञान तो विभावादि का संयोग होने पर ही होता हैं; विभावादि के योग के अभाव में स्थायी भाव अनुपचित अवस्था में विद्यमान रहता है, ऐसी स्थिति में स्थायी भाव के अनुमापक हेतु के न होने से स्थायी की प्रतीति असम्भव है।

२. यदि विभावादि के बिना स्थायी की स्थिति मान भी ली जाय तो विभावादि से पहले स्थायी के वाच्य होने का प्रसंग उठता है जो सिद्धान्ततः अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

३. विभावादि के प्रयोग के पहले रस की स्थिति मान लेने पर तो भरतमुनि का प्रसिद्ध रस सूत्र ही व्यर्थ हो जाएगा।

४. रस अखण्ड और पूर्ण है लेकिन स्थायीभावों को ही रस स्वीकार कर लेने पर रस की पूर्णता और अखण्डता पर आघात पड़ेगा और उपचय के तारतम्य के अनुसार रस के उत्तम, मध्यम, अधम जैसे भेद मानने पड़ेंगे।

५. भरतमुनि ने हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित आदि छः भेद दिखाए है। ये भेद स्थायी भाव की मात्रा के तारतम्य से किये गए हैं। स्थायी मात्राकृत रहित मानने की दशा में हास्यरूप रस एक ही प्रकार का सिद्ध होगा।

६. स्थायी और रस के इस अभेद के कारण स्थायी के तारतम्य रस में उपस्थित होने से काम की दस अवस्थाओं के मात्रादि भेद से रस के अनेक अनुचित भेद उत्पन्न हो जाएंगे।

७. स्थायी भाव के उपचय को स्वीकारने पर एक अनुपपत्ति यह उत्पन्न हो जाती है कि शोकादि भावों की—जो आरम्भ में तीव्र और फिर कालक्रम से मन्द होते जाते हैं—उपचितावस्था कैसे स्वीकारी जा सकती है ? जबकि शोक का मन्दतम रूप भी रस-परिणति में सहायक होता है। सिद्ध है कि स्थायी की उपचिति को ही रस मानना अनुपयुक्त है।

८. उपचित स्थायी को रस मानने पर एक और अड़चन दृष्टिगत होती है—क्रोध, उत्साह तथा रति आदि भावों में अमर्ष, स्थैर्य, सेवा आदि परिपोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखाई देने से स्पष्ट है कि इन भावों में उपचय नहीं अपचय होता है, और यह अपचय रसदोष नहीं हो सकता; अतः यह कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि उपचित स्थायी ही रस है।[१२]

---

१२. १. विभावाद्योगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्तेः, २. भावानां पूर्वमभिधेयतां प्रसंगात्, ३. स्थितिदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, ४. मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्या पत्तेः, ५. हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, ६. कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादि प्रसंगात्, ७. शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्यदर्शनं, ८. क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्यसेवा विपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।—अभिनवभारती, ६/पृ० ४४५

शंकुक कृत इन आक्षेपों का पिण्डितार्थ यह निकलता है कि वे लोल्लट के मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए नैयायिक दृष्टि से अपना मत प्रस्तुत करते हैं। लोल्लट का स्थायी को ही रस कहना उन्हे मान्य नहीं है। किन्तु रस विवेचन पर दृक्पात करने से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत द्वारा यह माना गया है कि स्थायी भाव ही रस में परिगत होत है।[13] और यही बात परवर्ती आचार्यो ने भी स्वीकारी है।[14] अतःशंकुक कृत यह आक्षेप कि स्थायी ही रस है यह नहीं माना जा सकता-बहुत अधिक सार नहीं रखता। इसके अतिरिक्त शंकुक ने उपचित के विरुद्ध जो आक्षेप किए हैं, उनके सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त है कि केवल उपचिति ही रस निष्पत्ति नहीं करती, अपितु उसके लिए कुछ और भी अपेक्षित होता है। यदि स्थायी भाव केवल उपचिति से रस-रूप में परिणत हो जाता तो लौकिक जीवन में शोकादि भी रस में परिणत हो जाते, जबकि ऐसा नहीं है। अतः शंकुक कृत इस आक्षेप को स्वीकार किया जा सकता है।

शंकुक के अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी लोल्लट के मत को कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार अनुपयुक्त ठहराते हुए उनके उत्पत्तिवाद, अनुकार्य में रस की स्थिति तथा आरोपवाद का खण्डन किया है। "ध्वन्यालोकलोचन" में भी लोल्लट के मत के प्रति कुछ आपत्तियां उपस्थित की गई है।

१. चित्तवृत्तियों के प्रवाहधर्मी होने के कारण एक चित्तवृत्ति से दूसरी चित्तवृत्ति का परिपोष कैसे हो सकता है? अतः लोल्लट के मत में "रस की उपचिति रामादि में तथा तदारोप से नट में होती है" स्वीकार्य नहीं है।

२. विस्मय, शोक, क्रोध आदि भाव क्रमशः परिपुष्ट ही नहीं होते, उनका अपचय भी होता रहता है अतः रस को अनुकार्यगत नहीं माना जा सकता है।

३. रस को अनुकर्तागत भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि रसान्वित होने के कारण उसको नाटक में प्रयुक्त लय, ताल आदि की कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।

४. सबसे मुख्य बात तो यह है कि सामाजिक में भी सिद्ध रूप में रस विद्यमान रहता है, यह नहीं कहा जा सकता है। सामाजिक की चित्तवृत्ति में भी रस पहले विद्यमान होने पर शोक के अवसर पर उसे शोक की ही अनुभूति होगी, आनन्द की नहीं। अतः लोल्लट का मत समीचीन नहीं है।[15]

इन आपत्तियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि लोल्लट अनुकार्य के विषय में मूलपात्र और कविनिवद्ध पात्र का भेद स्पष्ट कर देते तो इन आपत्तियों का निराकरण

---

१३. नानभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।— नाट्यशास्त्र, पृ. ९३

१४. रसतासेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।— साहित्यदर्पण, ३/१

१५. प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्यन्तरेण कः परिपोषार्थः?
विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्त्तरि च तद्भावे लयाद्यनुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः।
—ध्वन्यालोकलोचन, २, पृ० ४७

स्वतः हो जाता। कविनिबद्ध पात्र में मूल रस की स्थिति मानने पर तद्रूपता के अनुसन्धान से नट में रस की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। "नट भी मात्र अनुकर्त्ता नहीं है, अनुकार्य या मूलपात्र का व्याख्याता भी है। वह पात्र का अपना भाष्य करता है। अतः पात्र उसके अभिनय द्वारा अवतार नहीं बनता बल्कि अनेक सम्भवस्वरूपों में से एक सम्भवरूप होता है। पात्र की तद्रूपता का अनुसन्धान होने का मतलब ही यही है।[16] लोल्लट ने भी स्पष्ट उद्घोषणा की है कि "नट में रस की स्थिति केवल अनुसन्धानबल से ही नहीं वासनावश्यादि और लयादि के अनुसरण द्वारा भी होती है।[17]

रस का सामाजिक के लिए क्या उपयोग है और उसकी अनुभूति का माध्यम क्या है? यह विवेचन न करना भट्टलोल्लट का सबसे बड़ा दोष है। व्यवहारतः मूल रस की स्थिति रसास्वादन के अवसर पर सहृदय में स्वीकार करना अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि रस-निष्पत्ति का सम्बन्ध रसास्वादन से ही है और रसास्वादन करने वाला है सहृदय। मूल पात्र अपने जीवन में घटने वाली घटनाओं से रस ही नहीं पाता, विषाद भी पाता है और निराशा भी। लेकिन सहृदय नाटक देखते हुए या काव्य पढ़ते हुए रसानुभव करता है। क्योंकि नाट्यगत घटनायें उससे सम्बद्ध नहीं हैं और केवल सुख या दुःख की स्थिति भी उसमें नहीं हैं बल्कि उन सभी अनुभूतियों का पानक रस के समान मिश्रित रूप हैं। हाँ मूलपात्र या नट या कवि में भी रस का अभाव नहीं हो सकता। कवि तो सहृदय ही है; मूलपात्र घटनाओं का आधार है और नट उसका प्रतिरूप।

सारतः यह कहा जा सकता है कि भट्ट लोल्लट का योगदान रस सिद्धान्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। उनके मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका मत भरतमुनि के मत के सर्वाधिक सन्निकट हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि लोल्लट ने रस निर्वचन के अवसर पर सामाजिक की भूमिका को स्पष्ट नहीं किया हैं किन्तु रस क्षेत्र में सामाजिक के स्थान की चर्चा यहीं से आरम्भ होती हैं। यह ठीक है कि स्थायी ही रस नहीं है, किन्तु रस में परिणति तो उसी की होती है। इस दृष्टि से लोल्लट के मत की महत्ता स्पष्ट हो जाती हैं।

आचार्य शङ्कुक और उनका अनुमितिवाद—

आचार्य शंकुक का मत अनुमितिवाद नाम से विख्यात है। उनके अनुसार-स्थायीभाव और विभावादि में अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध (गम्यगमक भाव) से रस की अनुमिति होती है। नट शिक्षा, अभ्यास और अनुभव द्वारा विभावादि का अनुकरण करता है। वह जब रंग मंच पर मूलपात्र की वेषभूषा में आता है और यह दर्शाता हैं कि मैं ही मूलपात्र हूँ तो दर्शकों को यह प्रतीति होने लगती है कि नट ही मूलपात्र हैं। लेकिन यह प्रतीति लौकिक प्रतीतियों से सर्वथा भिन्न होती है। लौकिक प्रतीतियाँ चार प्रकार की है—सम्यक्, सादृश्य, मिथ्या

---

१६. मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध; डॉ० असेश कुन्तल मेघ, पृ० ९५

१७. रस भावानामपि वासनावशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात्।

—अभिनवभारती ६, पृ० ४१८

और संशय। नट के मूलपात्र के रूप में आने पर दर्शकों को 'यह राम है"— यह सम्यक् प्रतीति नहीं हो सकती। सम्यक् प्रतीति वही होती है जहाँ मूलपात्र (रामादि) स्वयं उपस्थित हो। यहाँ "यह राम के समान है" यह सादृश्य प्रतीति नहीं हो सकती। सादृश्य प्रतीति वहाँ होती है जहाँ समान गुण वाली वस्तुओं में सादृश्य अनुभव हो। "यह राम है" यह मिथ्या प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि इस प्रतीति में मिथ्या प्रतीतियों के सदृश उत्तरकालिक बाध नहीं होता। इसे हम यह राम है या नहीं इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं कह सकते क्योंकि हमें संशय का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार यहाँ चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण प्रतीति होती है और इसका कारण यह है कि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आश्रित होती है जबकि यह अनुमिति परोक्षात्मक है। जैसे चित्र में बने हुए घोड़े से वास्तविक घोड़े का अनुमान लगाया जाता है, अथवा दूर से उड़ती हुई धूल को धुआँ समझकर अग्नि का अनुमान लगाता जाता है, वैसे ही जब नट यह प्रकट करता है कि विभावादि उनके ही हैं तो दर्शक नट में मूलपात्र का अनुमान कर लेता है। सन्देह, यथार्थ और भ्रान्ति से मिश्रित प्रतीति यहाँ होती है जिसमें यह नट राम है या वह नट राम नहीं है इस प्रकार की विरोधात्मक प्रतीतियों का संयुक्त रूप विलक्षणता को जन्म देता है और विलक्षणता से आनन्दमयता की प्रतीति होती है। अनुमित रति आदि भाव नट में न होने पर भी उसमें प्रतीत होता है और सामाजिकों की वासना द्वारा आस्वाद्यमान होकर रस कहलाता है।

भट्ट लोल्लट की दृष्टि में स्थायी भाव की उत्पत्ति मुख्यतः अनुकार्य में होती है; किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि नट का अनुकार्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो होता नहीं है फिर उसमें स्थायी का आरोप कैसे किया जा सकता है? शंकुक ने इस शंका का समाधान मूलपात्र को कवि कल्पित मानकर कर दिया है। उनका मानना है कि नट कविवर्णित कारण रूप विभावादि का अनुकरण करता है। कार्यरूप अनुभावों का अनुकरण वह शिक्षा या अभ्यास के बल पर करता है और सहकारी कारण रूप व्यभिचारी भावों का अनुकरण अपने अनुभावों के अर्जन द्वारा करता है। अर्थात् कवि निर्दिष्ट वेशभूषा धारण करके; रिहर्सल आदि के द्वारा अभिनय की शिक्षा पाकर और लोक में प्रयुक्त हर्ष-चिन्ता आदि के बल पर अपने अन्दर नाट्य में प्रस्तुत भावों की कल्पना करके मूल पात्र का अनुकरण करता है। किन्तु नट स्थायी का अनुकरण किसी भी रूप में नहीं कर सकता इसीलिए भरत ने स्थायी का रससूत्र में प्रयोग नहीं किया है। यहाँ प्रस्तुत विभावादि प्रयत्नज होने के कारण कृत्रिम होते हैं किन्तु कृत्रिम प्रतीत नहीं होते। इन्हीं विभावादियों से, लिंग की सामर्थ्य से अनुकर्ता में स्थित रूप से प्रतीत होने वाले और रामादि में मुख्यतः रहने वाले स्थायी का अनुकरण रूप ही रस होता है। आशय है कि कृत्रिम विभावादि हेतुओं में अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध से अनुकरणात्मक स्थायी की रस में अनुमिति होती है। केवल विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव रूप लिंगों से पूर्वतः स्थित स्थायी—जो काव्यबल से भी प्रतीत नहीं होता—नटगत रूप में अनुमित होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्योंकि अनुक्रियमाण रत्यादि वास्तविक रत्यादिरूप नहीं हैं अतः अनुक्रियमाण रत्यादि के मिथ्याज्ञान से कैसे उत्पन्न हो सकता है ? इस विषय में शंकुक का कहना है कि प्रायः मिथ्याज्ञान या भ्रान्ति से यथार्थ वस्तु के सदृश अर्थक्रिया अर्थात् फल प्राप्ति होती है। अन्धकार में रज्जु में सर्पभ्रान्ति हो जाने पर उससे भय आदि की अनुभूति के समान अनुकरणात्मक रत्यादि की प्रतीति से भी वास्तविक रत्यादि के समान रसास्वाद होता है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं।[१८]

शंकुक के मत का सारांश यह कि विभावानुभावसंचारिभाव का स्थायी भाव से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध होने पर रस की अनुमिति हो जाती है। जिस स्थायी के उपचित रूप को लोल्लट एवं उनके परवर्ती दण्डी आदि "रस" मानते थे, उसी स्थायी के अनुक्रियमाण और अनुमित रूप को शंकुक ने रस का अधिकारी मानकर उपचिति का खण्डन किया। भट्टलोल्लट के सदृश शंकुक ने स्थायी भाव की विभावादि से स्वतन्त्र सत्ता नहीं

---

१८. (क) तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्त्तस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिम निजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। "रति शोकः" इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमधेयी कुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। × × ×
× × × अतएव स्थायिपदं सूत्रे भिन्न विभक्ति कमपि नोक्तम्। तेन "रतिरनुक्रियमाणा शृंगारः" इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्। अर्थक्रियादि मिथ्याज्ञानादृष्ट—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

(ख) अन्ये तु—अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीततयास्वापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद् रना नाट्यरसाः।

—ध्वन्यालोकलोचन २/पृ० ५०

(ग) राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ् मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्य नटे—× × ×

काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमक भावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शंकुकः।

—काव्यप्रकाश ४/२८वीं कारिका का परवर्ती गद्यभाग, पृ० १०२-१०३

स्वीकारी और मूलतः स्थायी की स्वतन्त्र सत्ता विभावादि से पृथक् नहीं है—यह सिद्ध करके रस की अनुमिति की विलक्षणता के आधार पर उसे आनन्दप्रदाता माना।

समीक्षा

भट्टलोल्लट ने कवि कल्पित पात्र और वास्तविक पात्र में भिन्नता स्थापित नहीं की और प्रत्यक्षानुभूति और नाट्यानुभूति के वैभिन्न्य को स्पष्ट नहीं किया। परिणामतः रस की मूलोत्पत्ति के सन्दर्भ में स्पष्ट उद्घोषणा नहीं हो सकी और यही उनके मत का दोष बन गया। शंकुक ने मूलपात्र एवं नट के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करके विभावादि को अनुकार्य से न जोड़कर नट से जोड़ा। उन्होंने इसीलिए विभावादि को कृत्रिम और अनुकरणात्मक माना। सामाजिक द्वारा नट के माध्यम से अनुक्रियमाण स्थायी भाव को अनुमित बताकर तथा प्रेक्षक को अपनी व्याख्या में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी शंकुक ने सिद्ध किया। सहृदय की दृष्टि से नाट्य के अवसर पर सामान्य प्रतीति से विलक्षण कला प्रतीति का चित्रण शंकुक के सूक्ष्म चिन्तन का परिचय देता है। शंकुक के मत की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने लोल्लट की अपेक्षा रसबोध की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया है। रसानुभूति को अनुमिति का विषय मानकर उसे सम्यक्, सादृश्य, मिथ्या और संशयात्मक ज्ञान से विलक्षण माना तथा अनुकृति और अनुमिति—इन दो मौलिक व्यापारों की चर्चा की।

लेकिन शंकुक के रसविवेचन में केवल पूर्वोक्त विशेषताएँ ही दृष्टिगोचर नहीं होतीं, सीमाएँ भी दृष्टिपथ में आती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के नाम से शंकुक की विवेचना में जो दोष दिखाए हैं, उनके आधार पर स्पष्ट है कि भट्टतौत की सबसे बड़ी अनुपपत्ति शंकुक के अनुकृतिवाद पर है। उनका कहना है कि प्रेक्षक, नट, वस्तुवृत्त, भरत किसी भी दृष्टि से स्थायी भाव का अनुकरण सिद्ध नहीं होता है।[१९]

पात्र, नट तथा प्रेक्षक की समसामयिकता की दुर्निवार स्थिति पर आक्षेप करते हुए भट्टतौत ने कहा कि चूँकि नट और प्रेक्षक दोनों ने ही मूलपात्र को नहीं देखा है—जबकि अनुकरण की प्रतीति के लिए (मुख्य) अनुकार्य और (अमुख्य) अनुकर्त्ता की क्रियाओं का ज्ञान अपेक्षित है—तो अनुकरण के लिए अनिवार्य प्रमाण के अभाव में प्रेक्षक यह परिकल्पना नहीं कर सकता कि नट रामादि मूलपात्र का अनुकरण कर रहा है। नट के शरीर, भाषण, चेष्टा आदि के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विभावादि का तो अनुकरण प्रेक्षक कर भी सकता है किन्तु मन द्वारा गृहीत होने वाले चित्तवृत्तिरूप स्थायी का अनुकरण नहीं कर सकता अतः शंकुक का अनुकृतिवाद असिद्ध हो जाता है।

लौकिक जीवन में वास्तविक रत्यादि की प्रतीति के आधार पर यदि कहा जाय कि उसी प्रकार की नटगत प्रतीति भी होती है तो अनुचित है क्योंकि नट को कृत्रिम मानने पर सामाजिक को कृत्रिम साधनों से केवल मिथ्या या भ्रान्त प्रतीति होगी, वास्तविक नहीं; और

---

१९. तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथाहि-अनुकरणरूपो रसः इति यदुच्यते तत्किं १. सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत। २. नटाभिप्रायेण। ३. किं वा वस्तुवृत्तविवेचक व्याख्यातृबुद्धिसममदलम्बेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति इति, ४. अथ भरतमुनिपक्षानुसारेण।

—अभिनवभारती/पृ० ४५१

नट को वास्तविक मानने पर वास्तविक रति की ही प्रतीति होगी, अनुकृत रति की नहीं। जबकि सामाजिक में रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कार का कारण होता है अनुमिति नहीं। जैसे धूम से अग्न्याभास होता है किन्तु धूम के सदृश दृष्टिगत होने वाले कोहरे से जपापुष्प की प्रतीति नहीं हो सकती; इसी प्रकार कृत्रिम विभावादि से कृत्रिम रत्यादि या रत्यादि के अनुकरण की प्रतीति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि नट क्रुद्ध न होने पर भी अभिनय के अवसर पर भृकुटी आदि के सादृश्य के कारण क्रुद्ध सा दिखाई देता है, इसलिए रत्यादि के अनुकरण या अनुक्रियमाण रत्यदि को रस मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है—तो भी इस सादृश्य के आधार पर कोई अनुकरणात्मकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि ऐसी स्थिति में सामाजिक को भावावेश रहित प्रतीति होगी—जबकि सामाजिक को नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं होती। अतः सामाजिक की दृष्टि से अनुकरण सिद्धान्त व्यर्थ है।

नट की दृष्टि से भी अनुकरण सिद्धान्त निरर्थक है। नट को इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है कि "मैं राम का या राम की चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ" और इसका कारण यह है कि नट ने रामादि अनुकार्य को नहीं देखा है। यदि यह माना जाय कि नट किसी विशेष का अनुकरण नहीं करता अपितु उत्तमप्रकृति से शोकादि भावों का ही अनुकरण करता है तो प्रश्न यह उठता है कि नट किस साधन से शोकादि भावों का अनुकरण करता है ? शोक से तो शोक का अनुकरण नहीं हो सकता क्योंकि शोक का भाव नट के अन्दर नहीं है। और यदि यह कहा जाय कि अश्रुपातादि से शोक का अनुकरण करता है तो अश्रुपातादि बाह्य तत्त्वों से मानस चित्तवृत्त्यात्मक शोक का अनुकरण नहीं हो सकता। नट अपनी शिक्षा, अभ्यास और अनुभव के आधार पर विभावों के अनुकरण द्वारा तदनुरूप अनुभावों को प्रकाशित करता हुआ काव्य को उचित कण्ठध्वनि से उच्चरित करता हुआ स्थायी का अनुकरण करता है, यह कहना भी अनुचित है। अतः नट की दृष्टि से यह सिद्धान्त खरा नहीं उतरता।

वस्तुवृत्त विवेचन की दृष्टि से भी स्थायीभावों का अनुकरण सम्भव नहीं है। नाटक में पूर्वघटित घटना की संवेदना ही जगाई जाती है, अतः उसका यथातथ्य विवेचन सम्भव नहीं है। वस्तुवृत्त का सही विवेचन वही कर सकता है जिसने घटनाओं को प्रत्यक्ष देखा हो। बाद में प्रतीत होने वाले को वस्तुवृत्त नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः तथ्य को जानने वाला ही उसका अनुकरण कर सकता है अतः वस्तुवृत्त की दृष्टि से यह सिद्धान्त निरर्थक है।

साथ ही भरतमुनि की दृष्टि से भी अनुकरण सिद्धान्त समुपयुक्त नहीं है क्योंकि भरत ने नाट्यशास्त्र में ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिससे इस मत की सिद्धि हो सके[२०] अतः रत्यादि स्थायिभावों का अनुकरण रस है—यह कहना असंगत है।

आचार्य भट्टतौत ने शंकुक का परीक्षण करके निष्कर्ष निकाला कि अदृष्ट या अज्ञात पात्र के आन्तरिक भावों का अनुकरण नहीं किया जा सकता। यह बात ठीक है किन्तु यदि नट भावहीन होकर मूलपात्र की वेशभूषा में रंगमंच पर आकर आंगिक-वाचिक चेष्टाओं

२०. अभिनवभारती, पृ० ४५१-४६०

द्वारा वस्तुवृत्त का प्रस्तुतीकरण करता है तो दर्शक उससे प्रभावित नहीं होता। सामाजिक नाटक में तभी आस्वादन प्राप्त कर सकता है जब नाटक में डूब जाय—जब उसे अभिनय अभिनय न लगे, वास्तव लगे; जब उसे नट और पात्र का अन्तर नाटक देखते समय ज्ञात न हो सके और इसके लिए नट का अभिनयकौशल अत्यधिक महत्त्व रखता है। नट शिक्षा, अभ्यासादि से विभावानुभाव संचारी का अनुकरण करता है और मानव प्रकृति के गहन अध्ययन तथा कल्पना द्वारा पात्र के आन्तरिक भावों को हृदयंगम करके अभिनयकौशल से सामाजिक के समक्ष भावयुक्त होकर ही उपस्थित होता है और उसे आकृष्ट करने में समर्थ भी। आन्तरिक भावों के अनुकरण को एक फोटोग्राफ नहीं कहा जा सकता। समस्त व्यक्तियों की चेतना, संवेदना, भावना एक सी होती है अतः नट सहजता से पात्र के स्थायी-भाव को हृदयंगम कर लेता है और सामाजिक उसके माध्यम से मूलपात्र के आन्तरिक भावों का अनुमान कर लेता है। भरत का यह कथन "अवस्थाऽनुकृतिः नाट्यम्" सिद्ध कर देता है कि शंकुक का मत भरत विरोधी नहीं है। अतः भट्टतौत कृत आक्षेप बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखते।

वस्तुतः शंकुक के मत का दुर्बलतम पक्ष यह है कि उन्होंने रस प्रतीति को अनुमानात्मक माना। शंकुक के परवर्ती आचार्यों ने शंकुक की इस मान्यता पर आक्षेप करते हुए स्पष्टतः कहा कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कारक होता है, अनुमानात्मक ज्ञान नहीं।[२१]

इसके अलावा शंकुक का चित्रतुरगादि न्याय नाट्य की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त नहीं है। अवास्तविक को वास्तविक बना देने वाले नाटक की संचरणशीलता और चित्र के अश्व की जड़ता के कारण अनुमान और प्रत्यक्ष के अनन्तर से सिद्ध हो जाता है कि नाटक की रसानुभूति और चित्रदर्शन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति में पार्थक्य है। चित्र में अंकित घोड़े को हम लक्षणा से वास्तविक घोड़ा कहते हैं, लेकिन नाटक के अवसर पर रंगमंच पर उपस्थित नट को नट नहीं कह देते क्योंकि चित्र और तुरंग की भाँति नट और पात्र भिन्न जाति के पदार्थ नहीं हैं अपितु एक ही जाति के व्यक्ति होते हैं अतः चित्र के अश्व से सामान्य अश्व की ही अनुभूति होती है जबकि नट से सामान्य की ही नहीं विशिष्ट रामादि की अनुभूति होती है। अतः चित्रतुरगन्याय की दृष्टि से यह सिद्धान्त अमान्य है।

शंकुक का अनुमितिवाद सामाजिक के रसास्वाद की भी व्याख्या नहीं करता। प्रेक्षक को केवल अनुमान के आश्रय में छोड़कर "अभिनेता द्वारा दर्शक आनन्द कैसे प्राप्त कर सकता है?" इस प्रश्न का समाधान सम्भव नहीं है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शंकुककृत रसानुमितिवाद रससिद्धान्त के क्षेत्र में बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है; फिर भी रस-सिद्धान्त को सर्वप्रथम दर्शनशास्त्र की दृष्टि से व्याख्यात करने वाले शंकुक का रस-सिद्धान्त के विकास में प्रदत्त महत्त्वपूर्ण योगदान नकारा नहीं जा सकता।

सांख्यवादी व्याख्याकार

आचार्य अभिनवगुप्त ने रससूत्र के व्याख्याताओं के रूप में जिन चार आचार्यों के

---

२१. एतदि अहृलदग्राही, यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्ध-वधूयान्यथा कल्पने मानाभावः।

—प्रदीपकार गोविन्द (उद्धृत-अभिनव का रसविवेचन, नगीनदास पारेख, पृ० २९)

सिद्धान्तों को उल्लिखित किया, उनमें से रस को त्रिगुणात्मक मानने वाले सांख्यवादियों का नाम शंकुक के उपरान्त आता है। अभिनवगुप्त ने नाम दिए बिना इन आचार्यों का मत प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। सांख्यवादियों का कहना है—"संसार के सभी पदार्थ सुख, दुःख, मोहात्मक होते हैं और नाटक में सुख, दुःख, मोह को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न विभावादि रूप विषय-सामग्री के बाह्य होने के कारण रस भी त्रिगुणात्मक है। विभावादि बाह्य सामग्री से सुख, दुःख, मोहरूपी आन्तरिक रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार दाल इत्यादि व्यंजनों में छौंक आदि द्वारा संस्कार करने से रसोत्पत्ति होती है, वैसे ही दाल रूपी विभावों का संस्कार छौंक रूपी अनुभाव और व्यभिचारिभावों के माध्यम से होता है। विभावादि सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख, दुःख, मोहरूप स्थायिभाव रत्यादि होते हैं।[२२]

सांख्यवादियों ने रस विषयक एक नयी व्याख्या का उपोद्घात करके रस की आनन्दात्मकता के स्थान पर रस को सुखदुःख-मोहात्मक माना। उनके मत का सार यह है—"विभावादि के साथ अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संस्कारक-संस्कार्यगत सम्बन्ध से रस की सृष्टि होती है और रस रंगमंच पर उपस्थित बाह्य अभिनय मात्र है, जो प्राकृत पदार्थों के सदृश सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त होने के कारण सुखदुःखमोहात्मक है।"

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस उपपत्ति को निरर्थक मानते हुए स्पष्ट शब्दों में इसका खण्डन किया—"यह मत भरतसम्मत नहीं है क्योंकि भरत ने स्थायिभाव को रस का आधार माना और सांख्यवादियों ने स्थायी भाव के इस महत्त्व को तिरस्कृत करके उसे आन्तरिक न मानकर विभावादि से उत्पन्न मान लिया। इसके अतिरिक्त रस प्रतीति को सुखदुःख-मोहात्मक मानने पर एक ही ज्ञान में तीन विरुद्ध प्रकार की प्रतीतियों का सम्मिश्रण होने से प्रीतीति—वैषम्यादि दोष होने से इस मत का अनौचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है।[२३] वस्तुतः सुखदुःखमोहस्वभाव स्वरूप बाह्य विषय को रस मान लेने पर प्रत्यक्ष जीवनगत अनुभव और कलागत अनुभव में अभेद स्थापित हो जाएगा और काव्य में आनन्दोपलब्धि असम्भव हो जाएगी जबकि सामाजिक प्रत्यक्ष लौकिक जीवनानुभूतियों से कुछ इतर देखने की इच्छा से नाट्यादि का अनुशीलन-परिशीलन करता है। दूसरी बात यह है कि बाह्य विषय यदि रस हैं तो एक ही बाह्य विषय एक को सुखद और दूसरे को दुखद लगेगा; अर्थात् एक ही रस की प्रतीति में वैषम्य उत्पन्न होगा अतः यह मत स्वीकार्य नहीं है।

सांख्यवादियों की यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण और उलझनभरी तो है उनकी सुखदुःखात्मकता का आचार्य अभिनवगुप्त ने खण्डन किया है जबकि स्वयं अभिनवगुप्त रस की सुख-

---

२२. येनत्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सांख्यदृशा सुखदुःख स्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभाव-व्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

—अभिनवभारती, ६/पृ० ४६१

२३. तेन "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः" इत्यादावुपचारमंगी कुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसंगादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

दुःखात्मकता को पहले ही स्वीकृति दे चुके थे[२४] और भरतमुनि ने भी नाट्य को सुखदुःख-समन्वित माना है।[२५] दरअसल अभिनवगुप्त की आपत्ति रस की त्रिगुणात्मकता के प्रति है सुखदुःखात्मकता के प्रति नहीं क्योंकि उनकी दृष्टि में भरतमुनि का यह मत स्वीकार्य है कि—"काव्यास्वाद के अवसर पर सहृदय सामाजिक रस का आस्वादन करता है और हर्षादि को प्राप्त होता है। जिस रस का वह आस्वादन करता है वह विविध रसों का सम्मिश्रित रूप है और उसकी परिणिति आनन्द में होती है यहाँ हम कह सकते कि रस का बाह्य और स्थूल चित्रण करना सांख्यवादियों का प्रमुख दोष है। रस को त्रिगुणात्मकत मानने पर उसकी अलौकिकता सिद्ध नहीं हो सकती अतः रस को त्रिगुणात्मक भी नहीं माना जा सकता।

आनन्दवर्द्धनाचार्य और उनका अभिव्यंजनावाद

"अभिनवभारती" में उल्लिखित चतुर्थ रससूत्र व्याख्याता भट्टनायक की रसनिष्पत्ति विषकक व्याख्या से पूर्व आचार्य आनन्दवर्द्धनाचार्य की रस विषयक अवधारणा का उल्लेख करना समुपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि भट्टनायक ने आनन्दवर्द्धनाचार्य के विरोध में ही अपने "हृदय-दर्पण" नामक ग्रन्थ की सर्जना की। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त का रस-प्रक्रिया सम्बन्धी अभिव्यक्तिवाद आनन्दवर्द्धन के रस-ध्वनि के बीजारोपण का ही अंकुरण था।

आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार—"सहृदयों की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि द्वारा अवभासित एवं श्लाघ्य, उपमादि से प्रसिद्ध, शाब्दिक चमत्कारयुक्त वाच्य[२६] तथा महाकवियों की सूक्तियों में वाच्यार्थ से अलग, रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न, लावण्य के सदृश प्रतीयमान[२७] दो रूपों में प्रयुक्त होने वाला अर्थ ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित है।[२८] इनमें से महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी, आस्वादमय अर्थात् रसभावरूप प्रतीयमान अर्थतत्त्व की सत्ता महाकवियों के वैशिष्ट्य को प्रकट करने में सक्षम है[२९] क्योंकि काव्यमर्मज्ञ को ही

---

२४. स च सुख-दुःख रूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा।

—वही १/११६ पृ० २१६

२५. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।

—नाट्यशास्त्र, १/११६

२६. तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः

—ध्वन्यालोक, १/३

२७. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

—वही १/४

२८. काव्यस्यात्मा स एवार्थः

—वही १/५

२९. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

—वही १/६

उसका परिज्ञान होता है, केवल व्याकरण और कोशादि के ज्ञानमात्र से यह प्रतीत नहीं हो सकता।[30]

प्रतीयमान अर्थ का बोध पाठकों को अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त काव्य में ही व्यापारवती व्यंजना नामक शक्ति द्वारा होता है।[31] यह वस्तु, अलंकार और रसादि तीन रूपों में होता है। वस्तु और अलंकार का पर्यवसान रस में हो जाने के कारण रस ही काव्य का मुख्य अर्थ है। रस काव्यव्यापार से ही अनुभवगोचर होता है। यह रस विभावादि के स्थायिभाव से व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध से अभिव्यक्त होकर आस्वादित होता है।[32]

सारतः आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि के अन्तर्गत काव्यशास्त्र सम्बन्धी अन्य सभी सिद्धान्तों को समाहित करके ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करके भरत सम्मत रससूत्र को एक नया विस्तार दिया और उसके महत्त्व को अनेक युगों तक अक्षुण्ण बनाने का सफल प्रयास किया।

भट्टनायक और उनका भुक्तिवाद

भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—भट्टलोल्लट, शंकुक, सांख्यवादी और आनन्दवर्द्धनाचार्य के रसविषयक मत को विहंगम दृष्टि से परखने के उपरान्त इन मतों का खण्डन किया; अपने प्रसिद्ध मत "भुक्तिवाद" की स्थापना की और अपनी अनोखी कल्पना की उड़ान से नये-नये शब्दों द्वारा "साधारणीकरण" जैसे अत्यधिक प्रभावी सिद्धान्त की सृष्टि करके साहित्यशास्त्र जगत् में तहलका मचा दिया।

काव्य और नाटक में सम्बन्ध स्थापित करने वाले, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता और मौलिकता के परिचायक भट्टनायक ने "सहृदय रसानुभूति कैसे करता है ? इस जटिल प्रश्न को लेकर ही अपने पूर्ववर्ती उत्पत्ति, अनुमिति, प्रतीति, अभिव्यक्तिवाद का पर्यालोचन करते हुए स्पष्ट उद्घोषणा की कि "रस न स्वगत हैं, न परगत और न तटस्थगत। अर्थात् सहृदय जिस रस का आस्वादन करता है वह उसका अपना नहीं है, दूसरे का नहीं है, अनुकार्य का नहीं है। रस को परगत मानने पर सामाजिक का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा और सामाजिक तटस्थ हो जाएगा। अतः रस परगत नहीं है। रस को स्वगत मानने पर सहृदय अपने ही हाव-भावों को रंगमंच पर प्रदर्शित होता हुआ नहीं देखना चाहेगा। करुण रस को देखने-

---

३०. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

— वही १/७

३१. अभिनव का रस विवेचन, पृ० २८

३२. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यो न लौकिक व्यवहार पतितः किन्तु शब्द समर्प्यमाण हृदयसंवाद सुन्दर विभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्ट रत्यादिवासनानुराग सुकुमार स्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापार रसनीय रूपो रसः, स काव्यव्यापारैक गोचरो रसध्वनिरिति········स एव मुख्यतयात्मेति।

—ध्वन्यालोकलोचन १/पृ० ७४

सुनने से उसे जो दुखाःनुभूति होगी, उसके कारण वह ऐसे काव्य और नाटकों के अनुशीलन परिशीलन के लिए तत्पर नहीं होगा। फिर सीता आदि देवगुण सम्पन्न विशिष्ट पात्रों की साधारणीकरण सम्बन्धी अयोग्यता से भी स्वगत प्रतीति सिद्ध नहीं होती। इसके अलावा हनुमान आदि विशिष्ट विभावों द्वारा कृत समुद्रलंघन आदि असाधारण कार्यों को अपनी शक्ति से करने की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। अनुकार्य रामादि की स्मृति मात्र रसोद्‌भव में कारण नहीं हो सकतीं, क्योंकि हमने (सहृदय ने) राम को नहीं देखा और स्मृति पूर्वानुभूत वस्तु की ही होती है। अतः रस न स्वगत है, न परगत और न अनुकार्यगत। रस उत्पन्न भी नहीं होता। यदि रस की उत्पत्ति मानेंगे तो करुण रस के दुःखोत्पादक होने के कारण उसके प्रति सामाजिकों की प्रवृत्ति नहीं होगी। रस अभिव्यक्त भी नहीं होता। अभिव्यक्ति पूर्व विद्यमान वस्तु की ही होती है। यदि रस सामाजिक के हृदय में पहले ही है तो उसकी अभिव्यक्ति होगी। लेकिन ऐसी स्थिति में जैसे मन्द प्रकाश से वस्तु स्पष्ट नहीं होती, उसे अधिकाधिक स्पष्ट करने के लिए प्रकाश की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, वैसे ही विभावादि विषयों की वृद्धि आदि से रसानुभूति में भी न्यूनाधिक्य रूप तारतम्य होने लगेगा, जो अनुपयुक्त है। अतः रस उत्पत्ति, प्रतीति, अभिव्यक्ति किसी से भी सिद्ध नहीं होता।

इन पूर्ववर्तिनी मान्यताओं का निषेध करके भट्टनायक अपना मत प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त दो अन्य शक्तियों-भावकत्व और भोजकत्व की परिकल्पना की है। उनका मत है—"स्थायी और विभावादि में भोज्य-भोजक सम्बन्ध से अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व व्यापार द्वारा रस की भुक्ति (सहृदय द्वारा) होती है। अभिधा व्यापार वाक्यार्थ सम्बद्ध है, भावकत्व रसादि विषयक है और भोजकत्व सामाजिक से सम्बद्ध है। भुक्ति का प्रथम सोपान है अभिधा। अभिधा व्यापार द्वारा सहृदय को काव्य का सामान्य परिचय प्राप्त होता है और इसी के आधार पर वह काव्य या नाटक की मूलभूत विशेषताओं तक पहुँचने का प्रयास करता है। अभिधा व्यापार द्वारा सामाजिक यह तो जान लेता है कि पात्रों के बीच जो शाब्दिक व्यापार हो रहा है उसका क्या अभिप्राय है, किन्तु इससे आंगिक, सात्त्विक अभिनय की सार्थकता स्पष्ट नहीं होती; अतः भट्टनायक ने इसके समाधान के लिए भावकत्व व्यापार की परिकल्पना की। भावकत्व व्यापार के द्वारा वैयक्तिक भाव का तिरोधान होने पर सत्त्वगुण का जन्म होता है। इससे निविड़-निज मोह संकटता का निवारण होने से हमारी चेतना सत्त्वगुण के प्राधान्य से विश्रान्ति का अनुभव करती हुई परब्रह्म के आस्वाद के सदृश उसका भोग भोजकत्व वृत्ति द्वारा करती है। अर्थात् भावकत्व से भाव्यमान रस का भोजकत्व व्यापार से भोग किया जाता है। अनुभव, स्मृति आदि से भिन्न प्रतीत होने वाला यह भोग सहृदय के अन्तर से ममत्व और परत्व के भेद का तिरोधान करके ब्रह्मानन्द के सदृश आनन्द प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि लौकिक जीवन में हम दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख नहीं समझ पाते और रजोगुण तथा तमोगुण के प्राधान्य के कारण अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव नहीं कर पाते। काव्यास्वाद के अवसर पर रजोगुण और तमोगुण के विनष्ट हो जाने के कारण सहृदय निज-निविड़-मोह-संकट से छुटकारा पाकर विश्रान्ति का अनुभव करने लगता है और आस्वादन प्राप्त करता है। यह काव्यास्वाद ब्रह्मास्वाद के सदृश मात्र सत्त्वगुण सम्पन्न नहीं है अपितु सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर भी

रजोगुण और तमोगुण का किंचित् संस्पर्श उसमें रहता है, जिसके कारण हमें ऐसे लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है, जिसमें लौकिकता और अलौकिकता दोनों का ही सम्मिश्रण होता है।[13]

---

३३. (क) भट्टनायकस्त्वाह- रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदयः। अग्रतयाकाश रसत्वमपि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्।

शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटनिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

—अभिनवभारती ६, पृ० ४६२-६५

(ख) ननूक्तं भट्टनायकेन-"रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुर्विभावतायां प्रयोजकमिति चेत्-देवतावर्णनादौ तदपि कथम्? न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। आलोकसामान्यां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः? न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते। अननुभूतत्वाद्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोप्रजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुणाप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रतीतिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोष। तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मानः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्। भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंशभूताः व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो

भट्टनायक के मत का सार यह है—काव्य एक शब्दात्मक व्यापार है। इस शब्दात्मक व्यापार की तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा शक्ति द्वारा काव्य या नाटक में उपस्थित रामादि वृत्त का वाच्यार्थ स्पष्ट होता है। अभिधाशक्ति द्वारा प्रेक्षक को जो अर्थावबोध होता है वह काव्य इतिहास-पुराण, शास्त्र सभी में समानरूप से व्याप्त है। द्वितीय शक्ति भावकत्व का सम्बन्ध केवल काव्य या नाटक से है। भावकत्व शक्ति द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होकर रस भावित हो जाता है। साधारणी करण से तात्पर्य है व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का परिहार। नाटकादि में रामादि पात्र व्यक्ति विशेष के रूप में चित्रित होते हैं। भावकत्व व्यापार द्वारा व्यक्ति विशेष में उत्पन्न रत्यादि भाव व्यक्ति सम्बन्ध से रहित होकर सामान्य बन जाते हैं। राम के रामत्व या सीता के सीतात्व से रहित होकर सामान्य नायक-नायिका बन जाते हैं। दूसरी ओर सहृदय का हृदय राग-द्वेष-जन्य अज्ञान से मुक्त होकर ममत्व-परत्व भाव से मुक्त हो जाता है। परिणामतः भावना का विषय बनी हुई रामादि की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण होने पर और प्रमाता का ताटस्थ्यभाव समाप्त होने पर सहृदय का हृदय रसभोग के योग्य बन जाता है। भोजकत्व शक्ति से सामाजिक के हृदय से रजोगुण और तमोगुण का तिरोधान होकर सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होता है जिससे सहृदय आनन्दरूप रस का आस्वादन करने लगता है।

समीक्षा

रससिद्धान्त के क्षेत्र में रसास्वादन के स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या करने के कारण तथा रसास्वाद के व्यापार में रसिक का भी अन्तर्भाव करने के कारण भट्टनायक का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। उनकी रसविवेचन विषयक उपलब्धियाँ ये हैं—१. भट्टलोल्लट तथा शंकुक ने रस को अनुकार्यगत माना था जिससे यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि प्रेक्षक का नट या मूलपात्र से क्या सम्बन्ध है। भट्टनायक ने सर्वप्रथम सहृदय रसानुभूति कैसे करता है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए सहृदय का नट और मूलपात्र से सम्बन्ध स्पष्ट किया। सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की व्याख्या करते हुए भट्टनायक ने स्पष्ट किया कि रस का अधिष्ठान भावक का चित्त है और रजोगुण के परिहार द्वारा सत्त्व का उद्रेक चित्त को आस्वादनक्षम बनाता है।

व्यापारः। यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृत्तिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामप्रधानमेवेति।

—ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० ४२-४३

(ग) न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी करणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसत्त्वेन भोगेन भुज्यते "इति भट्टनायकः।

—काव्यप्रकाश ४/पृ० १०६-१०७

२. भट्टनायक की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—साधारणीकरण की परिकल्पना। साधारणीकरण का विवेचन करके भट्टनायक ने काव्य में आए व्यक्तियों के भाव किस रूप में सहृदय के आस्वाद्य बन जाते हैं ? इस प्रश्न का स्पष्ट समाधान किया और यह सिद्धान्त आगे चलकर बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। यहाँ तक कि आचार्य अभिनवगुप्त को भट्टनायक के मत में अनेक दोष दिखाई दिए फिर भी उनके साधारणी करण सिद्धान्त को अभिनवगुप्तपाद ने स्वीकार कर लिया है।

३. भट्टनायक ने रस को ब्रह्मानन्द के समकक्ष मानकर उसकी आनन्दरूपता का व्याख्यान किया है। साधारणीकरण सिद्धान्त द्वारा करुण रस आनन्दरूपता भी प्रमाणित हो जाती है।

निस्सन्देह रस विवेचन की दृष्टि से भट्टनायक का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु उनके मत में कतिपय न्यूनताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत के कतिपय दोषों की ओर संकेत किया है—

१. भट्टनायक ने रस की प्रतीति का खण्डन किया है। अभिनवगुप्तपाद का मत है कि जो प्रतीत नहीं होता, उसकी सत्ता का भोग कैसे किया जा सकता है ? रस की प्रतीति न मानने पर उसका व्यवहार ठीक उसी प्रकार असंगत हो जाता है जैसे पिशाच का ठीक रूप में ज्ञान न होने के कारण उसका व्यवहार ही असंगत माना जाता है। अर्थात् प्रतीति के अभाव में कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती है। प्रतीति को उपाय वैभिन्न्य के आधार पर दर्शन, अनुमान, श्रुति, उपमिति, प्रतिमान आदि नाम दिए जाते हैं इसी प्रकार रस प्रतीति को प्रत्यक्ष प्रतीतियों से विलक्षणता के आधार पर चर्वणा, आस्वादन, भोग आदि नाम दे दिए जाते हैं। जैसे "चावल पक रहा है" के स्थान पर लौकिक व्यवहार में "भात पक रहा है" यह प्रयोग होता है (भात पके चावलों को कहते हैं) इसी प्रकार प्रतीति ही रस है किन्तु सामान्य व्यवहार में "रस प्रतीत हो रहा है" यह प्रयोग किया जाता है अतः यह सिद्ध हो जाता है कि रस प्रतीत होता है।[34]

(२) प्रतीति के ही समान भट्टनायक उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति को भी स्वीकार नहीं करते हैं। अभिनवगुप्त का इस विषय में मानना है कि रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति न मानने पर रस को नित्य मानना होगा या अस्तित्वहीन। अन्य कोई विकल्प नहीं है क्योंकि जिस वस्तु की प्रतीति नहीं होती, उसका कोई अस्तित्व है, यह कहना सारहीन है।[35]

३. भट्टनायक के द्वारा प्रस्तुतभोग के स्वरूप की व्याख्या तात्त्विक नहीं है। यदि भट्टनायक यह कहते हैं कि "रसो न प्रतीयते" से उनका अभिप्राय यह है कि रस बाह्य रूप से प्रतीत नहीं होता है रत्यादि रूप आन्तर भोग के रूप में तो उसकी प्रतीति होती ही

---

३४. (क) अभिनवभारती, ६/पृ० ४६५

(ख) ध्वन्यालोकलोचन, २/पृ० ५०

३५. निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो व असद्वा रस इति, न तृतीया गतिः स्यात् न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

है।[36] यह बात मानी जा सकती है किन्तु यह भोगीकरण रूप प्रतीति तीन रूपों में ही हो, यह असंभव है; क्योंकि जितने रस हैं उतनी ही आस्वादरूप भोगीकरण प्रतीतियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त सत्त्वादि गुणों के अनुपातभेद से प्रत्येक भाव में चित्त की भिन्न दशा हो सकती है अतः चित्त की सिर्फ तीन दशाएं-द्रुति, विस्तार और विकास—रसास्वादन के अवसर पर क्यों मानी जाएँ ? इसी प्रकार शब्द की अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व में तीन ही व्यापार क्यों माने जाएँ ? अतः इन व्यापारों की चर्चा यहाँ व्यर्थ है।

४. शास्त्रीय प्रमाण के अभाव में भावकत्व और भोजकत्व वृत्तियां निराधार हैं और इनका कार्य प्रमाण-सिद्ध व्यंजना से ही चल जाता है।[37]

इस प्रकार भुक्तिवाद के असिद्ध होने से भट्टनायक का रस विषयक विवेचन भी निरर्थक हो जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त और उनका अभिव्यक्तिवाद

शैवाद्वैतवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में पूर्ववर्ती भट्टलोल्लट, आचार्य शंकुक, सांख्यवादी तथा भट्टनायक आदि आचार्यों के मतों का प्रस्तुतीकरण करने के उपरान्त अपने रस निष्पत्ति विषयक अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्तपाद का मत सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया और अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उनके ही मत को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया।

आचार्य अभिनवगुप्त को भट्टनायक के भुक्तिवाद की अपेक्षा आनन्दवर्द्धनाचार्य के अभिव्यंजनावाद ने अधिक प्रभावित किया था और इसी आधार पर वह भुक्तिवाद के भावकत्व-भोजकत्व के विरुद्ध प्रमाण दे सके थे। अभिनवभारती ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्यप्रकाश के आधार पर अभिनवगुप्त की रसनिष्पत्ति विषयक विचारधारा इस रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—"नाट्यानुशीलन के अवसर पर स्थायी भाव रूप चित्तवृत्ति के उदय, विकास और तिरोभाव करने वाले कारण, कार्य तथा सहकारी कारण काव्य वैलक्षण्य के कारण अपने कारण, कार्य, सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहलाने लगते हैं। इन विभावादियों से स्थायी भाव प्रतीति, अनुभूति के योग्य बनकर रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। इन विभावादियों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये मेरे ही हैं, शत्रु के ही हैं या तटस्थ के ही हैं और यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये मेरे नहीं हैं शत्रु के नहीं हैं, तटस्थ के नहीं हैं। आलम्बनादि के रूप में स्वयं को मानने पर रत्यादि के अवसर पर लज्जा की अनुभूति होगी, शत्रु का कहने पर द्वेष की ओर तटस्थ का कहने पर हम उसके प्रति उदासीन हो जाएँगे। इन सम्बन्धों का परित्याग करने पर हमारा उन विभावादि से सरोकार ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार के विभावादि नाम से विख्यात कारणादि से दर्शकों की चित्तवृत्ति में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है।

निर्मल प्रतिभाशाली सहृदय काव्यानुशीलन या नाट्यपरिशीलन के अवसर पर विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति की इच्छा से राग-द्वेष मुक्त होकर प्रेक्षागृह में प्रविष्ट होता है।

---

३६. अथोच्यते प्रतीतिरस्य भोगीकरणं, तच्चरत्यादिस्वरूपम्। —वही ६, ४६६

३७. (क) अभिनवभारती ६, पृ० ४६६-६७

(ख) ध्वन्यालोकलोचन २, पृ० ४२-५०

आरम्भ में उसे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस समय उसके हृदय में नट बुद्धि रहती है, जिसका अपसरण रंगशाला में प्रस्तुत गीत-वाद्यादि तथा अभिनय के प्रभाव से कल्पना लोक में पहुँची सहृदय की मनःस्थिति से होने लगता है पात्रों के कविकल्पित होने के कारण सहृदय को वाक्यार्थ प्रतीति के उपरान्त मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है; यह प्रतीति लौकिक प्रतीतियों से सर्वथा भिन्न होती है और इसमें देशकाल का विभेद या ममत्व-परत्व की सत्ता नहीं रहती। क्योंकि यहाँ व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध का परिहार हो जाता है अतः साधारणी करण के उपाय से परिमित प्रमातृत्व भी तिरोहित हो जाता है और सहृदय के हृदय में एक ऐसा अपरिमित भाव जागृत हो जाता है जिसमें जानी हुई या जानने योग्य समस्त वस्तुओं का तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार प्रमाता की आत्मा का विस्तार होकर सम्पूर्ण विश्व से एकाकार हो जाता है और संस्कार (प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर बने हुए) रूप में स्थायी भावों के हृदयस्थ होने के कारण अनादि वासना से वासित समस्त सामाजिकों को एकघनरूप विशुद्ध आनन्द की अनुभूति होती है। यह निर्विघ्न प्रतिपत्ति चमत्कार कहलाती है और इसी से संविद्विश्रान्ति होती है। संविद्विश्रान्ति ही रस है। यह रस विभावादि जीवितावधि होता है। जैसे इलायची, कपूर आदि से निर्मित पानक रस विलक्षणता युक्त होता है, वैसे ही विभावादि से विलक्षण लोकातीत आस्वाद का चर्वण इस रस में भी होता है।

यद्यपि सामाजिक को लौकिक अनुभूतियों के सदृश ही हर्षशोकादि की काव्यादि में अनुभूति होती है, सहृदय अपनी आत्मा के अनुसन्धान द्वारा सारे संसार को रसास्वादन की पोषिका रस-सामग्री की सहायता से परखता है; किन्तु लोक की भाँति सम्भावना-विरह, स्वगतत्व-परगतत्व जनित देशकाल के बन्धन, निजसुखादि विवशीभाव, प्रतीत्युपाय वैकल्य, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता और संशययोग—इन सात प्रकार के विघ्नों[३८] के कारण काव्यानुभूति में अलौकिकता आ जाती है। इस अलौकिकता के कारण काव्यानन्द लौकिक आनन्द से विलक्षण हो जाता है।

यह अलौकिक काव्यानन्द रूप रस कार्य नहीं है क्योंकि कार्य मानने पर विभावादि के नष्ट होने पर भी उसकी स्थिति सम्भव हो जाएगी, जबकि विभावादि के अभाव में रस की सत्ता सम्भव ही नहीं है। रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। यह तो विभावादि के द्वारा व्यंजित और आस्वादयोग्य है और इसीलिए ज्ञाप्य भी है और ज्ञेय भी। यह न सविकल्पक ज्ञान है न निर्विकल्पक। साथ ही सविकल्पक न होने से निर्विकल्पक भी है और निर्विकल्पक न होने से सविकल्प भी। दोनों प्रकार का होना और दोनों प्रकार का न होना ही रस की अलौकिता सिद्ध करता है।[३९]

---

३८. विघ्नाश्चास्यां सप्त १. प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहोनाम १२. स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। ३. निजसुखादिविवशीभाव ४. प्रतीत्युपायवैकल्यम् ५. स्फुटत्वाभावः ६. अप्रधानता ७. संशययोगश्च। —अभिनवभारती, ६ पृ० ४७४

३९. (क) तत्काव्यार्थो रसः। ××× काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः। अधिकारी चात्र विमलप्रतिभाशालिहृदयः। यस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इति (शाकु० १)' 'उमापि नीलालक' इति (कुमार ३-६२) 'हरस्तु

क्रमशः

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को व्यापक परिवेश में देखा। भट्टनायक ने रसास्वाद के प्रश्न पर विचार करते हुए सहृदय सामाजिक की अनुभूतियों के रसास्वाद के अवसर पर दिए जाने वाले योगदान को अलक्षित करके केवल काव्यशक्तियों को महत्व दिया था, इस त्रुटि का परिमार्जन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने रस का सीधा सम्बन्ध सहृदय से जोड़ दिया। संक्षेप में अभिनवगुप्तपाद द्वारा

किंचित' (कुमार ३-६७) इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादि विभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासकस्याऽपारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालद्यनालिंगित, तत एव भीतोऽहं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो सुखदुःखादिकृतबुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषतः उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरिव वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतुनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्री कृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित चमत्कारः। × × सर्वेषां रसानात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृत्यः।
—अभिनवभारती, ६ पृ० ४७०-४७३

(ख) तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्व पक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीतिमहत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह-'तासामनादित्यम् आशिषो। नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्' इति। तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वनात्मैव, नान्यत्किंचित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम् शब्दान्तरेणाप्यर्थमाणत्वे तथ्योगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थंव्यक्तः' इत्यत्र। तस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेति कर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्धसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरे ध्वनन-

क्रमशः

स्वीकृत भरत-सूत्र का अर्थ इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—"सामाजिकों के अन्तः-करण में वासनात्मक संस्कार के रूप में पूर्वतः विद्यमान स्थायी भाव काव्यश्रवण या नाट्यदर्शन के अवसर पर शकुन्तला आदि आलम्बन, दुष्यन्तादि आश्रय, उद्यानादि उद्दीपन विभाव रूप कारण, कटाक्ष-भुजाक्षेप आदि अनुभाव रूप कार्य तथा निर्वेदादि संचारी भाव रूप सहकारी कारणों से व्यंग्य-व्यंजक या प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध से संयुक्त होकर साधारणीकरण द्वारा रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यह अभिव्यक्ति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मिट्टी के पात्र में पूर्वतः स्थित गन्ध जल के संयोग से अभिव्यक्त हो जाती है।

समीक्षा

रस को काव्य का सर्वस्व मानने वाले रसप्रस्थापनाचार्य अभिनवगुप्त का रस विवेचन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अभिनवगुप्तपाद ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की रस विषयक अवधारणाओं का निरीक्षण-परीक्षण करके तथा आचार्य आनन्दवर्द्धन के द्वारा प्रकाशित रसविवेचन से प्रभावित होकर रसाभिव्यक्तिवाद का जो महल निर्मित किया; परवर्ती आचार्यों ने निरन्तर उस महल को सुदृढ़ता और अमरता प्रदान की। यद्यपि कतिपय विरोध इस रसाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में आचार्यों द्वारा किये गए हैं परन्तु वे अधिक विस्तार नहीं पा सके। अभिनवगुप्तपाद के मत की सीमाओं की चर्चा करते हुए आचार्यों

व्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति। सत्त्वादीनां चांगांगिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाऽहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभा विजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोति कमुपालभामहे। यस्मात्स्थितमेतत्-अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति।

—ध्वन्यालोकलोचन २ पृ० ५३-५४

(ग) लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यावहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवेते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैत इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वीकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीविताविधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारी श्रृङ्गारादिको रसः।

—काव्यप्रकाश ४, का २७-२८ का परवर्ती गद्यभाग, प्र० १०८-१०९

का मत है कि सर्वाधिक मान्य इस विवेचन में 'निर्विघ्न प्रतीति' के सन्दर्भ में की गई अभिनव की व्याख्या अनुपयुक्त प्रतीत होती है। अभिनवगुप्त ने लोकानुभूति और काव्यानुभूति में तो पार्थक्य स्थापित किया है, किन्तु काव्यास्वाद और ब्रह्मास्वाद को अभिन्न मान लिया है जिससे रस का जो अलौकिकत्व सिद्ध होता है, वह बुद्धि द्वारा अग्राह्य है।[४०] यहाँ आचार्य का मन्तव्य है कि काव्यानुभूति रसमयी तथा आनन्दात्मक होती है क्योंकि वह निर्विघ्न प्रतीति है, लौकिक अनुभूति की भाँति सुखदुःखात्मक नहीं। इसी निर्विघ्न प्रतीति के लिए सहृदय रागमुक्त होकर रंगशाला में प्रविष्ट होता है। अभिनवगुप्त का यह कहना सही है कि सहृदय राग मुक्त होकर रंगशाला में प्रवेश करता है किन्तु प्रविष्ट होने के बाद नाटक देखते हुए उसकी बुद्धि बिल्कुल विरागयुक्त हो ऐसा नहीं हैं। रंगमंच पर अभिव्यक्त भाव-संघात के अतिरिक्त किसी अन्य भाव की प्रतीति रसविघ्न है।[४१] नाटक देखते हुए दर्शक प्रायः किसी पात्र से रागात्मक या किसी से द्वेषात्मक सम्बन्ध अवश्य जोड़ लेता हैं। अतः यह कहना कि काव्यानुभूति की प्रतीति निर्विघ्न होती है-अनुचित है।

अभिनवगुप्त के मत की दूसरी सीमा यह मानी गई कि उन्होंने सामाजिक के रसास्वादन को काव्य का प्रमुख प्रयोग बना दिया है, जिसके कारण काव्य का सृजनात्मक सौन्दर्य तथा कवि द्वारा काव्य में समाहित रस गौण हो जाता है।[४२]

डॉ० नगेन्द्र ने अभिनवगुप्त के विवेचन में एक दोष यह संकेतित किया है कि अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के सिद्धान्तों को अपने विचारों से इतना अधिक रंग दिया कि परवर्ती काव्यशास्त्र में उसका वास्तविक रूप ही छिप गया। यही बात भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक के साथ भी लागू होती है। अभिनवगुप्त ने इन सभी आचार्यों के मत मानों अपने सिद्धान्त को परिपुष्ट करने के लिए ही प्रस्तुत किये।[४३]

अभिनवगुप्त के विरुद्ध प्रस्तुत ये आक्षेप बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखते हैं। पहली बात तो यह है कि जिस निर्विघ्न प्रतीति को लेकर आचार्यों ने अभिनवगुप्त के मत का खण्डन किया है, उस निर्विघ्न प्रतीति के अभाव में रसास्वादन सम्भव नहीं है। प्रतीति में विघ्न आ जाने पर तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता।

वस्तुतः नाटक देखते हुए अथवा काव्य पढ़ते हुए एक अवसर ऐसा आता है जब हमें अपनी चेतना नहीं रहती। रंगमंच पर प्रस्तुत भाव-संघात के अतिरिक्त अन्य कोई भाव हमारे अन्दर नहीं आता। जब नायक की चेतना के साथ हमारी चेतना मेल खा जाती है और हमें आनन्दानुभूति होने लगती है तो विघ्न रह ही कहाँ जाते हैं? फिर स्व-पर से नियमित देश काल विशेष" को छोड़कर शेष सारे विघ्न लोकानुभूति में बाधा ही उपस्थित करते हैं तो नाट्य-काव्यादि के अनुशीलन-परिशीलन के अवसर उनकी उपस्थिति रसास्वादन में बाधक होगी ही। अतः हम यह निःसंकोच स्वीकार कर सकते हैं कि इस विषय में अभिनवगुप्त का मत ही समुपयुक्त है।

---

४०. रस-सिद्धान्त; डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७६

४१. रससिद्धात; डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी; पृ० ९८-९९

४२. रस-सिद्धान्त; डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७६

४३. वही, पृ० १७६।

रस की अलौकिकता के आधार पर आचार्यपाद ने लोकानुभूति और काव्यानुभूति में पार्थक्य स्पष्ट कर दिया है। लोक के क्रियाकलापों में अर्जन-वर्जन की' भावान्तर जनन की क्षमता होती है ; नाट्य में नहीं अतः गुणालंकार की समुचित योजना से सम्पन्न काव्यानुभूति आस्वादनसक्षम होती है। यह आचार्य अभिनवगुप्त के मत की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, यह बात सभी समालोचकों ने स्वीकार की है। समीक्षकों की आपत्ति तो यह है कि आचार्यपाद ने काव्यानुभूति और ब्रह्मास्वाद में अभिन्नत्व माना है, यह गलत है। वास्तव में आचार्य का इन दोनों में अभिन्नता स्थापित करने का कोई इरादा नहीं लगता। उन्होंने तो रस की अलौकिकता सिद्ध करने के लिए अन्य कोई सटीक पर्याय न मिलने के कारण रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद कह दिया है। आगे चलकर विश्वनाथ ने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद सहोदर की संज्ञा देकर यों भी इस अनुपपत्ति का निराकरण कर दिया है। अतः यह आक्षेप भी स्वीकार्य नहीं है।

आचार्य के मत में तीसरे दोष के विषय में यह कहा जा सकता हैं कि उन्होंने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या करते हुए अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को मनमाने ढंग से प्रस्तुत किया है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। हो सकता है कि उन्हें इतनी ही सामग्री प्राप्त हुई हो, जितनी उन्होंने अपनी कृति में प्रस्तुत की है। अतः इस आक्षेप को गम्भीरता से लेना व्यर्थ है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य अभिनवगुप्त का रस विषयक

---

१. अभिनवगुप्त के रसविवेचन की सर्वप्रमुख उपलब्धि है अभिव्यक्तिवाद की परिकल्पना। अभिव्यक्तिवाद के द्वारा आचार्य ने न केवल रस-सिद्धान्त को अपूर्व महत्त्व का अधिकारी बनाया, अपितु रस-सिद्धान्त को चमत्कृत कर दिया।

२. आचार्यपाद ने सामाजिक से रस का सम्बन्ध स्थापित करके उसे व्यावहारिक रूप दिया है। सामाजिक को महत्त्व देने के कारण उन्होंने वस्तुगत विवेचन की ओर दृष्टि नहीं की है ऐसा नहीं है। वे एक ओर सहृदय को ध्यान में रखकर चले हैं और दूसरी ओर रंगमंचीय उपस्थापन की ओर भी उनकी दृष्टि रही है। भट्टनायक की दृष्टि में रस भोज्य था, अभिनवगुप्त की दृष्टि रस की आस्वादरूपता की ओर केन्द्रित हुई और इस विवेचन द्वारा उन्होंने सामाजिक में रस प्रतीति की चर्चा करके पूर्ववर्ती आचार्यों की उपस्थापित समस्या का निराकरण कर दिया अतः यह दोष (जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने माना है) दोष न होकर अभिनव के मत की उपलब्धि ही है।

३. आचार्य अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को व्यापक परिवेश में देखकर व्याख्या की कि समस्त भावनाएँ जन्मजात होती हैं और सामाजिक के अन्दर जन्म से ही विद्यमान रहती हैं। परिणामतः नाट्यानुभूति के अवसर पर साधारणीकरण के उपाय से समस्त सामाजिकों की चेतना में एक जैसे भाव जागरित होने लगते हैं।

विवेचन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और उनके इस विवेचन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

४. साधारणीकरण हो जाने पर आनन्दरूप रस अभिव्यक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "रस काव्यार्थ है। सहृदय सामाजिक को वाक्यार्थ प्रतीति के बाद ऐसी प्रतीति होती है, जिसमें ममत्व-परत्व, राग-द्वेष भाव तिरोहित हो जाता है। यह रसप्रतीति 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त' है, अलौकिक है, आस्वादात्मक है, आनन्दरूप है। इसी से इसे चर्वणा, रसना, चमत्कार निर्वेश, भोग, लय, विश्रान्ति नाम से उच्चरित किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि रसास्वाद आनन्दरूप होता है यह स्थापना भट्टनायक की थी किन्तु उसकी प्रामाणिकता अभिनवगुप्त ने शैव आनन्दवाद का दृढ़ आधार प्रदान करके सिद्ध कर दी।

५. काव्यशास्त्र के सर्वाधिक प्रतिष्ठित ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल रसनिष्पत्ति की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद ने अभिव्यंजना को रस की चर्वणा का मुख्य आधार माना और स्थायीभाव को संस्कारजन्य सिद्ध करके रस को मनोवैज्ञानिक आधार पर परखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

६. सामूहिक रस-चेतना में रसचक्र की पूर्णता सिद्ध करके अभिनवगुप्तपाद ने समष्टिगत रस की प्रकल्पना को साकार किया है।[४४]

७. अभिनवगुप्तपाद की रसनिष्पत्ति विषयक व्याख्या का मूलाधार है-शैवाद्वैत सिद्धान्त। इस गम्भीर तथा प्रामाणिक दार्शनिक आधार पर की गई रस विषयक मान्यताएँ आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्लीन होकर परवर्तियों के विवेचन का विषय बन गईं।

आचार्य अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों की रस-निष्पत्ति विषयक अवधारणा

अभिनवगुप्तपाद के बाद के अधिकांश आचार्यों ने उन्हीं की रसविषयक मान्यताओं को स्वीकार कर लिया। कुछ आचार्यों ने उनकी मान्यताओं को अविकल रूप में स्वीकार न करके किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया और कुछ ने उनकी मान्यताओं का खण्डन करने का भी प्रयास किया। हम ऐतिहासिक क्रम में इन आचार्यों की मान्यताओं को यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

अभिनवगुप्तपाद के समसामयिक आचार्य धनञ्जय और धनिक ने 'दशरूपक' नामक अपनी कृति में रस पर विचार करते हुए रसादि का काव्य के साथ अभिनवसम्मत व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध के स्थान पर भाव्य-भावक सम्बन्ध स्वीकार किया तथा रस की स्थिति सहृदयगत मानी। उनकी दृष्टि में—"जिस प्रकार मिट्टी के हाथी आदि से खेलने वला बालक अपने ही उत्साहादि भावों का आस्वादन करता है।[४५] काव्यानुशीलन के अवसर पर

---

४४. रससिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७४

४५. क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छोतॄणामर्जुनादिभिः ॥—दशरूपक, ४/४१-४२

स्थायी भाव विभावानुभावसंचारिभाव द्वारा आस्वाद्य होकर भाव्य-भावक सम्बन्ध से[४६] आस्वाद्य बन जाता है ।[४७]

इस मत में अभिनवगुप्त के मत से इतनी ही भिन्नता है कि धनिक-धनंजय ने व्यंजनावृत्ति को नहीं माना है । स्थायी और विभावादि का भाव्य-भावक सम्बन्ध मानने के कारण यह मत भट्टनायक के मत का ही प्रस्तुतीकरण करता है किन्तु अभिनव के मत का विरोध नहीं करता ।

इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी 'व्यक्तिविवेक' नामक कृति में रस को काव्यात्मा तो माना[४८] किन्तु व्यंग्य-व्यंजक भाव के स्थान पर अनुमेय माना है । उनका कहना है कि रत्यादि स्थायी और विभावादि में गम्य-गमक सम्बन्ध से रस अनुमित हो जाता है —"त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः । त एव च रत्यादयोऽवस्या विशेष-रूपा भावा गम्या[४९] । यह मत रसस्वरूप के विषय में अभिनवगुप्त का समर्थक है ; रस-प्रक्रिया के विषय में शंकुक का ।

'सरस्वती कण्ठाभरण' के रचयिता भोजराज ने रस के विषय में कुछ न कहकर उसे ही काव्य का सर्वस्व माना और श्रृंगाररस की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा करके रस को अभिमान, अहंकार या श्रृंगार के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित किया ।[५०] रस निष्पत्ति के विषय में उनके मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—'काव्य में जो कुछ रमणीय है, आस्वाद्य है, उसे रस कहा जा सकता है । इस रसत्व को केवल स्थायी ही नहीं संचारी भी प्राप्त हो सकते हैं ।[५१]

आचार्य मम्मट ने रससिद्धान्त के सन्दर्भ में कोई मौलिक विवेचन नहीं किया, किन्तु पूर्ववर्तिनी रसविषयक मान्यताओं को सुव्यवस्थित और सरल रूप में प्रस्तुत करके आचार्य अभिनवगुप्त के मत की प्रबल प्रतिष्ठा की । इसी प्रकार आचार्य विद्याधर ने 'एकावली' में अभिनव-मम्मट के ही मत को परिष्कृत और सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा—

---

४६. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः, किंतर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः । काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः ।—दशरूपकावलोक, पृ० १५८

४७. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस स्मृतः ।—दशरूपक ४/१

४८. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्द् विमतिः ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १०५

४९. वही, पृ० ६६

५०. रत्यादि भूमाहि रसः । किं तर्हि श्रृंगारः ? श्रृंगारोहि नाम विशिष्टेष्ट दृष्ट चेष्टज्ञा-भिव्यंजकानां आत्मगुण सम्वदामुत्कर्षं बीजं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न संस्काराद्यति-शय हेतुरात्मानोऽहङ्कारगुणविशेषः सचेत सा रस्यमानो रसः ।
—श्रृंगारप्रकाश, पृ० ४२६

५१. उद्धृत, रससिद्धान्त, डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी, पृ० ११६

"अतः कारकत्व ज्ञापकत्वव्यावृतो विभावादिश्चर्व्यमाणोपयोगित्वमात्रेण हेतुरलौकिको भवन्नलौकिकत्वमेव रसस्याभिव्यनक्तिः । यदुक्तम्—

योऽलौकिकोऽप्यतिजनः कारकसिद्धोऽप्यकार्यभूतश्च
सविकल्पोऽप्यविकल्पः स रसः केनोपमीयते ।

ननु—

तत्प्रेक्ष्यं श्रव्यतांश्राव्यं सम्यग् भावयतांहृदि ।
अलौकिकसुखास्वादो रस इत्यभिधीयते ॥—एकावली, पृ० ९५

रस और साधारणीकरण की प्रवहमान परम्परा में एक नया मोड़ लाने का प्रयास करने वाले आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उल्लेख आवश्यक है। आचार्यद्वय ने भरत के रससिद्धान्त को दर्शनशास्त्र के चक्र से बाहर निकालकर व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास किया और रस की आनन्दात्मकता का खण्डन करके सुख दुःखात्मकता को प्रश्रय दिया[५२] उनकी दृष्टि में "विभावों अर्थात् ललना और उद्यानादि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावरूप वाह्य हेतुओं के द्वारा, पूर्व से ही विद्यमान (रत्यादि स्थायी भाव) का आविर्भाव होने से और रसिकों के मन में विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारियों के द्वारा परिपुष्ट होने के कारण उत्कर्ष को प्राप्त (अर्थात्) साक्षात्कारक अनुभूयमान अवस्था को प्राप्त होने वाला, यथासम्भव सुख दुःखोभयात्मक स्थायी भाव (रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति से) आस्वाद्यमान होने से रस पद से वाच्य होता है।[५३] रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत की विशेषता यह है कि रसानुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही नहीं होती, करुण, रौद्र, वीभत्स एवं भयानक रसों में यह दुःखात्मक ही होती है, किन्तु चमत्कारजन्य आनन्द के कारण वह दुःख भी सुखमय लगने लगता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का पूर्ववर्ती आनन्दवादी आचार्यों से विरोध नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा सुखात्मक अनुभूति होती है, यह बात तो वे भी स्वीकार करते हैं।

अभिनवगुप्त के प्रवल समर्थक हैं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ। भरतमुनि के रससूत्र की सरल विवृति करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने "विभावानुभाव द्वारा अभिव्यक्त स्थायी भाव ही आनन्दरूप रस है[५४] कहकर रस की ब्रह्मानन्द सहोदर, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, अखण्ड आनन्दप्रदाता, संविद्विश्रान्ति में सहायक, अलौकिक गुण सम्पन्न (सत्त्वोद्रेक से युक्त),

---

५२. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुख-दुःखात्मको रसः ॥
—हिन्दी नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, कारिका-७

५३. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनरूपैर्वाह्यैर्हेतुभिः सत एवाविर्भावाद, व्यभिचारिभिर्ग्लान्यादिभी रसिकमनः शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च श्रितोकर्ष स्वीकृत साक्षात्कारित्वानुभूयमानावस्थो यथासम्भवं सुखदुःखस्वभावो रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।—नाट्यदर्पण ३/कारिका ७ का वृत्तिभाग

५४. विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणी तथा,
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ।—साहित्यदर्पण ३/१

कतिपय प्रमाताओं द्वारा ग्राह्य—आदि अनेक विशेषताओं[५५] को बताते हुए अभिनवगुप्त के ही मत का पोषण किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिष्ठित आचार्यहैं। आचार्य अभिनवगुप्त आदि की ही शृंखला को विस्तार देने वाले पण्डितराज जगन्नाथ ने एक वेदान्ती कीदृष्टि से रस को परखकर सुधी समालोचकों के समक्ष प्रस्तुत किया। अभिनवगुप्त और मम्मट इत्यादि के मत को लेकर रस सिद्धान्त के पुनर्विवेचन की बात पण्डितराज ने स्पष्टतः स्वीकार की है—"इस प्रकार अभिनवगुप्त तथा मम्मट इत्यादि के ग्रन्थों के अनुसार अज्ञान-रूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति इत्यादि स्थायी भाव रस है, यह स्थिर हुआ। वास्तव में रति इत्यादि भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणयुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए, न कि चैतन्य विषयीभूत रत्यादि को।[५६] केवल अभिनवगुप्त और मम्मट के ही नहीं, कुल ग्यारह मतों का उल्लेख पण्डितराज ने रस प्रसंग में किया है। पण्डितराज के मत का सार इस प्रकार है—"व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक मीठे-कड़वे अनुभव मिलते हैं। इन अनुभवों की साक्षात् अनुभूति के विलुप्त हो जाने पर ये अनुभव संस्कार रूप में व्यक्ति के हृदय में सदैव के लिए स्थापित हो जाते हैं। इस प्रकार वासनारूप में स्थित साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में स्थायी कहलाए जाने वाले ये भाव जब सत्य और विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब रस संज्ञा को प्राप्त होते हैं। प्रकाशमान आत्मानन्द अज्ञान के आवरण से आवृत्त होने के कारण आनन्दानुभूति नहीं करा सकता। इस आवरण को विशीर्ण करने के लिए काव्यानुशीलन और नाट्यपरिशीलन के अवसर पर विलक्षणता सम्पन्न विभाव, अनुभाव और संचारी को मिलाकर भावकत्व व्यापार की परियोजना की जाती है, इस अलौकिक व्यापार से अनुभव-कर्ता की अल्पज्ञता विनष्ट हो जाती है और सर्वज्ञत्व जागरित होने से सहृदय को अलौकिक आस्वादन प्राप्त होता है।[५७]

---

५५. सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।—साहित्यदर्पण ३/२-३

५६. इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। —रसगंगाधर, प्रथमाननम्, पृ० ९६

५७. समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदय हृदय-प्रविष्टैः, तदीय-सहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्त रमणीत्वादिभिरलौकिक-विभावानुभावव्यभिचारी शब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादि-भिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैं चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूयप्रादुर्भाविते-नालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्ट परिमित-प्रमातृत्वादिनिज धर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरी क्रियमाणः प्राग्विनिष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।
—रसगंगाधर, प्रथम आननम् पृ० ८९

इस प्रकार पण्डितराज की दृष्टि में रस एक भावास्वाद है, जिसका प्रादुर्भाव चेतना का आवरण भंग हो जाने से होता है। सहृदय की चेतना के आवरण के विनष्ट होते ही आनन्दात्मक अनुभूति होती है। यह आनन्दात्मक अनुभूति ब्रह्मानन्द तथा लौकिक आनन्द दोनों से भिन्न होती है। आनन्दमयी चेतना के प्रोद्भास पर प्रकाश डालने के उपरान्त पण्डितराज जगन्नाथ ने आनन्द के तीन प्रकार—वैषयिक आनन्द, विषयानन्द और काव्यानन्द-बताकर काव्यानन्द को वैषयिक और विषयानन्द के मध्य की वस्तु माना।[५८]

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने विवेचन द्वारा अभिनवगुप्त के ही मत की पुष्टि की है और रसास्वाद को लौकिक आस्वाद और ब्रह्मास्वाद के मध्य की वस्तु कहकर उसकी लौकिकता और अलौकिकता की सिद्धि की है इससे अभिनवगुप्त के विवेचन में आए दोष (ब्रह्मास्वाद और काव्यास्वाद अभिन्न हैं) का भी निराकरण हो जाता है।

अभिनवगुप्त के मत के अतिरिक्त पण्डितराज ने "नव्यमत" नाम से एक मत की चर्चा की है। इस मत के आधार पर रसनिष्पत्ति की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है—"व्यंजना आदि व्यापार से विभावादि द्वारा आश्रय के हृदय में आलम्बन के प्रति विद्यमान रत्यादि का ज्ञान होने के उपरान्त भावना दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित सहृदय की आत्मा द्वारा शकुन्तलादि विषयक रति का आस्वादन किया जाता है।[५९]

यहाँ यह माना गया है कि स्थायी ही रस रूप में आस्वादित होता है और सहृदय को यह आस्वादन व्यंजना की सहायता से ही प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह नव्यमत अभिनवगुप्त के ही मत के अनुकूल है।

पण्डितराज जगन्नाथ के बाद रसविषयक जो भी चिन्तन हुआ, पूर्ववर्ती मतों का ही परिपोषक बना, मौलिकता के दर्शन उसमें नहीं होते प्रायः आचार्यों ने विभाव, संचारी भावों से अभिव्यक्त स्थायीभाव को रस कहकर अभिनवगुप्त के ही मत समर्थन कर दिया है। उदाहरणतः आचार्य विद्याराम की कृति "रसदीर्घिका" में रसाभिव्यक्ति के विषय में कहा गया है—"चित्त में सर्वत्र व्याप्त उद्रिक्त घनीभूत भाव विभावादि से निकलने पर रस कहलाता है।[६०] आचार्य अच्युतराय की दृष्टि में "विभावादित्रय के संयोग से जनित लौकिक मानस व्यापारवश आत्मनिष्ठ आनन्दांश आवरण के तात्कालिक अपसारण से साक्षी

---

(५८) रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ९५

(५९) "काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजनाव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानो निर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० १०१-१०२

(६०) भावैस्तैस्तैर्हि यश्चित्ते पूर्यमाणः समन्ततः।
उद्रिक्तः कोऽपि निर्यायात् भावः सान्द्रो रसः स्मृतः। —रसदीर्घिका, पृ० २

चित्त ही अन्तःकरण के वासनात्मक रूप में स्थित रत्यादि स्थायी भाव को भासित करता है। सुख का हेतु होने से उसे ही रस कहते हैं।[61] आचार्य भूदेव शुक्ल का कहना है—"काव्य द्वारा समुत्पन्न (सत्त्वात्मक) मनोवृत्ति से अज्ञानांश के विनष्ट होने पर काव्यात्मरूप रस स्फुरित होता है।[62] "रसमीमांसा" के रचयिता गंगाराम जडी भी यह मानते हैं कि सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी विभावादि से संयुक्त होकर रस रूप में प्रकाशित हो जाता है।[63]

इस विवेचन पर विहंगम दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज जगन्नाथ के परवर्ती आचार्यों ने रसनिष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त की ही परम्परा को स्वीकार किया है। ये सभी मत अभिनवगुप्त का ही समर्थन करते हैं अतः इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या अपेक्षित नहीं है।

इसी प्रकार हिन्दी के रीतिकाल में रसनिष्पत्ति विषयक जो वर्णन आचार्यों ने किया है, वह भी संस्कृताचार्यों के मतों का पिष्टपेषण मात्र होने के कारण यहाँ व्याख्येय नहीं है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र में रसनिष्पत्ति विषयक विवेचन को गम्भीरतापूर्वक व्याख्यायित करने वाले आचार्य हैं रामचन्द्र शुक्ल। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने परम्परागत वर्णन से कुछ अलग विवेचन रस के परिप्रेक्ष्य में किया है। उन्होंने रस को अत्यन्त व्यापक परिवेश में देखकर उसकी परिधि को विस्तार दिया। "रस-मीमांसा" तथा "चिन्तामणि" में शुक्ल जी की रस निष्पत्ति विषयक अवधारणाएँ दृष्टिगत होती हैं। इन अवधारणाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि शुक्ल जी अपनी पूर्ववर्ती रस विषयक अवधारणाओं से कहीं-कहीं मतभेद रखते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में रस का अर्थ है काव्य का आत्मतत्त्व, जो सहृदय के हृदय को "स्व" के संकुचित घेरे से निकालकर "पर" के व्यापक परिवेश में प्रवेश कराए; जिससे उसे रमणीयता से, आस्वाद्य से परिचय मिले; जीवन का कोई तथ्य या

(६१) निरुक्तविभावादित्रयसंयोगेन जनिता लौकिक मानसव्यापारवशात् आत्मनिष्ठानन्दांशावरणस्य तात्कालिकापसरेण साक्षिचित् एव अन्तःकरणे वासनात्मकतयावस्थितं रत्यादिस्थायिभावं भासयतीति स एव उक्तरीत्या सुखहेतुत्वात् रस इति। विभावादिसामग्र्या तात्कालिकापसारितानन्दावरणचिद्विशिष्टस्थायिभावत्वं रसत्वमिति।

—साहित्यसार, पृ० ८७-८८

(६२) काव्यवाक्यसमुत्पन्न मनोवृत्त्या विनाशिते
अज्ञानांशे स्फुरन्नव्यादात्मा नवरसात्मकः।

—रसविलास; आचार्य भूदेव शुक्ल, पृ०।

(६३) कविभिः काव्यैः सुहृदां मानससदनं समानीतैः।
अनुभावैश्च विभावैर्व्यभिचारिभिरपि च सम्भूय।
कश्चिदलौकिकरूपो व्यापारो जन्यते तत्र।
तस्मात् स्वतः प्रकाशाज्ज्ञानावरणमपरति द्राक्।
इत्थं च मनोवृत्तिः स्वयकं स्थायी प्रकाशते भूम्ना।
भग्नावरणज्ञानग्राह्यः स्थायी रसोऽनुमन्तव्यः।—रसमीमांसा, पृ० ३-४

सत्य उसके समक्ष प्रकट हो जाए और सहृदय का मर्म प्रभावित होकर आनन्द की अनुभूति करे।[६४] शुक्ल जी के इस मत में आचार्य विश्वनाथ कृत रस विषयक मान्यता पूर्णतः मौलिक ढंग से आई है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रस विवेचन की विशेषता यह है कि वे दार्शनिकता की दृष्टि से नहीं अपितु लोकानुभूति की दृष्टि से रस को परखते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति और लोकानुभूति में भिन्नता नहीं है। वे लोकानुभूति और काव्यानुभूति को अभिन्न मानते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र की भाँति रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं। इसी तरह वे रस को अलौकिक (अर्थात् लोकोत्तर) नहीं मानते वे तो कहते हैं कि "रसानुभूति वस्तुतः जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से टपकी हुई कोई वस्तु नहीं।[६५]

आचार्य शुक्ल से पूर्व सभी आचार्यों ने विभावादि के संयोग को रस निष्पत्ति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना है; पर शुक्ल जी का मानना है कि केवल विभाव या केवल अनुभाव के वर्णन द्वारा भी रसोत्पत्ति हो जाती है। कभी-कभी आलम्बन रूप में वर्णित प्रकृति मात्र से रस निष्पत्ति हो जाती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी हिन्दी काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, परन्तु रस निष्पत्ति विषयक उनकी मान्यताएं निर्भ्रान्त नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि वे एक ओर रस की आनन्दात्मकता और अलौकिकता को स्वीकार नहीं करते और दूसरी ओर स्पष्ट शब्दों में "हृदय की मुक्तावस्था" को रसदशा की संज्ञा देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि "कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनके सामने आने पर हमारा 'अपना' ज्ञान हवा हो जाता है।[६६]

यह बात स्वीकार की जा सकती है कि रसानुभूति जीवन के भीतर की ही अनुभूति है—आचार्य भरत ने भी इसीलिए नाट्यरस और भोज्यरस को समकक्ष माना है, किन्तु जीवन से उत्पन्न होने पर भी उसमें लोकोत्तरता आ जाती है, यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता।

आचार्य शुक्ल की यह मान्यता भी स्वीकार्य नहीं है कि केवल विभाव या केवल अनुभाव निष्पत्ति के लिए पर्याप्त हैं। यदि अनुभाव न हों तो दर्शकों को रंगमंचीय प्रस्तुति का बोध ही नहीं होगा। अतः शुक्ल जी की ये मान्यताएँ स्वीकार्य नहीं है। इसके साथ ही यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी ने शील वैचित्र्य के आधार रसानुभूतियों की कोटियाँ निर्धारित की हैं जो बुद्धि ग्राह्य नहीं है।

दरअसल शुक्ल जी के विवेचन में एक ओर संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव है तो

---

६४. ···हृदय की मुक्तावस्था का ही अपर पर्याय रस दशा है, जिस तक पहुंच कर व्यक्ति मुक्त हृदय होकर स्वार्थ-सम्बधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठ कर विशाल हृदय वाला हो जाता है। —रसमीमांसा, पृ० ५

६५. चिन्तामणि

६६. रसमीमांसा, पृ० ५

दूसरी ओर वे पश्चिम के आचार्यों—अरस्तू, हीगेल, क्रोचे, डंटन, होरेस, इलियट, आदि से भी प्रभावित हैं। उनके मत में इसीलिए एक ओर अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि के मत प्रस्तुत किये गए हैं तो दूसरी ओर अरस्तू के कैथारसिक को भी उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं किया है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ भले ही स्वीकार्य न हों परन्तु काव्य और काव्यास्वाद विषयक उनका विवेचन अपना विशिष्ट स्थान तो रखता ही है।

आचार्य शुक्ल के बाद पं० केशवप्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दर दास, रामदहिन मिश्र आदि ने परम्परागत दृष्टि अपनाते हुए रसविवेचन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने भी रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में संस्कृताचार्यों की स्थापनाओं का ही पुनराख्यान किया। डॉ० नगेन्द्र से पूर्व डॉ० राकेश गुप्त ने अपनी प्रसिद्ध कृति "साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस" में मनोवैज्ञानिक आधार पर पुनर्परीक्षा करते हुए रस की आनन्दात्मकता का खण्डन किया। उन्होंने साधारणीकरण सिद्धान्त को व्यर्थ कहा और अभिनवगुप्त के मत में आई कुछ मूल बातों का खण्डन किया। सर्वप्रथम डॉ० राकेश सहृदय के अपरिमित प्रमातृत्व पर आक्षेप करते हैं "पात्रों और उनकी मानसिक धारणाओं का साधारणीकरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है; इसके साथ ही बाह्य विचारों से रसानुभूति के अवसर पर मुक्त होना कोई आवश्यक नहीं है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और प्रस्तुतीकरण की युक्तियाँ न तो साधारणीकरण में सहायक होती हैं और न दर्शक के मन में रसास्वादन में विघ्न उपस्थित करने वाले अन्य विचारों का आवागमन ही रोक पाने में सक्षम हैं।[६७]

डॉ० गुप्त "निर्विघ्न प्रतीति" की बात भी स्वीकार नहीं करते साथ ही अभिनवगुप्त का आनन्दवाद भी उन्हें मान्य नहीं है।

पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करने के उपरान्त डॉ० गुप्त अपना मत प्रस्तुत करते हैं—"सम्पूर्ण काव्यप्रस्तुति पाठक, श्रोता, और प्रेक्षक के लिए विभाव के रूप में उपस्थित होती है।...प्रेक्षक आश्रय के रूप में आलम्बन से प्रभावित होकर रसानुभूति करता है[६८] रसानुभूति के लिए उसकी मनःस्थिति ग्राहिकाशक्ति और संस्कार अनुकूल परिस्थितियाँ जुटाते हैं और अनुकूल परिवेश में उसकी रुचि के अनुरूप जो भी प्रस्तुति है उसके समक्ष होती है, वह उससे आस्वादन प्राप्त करता है। यह आस्वादन मात्र आनन्दात्मक नहीं होता इसमें सभी प्रकार की लौकिक अनुभूतियाँ होती हैं प्राचीन आचार्यों द्वारा स्थापित किया हुआ साधारणीकरण सिद्धान्त कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि सहृदय इस बात को नहीं भूल सकता कि जो कुछ वह देख रहा है—नाटक है, काल्पनिक है। चेतना के केन्द्र में उसे भले

---

६७. साइक्लोलोजिकल स्टडीज इन रस, पृ० ६५।६७

68. The subject matter of poetry serves merely as a fundamental determinant (Alamban Vibhav) for the way in which he relishes poetry and in which its ideas and thoughts affect him. × × × Assuming the perceiver of poetry as the receptade (Asraya) of poetic relish and the poetry which is relished fundamental determinant.

—साइकॉलॉजिकल स्टडीज इन रस, पृ० ९२

ही नाटक नाटक न लगकर वास्तविक लगे, उसकी चेतना का एक कोना उसे कचोटता ही रहता है और यह स्मरण कराता रहा है कि जो कुछ वह देख रहा है, कल्पना है। रहा करुण रस के आस्वादन का प्रश्न—तो व्यक्ति सुख की खोज में हमेशा नहीं रहता। फिर जब वह करुण और त्रास से पूर्ण दृश्य देखता है तो उसे हर्षानुभूति नहीं होती—वह विषाद से भर जाता है। यह पृथक् बात है कि सम्पूर्ण प्रस्तुति के उपरान्त वह एक तोष का अनुभव करता है, लेकिन रसानुभूति के अवसर पर दुःख के प्रसंगों में उसे दुःखानुभूति ही होती है। × × अतः यह कहना अनुपयुक्त है कि काव्य-जगत में केवल आनन्द की ही प्राप्ति होती है।"[६९]

डॉ० गुप्त के दृष्टिकोण को परखने पर यह स्पष्ट है कि उनको रस की आनन्दात्मकता और साधारणीकरण सिद्धान्त मान्य नहीं है। लेकिन आचार्य अभिनव गुप्त के साक्ष्य पर हम यह स्वीकार करते हैं कि नाटक देखते समय दर्शक के हृदय से देशकाल की सीमा का परिहार हो जाता है। वह यह भूल जाता है कि वह प्रेक्षागृह में बैठकर नाटक देख रहा है; यह भूल जाता है कि उसका अस्तित्व क्या है ? वह कौन है ? उसके जीवन की जो विविध चिन्ताएँ है, इच्छाएँ है वे भी उसे उस समय विस्मृत हो जाती हैं। हाँ, प्रेक्षागृह से बाहर आने पर या फिर रसानुभूति के अवसर पर कोई बाधा आ जाने के कारण वह पुनः अपने वास्तविक जगत् में लौट आता है। यही स्थिति नट आदि की भी हो जाती है। एक ओर प्रमाता के हृदय में अपरिमित भाव जागृत हो जाता है तो दूसरी ओर पात्र भी अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य छोड़कर सामान्य बन जाते हैं। इस स्थिति में जो कुछ रंगमंच पर प्रस्तुत हो रहा है, उससे प्रमाता की चेतना मेल खा ही जाती है। जब एक की चेतना प्रत्येक सहृदय प्रेक्षक की चेतना बन जाती है तो साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण के अतिरिक्त और किस शब्द द्वारा इस स्थिति को व्याख्यायित किया जा सकता है ? अतः साधारणीकरण को न मानना ठीक नहीं है। रही बात रस की आनन्दात्मकता की तो डॉ० गुप्त यह बात मानते हैं कि नाटयानुशीलन/काव्य-परिशीलन के अवसर पर चेतना आविष्ट हो जाती है और दर्शक का मनःरमण हो जाता है। रस रमणीय है रमणीय होने से ही आस्वाद्य और आस्वाद्य होने से रस है। अतः प्रकारान्तर से वे आनन्दात्मकता का विरोध नहीं करते।

डॉ० राकेश गुप्त, डॉ० नगेन्द्र के अतिरिक्त डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ० राममूर्त्ति त्रिपाठी, डॉ० कृष्णदेवझारी, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० सच्चिदानन्दचौधरी आदि अनेकानेक विद्वानों ने रसविषयक विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्राचीन आचार्यों के ही मत का पुनराख्यान किया है।

उपसंहार

रसनिष्पत्ति की आधारभित्ति है भरत का रससूत्र। इस रससूत्र की आचार्यों द्वारा समय-समय पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्याएँ की गई हैं। लोल्लट की दृष्टि में स्थायी और विभावादि में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से रसोत्पत्ति होती है; तो आचार्य शंकुक की दृष्टि से रसानुमिति। इन दोनों की दृष्टि प्रेक्षक पर केन्द्रित नहीं हुई और भट्टनायक ने प्रेक्षक को ही अपनी अपनी व्याख्या के केन्द्र में रखकर उपमुक्तिवाद की स्थापना

६९. वही, पृ० ९३-९६

करके पूर्ववर्ती आचार्यों के मत में आए दोष का परिहार कर दिया। उनके द्वारा स्थापित साधारणीकरण सिद्धान्त परिवर्तियों के विवेचन का विषय बना। आचार्यों ने इस सिद्धान्त की प्रबल प्रतिष्ठा की, कुछ आचार्यों ने साधारणीकरण का विरोध भी किया परन्तु विरोध का स्वर इतना तीव्र नहीं हो सका कि साधारणीकरण सिद्धान्त को धराशायी कर पाता।

इस सिद्धान्त को भट्टनायक के मत का विरोध करने के बावजूद भी अभिनवगुप्तपाद ने स्वीकार ही नहीं किया, अपितु उसकी विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की। आचार्य अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद रसनिष्पत्ति की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या करने में सक्षम रहा। इस व्याख्या की उपादेयता, सरसता, सरलता तथा प्रामाणिकता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि उनके अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने अविकल रूप से उनके ही मत का पुनराख्यान किया हैं।

साधारणीकरण : आक्षेप और समाधान

लेखक—डॉ० सुन्दर लाल कथूरिया, डी० लिट्
(रीडर-अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
इन्दिरागान्धी मुक्त विश्वविद्यालय,
ए-३६, कैलाश कालोनी)
बी-३/७६, जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८

साधारणीकरण रस-सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग है। यह प्रसंग वस्तुतः रस-निष्पत्ति से सम्बद्ध है। साधारणीकरण काव्यशास्त्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न—काव्य में वर्णित किसी पात्र-विशेष के भाव सहृदय के लिए आस्वाद्य कैसे बन जाते हैं—की व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह प्रसंग जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही विवादास्पद है। साधारणीकरण-सिद्धान्त के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं, उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) परवर्ती आचार्य विशेष द्वारा पूर्ववर्ती आचार्य विशेष के साधारणीकरण-सम्बन्धी मन्तव्य पर आक्षेप।

(२) किसी अन्य व्यापार को साधारणीकरण के समकक्ष बैठाने के प्रयास के फलस्वरूप साधारणीकरण-सिद्धान्त की शास्त्रीय मान्यता पर आक्षेप।

(३) साधारणीकरण-सिद्धान्त को काव्य के लिए अनावश्यक बताते हुए उस पर आक्षेप।

परवर्ती आचार्य विशेष द्वारा पूर्ववर्ती आचार्य विशेष के साधारणीकरण सम्बन्धी मन्तव्य पर आक्षेप और उनका समाधान

साधारणीकरण-सिद्धान्त के उद्भावक भट्टनायक माने जाते हैं। इस सिद्धान्त के बीज यों तो भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध होते हैं।[1] भट्टनायक के ग्रन्थ 'हृदय-दर्पण' के अनुपलब्ध होने के कारण आज हमें अभिनवगुप्त की शब्दावली का ही आश्रय लेना पड़ता है। भट्टनायक का एतद्विषयक मत, अभिनगुप्त के शब्दों में इस प्रकार है—

तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन

---

१. एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

—नाट्यशास्त्र (सं०—डॉ० रघुवंश) सप्तम अध्याय, पृ० ४१३)

भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

—इसलिए काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षण के कारण (अर्थात् दोषरहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थ को काव्य कहा जाता है, इस काव्य-लक्षण के अनुसार) और नाटक में (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य) चार प्रकार के अभिनय के द्वारा (सामाजिक के) अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप, अभिधा के बाद (द्वितीय अंश पर) होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (साधारणीकृत) रस, अनुभव, स्मृति आदि से भिन्न प्रकार के रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रवीमान, विस्तार तथा विकास रूप, सत्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्तिरूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश (भोग) किया जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त मम्मट के काव्यप्रकाश में भी भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक मान्यता निम्न रूप में उपलब्ध होती है :

× × × काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तिसततत्वेन भोगेन भुज्यते।

— × × × काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय (तुरन्त बाद में होने वाले), विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायी भाव, सत्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय विश्रांति (आत्मास्वाद या ब्रह्मास्वाद) के समान, भोग से (भोजकत्व व्यापार के द्वारा) आस्वादित किया जाता है।[2]

इन उद्धरणों के आलोक में भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

(१) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(२) अभिधा के बाद भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव रसरूप में परिणत हो जाता है।

(३) भावकत्व व्यापार निबिडनिजमोहरूपी संकट का निवारण हो जाता है अर्थात् सहृदय व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है।

(४) साधारणीकरण के उपरान्त सहृदय रस का भोग करता है।

भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक मान्यताओं पर आक्षेप

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक मान्यताओं पर अनेक आक्षेप किये हैं, जिनका सार निम्नस्थ है—

(१) रस और रस-भोग का अन्तर असमीचीन है, क्योंकि भावित स्थायी भाव रस है और यह भाव अन्ततः आस्वाद रूप हो जाता है।

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६४-६५

२. हिन्दी काव्यप्रकाश, पृ० १०६-७

(२) रस की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति का निषेध करने से रस की सत्ता ही असिद्ध हो जाती है।

समाधान

रस और रस-भोग का अन्तर इस रूप में माना जा सकता है कि रस आस्वाद्य भाव है और रस-भोग भावास्वादन। परन्तु अभिनव रस को भावास्वादन मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार इन दोनों में भेद नहीं है। साधारणीकरण के प्रसंग में भट्टनायक ने जो भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की, उनके मूल में यह धारणा प्रतीत होती है कि वे रस को ध्वनि अथवा यों कहिए कि व्यंजना वृत्ति से पृथक् रखना चाहते थे। रस की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति का निषेध करते हुए वे रस की भुक्ति स्वीकार करते हैं। इससे लगता ऐसा है कि जैसे वे रस की 'उत्पत्ति' ही मान रहे हैं, यद्यपि इस प्रकार उनके मन्तव्य में 'वदतोव्याघात' आ जाता है। फिर भी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनका साधारणीकरण सिद्धान्त समग्रतः पूर्ण नहीं है और इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने दृष्टिकोण से उसके रूप में यत्किंचित् परिवर्तन कर दिया है।

आचार्य अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक मान्यताओं को डॉ० नगेन्द्र ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र से भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है; केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता—वरन् समस्त सामाजिक एकाग्र-चित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।[1]

अभिनवगुप्त का यह साधारणीकरण-आख्यान भट्टनायक के ही सिद्धान्त की व्याख्या है। भट्टनायक ने स्थायी भावों का उल्लेख स्पष्टतः नहीं किया, तथापि संभावना यही है कि उन्हें 'विभावादि' शब्द में स्थायी भाव का समावेश भी अभीष्ट रहा होगा। उनके 'निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा' में व्यक्ति-संसर्गों से मुक्ति की ध्वनि तो स्पष्ट ही है।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकारों ने साधारणीकरण को प्रायः इसी रूप में स्वीकार कर लिया और वे विभावादि का साधारणीकरण मानते रहे। आचार्य विश्वनाथ ने आश्रय के

१. रस-सिद्धान्त, पृ० १९६-९७

साथ प्रमाता के अभेद पर औरों की अपेक्षा अधिक बल दिया।[1] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद' भी 'सर्वाङ्ग के साधारणीकरण' में ही अन्तर्भुक्त है, अतः उस पर बल देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण को 'भावनादोष' के नाम से अभिहित किया है।[2] परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अद्वैत-वेदान्त में आस्था होने के कारण उन्होंने साधारणीकरण को 'भावना-दोष' के रूप में स्वीकार किया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उनका यह विचार मान्य नहीं है।

हिन्दी में 'साधारणीकरण' के पुनराख्यान और उस पर मौलिक चिन्तन का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। वे स्वतन्त्र चिन्तक थे। उन्होंने नवीन रूप से साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य शुक्ल का यह कथन सर्वथा ठीक है कि 'काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।'[3] परन्तु साधारणीकरण विशेष को सामान्य बनाता है। शुक्लजी भी स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति विशेष रहता है परन्तु उसमें सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है और इस प्रकार आलम्बनत्व धर्म या आलम्बनस्वरूप और प्रभाव का साधारणीकरण होता है। वस्तुतः भट्टनायक के अनुसार आलम्बन का और उसके साथ भाव, आश्रय, पात्र, भावक आदि सर्वाङ्ग का साधारणीकरण होता है और यही बात शुक्लजी की बात की अपेक्षा अधिक मान्य है। शुक्लजी का नैतिक दृष्टिकोण भी इस मार्ग में बाधक रहा है। उन्हें यह स्वीकार्य नहीं हुआ कि सीता केवल नारी बनकर रह जाय। इसी कारण आचार्य शुक्ल आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं।[4] आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण सिद्धान्त पर विचार करते हुए डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित लिखते हैं—'आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण-सम्बंधी अपने विचार कई लेखों में बिखरे रूप में प्रस्तुत किये हैं, जिनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे कवि सहृदय, पात्र और भाव सभी का साधारणीकरण मानते हैं और इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधरणीकृतिः॥
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥ साहित्यदर्पण, ३/९-११

२. काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजन व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादि विषयकरत्यादिरेव रसः।
—हिन्दी रसगंगाधर, प्र०अ०, पृ० १०१

३. रस-मीमांसा, पृ० ३१०

४. (क) जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

आलम्बन को ही मानते हुए उसी के साधारणीकरण पर जोर देते है। इस प्रसंग में वे कभी-कभी आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं और कभी आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं।"[1] वस्तुत: शुक्लजी ने आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण पर बल दिया है और भाव का भी साधारणीकरण स्वीकार किया है। कवि सहृदय, और पात्र के साधारणीकरण पर उनका आग्रह नहीं है।

आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण-सिद्धान्त पर आक्षेप

पं० केशवप्रसाद मिश्र[2] ने आचार्य शुक्ल के इस विवेचन को भ्रामक बताते हुए कहा है कि उनका मत भट्टनायक के मत के निकट और अभिनव के मत के प्रतिकूल है। साथ ही उनकी मान्यता बौद्धिक एवं नैतिक होने के कारण अपूर्ण भी है।

पं० रामदहिन मिश्र ने भी आचार्य शुक्ल के मंतव्यों पर आक्षेप करते हुए लिखा है—'क्या रसोद्‌बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? × × × अत: केवल आलम्बन का नहीं सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।'[3]

समाधान—इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य शुक्ल अपनी काव्य-विषयक विशिष्ट मान्यताओं एवं नैतिक दृष्टि के कारण आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर बल देते हैं परन्तु वे अन्य पक्षों की भी अवहेलना नहीं करते, उनका भी साधारणीकरण मानते हैं। अपने चिन्तन में मौलिक होने पर भी वे शास्त्र-विरोधी नहीं हैं।

डॉ० नगेन्द्र की साधारणीकरण विषयक मान्यता

डॉ० नगेन्द्र ने सर्वाङ्ग के साधारणीकरण को मान्यता प्रदान करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया है कि 'यह काव्य-प्रसंग तो अपने आपमें जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति, सामान्य

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।

—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७-२३०

(घ) साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।

—रस मीमांसा, पृ० २६६

(ङ) साधारणीकरण स्वरूप का होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं। वही, पृ० २६८

१. रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० १२८
२. देखिए—डॉ० श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन में पृ० २१९ पर उद्धृत पं० केशवप्रसाद मिश्र का उद्धरण।
३. काव्यदर्पण, पृ० १७१

भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति-भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना।'[2] इसी की व्याख्या करते हुए वे आगे लिखते हैं-अतः काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब मात्र है—यह प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है; और, चूंकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।'[3] स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र सर्वाङ्ग के साधारणीकरण को स्वीकार करते हुए भी उसे मूलतः 'कवि की अनुभूति' का साधारणीकरण मानते हैं, उनके विचारानुसार साधारणीकरण 'कवि की अनुभूति' का होता है।

डॉ० नगेन्द्र की उक्त मान्यता पर आक्षेप

डॉ० नगेन्द्र की उक्त मान्यता पर डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने निम्नलिखित आक्षेप किये हैं :

(१) डॉ० नगेन्द्र ने तादात्म्य और साधारणीकरण को एक ही वस्तु मान लिया है।[4]

(२) डॉ० नगेन्द्र ने तादात्म्य और साधारणीकरण का भी तिरस्कार कर दिया है।[1]

(३) वे सहृदय को साधारणीकृत रूप का भोक्ता-मात्र मानते।[2]

(४) डॉ० नगेन्द्र ने आलम्बन के साधारणीकरण को भी समुचित महत्व प्रदान प्रदान नहीं किया है।[3]

समाधान—इन आक्षेपों में कितना सार है, यह डॉ० दीक्षित के अपने ही शब्द परोक्षतः घोषित कर रहे हैं—'यद्यपि डॉ० नगेन्द्र 'कवि की अनुभूति के साधारणीकरण' का सिद्धान्त प्रस्तुत करके सही मार्ग पर चले हैं, किन्तु फिर 'कवि की अनुभूति से सहृदय की अनुभूति का तादात्म्य' सिद्धान्त उपस्थित करके साधारणीकरण के वास्तविकरूप को विकल कर देते हैं।'[4]

वस्तुतः डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण-सिद्धान्त में 'सर्वांग के साधारणीकरण' को अस्वीकार न करते हुए उसे और अधिक मनोवैज्ञानिक धरातल पर अवस्थित करने का प्रयत्न किया है, पर इस संदर्भ में एक और स्पष्टीकरण आवश्यक है। यदि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है तो फिर प्रत्येक सहृदय किसी कविता को ठीक उसी अर्थ में ग्रहण क्यों

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० २०९
२. वही, पृ० २०६
३. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० १३०-४०।
४. रस-सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेषण, पृ १४०
५. वही, पृ० १४०
६. वही, पृ० १४०-४१
७. वही, पृ० १४१

नहीं करता जो कवि के मन में रहता है ? इस दृष्टि से विचार करने पर मुझे लगता है कि साधारणीकरण में सामाजिक की मानसिकता का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है अतः कवि की अनुभूति की अपेक्षा सामाजिक की मानसिकता का साधारणीकरण स्वीकार करना मुझे कही अधिकयुक्तिसंगत लगता है। वस्तुतः लिख जाने के बाद रचना कवि की न रहकर सार्वजनिक हो जाती है । कई बार जीवन में ऐसा भी देखा जाता है कि कोई कवि जब हमें एक कविता सुनाता है और हमसे उसका भावार्थ पूछता है तो हमारी व्याख्या को सुनकर वह उछल पड़ता है और कहने लगता है कि जब मैंने यह कविता लिखी थी तो यह भाव मेरे मन में नहीं था किन्तु यह भाव उससे सुन्दर है और मेरी रचना को वृहत्तर संदर्भों से जोड़ रहा है । आज तुलसी की चोपाइयों के ही जितने अर्थ किये जा रहे हैं, उतने तुलसी के मस्तिष्क में भी न रहे होंगे । प्रत्येक सहृदय अपनी मानसिकता के अनुरूप रचना से साधारणीकृत होता है—और, हर व्यक्ति की मानसिकता एक-सी नहीं होती, अतः प्रत्येक सहृदय (श्रोता-पाठक-दर्शक) रचना से कवि की अनुभूति के रूप में ही साधाणीकृत नहीं होता ।[५]

निष्कर्ष—इस संक्षिप्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि शास्त्रविदों के इन आक्षेपों-प्रत्याक्षेपों द्वारा रस-सिद्धान्त का विकास और हितसंपादन ही हुआ, अहित नहीं । साधारणीकरण का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हुआ । प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की और इस प्रकार साधारणीकरण का स्वरूप विवाद का विषय नहीं बना, अपितु साधारणीकरण किसका होता है, इसी पर विवाद होता रहा ।

किसी अन्य व्यापार को साधारणीकरण के समकक्ष बैठाने के प्रयास के फलस्वरूप 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' की शास्त्रीय मान्यता पर आक्षेप

सामूहिक भाव और साधारणीकरण

प्रगतिवादी समीक्षक वर्ग-साहित्य में विश्वास रखते हैं और साहित्य को भी आर्थिक आधारों पर अवस्थित मानते हैं । प्रगतिवादी समीक्षक श्री क्रिस्टोफर कॉडवेल ने काव्य का 'कलैक्टिव इमोशन' से सम्बन्ध स्थापित किया है । उनका विचार है कि काव्य समूह-विशेष के भावों के प्रकटीकरण का वह माध्यम है, जिसमें कवि की आत्म-चेतना अन्य व्यक्तियों के सामान्य भावों के साझीदार के रूप में व्यक्त होती है ।[१] कॉडवेल की इस विचारधारा की श्री अमृतराय ने इस रूप में व्याख्या की है :

'सामूहिक भाव से कॉडवेल का अभिप्राय उस भाव-कोष से है, जो परिस्थितियों तथा संस्कारों के कारण किसी देश-काल में विशाल जनसभा के हृदय में अपनी स्थिति बना लेता है । सामूहिक भावों की स्थिति लोक-हृदय में होती है । इतना ही नहीं, जिस प्रकार पुष्प का गुण उसकी सुगन्ध है और पानी का गुण उसकी तरलता, उसी प्रकार लोक-हृदय

१. द्रष्टव्यः नई कविता और रस-सिद्धान्त, डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया, पृ० २८
२. इल्यूजन एण्ड रियलिटी, पृ० ३१

का गुण उसके सामूहिक भाव होते हैं। इन्हीं सामूहिक भावों की समष्टि है लोक-हृदय। इसलिए सच्चे कलाकार को लोक-हृदय की पहचान होनी चाहिए, और सच्चे कलाकार को जनता के सामूहिक भावों की पहचान होनी चाहिए, ये दोनों कथन एक से हैं।'[2] इस विवेचन के उपरान्त वे आगे लिखते हैं—हमें सामूहिक भाव और साधारणीकरण में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखाई देता। हमारी समझ में यह विरोध तभी परिलक्षित होता है जबकि साधारणीकरण को या सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त को मानव-सुलभ विचार और अनुभूति की सीमा से परे हटाकर किसी लोकोत्तर जगत् की चीज बना दिया जाता है।[3]

निस्सन्देह सामूहिक भाव का सम्बन्ध लोक-हृदय से है, क्योंकि सामूहिक भाव भी अन्ततः किसी समाज के लोगों के मन में संस्कार रूप में बसे भाव ही हैं। अतः सामूहिक भाव की कल्पना और साधारणीकरण-प्रकल्पना में बहुत-कुछ समानता है। फिर भी श्री कॉडवेल द्वारा विवेचित 'कलैक्टिक इमोशन' और साधारणीकरणको अभिन्न नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि कॉडवेल ने जिस 'कलेक्टिव इमोशन' की चर्चा की है, वह संकीर्ण वर्ग-चेतना पर आधृत है और इसे कॉडवेल ने अनेक स्थानों पर 'एसोसियेटेड मैन' के नाम से अभिहित किया है।[1] इसके अतिरिक्त वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सामूहिक भाव समाज सापेक्ष होने के कारण सतत परिवर्तनशील हैं।[2] श्री अमृतराय ने भी अनेकत्र इन विचारों को अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं : 'सामूहिक भाव का सिद्धान्त निपीड़ित शोषित जनता से तादात्म्य स्थापित करने की बात कहता है, जोकि साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं कहता; लेकिन उसके कारण दोनों में कोई अन्तर नहीं आता।'[3] परन्तु इन दोनों (सामूहिक भाव और साधारणीकरण) को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। यदि इन्हें अभिन्न माना जाय तो उससे साधारणीकरण के शास्त्रीय रूप पर आघात होगा और अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी—

(१) साधारणीकरण मानव मात्र की भावनाओं की व्यक्ति-संसर्गों से मुक्ति और कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम न होकर किसी वर्ग-विशेष के भावों से सम्बद्ध हो जाएगा, क्योंकि कॉडवेल के सामूहिक भाव का सम्बन्ध मानव-मात्र से न होकर वर्ग-विशेष से है।

(२) इससे साधारणीकरण का वास्तविक स्वरूप ही खण्डित हो जाएगा, क्योंकि किसी वर्ग-विशेष की विचारधारा किसी अन्य वर्ग की विचारधारा की विरोधिनी भी हो सकती है और उस स्थिति में साधारणीकरण में भी राग-द्वेष की स्थिति माननी पड़ेगी।

(३) सामूहिक भाव परिवर्तनशील है, यदि दोनों—सामूहिक भाव और साधारणीकरण—पर्यायवाची मान लिए जाएँगे तो फिर एक अन्य समस्या उठ खड़ी होगी—एक

---

१. नयी समीक्षा, पृ० २२
२. वही, पृ० २४
३. इल्यूजन एण्ड रियलिटी, पृ० ६६, १३५
४. वही, पृ० २९
५. नयी समीक्षा, पृ० २८

युग का साहित्य दूसरे युग को क्यों स्वीकार हो ? इसका कारण यह है कि सामूहिक भाव शाश्वतता का आधार लेकर नहीं चलाता, वह तो युगीन परिस्थितियों से नियन्त्रित होता है।

स्पष्ट है कि साधारणीकरण अपने भीतर जहाँ व्यापकता लिए हुए है वहाँ सामूहिक भाव मार्क्सवादी दृष्टि के संकीर्ण धरातल पर अवस्थित है। अतः वर्ग-चेतना से आवद्ध एवं युगीन परिस्थितियो से नियन्त्रित 'सामूहिक भाव' साधारणीकरण, का पर्याय नहीं हो सकता।

साधारणीकरण-सिद्धान्त को काव्य के लिए अनावश्यक बताते हुए उस पर आक्षेप

साधारणीकरण-सिद्धान्त पर सबसे निर्मम प्रहार 'नयी कविता' के पोषक 'नये कवियों' एवं 'नये आलोचकों' द्वारा हुआ हैं। 'नयी कविता' समग्र रस-सिद्धान्त का विरोध तो करती ही है, उसमें साधारणीकरण-सिद्धान्त की भी उपेक्षा की गयी है। यह कविता नवीन विषयवस्तु, नवीन अभिव्यंजना शैली, नवीन उपमान, नवीन अलंकरण-प्रणाली एवं नवीन भाषा-विन्यास के साथ उपस्थित होती है, अतः इसे नवीन भावक की भी आवश्यकता है। इसके भावक की विशेषताएँ, डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में, इस प्रकार हैं—

'वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं; एक और जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति परम्परागत वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो सम्पूर्ण रूप से नहीं दूसरी ओर जो नयी दिशाएँ खोजने में संलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की आशंसा करने में संकोच नहीं करते।'[1]

नयी कविता के आद्याचार्य श्री 'अज्ञेय' के सम्मुख साधारणीकरण की समस्या है। वे साधारणीकरण को एकदम छोड़ नहीं देना चाहते, उसे कुछ समय के लिए सीमित क्षेत्र में रखना चाहते हैं, उसकी उपेक्षा करना चाहते हैं। उनके एतद्विषयक विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है :

(१) यह (अर्थवान् शब्द की समस्या) आज के कवि की सबसे बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कविकर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और कम्यूनिकेशन (सम्प्रेषण) की समस्या है।[2]

(२) वह (कवि) 'व्यक्ति-सत्य' के 'व्यापक-सत्य' बनाने का सनातन उत्तर-दायित्व अब भी निवाहना चाहता है पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन

---

१. नयी कविया, अंक एक (१९५४), पृ० ६-७ (नयी कविता : नयी अभिरुचि)

२. तार सप्तक, वक्तव्य, पृ० २७६

के ज्वालामुखी से बहकर आते हुए लावा से ही भरकर और जमकर रुद्ध हो गयी हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है।[1]

(३) ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य—तथ्य नहीं, सत्य अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह—उसी क्षेत्र में नहीं, उसके बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रश्न ही छोड़ दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे--यानी साधारणीकरण तो करे, पर साधारण का क्षेत्र सीमित कर दे, अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले, या फिर वह वृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर, उसके बाहर जाकर, राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा, अर्थात् एक-दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा।[2]

(४) जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता, कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है; नहीं तो अगर भाव भी वही पुराने हैं, रस भी और संचारी व्याभिचारी सबकी तालिकाएँ बन चुकी हैं, तो कवि के लिए नया कहने को रह क्या गया ?[3]

(५) साधारणीकरण उसने—नयी कविता के लेखक ने—छोड़ नहीं दिया है, पर वह जितनों तक पहुँच सके, उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है; उनको छोड़कर नहीं।[4]

स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' साधारणीकरण के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, उसे काव्यसर्जना और आस्वादन के लिए आवश्यक मानते हैं; परन्तु उसकी परम्परागत प्रणालियों को जीव्यमान कर नयी प्रणालियों के अन्वेषण में विश्वास करते हैं और बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह करने वाले कवियों के लिए सीमित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने की बात कहते हैं। कोई भी विवेकशील आलोचक साधारणीकरण के नाम पर 'सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से' व्यक्त करने के आग्रह का पोषण नहीं करेगा।

इसी का समर्मथन करने वाले अनेक आलोचकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि नयी कविता में साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं। तार सप्तक के कवि-वर्ग की आलोचना करते हुए भी लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखते हैं कि 'तार सप्तक के कवि साधारणीकरण

१. वही, पृ० २७६-७९
२. वही, भूमिका, पृ० १०
३. वही,
४. वही,

का सिद्धान्त नहीं मानते।'[1] डॉ० नगेन्द्र ने भी नयी कविता में साधारणीकरण का अभाव देखकर इस ओर संकेत करते हुए लिखा है : 'कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति।'[2]

इन नये कवि-आलोचकों के अतिरिक्त डॉ० राकेश गुप्त ने भी साधारणीकरण की आवश्यकता का निषेध करते हुए लिखा है कि सहृदय इस तथ्य से परिचित होता है कि उसके मन में उठने वाले भाव उसके अपने ही भाव हैं, अतः साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं रहती।[3] यह मत निश्चय ही चिन्त्य है, क्योंकि सहृदय के भाव अकारण ही उद्बुद्ध नहीं होते। विभाव सहृदय में भावों को जागरित करते हैं। अतः भाव-जागरण विभाव-सापेक्ष है। इसलिए भावों का साधारणीकरण आवश्यक है।

नये कवि-आलोचकों की साधारणीकरण विषयक मान्यताओं का अनेक आलोचकों ने खण्डन किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की इस विचारधारा का कि हम परम्परागत रूप, शिल्प, सज्जा और, पूर्वाग्रहों से इतना परिचित हो जाते हैं कि उनका साधारणीकरण अथवा अविधात्मक शैली भावबोध को स्थिर बना देती है, खण्डन किया है।[4]

नये कवियों द्वारा साधारणीकरण की उपेक्षा उनके अपने लिए भी घातक सिद्ध होगी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है— 'यथार्थवाद या वैज्ञानिक युग के काव्य में कतिपय पुराने तत्त्वों और शैलियों का परित्याग किया जाना बहुत-कुछ स्वाभाविक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य अपने तत्त्वों को—जिनके द्वारा वह लोक में संप्रेषित होता और प्रसार पाता है—छोड़ दे। हिन्दी के नये काव्य-प्रणेताओं और समीक्षकों ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिये हैं, जिनसे काव्य के मूल स्वरूप पर ही आघात पहुँचा है। श्री अज्ञेय तथा श्री जगदीश गुप्त जैसे विचारशील लोगों ने काव्य की स्वीकृत सरणि पर प्रश्न-चिन्ह लगाया है और काव्य में रस की स्थिति पर भी कुछ नये विचार प्रकट कियेहैं—जो भारतीय साहित्य-शास्त्र से समर्पित नहीं हैं। कतिपय समानधर्मा कवि और लेखकों के लिए ही काव्य की प्रेषणीयता अपेक्षित होती है तथा व्यापक सहानुभूति के स्थान पर केवल सहानुभूति नये काव्य का उद्देश्य है। इन तथा इस प्रकार के अन्य वक्तव्यों ने काव्य के स्वरूप तथा लक्ष्य के संबंध में संदेह उत्पन्न कर दिया है। इन्हीं मूल स्थापनाओं को अतिवादी सीमा तक पहुँचाने वाले नव्यतर लेखकों और समीक्षकों ने काव्य

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २७
२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १२५
३. साइकॉलोजिकल स्टडीज इन रस, पृ० ५५, ५६, ५७, ६५, ६६
४. आस्था और सौन्दर्य, पृ० २४१

में रस की स्थिति ही अमान्य कर दी है। वे सौन्दर्य की स्थिति भी मानने को तैयार नहीं हैं, जिसका परिणाम न केवल कविता को अकविता बना देना है, वरन् उसे ऐसी व्यक्तिवादी और अनगढ़ भूमि पर पहुँचाना है जो स्वतः नयी कविता के लिए एक घातक वस्तु बन सकती है।'[1]

नये कवियों ने आधुनिक युग के भावबोध में हुए परिवर्तन और साधारणीकरण के मार्ग में आनेवाली अनेक कठिनाइयों की चर्चा की है। यह सत्य है कि आज की जीवन-स्थिति विगतकालीन परिस्थितियों से अधिक जटिल है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि आज के पाठक को—प्रबुद्ध पाठकों को भी—काव्यानुशीलन में इन कठिनाइयों का अनुभव नहीं होता। यदि कवियों का भावबोध, रुचि और दृष्टि वदलती है तो आज के वैज्ञानिक-यांत्रिक युग में पाठकों के बोध और रुचि में भी लगभग उसी अनुपात में अन्तर होना चाहिए। इस संबंध में शिवदानसिंह चौहान का यह कथन ध्यान देने योग्य है—'आज का प्रबुद्ध पाठक भी तो आधुनिक युग की चेतना में पला है—विज्ञान-मनोविज्ञान के अन्वेषणों-विश्लेषणों, युद्धों-अणुअस्त्रों की विभीषिकाओं, साम्राज्यवाद-फैसिज्म के अत्याचारों, आर्थिक संकट—वेरोजगारी की अनिश्चितताओं-यातनाओं, स्वतन्त्रता-संग्रामों, समाजवादी क्रान्तियों और शान्ति-आन्दोलनों के विप्लवकारी परिवर्तनों के बीच ही उसके विश्व-बोध और भाव-प्रतिक्रियाओं का विकास हुआ है, जिसकी दुहाई देकर हमारे नये कवि अपनी कलागत अक्षमताओं या मानवद्रोही भावनाओं के लिए बौद्धिक औचित्य खोजते फिरते हैं, मानो इस युग की यातनाओं और उथल-पुथल के एक-मात्र वे ही भुक्त-भोगी द्रष्टा रहे हैं, और मानो पाठक किसी प्राचीन अन्धकार-युग के निर्द्वन्द्व वातावरण में रहते आये हैं।'[2]

निश्चय ही प्रयोगवादी अथवा नये कवियों के समक्ष वास्तव में ऐसा कोई संकट नहीं है, जिसके कारण उन्हें साधारणीकरण में कठिनाई का अनुभव हो। वास्तविकता यह है कि कवि-प्रतिभा की कमी के कारण साधारणीकरण की क्षमता ही उनकी रचना में नहीं होती।

निष्कर्षतः साधारणीकरण-सिद्धान्त का रस-निष्पत्ति से विशिष्ट सम्बन्ध है, उसका विशिष्ट महत्त्व है। किसी आचार्य विशेष के सिद्धान्त के दोषों का दिग्दर्शन कराने के उपरान्त अन्य आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस सिद्धान्य की जो व्याख्या प्रस्तुत की, उससे साधारणीकरण का स्वरूप स्पष्ट और उत्तरोत्तर पुष्ट एवं परिपूर्ण होता गया है।

साधारणीकरण के स्थान पर 'भावना-दोष', 'सामूहिक भाव' या इसी प्रकार के अन्य शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं।

नये कवियों द्वारा साधारणीकरण की उपेक्षा उनके काव्य की प्रेषणीयता में बाधक है। 'साधारणीकरण' की आवश्यकता और महत्ता अनुभूति-संप्रेषण की दृष्टि से काव्य-क्षेत्र में निरन्तर बनी रहेगी; नयी कविता और परवर्ती कविता के सदर्भ में भी उनका महत्त्व है।

१. धर्मयुग (नयी कविता : भूमिका और प्रमुख हस्ताक्षर), ६ अगस्त, १९६७, पृ० १८
२. साहित्य की समस्याएँ, शिवदानसिंह चौहान, पृ० ८५

आस्वादन-सिद्धान्त

लेखक—डॉ० राकेश गुप्त
(अवकाशप्राप्त प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय नैनीताल, उत्तर प्रदेश)
३६८, सर्वोदय नगर
सासनीगेट, अलीगढ़-२०२००१

१. काव्य वह रमणीय एवं सार्थक शब्द रचना है, जिसमें श्रोता अथवा पाठक अथवा दर्शक के मन को रमाने की शक्ति हो।

ऐसी रचना रस-भाव युक्त हो सकती है, अलंकार-युक्त हो सकती है, गुण-युक्त हो सकती है, वक्रोक्ति-युक्त हो सकती है, ध्वनि-युक्त हो सकती है, औचित्य-युक्त हो सकती है, बिम्ब-विधायक हो सकती है, कथात्मक हो सकती हैं। इन काव्यांगों में से किसी एक से, अथवा अनेक के संयोग से रमणीय काव्य-सृष्टि की जा सकती है। इनमें से कोई भी काव्यांग कविता के लिए अनिवार्य नहीं है। काव्य के अन्य तत्व अथवा अंग भी खोजे जा सकते हैं।

२. ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विषय-प्रधान साहित्य से काव्य का पार्थक्य सहज ही समझा जा सकता है। ऐसे साहित्य का अध्ययन प्रयोजन-विशेष से किया जाता है। श्रोता अथवा पाठक का मन उसमें स्वतः अभिभूत होकर रमता नहीं है, प्रयोजन-विशेष की उपलब्धि के उद्देश्य से श्रोता अथवा, पाठक अपने मन को उक्त प्रकार के साहित्य के अध्ययन की ओर प्रेरित करता है। प्रयोजन-विशेष की उपलब्धि की आकांक्षा जितनी ही तीव्र होगी, अध्येता का मन उतनी ही सहजता और प्रगाढ़ता से उस साहित्य के अध्ययन/अनुशीलन में संलग्न हो सकेगा।

विषय-प्रधान साहित्य का अध्ययन जिन प्रयोजनों से किया जा सकता है, उनमें से कुछ ये हैं :

(१) शुद्ध ज्ञान-वर्धन के हेतु,
(२) परीक्षा उत्तीर्ण करने के हेतु,
(३) किसी भाषण की तैयारी करने के हेतु,
(४) किसी ग्रन्थ को रचना करने के हेतु।

३. काव्य के अनन्त रूप हो सकते हैं। पद्यवद्ध कविता, गद्यकाव्य, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, ललित निबन्ध, नाटक एवं एकांकी आदि उसके बहु-चर्चित रूप हैं। नवीन काव्य-रूपों के विकास की संभावना को कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

४. काव्य के श्रोता अथवा पाठक अथवा दर्शक के मन में प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। जैसा आनन्दवर्धन ने भी कहा है, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कोई-न-कोई चित्तवृत्ति उत्पन्न न करती हो प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न इन भावों में श्रोता अथवा पाठक अथवा दर्शक की रुचिपूर्ण तल्लीनता ही उसका आस्वादन है। श्रोता आदि के मन में ये भाव स्वतः ही उत्पन्न होते हैं।

प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न इन भावों को नौ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: समवेदनात्मक, तादात्म्य-मूलक, प्रतिवेदनात्मक, प्रेरणा-मूलक, स्मृत्यात्मक, औत्सुक्यात्मक, चमत्कार-मूलक, विचारोत्तेजक और आलोचनात्मक। इन भावों को आस्वादन के निर्मायक या संघटक तत्त्व की संज्ञा दी जा सकती है।

५. जब हम कहते हैं कि श्रोता आदि का मन किसी शब्द-रचना में रमता है, तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह उन भावों में रुचिपूर्वक तल्लीन हो जाता है, जो उक्त रचना के सुनने आदि से उसके मन में प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न होते हैं। क्षण-विशेष में सहृदय की प्रतिक्रिया केवल एक प्रकार की भी हो सकती है, और अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं का मिश्रण भी।

६. काव्य का आस्वादन करनेवाला व्यक्ति आस्वादक है। आस्वादक को हम सहृदय भी कह सकते हैं। जो व्यक्ति स्वभाव से काव्य का आस्वादन करने में अक्षम हो, उसे असहृदय कहा जाना चाहिए। किन्तु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो काव्य के किसी रूप में भी रुचि न रखते हों। कुछ लोगों की रुचि केवल कविता में होती है, तो कुछ की केवल कथा-साहित्य में। जिन्हें कविता और कथा-साहित्य में से कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वे भी कम-से-कम नाटक देखने में तो रुचि रखते ही हैं। चित्रपट, रेडियो-नाटक तथा दूरदर्शन-नाटक के ही यांत्रिक रूपान्तर हैं।

७. काव्यानुभव के मूल में आस्वादन की ही प्रधानता है। आस्वाद्य होने मात्र से किसी रचना का काव्यगत सिद्ध होता है। देश, काल और व्यक्ति के भेद से काव्य के प्रतिमान बदलते रहते हैं: विषय बदल जाते हैं, रूप परिवर्तित होते रहते हैं, अभिव्यक्ति की भंगिमाएँ नित्य नया वेश धारण करके सामने आती हैं। पर हर काल और हर देश में सहृदयों का मन काव्य की रमणीयता के प्रति आकृष्ट होकर उसमें निमग्न होता है। जिस रचना में किसी सहृदय का मन स्वतः न रम सके उसे कविता कहना निरर्थक है।

८. स्वतः आकृष्ट होकर किसी रमणीय रचना में निमग्न होना, अथवा रुचिपूर्वक उसमें तल्लीन होना, अथवा उसके सुनने-पढ़ने-देखने में मन का रमना—ये सब आस्वादन के ही पर्याय हैं। किसी रमणीय रचना का आस्वादन करने के लिए मन को प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं होती। मन स्वतः ही आस्वाद्य रचना के प्रति उन्मुख होकर उसमें रमता हैं।

मन को प्रेरित करके किसी कार्य में लगाने पर, अथवा किसी काव्येतर रचना के अध्ययन में संलग्न करने पर जो अनुभव होता है, वह काव्यास्वादन के अनुभव से भिन्न है।

९. यद्यपि सहृदय का मन आस्वाद्य रचना के प्रति स्वतः आकृष्ट होकर उसमें रमता है, फिर भी मन के इस प्रकार रमने के लिए उपयुक्त अवसर एवं अवकाश की अपेक्षा है। कोई भी काव्य-प्रेमी सहृदय अनुकूल मनः स्थिति तथा आवश्यक अवकाश होने पर ही काव्य का आस्वादन करने में समर्थ हो सकता है आस्वादन को प्रभावित करने वाले अथवा आस्वादन का स्वरूप-निर्धारण करने वाले मूल तत्त्व तीन हैं : (१) काव्य-प्रस्तुति, जिसे काव्यास्वाद का आलंबन कहा जा सकता है, (२) परिवेश अथवा परिस्थिति, जो काव्यास्वाद की अनुभूति के लिए उद्दीपन का कार्य करती है, तथा (३) आस्वादक अथवा सहृदय, जो काव्यास्वाद का भोक्ता अथवा आश्रय है।

काव्य-प्रस्तुति को तीन उपतत्त्वों में बाँटा जा सकता है : (क) विषय-वस्तु, (ख) रचना-शिल्प, (ग) प्रस्तुति का रूप (श्रव्य, पाठ्य, दृश्य)। परिवेश या परिस्थिति दो प्रकार की होती है : (घ) तात्कालिक तथा (ङ) रचना-काल से सम्बन्धित। आस्वादक के भी तीन उपतत्त्व हैं : (च) उसकी प्रकृति और रुचि, (छ) उसकी मनः स्थिति और तरंग, तथा (ज) उसकी समझने की शक्ति अथवा भावनक्षमता।

१०. कभी-कभी काव्य के अनुशीलन की ओर भी कुछ लोग प्रयोजन विशेष से अपने मन को प्रेरित करते हैं, यथा-किसी परीक्षा की तैयारी करने के उद्देश्य से। यदि इस प्रकार भी अपने मन को प्रेरित करनेवाला व्यक्ति सहृदय है, और वह अधीत रचना के मर्म को भली भाँति समझ सका है, तो फिर उसका मन उस रचना में स्वतः ही रमने लगता है, अर्थात् वह उस काव्य-रचना का आस्वादन करने लगता है अन्यथा उसका अनुभव प्रयोजन-विशेष से किए गए काव्येतर साहित्य के अनुशीलन के अनुभव से भिन्न नहीं होता।

कभी-कभी उसका समग्र अनुभव दोनों प्रकार के अनुभवों का मिश्रण भी हो सकता है।

११. मिश्रित अनुभव की कुछ और भी स्थितियाँ संभव है। कभी-कभी काव्येतर विषय की रचना में भी ऐसे काव्यात्मक अंश आ जाते हैं जिनका श्रोता अथवा पाठक सहज ही आस्वादन करने लगता है। इतिहास और जीवनी आदि विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों में इसकी विशेष संभावना रहती है।

इसके विपरीत कोई तथाकथित काव्य-रचना ऐसी भी हो सकती है जिसके कुछ अंश आस्वाद्य न हों। रचना कोई भी हो, जितने अंशों में वह आस्वाद्य है, उसी सीमा तक उसका काव्यत्व सिद्ध है।

१२. व्यक्ति-विशेष के लिए केवल वही रचना काव्य है जिसका उसने स्वयं आस्वादान किया हो। यदि अन्य व्यक्तियों द्वारा काव्य-रूप में स्वीकृत एवं प्रशंसित कोई रचना उसका मन आकृष्ट नहीं कर सकती, तो व्यक्ति विशेष के संदर्भ में उस रचना को काव्य नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार यदि कोई रचना व्यक्ति-विशेष द्वारा आस्वाद्य है, तो अन्य व्यक्तियों

द्वारा काव्य के रूप में भले ही उसे मान्यता न दी गई हो, उक्त व्यक्ति-विशेष के संदर्भ में उस रचना की काव्य संज्ञा स्वतः प्रमाणित है ।

१३. यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से किसी रचना का काव्यत्व सिद्ध करने में सहृदय का अनुभव ही प्रमाण है, तथापि लोक-व्यवहार में काव्य का वस्तु-निष्ठ रूप भी प्रचलित है । प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता, पुस्तकालयों में कार्य करने वाले कर्मचारी-अधिकारी तथा अन्य सामान्य जन किसी ग्रन्थ का आस्वादान करने के पश्चात् उसे काव्य नहीं कहते, वे तो किसी भी काव्य-रूप में प्रस्तुत रचना को रूप-विशेष की संज्ञा प्रदान कर देते हैं, यथा 'साकेत' कविता है, 'गोदान' उपन्यास है, 'स्कंदगुप्त' नाटक है, इत्यादि ।

१४. वस्तु-निष्ठ दृष्टि से काव्य-रचना दो प्रकार की हो सकती है : (१) जो युग-युग से सहृदयों के आस्वादन का विषय बनती रही हो, तथा जिसके काव्यत्व में किसी ने संदेह न किया हो, यथा वाल्मीकीय 'रामायण' तथा कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (२) जो एक समुदाय द्वारा तो प्रशंसित हो, किन्तु दूसरे समुदाय द्वारा निंदित एवं काव्य के रूप में अस्वीकृत हो, यथा कबीर और केशव की रचनाएं ।

जो रचनाएँ एक गण्य अल्पत (Sizable Minority) द्वारा भी स्वीकृत नहीं होती, वे काल के गर्त में समाकर स्वतः नष्ट हो जाती हैं ।

१५. रस-सिद्धांत के अन्तर्गत काव्य के उस महत्त्वपूर्ण प्रकार का विवेचन किया गया है, जिसमें भावों और मनोवेगों का चित्रण होता है। पर, जैसा आनंदवर्धन, पंडितराज जगन्नाथ तथा अन्य आचार्यों ने माना है, श्रेष्ठ कविता रस (भाव-मनोवेग) से इतर भी है । कार्य-व्यापार, घटनाक्रम, प्रकृति, रूप-सौन्दर्य, वस्तु आदि के शुद्ध (आलंबन-रूप में) चित्रण-वर्णन भी काव्य के विषय होते हैं । आचार्य विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' परिभाषा मान्य हो सकती थी, यदि उन्होंने स्वयं रस को 'रसादि' तक सीमित न कर दिया होता। भरत और उसके प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट की स्थापना से हटकर रस-सिद्धांत के समर्थक परवर्ती आचार्यों ने रस को नायक से हटाकर सहृदय में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न तो किया; पर न तो आस्वादक के रूपमें उन्होंने सहृदय के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया, और न रस और उसके आस्वादन को वे उन आलंबन-उद्दीपन विभावों, स्थायी-संचारी भावों एवं अनुभावों से पृथक् करके देख सके जिनका सीधा संबंध नाटकीय पात्र से होता है, सहृदय से नहीं । सहृदय आस्वादक के लिए तो संपूर्ण काव्य-प्रस्तुति आलंबन मात्र है, और वह स्वयं अपने व्यक्तित्व की निजी विशेषताओं-विभिन्नताओं के साथ परिस्थितियों की सापेक्षता में उसका आस्वादन करता है । चाहे भट्टनायक से सहमत होते हुए विभावादिकों का साधारणीकरण मानें, चाहे आचार्य बिश्वनाथ के साक्ष्य पर सहृदय का नायक के साथ तादात्म्य स्वीकार करें, चाहे शुक्ल जी के अनुकरण पर आलंबनत्व-धर्म का साधारणीकरण मानें, चाहे डॉ० नगेन्द्र का अनुसरण करते हुए कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण मानें, इन समस्त सिद्धांतों की सामान्य स्थापना यही है कि सभी सहृदयों को काव्यानुभूति एक ही प्रकार से होती है, अर्थात, दूसरे शब्दों में, सहृदय एक जीवंत प्राणी न होकर कैमरा या डुप्लीकेटिंग मशीन मात्र है ।

अस्तु। यह बड़ा स्पष्ट है कि अपने परंपरागत रूप में रस एक व्यापक काव्य-सिद्धांत नहीं माना जा सकता।

१६. अलंकारवादी आचार्यों (भामह, दंडी और उद्भट) ने भरत के आठ नाट्य रसों को 'रसवत्' नाम के अलंकार में समेट कर एक ओर रस के महत्त्व को कम किया, तो दूसरी ओर अलंकार की व्यापकता को बढ़ाकर समस्त काव्य को उसकी परिधि में समेटने का असफल प्रयास किया। जैसा मम्मट की काव्य-परिभाषा से स्पष्ट है, अलंकार के बिना भी श्रेष्ठ कविता हो सकती है। पर इसके साथ ही यह भी प्रमाणित है कि केवल अलंकार के बल पर भी श्रेष्ठ कविता होती है। दंडी द्वारा अलंकार को 'काव्यशोभाकर धर्म' कहना थोड़ा भ्रामक है, क्योंकि अलंकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कविता से पृथक् करके देखा जा सके। अलंकार और अलंकार्य का भेद, जिसे आचार्य शुक्ल ने बड़ा महत्त्व दिया था, निराधार और निरर्थक है। 'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।' में से विभावना अलंकार को तथा 'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।" में से उल्लेख अलंकार को निकाल देने पर ऐसा क्या बचा रहता है जिसे अलंकार्य या कविता कहा जा सके। इसी प्रकार निम्नांकित छंदों में क्रमशः विरोधाभास और यमक अलंकारों के चमत्कार को हटा देने पर जो 'अलंकार्य' बचेगा उसे कविता कहना कठिन है—

> बंदउँ मुनि-पद कंज, रामायन जेहि निरमयउ।
> सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित ॥१॥
> कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
> वा खाये बौरात है, वा पाये बौराय ॥२॥

इस प्रकार यह सिद्ध है कि अलंकार एक काव्यांग अवश्य है, काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं। दंडी के इस कथन में कि 'समस्त अलंकार रस-निषेचन के लिए हैं' 'रस' शब्द भरत के आठ नाट्य रसों का पर्याय न होकर काव्यास्वाद का पर्याय है।

१७. रीति-संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने अलंकारों को उचित महत्त्व देते हुए भी गुणों पर आश्रित रीति को काव्य का आत्मा घोषित किया। उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली, ये तीन रीतियाँ, दश शब्द-गुण तथा दश अर्थ-गुण माने। मम्मट और विश्वनाथ जैसे परवर्ती आचार्यों ने वामन के उपर्युक्त गुणों में से केवल ओज, प्रसाद और माधुर्य, इन तीन गुणों को ही मान्यता दी। मम्मट ने शेष गुणों को तथा शब्दगुण और अर्थ गुण के विभाजन को तर्कपुष्ट युक्तियों से अमान्य ठहराया। उन्होंने गुणों को काव्य का अनिवार्य धर्म माना है। वामन के मत से वैदर्भी रीति समग्रगुणा होने से सर्वश्रेष्ठ है, गौड़ी में केवल ओज और कांति, तथा पांचाली में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुण होते हैं। 'रीति काव्य का आत्मा है', इस कारण आठ गुणों से रहित गौड़ी और पांचाली रीतियों के काव्य भी वामन के मत से उत्तम श्रेणी के काव्य हैं। इससे स्वतः सिद्ध है कि कोई भी गुण काव्य के लिए अनिवार्य नहीं है। ओज और माधुर्य गुणों से हीन अनेक काव्य-रचनाओं के

उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'प्रसाद' की 'कामायनी' प्रसाद-गुण से रहित होने पर भी आधुनिक महाकाव्यों में सर्वाधिक समादृत है।

वामन, भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, जयदेव आदि अनेक आचार्यों ने दोषरहित रचना को ही काव्य माना है। पर विधाता की यह सृष्टि भी जब दोषों से मुक्त नहीं है, तो कवि की काव्य-सृष्टि दोष-मुक्त कैसे हो सकती है ? अच्छे कवियों की श्रेष्ठ कृतियों में भी दोषों का अन्वेषण किया जा सकता है।

गुण काव्य के लिए उपयोगी हैं, इसमें सन्देह नहीं है; यह भी ठीक है कि दोषों से बचना चाहिए। पर गुणों के निवेश के बिना भी उत्तम कविता की रचना की जा सकती है, तथा सत्काव्य में भी दोषान्वेषण संभव है।

१८. आचार्य आनंदवर्धन ने अपने युग में मान्य एवं स्वीकृत रस को ध्वनि के एक प्रमुख भेद के रूपमें स्वीकार करके काव्य के प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ की तुलना से अधिक महत्त्व देते हुए ध्वनि-सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। यद्यपि ध्वनि के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर सीधे-सादे वाच्यार्थ से भी श्रेष्ठ कविता की रचना होती रही है, यह भी एक तथ्य है जिसे उदाहरण देकर सिद्ध किया जा सकता है। गुणवादियों ने प्रसाद गुण को महत्त्व दिया है। स्पष्ट है कि प्रसाद गुण वाच्यार्थ में जितना सहज-संभव है, उतना ध्वन्यर्थ में नहीं।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि रसादि को असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत रखना एक जबरदस्त दुराग्रह जैसा लगता है। यद्यपि महिम भट्ट की भाँति हम ध्वनि का समग्र रूप में खण्डन नहीं कर रहे हैं, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि ध्वनि शब्द का गुण है, और रस के समस्त अंग नाटक में प्रायः बिना शब्दों के ही प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि 'रामचरितमानस' का निम्नांकित दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाए, तो इसमें शब्दों का प्रयोग कहीं भी दिखाई नहीं देगा—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाकी॥
खंजन मंजु तिरिछे नयननि। निज पति तिन्हें कहेउ सिय सयननि॥

फिर भी इन पंक्तियों के द्वारा सीता के मर्यादित प्रेम और तज्जन्य लज्जा भाव का बोध हो रहा है। यथार्थ जीवन में सम्मुख उपस्थित व्यक्तियों के हृदयस्थ भावों का ज्ञान हमें जिस प्रक्रिया से होता है, वह निश्चय ही ध्वनि की प्रक्रिया नहीं है। इसी प्रकार नाटक में भी विभिन्न पात्रों की चेष्टाओं से हम उसके हृदयस्थ भावों को जिस प्रक्रिया से जान पाते हैं, वह भी, ध्वदि की प्रक्रिया नहीं हो सकती। कविता में शब्द अनुभावों और चेष्टाओं का बिम्ब प्रस्तुत करने का कार्य करते हैं। फिर उस बिम्ब के समक्ष होने पर कविता भी हमारे लिए नाटक जैसी ही हो जाती है, अर्थात् श्रव्य और दृश्य का भेद मिट जाता है।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है, उत्तम काव्य का भी नहीं (अभिधा और लक्षणा से भी उत्तम काव्य की सृष्टि होती रही है), और रस अथवा रसादि को ध्वनि के एक भेद के अन्तर्गत रखने का कोई तर्क-सम्मत औचित्य नहीं है।

१९. एक नवीन काव्य-सिद्धांत के पुरस्कर्ता के रूप में यद्यपि कुन्तक का नाम भारतीयसाहित्य-शास्त्र के इतिहास में अमर है, तथापि उनके वक्रोक्ति-सिद्धांत एवं षड्विध वक्रता को रस, अलंकार, गुण और ध्वनि की तरह एक काव्यांग के रूप में भी मान्यता नहीं मिल सकी। समग्र काव्यशास्त्र का निरूपण करनेवाले 'साहित्यदर्पण' जैसे ग्रंथों में कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धांत का कोई विवेचन उपलब्ध नहीं होता, जबकि आचार्य विश्वनाथ ने दोष-विवेचन तक के लिए अपने ग्रंथ में एक पूरा अध्याय (सप्तम) अलग से रखा है। उन्होंने, तथा अन्य अनेक साहित्यशास्त्रियों ने भी, वक्रोक्ति का उल्लेख मात्र एक अलंकार के रूप में किया है। वैसे आचार्य भामह वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल मानते हुए उसे पर्याप्त महत्त्व प्रदान कर चुके थे। पर कुन्तक की षड्विध वक्रताएँ (वर्णविन्यास, पदपूर्वार्ध, पदपरार्ध, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबंध वक्रता) तथा उनके अनन्त उपभेद साहित्यशास्त्र में स्वीकृत अथवा गृहीत नहीं हुए। व्यावहारिक समालोचना का ऐसा एक भी ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया जिसमें कुन्तक की वक्रोक्ति के इन भेदोपभेदों का किसी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ में अन्वेषण किया गया हो, तथा इन भेदों के नियोजन के आधार पर उक्त ग्रन्थ का मूल्यांकन किया गया हो।

फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वक्रोक्ति-सिद्धांत अपनी दुर्बोध जटिलताओं के साथ भी एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित काव्य-सिद्धांत है, जिसमें काव्य को सरस अथवा आस्वाद्य बनानेवाले तत्त्वों का मार्मिक एवं तर्कपूर्ण विश्लेषण-विवेचन है पर 'वक्रोक्ति' को कितना भी व्यापक अर्थ दें, उसे काव्य के लिए अनिवार्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, और न उसमें समग्र काव्य को अपने में समेट सकने की क्षमता है। अतः एक व्यापक काव्य-सिद्धांत के रूप में वक्रोक्ति-सिद्धांत को मान्यता देना न तो उचित है, न आवश्यक है, और न संभव ही है।

२०. क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धांत मात्र कविता के लिए ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए आवश्यक है; यह काव्य-सिद्धांत से अधिक हमारे समग्र सामाजिक जीवन का व्यावहारिक सिद्धान्त है। समाज में रहते हुए हम कब किसके साथ कैसा व्यवहार करें, कैसी वाणी बोलें, कैसे कपड़े पहनें, किस प्रकार उठें-बैठें, ये सभी औचित्य के अधिष्ठान हैं। क्षेमेन्द्र द्वारा गिनाए गए औचित्य के सत्ताईस अधिष्ठानों में से कुछ का संबंध काव्यांगों के (गुण, अलंकार, रस) समुचित नियोजन से है, कुछ का संबंध शब्द, भाषा और व्याकरण के (पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात) संदर्भ-सापेक्ष प्रयोग से है, कुछ का संबंध परिवेश से (देश, काल) है, अन्य का संबंध व्यक्ति के परिस्थिति-सापेक्ष कार्य-व्यवहार से (कुल, व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, प्रतिभा) है, तथा शेष का संबंध (प्रबंधार्थ, तत्त्व, स्वभाव, सारसंग्रह, अवस्था, विचार, आशीर्वाद) औचित्यपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक वर्णन शैली से है। औचित्य के अधिष्ठानों की यह सूची निश्चय ही अपूर्ण है।

यद्यपि औचित्य के महत्त्व को प्रच्छन्न रूप से प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया था, पर क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य आनंदवर्धन तो यह स्पष्ट घोषणा कर चुके थे कि

अनौचित्य के अतिक्त रस-भंग का कोई दूसरा कारण नहीं है। स्वयं क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस (आस्वादन) का प्राणभूत माना है। इससे यह सिद्ध हो जाना चाहिए था कि औचित्य-विधान आस्वादन की अनिवार्य शर्त है। पर आश्चर्यजनक होते हुए भी अनुभव के आधार पर यह सत्य है कि औचित्य के अभाव में भी हम काव्य-प्रस्तुति का आस्वादन करते हैं। हमने अन्यत्र (देखिए साहित्यानुशीलन, पृ० २१२, २१३, २१८, २१६) दिखाया है कि स्वयं क्षेमेन्द्र द्वारा दिए गए अनौचित्य के कुछ उदाहरणों में अनास्वादन नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक बार पारसी थिएट्रीकल कम्पनी के नाटक में दुष्यन्त को ठुमक-ठुमक कर नाचते हुए देखकर वहाँ से यह कहते हुए उठ गए कि 'अब नहीं सहा जाता'। निश्चय ही अनौचित्यजन्य अनास्वादन के कारण वे ऐसा करने के लिए विवश हुए। पर इस घटना से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने उभर कर आता है, वह यह है कि उक्त अनौचित्य के रहते हुए भी अन्य सैकड़ों दर्शक थिएटर हॉल से नहीं उठे तथा नाटय-प्रस्तुति का आस्वादन करते रहे आज के रंगमंच और सिनेमा में अनौचित्य के ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनका दर्शन रुचिपूर्वक आस्वादन करते हैं।

इससे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि यद्यपि आस्वादन-हेतु काव्य में औचित्य-विधान वांछनीय है, तथापि औचित्य के अभाव में भी एक सीमा तक काव्य-प्रस्तुति का आस्वादन किया जा सकता है। यह सीमा व्यक्ति-भेद और वर्ग-भेद के आधार पर अलग-अलग होती है।

२१. ऊपर हमने जिन काव्यांग-रूप काव्य-सिद्धांतों पर विचार किया है, काव्य के आस्वादन के लिए उन सभी की उपयोगिता है; पर जैसा हम देख चुके हैं, इनमें से किसी काव्य के लिए, अथवा काव्यास्वादन के लिए, अनिवार्य नहीं माना जा सकता। आस्वादन में योग देनेवाले इसके अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं। आजकल बिम्ब-विधान, मिथकों का प्रयोग तथा शैली-विज्ञान विशेष चर्चा के विषय हैं। विभिन्न काव्यरूपों के अलग-अलग तत्त्व तथा शिल्प हैं जिनपर विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है। काव्य के नवीन रूपों, नवीन तत्वों, नवीन शिल्पों तथा नवीन अंगों की खोज एक कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है। पर काव्यानुभव के मूल में आस्वादन की अनिवार्यता चिरंतन है, और यह अनिवार्यता अनन्त काल तक बनी रहेगी।

करुण रस का आस्वाद

लेखक— डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह
अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, राँची
विश्वविद्यालय, राँची (बिहार)

रस के रूप में करुण पर विचार करने के पूर्व रस निष्पत्ति की सामान्य प्रक्रिया को हृद्यंगम कर लेना आवश्यक है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रस तत्व का विवेचन अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा नाट्य या काव्य के मर्म को समझने या समझाने की दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। रस शब्द भारतीय वाङ्मय का एक प्राचीन शब्द है जो कई अर्थों में प्रयुक्त होता आया है। इस शब्द के प्राचीन प्रयोगों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि साहित्य-शास्त्र में कदाचित् रस का लाक्षणिक प्रयोग ही हुआ है। संभव है, इसका मूल अर्थ वनस्पतियों के रस से सम्बन्ध रहा हो। सोम-रस तक आते-आते रस का अर्थ-परम्परा में एक महत्पूर्ण मोड़ आ गया होगा। यह सर्वविदित है कि कालान्तर में सोम अमृत का पर्याय बन गया और इसके साथ सम्बद्ध होने के कारण रस पर भी अमृतत्व का आरोप होता चला गया होगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरन्तर गतिशील भारतीय जीवन दृष्टि जब संहिता काल तथा ब्राह्मण काल से होती हुई उपनिषद् काल में पूर्ण परिपाक को प्राप्त हुई तो रस कल्पना में अब तक ऐन्द्रियता अथवा स्थूलता का जो भी आग्रह शेष था, उसका तिरोभाव हो गया—रस और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह गया। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में रस को ही ब्रह्म या ब्रह्म को ही रस मानने वाली वेदान्तिक दृष्टि रस के अर्थ विकास की महत्तम उपलब्धि थी। साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में पहली बार जिस आचार्य ने रस को परिभाषित किया होगा, उसके मस्तिष्क में कदाचित् वेदान्त की यह उदात्त रस कल्पना अवश्य गूँज रही होगी। वेदान्त की इस ब्रह्म विषयक रस-दृष्टि के अतिरिक्त जिन दूसरे सामान्य अर्थों में रस का प्रयोग होता आया उन में भौतिक जगत् में प्राप्य षड्रस की कल्पना भी बहुत महत्त्व रखती है। इस प्रकार रस-भाव में ब्रह्मास्वाद के समानान्तर भौतिक आस्वाद का अर्थ भी चलता रहा। अर्थात् षड्रस तक आकर रस वस्तुतः आस्वाद का पर्याय बन गया। कोई आश्चर्य नहीं, यदि लोकोत्तर आस्वाद की भित्ति पर खड़े रस प्रत्यय के विकास में भौतिक एवं ब्राह्म दोनों प्रकार के आस्वादों का समन्वित योगदान रहा हो।

साहित्य के दायरे में रस तत्त्व का सर्वप्रथम विवेचन भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। यहाँ रस का सम्बन्ध नाट्य से होने के कारण इसे नाट्य रस की संज्ञा भी दी गई है। नाट्यगत विभाव आदि जड़ होते हैं, किन्तु इन जड़ विभावों का पर्यवसान सहृदय की संवेदना में होता है। ऐसी सारी संवेदनाएँ पात्र-विशेष के साथ भोग्य-भोक्तृ भाव से जुड़ी हुई होती हैं। किन्तु नाट्य के अन्तर्गत अनन्त संवेदनाओं के अनेक भोक्ता होने पर भी समग्र भोक्ताओं का अन्तिम पर्यवसान उसके प्रधान भोक्ता (नायक) में ही होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्य में सूत्र-बद्ध नायक की स्थायी चित्तवृत्ति ही नाट्यार्थ है जो ऐकान्तिक रूप से रस-भाव से जुड़ी हुई होती है। लौकिक व्यवहार में यह चित्त वृत्ति सर्वदा व्यक्ति-सम्बद्ध होती है। किन्तु जब वही नाट्य प्रयोग के द्वारा द्योतित होती है तब लोक में प्राप्त वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त हो जाती है। जैसे ही यह चित्त-वृत्ति व्यक्ति की सीमा लाँघ कर निर्वैयक्तिकता की परिधि में आती है, वह साधारणीभूत हो जाती है। दर्शक में भी वह चित्त-वृत्ति संस्कार रूप में पहले से ही विद्यमान रहती है। फलतः अनुकूल संवेदनाओं के द्वारा जब दर्शक का नाट्यार्थ में अनुप्रवेश होता है तो उस साधारणीभूत चित्त-वृत्ति के साथ उसकी चित्त-वृत्ति का भी तादात्म्य हो जाता है। संक्षेप में, नाट्य की शब्दावली में रसाभिव्यक्ति की यही प्रक्रिया होती है। बाद के आचार्यों ने रस तत्त्व को नाट्येतर काव्य विधाओं के साथ भी जोड़ दिया, किन्तु इसके कारण इसके विश्लेषण में कोई ज्यादा अन्तर नहीं आया।

साहित्य शास्त्र में रस के भेदों को लेकर अनेक मत-मतान्तर दिखाई पड़ते हैं। कोई रसों की संख्या आठ मानता है, तो कोई नौ; कोई दस मानता है तो कोई बारह। कुछ ऐसे भी हैं जो रस की संख्या अनन्त बताते हैं। वस्तुतः यदि आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से सोचा जाए, तो रस मूलतः एक ही होना चाहिए। अभिनवगुप्त इसे 'महारस' की संज्ञा प्रदान करते हैं। इसी महारस के विभाव आदि के वैशिष्ट्य से अनेक भेद हो जाते हैं जो एक से अनेक रसों के कारण कहे जा सकते हैं। कुछ दूसरे आचार्य ऐसे हैं जो मौलिक मनः संवेगों (स्थायिभावों) के अनुपात में केवल चार रस मानने की बात करते हैं। शेष रसों को उन्हीं से प्रसूत बताते हैं। धनिक तथा धनंजय जैसे आचार्यों का कहना है कि रसानुभूति के समय चित्त का विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विशेष—चार प्रकार की ही अवस्थाएँ होती हैं। अतः चार ही रस माने जाने चाहिए। चित्त की ये चारों अवस्थाएँ क्रमशः शृंगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में दृष्टिगत होती हैं। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन आचार्यों की दृष्टि में चार ही मुख्य रस होते हैं।

स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक मिलाकर कुल उनचास भाव होते हैं। इन भावों का आश्रय काव्यार्थ ही होता है, कोई व्यक्ति विशेष नहीं होता। ये सभी भाव विभाव, अनुभावों से व्यंजित होते हैं, कारण आदि से उत्पन्न नहीं माने जा सकते। इस प्रकार काव्यार्थ का आश्रय लिये हुए विभावानुभाव से व्यंजित भावों द्वारा ही रस की निष्पत्ति

होती है। कवि का अन्तर्गत भाव ही काव्यार्थ कहा गया है—"कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।[१]" नाट्यगत या काव्यगत सभी भावों का यही एकमात्र आश्रय होता है।

भरतमुनि करुण की निष्पत्ति शोक नामक स्थायिभाव से मानते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार अभीष्ट वस्तु के नाश आदि के कारण उत्पन्न चित्त की विकलता ही शोक है—"इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।"[२] भरत मुनि शोक के स्वरूप को उसके कारणों पर प्रकाश डालकर ही स्पष्ट करते हैं।[३] करुण निरपेक्ष भाव होता है। 'निरपेक्ष' का अर्थ है बिछुड़े हुए बन्धु जन आदि के सम्बन्ध में आशा का पूर्ण तिरोभाव। इसीलिए करुण रस के संदर्भ में प्रिय की मत्यु हो जाने के बाद फिर कोई आशा या अपेक्षा नहीं रह जाती। आशा का तन्तु करुण में पूर्णतः टूट जाता है।

करुण रस के देवता यम हैं और वर्ण कपोत। शोच्य या मृत व्यक्ति इसके आलम्वन तथा दाह-कर्म आदि इसके उद्दीपन होते हैं। देव निन्दा, भूमिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तंभ, प्रलपन आदि इसके अनुभाव माने जाते हैं। इसके व्यभिचारी भावों में निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि भावों की गणना होती है।[४]

समासतः यहाँ करुण रस की व्यंजना के जो सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किये गये उस से इतना स्पष्ट है कि न केवल करुण, प्रत्युत अन्य सभी रसों की निष्पत्ति की प्रक्रिया समान होती है। भेद केवल उनके स्थायी भावों, विभावों, तथा व्यभिचारियों की दृष्टि से होता है। इसीलिए यहाँ प्रतिपाद्य करुण की निष्पत्ति प्रक्रिया पर प्रत्यक्षतः आ जाने से पूर्वरस-तत्त्व की सामान्य मीमांसा कर देना आवश्यक प्रतीत हुआ। किन्तु अब इस बिन्दु पर आकर करुण रस से जुड़े हुए कुछ ऐसे विवादास्पद प्रसंग हैं जिनका आकलन किये बिना संदर्भ अपूर्ण रह जाएगा। इन प्रसंगों में उल्लेख्य हैं—१. करुण एवं करुण-विप्रलम्भ में पार्थक्य, २. करुण की दुःखात्मकता और ३. करुण की एकरसता। जहाँ तक करुण एवं करुण विप्रलम्भ का प्रश्न है, इनमें से एक का स्थायी भाव यदि शोक है तो दूसरे का रति। आचार्यों में करुण तथा करुण विप्रलम्भ के सैद्धान्तिक स्वरूप को लेकर ऊपर भले ही दृष्टि भेद दिखाई पड़ता हो, किन्तु उन सब का इन दोनों के स्थायी भावों के संबंध में मतैक्य है। आचार्य विश्वनाथ ने शोक को जिस रूप में परिभाषित किया है उसे ऊपर दिया जा चुका है। रति शब्द के कई अर्थ होते हैं, जैसे प्रसन्नता, अनुराग, रमण, आकांक्षा आदि। रस के सन्दर्भ में विश्वनाथ ने किसी अभीष्ट वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुखता या प्रेमार्द्रता को रति की संज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार शृंगार के स्थायी भाव के रूप में एक

---

१ नाट्यशास्त्र ७-२
२ साहित्यदर्पण ३. ११७
३ नाट्यशास्त्र पृ० ७५
४ साहित्यदर्पण ३.२२२-२२५

हृदय का दूसरे हृदय के प्रति रागात्मक समाकर्षण के केन्द्रीय भाव का नाम ही रति है। यहाँ यह भी समझ लेना होगा कि इस समाकर्षण की प्रक्रिया में निराशा, दैन्य, मानसिक जड़ता, असन्तोष आदि भावों का स्फुरण भी यदा-कदा हो जाता है। इसका कारण यह है कि जिसके प्रति हम अनुरक्त होते हैं, वह हमें सर्वदा सुलभ हो जाएगा, ऐसा नहीं सोचा जा सकता। और जब प्रिय पात्र नहीं मिले तो मन में वेदना, निराशा आदि के भाव घनीभूत होंगे ही। किन्तु यहाँ ऐसी पीड़ा और निराशा के क्षणों में भी हम 'साकांक्ष' होते हैं, 'निराकाँक्ष' नहीं होते। कारण, ऐसी मानसिक स्थितियों में भी हमारी रति की तृष्णा सर्वदा विद्यमान होती है। रति से सम्भूत ऐसे सारे दुःखों का विचार करके ही आचार्यों ने दस या बारह काम दशाओं की चर्चा की है। यथा—

"अङ्गेस्वसौष्ठवंचैव पाण्डुता कृशतारुचिः।
अधृतिः स्यादनालम्वस्तन्मयोन्मादमूर्छना॥
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह।"[1]

तथा

"चक्षु: प्रीतिर्मनः सङ्ग सङ्कल्पोऽथ प्रलापनम्।
जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वरः॥
उन्मादो मूर्च्छना चैव मरणं चरमं विदुः।
अवस्था द्वादशमताः कामशास्त्रानुसारतः॥"[2]

इन्हीं द्वादश काम-दशाओं को भोजराज प्रेमपुष्टि की संज्ञा प्रदान करते हैं।[3] इस प्रकार इस विवृत्ति से स्पष्ट है कि रति के दो पक्ष होते हैं—१. आनन्द एवं तृप्ति और २. प्रेम जन्य क्लेश एवं अतृप्ति। इन्हीं दोनों पक्षों के समानान्तर भरत मुनि ने शृंगार के दो भेद किये हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग दो आसक्त हृदयों के रागात्मक मिलन पर आधृत होता है, अतः यह शृंगार का भावात्मक पक्ष माना जा सकता है। इस पक्ष में रमण, उपभोग एवं तृप्ति के इन्द्रधनुषी भाव स्वभावतः ही अन्तर्भावित होते हैं। शोक के साथ इस संभोगात्मक रति की किसी भी प्रकार कोई संगति नहीं बैठ सकती। हाँ, विप्रलम्भ की कुछ उत्कट अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जिनमें विरह का उद्दाम रूप प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में ही रति एवं शोक का सीमा निर्धारण कठिन हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलम्भ के चार भेद किये हैं—१. पूर्वरागात्मक, २. मानात्मक, ३. प्रवासात्मक और ४. करुणात्मक—

"स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।"[4]

यहाँ चौथे भेद, अर्थात् करुण—विप्रलम्भ के अतिरिक्त शेष विप्रलम्भों में क्लेश

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, राघवभट्ट कृत अर्थद्योतनिका टीका, पृ० ३५५
२. प्रतापरुद्रीय, रसप्रकरण, पृ० ३१०
३. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५.९९-१००
४. साहित्यदर्पण, ३.१८७

अथवा असन्तोष का भाव उतना तीव्र नहीं होता। किन्तु करुण विप्रलम्भ में विरहजन्य-वेदना इतनी उद्दीप्त हो जाती है कि उसमें और शोक भाव में अन्तर कर पाना कठिन हो जाता है। करुण-विप्रलम्भ शृंगार का वह भेद है जिसे प्रणयी या प्रणयिनी में से किसी एक के दिवंगत हो जाने, किन्तु पुनर्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे हुए दूसरे व्यक्ति के हृदय के शोक-संवलित रति भाव की अभिव्यक्ति कहा गया है—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः ॥"[1]

यदि इस परिभाषा का विश्लेषण किया जाए तो करुण विप्रलम्भ से सम्बद्ध निम्न-लिखित तथ्य विचारणीय हो जाते हैं—१. इसमें प्रेमी या प्रेमिका में से किसी एक का दिवंगत होना आवश्यक है, २. यह लोकान्तर गमन अस्थायी होता है, अर्थात् प्रिय मिलन की आशा बनी रहती है और ३. विरह वेदना रतिसम्भूत होती है, शोक सम्भूत नहीं। इसी-लिए भरत मुनि ने विप्रलम्भ को सापेक्ष भाव कहा है। अभिनवगुप्त के शब्दों में यहाँ सापेक्ष भाव का तात्पर्य विप्रलम्भ पोषक चिन्ता आदि भावों की आशान्वित रति से है। अर्थात् विरह की दुःसह घड़ियों में भी यहाँ अपने प्रिय पात्र से मिलन की आकांक्षा एवं आशा का त्याग नहीं होता। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि करुण-विप्रलम्भ एवं करुण में स्थायी भाव का भेद ही उनके पार्थक्य का वास्तविक कारण होता है। अतः विप्रलम्भ शृंगार या करुण विप्रलम्भ के संदर्भ में यदि मृत्यु दिखाना अनिवार्य हो तो उसे व्यभिचारी भाव के रूप में ही दिखाया जाना चाहिए। यदि यही मृत्यु स्थायी भाव का रूप ले ले तो उसका पर्यवसान शोक में हो जाएगा जो करुण का स्थायीभाव होता है, अर्थात् विप्रलम्भ की दशा में प्राप्त मृत्यु भी निराकांक्ष नहीं मानी जा सकती, साकांक्ष ही होती है। यहाँ प्रिय से मिलन की आशा या आकाँक्षा का तिरोभाव नहीं होता।

विप्रलम्भ के सापेक्षत्व के ठीक विपरीत करुण निरपेक्ष भाव होता है। यहाँ निरपेक्ष का अर्थ है—वियुक्त बन्धु जन आदि से सम्बद्ध आशा का पूर्ण तिरोभाव। करुण में प्रिय की मृत्यु हो जाने के बाद फिर किसी प्रकार की कोई आशा या अपेक्षा नहीं रह जाती। इस प्रकार करुण विप्रलम्भ की भावात्मकता के ठीक विपरीत करुण का अभावात्मक स्वरूप होता है। अपनी कान्ता से यक्ष वियुक्त हो जाता है, किन्तु उसके दारुण वियोग में भी यक्षिणी की आशा भंग नहीं होती—एक क्षीण आशातन्तु के सहारे वह अपने पुष्प से कोमल हृदय को संभालती हुई अपने प्रिय के पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में दीर्घ काल तक पड़ी रहती है। इसीलिए यक्षिणी की समग्र वेदना सापेक्ष होने के कारण रति की परिपोषिणी है, न कि शोक की। आशा का यह तन्तु करुण में टूट जाता है। शोक के अश्रु बिन्दुओं में अभाव एवं अटूट नैराश्य का दारुण स्वर होता है जबकि रति के आँसुओं में रागात्मक पीड़ा का सावन बरसता है।

एक दूसरा प्रश्न जो कई शताब्दियों से काव्य-शास्त्र के आचार्यों में दृष्टि भेद लाता

---

१. साहित्यदर्पण, ३.२०९

रहा है, वह है—करुणा और आनन्दरूपता। यदि ध्यान से देखा जाय तो यहाँ आचार्यों के दो वर्ग स्पष्टतः परिलक्षित होते है—एक वर्ग है परिपुष्टिवादियों का जिनके प्रमुख आचार्य हैं—दण्डी, वामन, लोल्लट, शंकुक, सांख्यवादी, भोजदेव तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र। दूसरी परम्परा है अभिव्यक्तिवादियों की जिनके प्रमुख आचार्य हैं—आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती और जगन्नाथ। इनमें पहली परम्परा के आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं जबकि दूसरी परम्परा के आचार्यों की दृष्टि में रस भाव में ऐकान्तिक रूप से सुख या आह्लाद का भाव ही होता है। ध्यातव्य है कि पहली परम्परा के आचार्यों को ध्वनि मत स्वीकार्य नहीं है। यहाँ रस की सुख-दुःखात्मकता के संबन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से सभी रस आनन्दात्मक होने से सुखात्मक ही होते हैं, क्योंकि स्व संविद् की चर्वणा ही उनका स्वरूप है। यह चर्वणा एकघन तथा प्रकाशमयी होती है, अतः आनन्द ही इसका सारभूत तत्त्व होता है। एकघन निर्विघ्न संवित्ति में ही रसिक का हृदय विश्रान्त हो सकता है। हृदय की अन्तराय शून्य, अर्थात् निर्विघ्न विश्रान्त अवस्था ही सुख का स्वरूप है।[1] रसास्वाद के समय तो रसिक के हृदय में किसी भी प्रकार की चंचलता नहीं होती। यह चंचलता ही दुःख का स्वरूप मानी गई है। रसास्वाद के समय लौकिक हर्ष-शोक आदि का अनुभव होता ही नहीं। यह तो स्व संवेदना की ही चर्वणा होने के कारण एक मात्र आनन्द रूप होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में लौकिक जीवन में भी ऐसा कोई नियम नहीं कि सर्वत्र शोक से दुःख की ही प्राप्ति होगी। यदि हमारे अथवा हमारे मित्र का कोई शोक भाव होगा तो वहाँ दुःख अवश्य होगा, किन्तु शत्रु के शोक से हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा, बल्कि आनन्द ही होगा। और जिस व्यक्ति से हम उदासीन होंगे उसके शोक से न हमें सुख होगा और न दुःख। निष्कर्षतः यह माना जाएगा कि यदि शोक का सम्बन्ध स्वयं अपने से न हो तब उससे दुःख की प्राप्ति नहीं होगी। इधर रस तत्त्व तो पूर्णतः व्यक्ति सम्बन्धों से परे की चीज है।

यहाँ रस को सुखात्मक या सुख-दुःखात्मक मानने वाले आचार्यों ने स्थायी भाव के प्रति जो दृष्टि अपनायी है उससे रस के संबंध में उनका दृष्टिकोण साफ हो जाता है। कुछ लोग 'स्थायी रसः' मानते हैं तो कुछ दूसरे 'स्थायि-विलक्षणो रसः' का उद्घोष करते हैं। जो लोग स्थायी ही रस हो जाता है, इस प्रक्रिया को मानने वाले हैं उनकी दृष्टि में लौकिक स्थायी ही स्वरूपतः रस-भाव में उपचित हो जाता है, अतः रस सुख-दुःखात्मक होगा ही। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसी अर्थ में 'सुखदुःखात्मको रसः' की बात की है। वस्तुतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र उस परम्परा के प्रतिनिधि हैं जो उपचयवादी कहे गये हैं और जिनकी दृष्टि में 'स्थायी रसः' की धारणा रही है। चूंकि ऐसे सभी आचार्य स्थायी को ही रस में उपचित मानने के कारण स्थायी का सम्बन्ध लोक से बनाये रहते हैं, अतः उनकी दृष्टि में श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस इष्ट विभाव आदि से सम्बद्ध रहने के कारण सुखकर होते हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक अनिष्ट विभाव आदि के द्वारा उपनीत होने के कारण दुःखात्मक होते हैं।

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे), पृ० ३३४

वस्तुतः नाट्यदर्पणकार के पूर्व भी ऐसे आचार्य थे जिन्होंने रस को सुख-दुःखात्मक माना था। भोज ने स्पष्टतः कहा है कि 'रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः। भोज रामचन्द्र-गुणचन्द्र से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुए थे। इसी प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त ने एक मत का उद्धरण दिया है जिसे वे सांख्यों का बताते हैं। इस मत को मानने वाले भी रस को सुख-दुःखात्मक समझते थे। अर्थात् अभिनवगुप्त के पूर्व भी आचार्यों की दो भिन्न परम्पराएं थीं जिनमें से एक रस को केवल सुखात्मक और दूसरी उसे सुख-दुःखात्मक मानती थी। पहली परम्परा अभिव्यक्तिवादियों की है इसी परम्परा के प्रतिनिधि स्वयं अभिनवगुप्त हैं। वे स्पष्टतः यह मानते हैं कि रसिक का हृदय संवाद लौकिक भूमिका पर होता ही नहीं। वस्तुतः यदि यह लौकिक भूमिका रसिक की रस चर्वणा के समय विगलित न हो तो वह एक रस विघ्न माना जाएगा। दूसरी परम्परा के आचार्य जो रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं, अनुकरणवादी या उपचयवादी कहे गये हैं। ये लोग 'स्थायी रसो भवति' के मत को मानने वाले हैं। यहाँ स्थायी व्यक्ति सम्बद्ध होता है और वही परिपुष्ट होकर रस दशा तक पहुँचा देता है।

यदि उक्त दोनों परम्पराओं के सैद्धान्तिक मतों का विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उपचयवादी परम्परा के आचार्य रस का सम्बन्ध लौकिक धरातल पर लौकिक शोक आदि से मानते हैं। चूंकि लोक में सुख-दुःख का होना सहज सुलभ है, अतः जब लौकिक शोक करुण रूप रस में उपनीत होता है तो उस दशा में भी वह लौकिक विकारों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त जिस दूसरी परम्परा से जुड़े हुए हैं, वह रस को पूर्णतः अलौकिक मान कर चलती है। उसकी दृष्टि में लौकिक स्थायी से रस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकता। चूंकि वह सर्वदा व्यक्ति-सापेक्ष होती है। इधर रस साधारणीकृत मनः स्थितियों का उन्मेष बनकर प्रकट होता है। हमारी दृष्टि में अभिनव-गुप्त का सिद्धान्त ग्राह्य है, चूंकि यह न केवल तलस्पर्शी है, प्रत्युत रस-तत्त्व के 'साहित्य' को उजागर करने में अद्वितीय है।

करुण रस से सम्बद्ध तीसरी शास्त्रीय चर्चा भवभूति की उस उक्ति का आधार लेकर चलती है जहाँ करुण को ही एकमात्र रस स्वीकार किया गया है और दूसरे सभी रस इसी के विवर्त माने गये हैं—,एको रसः करुण एव......।"[1] यहाँ भी इस विषय के पक्ष और विपक्ष में अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। जो लोग इस मत के विरोधी हैं उनका विचार है कि यदि करुण को एकमात्र रस स्वीकार कर लिया जाए तो उससे वैसे रसों की निष्पत्ति कैसे संभव होगी जो करुण के विरोधी कहे गये हैं। जैसे करुण से हास्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? इन दोनों रसों की प्रकृति में मूलभूत भेद होता है। यहाँ भवभूति जब करुण को मूल रस कहते हैं तो उनकी दृष्टि में एक विशेष संदर्भ है जहाँ के लिए उनकी यह उक्ति लागू होती है। यह उक्ति उत्तररामचरित के तृतीय अंक में आई है और उसी के करुण भावों से आविष्ट तमसा ऐसी बात बोल जाती है। किन्तु यदि बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाए तो इस उक्ति की अपनी सार्थकता है। विरोध तो वैसे लोगों की दृष्टि में है जो रसों

---

१. उत्तररामचरित, ३.४७

में भी भेद परक दृष्टि रखते हैं। यदि अभिनवगुप्त को प्रमाण माना जाए तो रस एक ही होता है जिसे महारस की संज्ञा दी जा सकती है। इसी महारस के दूसरे सभी रस स्थायी आदि भावों के वैशिष्ट्य से विवर्त माने जा सकते हैं। अब यदि यहाँ भेद नहीं हुआ तो करुण और हास्य में भेद या विरोध क्यों माना जाए। रस का स्वरूप आनन्दात्मक होता है चाहे वह करुण हो, हास्य हो या अन्य कोई भी रस। निश्चित रूप से शोक मानव मन का गहन भाव होता है। यदि ऐसा न होता तो ध्वनिकार आदिकवि के सम्बन्ध में "शोकः श्लोकत्वमागतः"[1] नहीं कहते। अब जहाँ कविता का जन्म ही शोक से माना गया हो वहाँ शोक को यदि मूल भाव के रूप में किसी ने मान ही लिया तो इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती। इस संसार में जिसे सुख या आनन्द कहते हैं उसकी मूल प्रकृति कहीं न कहीं शोकात्मक ही होती है। इसलिए भगवान् बुद्ध अपने चार आर्यसत्यों में 'दुःख है' मान कर चलते हैं। न केवल बौद्ध दर्शन, प्रत्युत चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन इसी दुःख से छुटकारा दिलाने की युक्तियाँ अपने-अपने ढंग से बताते हैं। अतः यदि शोक (दुःख) को किसी ने मूल भाव मान लिया तो यहाँ हमारी समझ में कहीं कोई त्रुटि दिखाई नहीं देती। आचार्यों ने इसे विवाद का विषय बना लिया हो, यह अलग बात है। सार यह है कि शोक मानव मन का अत्यन्त गहन, सर्वव्यापक और घुलनशील भाव होता है जो जीवन की प्रत्येक दशा में किसी न किसी रूप में अपनी झलक दिखा जाता है। इसकी झलक वहाँ भी पायी जा सकती है जहाँ हम आनन्दातिरेक में हँस-हँस कर पागल हुए जाते हैं, अथवा जहाँ हम अपने जीवन के किसी सुख या आनन्द के कारण झूमते होते हैं।

करुण का जो विश्लेषण ऊपर किया गया उससे इतना स्पष्ट है कि यह एक महत्त्वपूर्ण रस है, भले ही काव्यशास्त्रियों ने किसी महाकाव्य या नाटक के लिए इसे अंगी रस बनाने की बात न की हो। भवभूति ने तो परम्परा को तोड़ कर इसे अंगित्वप्रदान कर ही दिया है और भले ही इसे अन्यत्र अंगित्व न मिला हो, आदि काव्य रामायण का आरम्भ और अन्त इसी रस से होता है। यदि क्रौंच वध का प्रसंग वाल्मीकि के दृष्टि-पथ में नहीं आता तो कदाचित् रामायण जैसे महाकाव्य की रचना संभव नहीं होती। दूसरे प्रसिद्ध काव्यों या नाटकों में भी जो करुण प्रसंग है, वे हमारे हृदय को सर्वाधिक आन्दोलित करते हैं।

---

१. ध्वन्यालोक, १.५

ŚĀNTARASA

—A Critique—

by

Dr. Satya Vrat Varma
M.A., Ph.D.
Head, Deptt. of P.G. Studies in Sanskrit,
Government College, Sri Ganganagar (Raj.)

Though over whelmingly admitted as the quintessence of poetry, the concept of *Rasa*, as conceived and enunciated by Indian theoriticians, has not been beyond dispute so far as the process of its development and number are concerned. While in view of its pervasive sweep and appeal, Bhoja sought to project *Śṛṅgāra* as the sole sentiment of consequence[2] and Bhavabhūti and Nārāyana accorded the same status to *Karuṇa* and *Adbhuta* respectively[3], Rudrata, on the authority of ancient masters, tended to catapult even the transient feelings (*saṁcāribhāvas*) to the glory of full-fledged sentiments[4]. With new sentiments successively added to the list, down the ages[5], the number of *Rasas* continued to swell ever since it was provided *terra firma* by Bharata, the doyen of Indian dramaturgy. Central to the animated controversy, however, has been the most sublime of the sentiments, Quietism, the *Śānta-rasa*. The *summum bonum* of the plethora of views to Which it seems to have been rigorously subjected, over the ages , is faithfully reflected in Dhanika's gloss on the *Daśarūpaka* besides the celebrated *Abhinavabhārati* and *Locana* of Abhinavagupta[6]. The glosses combine to confirm it beyond cavil that while a band of the oriticians denounced Quietism as etheral out of joint with kaleidoscopic literature, especially the visual art like drama[7]; others imparted it a spiritual hue and raised it to the pinnacle of the greatest sentiment ever enunciated[8]. The mean, however, seems to have been struck in the belief that while it may not be possible to carry the *Śāntarasa* to its fulfilment in drama because of its inherent discordance with the stage, its depiction in poetry cannot be disputed on sound grounds[9].

Be that as it may, Quietism has been sought to be denied on counts, more than one. It is thus argued that it lacks valid sanction, because the accredited text of the *Nāṭyaśāstra* (*NS*) of Bharata, the earliest and the

most authentic disquisition on dramaturgy, has approved of only eight sentiments, sans Quietism (*Śānta*), as being in tune with the genius of drama[10]. The version of the text that speaks of Quietism, is sought to be dismissed as a later fabrication. Nor does the NS set forth its concomitants, the *sthāyi, saṁcārī* etc.[10a] In view of this supposedly unimpeachable evidence to the contrary, it would be, it is contended, sheer concoction to admit *Śānta* as the ninth sentiment.

The argument evidently proceeds from a weak premise. The validity of the text of the *NS* which unambiguously advocates Quietism has nowhere been contested by such a brilliant scholiast as, Abhinavagupta. Rather, the entire edifice of *Śāntarasa* that he has assiduously raised in the *Abhinavabhāratī*, rests on the bastion formed by the supposedly interpolated text of the *NS*[11]. He could not have built the Castle of Quietism in the air, divorced from firm moornings. The fact that he is the most authentic and comprehensive critique on *Śāntarasa* ever attempted on the basis of Bharata's text, should set at rest all hullabaloo against its genuineness. And in following the pattern of treating Quietism separately, after the undisputed sentiments, and bodily lifting from Bharata the oft-repeated phrase,[11a] *auṣṭaunāṭye rasāḥ smṛtāḥ*, the subsequent poeticians seem to put the seal of approval on the authenticity of the text, which after all forms the fountain head of all the later critiques and disputations on the *Śāntarasa*. Paṇḍitarāja Jagannātha testifies to it that the subsequent speculations on the *Śāntarasa* draw their sustenance from the enunciations of the Muni, obviously Bharata : *Munivacanam cātra pramāṇam*[12]. Even if credence is not given to Bharata's text, it was not, as contended by Rājacūḍāmaṇi Dīksita,[13] beyond human wisdom to evolve this ennobling sentiment, as it has done in case of *Vātsalya* and *Bhakti*.

Quietism, it is addedly argued, presupposes the negation, rather elimination, of the whole gamut of baser instincts, typified by *Rāga* and *Dveṣa* (desires and averrions). But these frivolities are so deeply ingrained in human nature, that it is simply not possible to shed them completely, howsoever strenuous the efforts. The contention is tellingly summed up in the following observation of Dhanika : *Anye tu vastutastasyābhāvam varṇayanti anādikālapravāhāyātarāgadveṣayorucchettumaśakyatvāt*[14], which is reproduced, albeit in a garbed form, by Rājacūḍāmani Dīkṣita as *pūrvapakṣa*[15]. It is further contended that even if the lives of spiritually elevated personages were depicted in poetry or drama, the common people, dominated by a host of petty instincts that unfold themselves in

ego. selfishness, hatred etc., cannot work up emotional communion with them.[15a] Tranquillity that characterises the elevated souls, in ultimate analysis, is a state not much different from *mokṣa*, the highest aim of life, which the ordinary rut of people can hardly imbibe. Quietism is therefore reduced to an ethereal concept, which would find hardly any one to share or enjoy it[16].

The first part of the argument that extermination of *Rāga* and *Dveṣa* is not possible under any circumstances, if accepted on its face value, would set at naught all the philosophical speculations and spiritual experiences of humanity which are aimed at seeking liberation from the bondage, represented by the endless circle of life and death. It seeks to make light of the sublime heights man is capable of through a series of mental discipline and spiritual practices. There is something god-like about man which reaches its acme in spiritual sublimities, and sustained extermination of worldly attachments and carnal desires.

So far as the second part of the argument is concerned, the ordinary folk may be at add with the dizzy heights symbolised by Quietism, but the mere fact of its having limited appeal is no ground to deny its validity[17]. The spiritually enlightened people are fully abreast of the sublimities inherent in the *Śantarasa*. Total commitment may be a laudable idea, but total communion with any of the sentiments is neither possible nor desirable. Even the most winsome of the sentiments, *Śṛṅgāra*, though universally rated as *Rasarāja*, cannot claim complete communion from one and all. It is as abhorrent to the recluse and other enlightened souls as the *Vīra* is to the coward or *Bhayānaka* is to the brave. But that does not make them tentative or untenable[17a]. The tenability of Quietism cannot be questioned on the same score. Being the natural state of mind, it is most akin to him. Distortions might make the experience rather uncommon, it cannot be run down as an impossibility.

Quietism is sought to be disputed, particularly in drama, on one more count. Since the *dramatis personal* in *Śāntarasa* are divorced from worldly pursuits and such other propensities, a state of utter actionlessness comes to be associated with it. They cease to have zest even for the ultimate goal associated with Quietism. Drama, on the other hand, is permeated with hectic action. It is simply impossible to subject the inactivity of Quietism to the activity on the stage. Its forced presentation on the stage or depiction in *Kāvya* would be insipid to the extreme, which is the very anti-thesis of *rasa*[18]. By no stretch of imagination can it impart aesthetic pleasure, it is asserted : *Bhayānake ca śānte ca vinodo naiva jāyate*[19].

However, as rightly observed by Abhinavagupta, the state of actionlessness that is belived to characterise Quietism represents its culmination. And the climax of the sentiment is generally shunned on the stage and in the poem. No play wright, howsoever daring and reekless, would insist on presenting, on the stage the climax of *Śṛṅgāra* which can be nothing but copulation. It is strictly for bidden on the stage. Everything preceding that is, however, permissible. In the case of Quietism also activities like the practice of *Yama, Niyama* etc. and even just rule (as in the case of janaka) preced, before it attains its climax in the cessation of activities (*sarvaceṣṭoparāma*). That stage of Quietism is assuredly amenable to the stage and poem alike[20].

Some of those who disfavour its independent status are inclined to absorb Quietism in sentiments like *Vira* and *Bibhatsa*[21]. The *Nāgānandam* of Harṣa that is primarily held out to illustrate the possibility of full-fledged delineation of *Śāntarasa* even in a play, is, in their view, dominated by chivalrous Heroism (*Dayāviratā*). The fact that Jīmūtavāhanaś love for Malayavatī runs unhindered throughout the warp and woof of the play which culminates in the attainment of the *Cakravarti*-status by the hero, melts, they arrest, against the very spirit of Quietism, which is tranquillity *par excellence*. *utsāha* (fortitude), the lasting feeling of *Vīrarasa*, constitutes the bedrock of compassion also[22]. But as Ānandavardhana and his commentator Abhinavagupta unanimously opine, the two sentiments (*Vīra* and *Śānta*) differ in essentials. While the *vīrarasa*, in all its aspects, is marked by ego, it is completely dissolved in the Śa*ntarasa*. To treat the two as identical would be like identifying *Raudra* with *Vira*, though the difference between them is not as sharp as between the earlier two[23].

Likewise Quietism is sought to be assimilated in the *Bibhatsa-rasa*. Tranquillity (*śama*) which is overwhelmingly taken to form the life-breath of Sā*ntarasa*, has its genesis in disgust (*Jugupsā*) towards mundane objects and pleasures. Since *Jugupsā* is the *sthāyibhāva* of the *Bibhatsa-rasa*, it would not be improper to such Quietism in the ambit of Horror. But as wisely maintained by Abhinavagupta, *Jugupsā* is merely one of the subordinate feelings of Sā*ntarasa*. It cannot in any way be developed as its *sthāyibhāva*. If carried to the extreme, it would strike at its root[24].

Against the outright rejection or shilly-shallying thereon, Quietism has evoked unqualified approval from a vast array of competent theoritians, and other writers or not. Udbhaṭa, who is credited with the earliest commentary on the *NS.*, which is unhappily lost, is believed to be the first to express himself in favour of *Śāntarasa* in drama as well. His

observation *nava nāvanāṭye rasāḥ smṛtāḥ*[25] is believed to have been intended as a counterpoise to Bharataś *aṣṭaunāṭye rasāḥ smṛtāḥ*.

It is however, Abhinavagupta who has been chiefly instrumental in putting Quietism on a firm footing and has thereby emerged as its staunchest protagonist. In his exhaustive critique in the *Abhinavabhārati*, he has dealt with the *Śāntarasa* in all its ramifications. He has not only controverted threadbare the contrary views, the *pūrvapakṣa*, he has gone whole hog to project it as the most ennobling and fundamental sentiment, discussing in the process the tangled issue of its *sthāyibhāva*, as also the sustained attempts to absorb it in the *Dayāvīra*-form of Heroism. Not only that, he has invested it with a spiritual aura by relating it to the highest goal of life, the *Mokṣa*. Occasioned as it is by the natural state of mind, the *Śānta*, in his view, is the basic *rasa* wherefrom spring other sentiment. He has rated it as the chief sentiment potent enough to assimilate all other *rasas* in its sweep. Before it, he is convinced, the lesser sentiments sound hollow, rather pale into insignificance. He has likened it to an ocean wherein the other *rasas* rise and fall like so many waves.[26] In his opinion the sacred and profane literatures unanimously champion the nine sentiments. He has sought to uphold has contention by mustering evidence from the *Pratijñādarśana* of his teacher Utpalapāda and the *Saṁgrahakārikā*[27].

Similarly exhaustive treatment of Quietism is found in the *Nāṭyadarpaṇa* of Rāmacandrá and Guṇacandra They also have meticulously considered almost all the issues related to it and have approvingly admitted it with *śama* as its permanent feeling[28].

Among the poeticians who unreservedly admit Quietism as worthy of poetry, Ānandavardhana stands at the highest rung. His is doubtless one of the most authoritative appraisals, which is addedly strengthened by Abhinavagupta's *Locana* on his text. Ānandavardhana is whole heartedly supported by his commentator in his forceful rebuttal of the whole gamut of rival suppositions. He has established it beyond doubt that the *Śāntarasa* can neither be denied on any known count nor can it be assimilated in *Vīra* or anyother rasa. Its credentials as a sentiment are beyond reproach.[29] Ānandavardhana views *tṛṣṇākṣayasukha*, pleasure emanating from the extirpation of worldly desires, as its lasting feeling.[30]

He is followed by a long line of poeticians including stalwarts like Mammata[31], Hemacandra[32], Viśvanatha[33] and Jagannātha[34], who have put their seal of approval on the *Sānta* as an independent *rasa*, though they differ so far as its *sthāyibhāva* is concerned.

Though basically concerned with music, Śārṅgadeva's *Saṅgītaratnākara* (13th century) is distinguished by an exhaustive and in-depth evaluation of Quietism. Śārṅga seems to follow Abhinavagupta in his critique. While arguing in favour of the *Śāntarasa,* he has refuted the arguments that were mustered by earlier writers to deny its validity or that frowned upon it for its supposedly being out of tune with the stage[35].

As hinted earlier, Dhañajaya and his commentator were the first to deal with Quietism *vis-a vis* both drama and poetry. While they stoutly disapprove its development in drama because of its alleged stage-unworthiness, born of lack of action inherent in it, they find it in perfect accord with poetry[36]. Rājacūdāmani Dīkṣita concurs with the authors of the *Daśarūpaka* in excommunicating Śānta from the domain of drama on the ground that it imparts no aesthetic pleasure even if put on the stage, which it does when detailed in a poem.

Śāntābhinayasya tu na Camatkāritvam/ataḥ sa kāvya evopanibaddhāḥ svadata iti tātparyam/Śānto raso nātye'pityanye.

Variously assigned to the fifth and first century A.D., the *Anuyoga-dvārasūtra*, an important work an Jaina canon, has the unique distinction of being the first writing of note to make definite allusion to the nine sentiments in *Kāvya.* Contrary to the known sequence, the list in the *Anuyogadvārasūtra* begins with *Vīra* and ends with *Śāntā (pasānto)*[37].

By projecting the *Śāntārasa* as one of the three prospective dominant sentiments in such a comprehensive form of poetry as *mahākāvya*[38], Viśvanātha and others of his ilk paved the way for its unprecedented glory. But the *mahākāvyas,* which have delineated Quietism as their chief sentiment, can be counted on figures. It were the Jaina poets who imparted it the unique honour of *aṅgirasa* in their *mahākāvyas.* It was undoubtedly in consonance with their aim of weaning away the reader from worldly objects and leading him to the sublime heights of renunciation. According to an ancient tradition recorded by the Kannada poet Ranna, Jinendra is the sole protogonist of Quietism and *Tattvajñāna* is its permanent feeling.[39] To the Jaina poets the *Śāntarasa* is the sentiment *par excellence* (*rasādhirāja*) and the *Kāvya* reaches its fulfilment in vigorously championing it as its life-breath.[40] Even those of the Jaina *mahākāvyas* which are dominated by sentiments like *Śṛṅgāra* and Vīra, invariably culminate in Quietism. Māṇikyacandra's *Śrīdharacarita* and the *Bharata-bāhubali-mahākāvya* of Puṇyakuśala deserve special attention in the context.

STHĀYIBHĀVA OF ŚANTARASA

The p: .em of the *Sthāyilbāva* of Quietism is no less tangled than the issue of its dmissibility or otherwise. Rather, the uncertainity about it and the ambiguity about its precise nature have combined to lend the *Sāntarasa* added complexity. Of the fifteen claimants in the field, *Śama* and *Nirveda* merit serious appraisal.

With the poeticians divided on the issue, the palm seems to lie with *Śama*.. It draws authority from the so-called fabricated text of Bharata which, unequivocally advocates the *Śānta*[41]. Abhinavagupta bears testimony to it that the majority of the earlier theoriticians favoured *śama* as its *sthāyibhāva*[42], though some of them pleaded for *sarvacittavṛttipraśama*[43]. Contrary to Udbhata, who, even while upholding the *Śāntarasa* is enigmatically silent about its *sthāyibhāva*, his commentator Pratihārendurāja is emphatic in according *śama* the sublime status[44]. Bhoja seems to be somewhat equivocal on the subject. While in his *sarasvatikaṇṭhābharaṇa* he, accepts *Dhṛti* as the lasting feeling of Quietism, the *Śṛṅgāraprakās'a* falls in line with the tradition in assigning *śama* the same status[45]. Dhanañjaya, Hemacandra, his pupils Rāmacandra-Guṇacandra, Viśvanātha etc. also concur with the earlier stalwarts. Though Abhinavagupta has championed *Tattvajñāna* as the permanent feeling of the *Śānta*, nowhere in his comprehensive critique does he question the validity of *śına*. As a matter of fact, to him the two are not dissimilar in import.[46]

Of all the permanent feelings, *śama* is impregnated with philosophic overtones. *Śama* in essentials is complete aversion to worldly objects and pleasures[47], which invariably leads to tranquillity of mind *cittaprasāntatā* as the *Mahābhārata* puts it[48]. While Vāgbhata believes it to spring from the extermination of desires (*tṛṣṇākṣaya*) which is incidentally admitted as one of the *sthāyibhāvas* of *śānta*, the *Nāṭyadarpaṇa* holds *śama* to be synonymous with freedom from all desires (*nisspṛhatvam śamaḥ*). According to Śāradātanaya it is a state where all activities cease (*vilinasarvyāpāra*). To Viśvanātha, it is a state of happiness when mind is at peace with the self[49]

The modern critic has sought to explain *śama* on psychological plane as well. To him, there are two aspects to it. In a general way, *śama* is the state of weariness of attachment (*Rāga*). When wearied of excessive indulgence, attachment results into detachment. Specifically it is an enjoyment of one's ego. When the mind is concenterated on higher things like realising the self in preference to mundane pleasures, it leads

to expansion of ego which is directly connected with the extension of self. To the psycho-analyist, it is a refined form of narcissism, while in the jargon of Indian philosophy it is happiness emanating from *Bhūmā*.

Nirveda is also sought to elevated as the *sthāyibhāva* of *śānta* on the authority of Bharata, who mentions it as the first of the subordinate feelings and explains it as resulting from a variety of factors including *Tattvajñāna*[50]. *Nirveda* born of the knowledge of the self exhibits itself in deep aversion to and revulsion against mundane objects and pleasures. It is this *nirveda* that is rated as the lasting feeling of *Śāntarasa*. Though *nirveda* as the *sthāyī* of Quietism has evoked approbation from many a subsequent stalwart[51], Abhinavagupta has contested it severely. In his opinion to hold *nirveda* born of *Tattvajñāna* as the permanent feeling of Quietism amounts to accept *Tattvajñāna* as its cause. Now, *nirveda* is taken to be the cause of *mokṣa* and true knowledge is supposed to lead to *nirveda*. According to him it would be thus impossible to hold *Tattvajñāna* as the direct cause of *mokṣa*, which it is generally taken to be. *Śantarsa* cannot be held to have its genesis in *Tattvajñāna* which itself is believed to be the cause of renunciation. To accept the cause of its cause as its actual cause would be overstretching the argument. As a matter of fact *nirveda* leads to *Tattvājñāna* and not vice-versa. The highest form of renunciation associated with those imbued with Right Knowledge, in fact represents the culmination of *Tattvajñāna*[52].

Rudrata, Ānandavardhana and Abhinavagupta are disposed to view *samyagjñāna*[53], *Tṛṣṇākṣayasu8ha*[54] and *Tattvajñāna* or *Ātmajñāna*[55] respectively as the *sthāyi* of the *Śāntarsa*. While the former two not differ in essence from *śama*, to treat *Jñāna* as a *sthāyibhāva* tantamounts to reduce it to the level of *Bhāva*, the philosophic colouring imported to it notwithstanding.

OTHER BHĀVAS

Similar controversy attends the other feelings of the *Śāntarasa*. While in the relevant text of the *NS*. *Tattvajñāna*, *Vairāgya* and *Āśayasuddhi* etc. are admitted as its *vibhavas*[56], Abhinavagupta has inflated the list to include Divine grace, Fruition of auspicious actions of earlier births, scriptural studies and attending upon spiritually enlightened personages[57]. Hemacandra[57a] and the authors of the *Nāṭyadarpaṇa*[58] concur with him in a substantial measure. Śārṅgadevaś the saurus includes no less than seventeen *vibhāvas*. However, the most lucid and precise exposition comes from Viśvanātha. According to him, utter hollowness of the

worldly objects occasioned by their impermanence and godhead form its *Ālambanas*, whereas Holy hermitages, places of pilgrimage, lovely woods and company of great personages are its exciters[59] Jagannātha stands closer to Viśvanātha in admitting ephemeral world as its *Ālambana* and study of Vedānta, visit to the hermitages and vicinity of sages and recluses as its *Uddipanas*[60].

The *Anubhāvas* of Quietism have also been detailed by its protagonists. In consonance with the philosophic exposition of the *Śāntarasa*, Abhinavagupta admits the eight limbs of yoga as its outward manifestations[61]. So does the so-called interpolated text of the NS.[62] To Paṇḍitarāja Jagannātha aversion to worldly pleasures, indifference to friend and foe alike, cessation of activities, deep concentration etc. add up as its *Anubhāvas*[63]. Śāradātanaya, on the other hand, is of the opinion that in view of the mental tranquillity that marks Quietism it is not possible to express it outwardly[64]. Viśvanātha has been rather brusque in dismissing its *anubhāvas* as Horripilation etc.[65]

There is a sharp difference of opinion about its subordinate feelings as well. While Abhinavagupta is inclined to admit all the states of mind (*cittavṛttis*) as its *saṁcāris*, Śāradātanaya represents the other pole in maintaining that the ancillary feelings have no bearing on the development of *Śāntarasa*[66]. Besides the well-known thirty three, some other *saṁcāris* are taken to contribute to its enrichment. In fact, of all the ancillary feelings, *nirveda*, *dhṛti*, *mati*, *smṛti*, *harṣa* and *bibboka* are more attuned to Quietism.

Before it is called a critique, it would be worthwhile to compare Quietism with Devotion (*Bhakti*), first elevated to the status of sentiment in the *Alaṅkārakaustubha*. *Bhakti* is overwhelmingly taken to be a mere *bhāva*, being based on *rati* to god[67].

Not unlike Devotion there is a unique and inexpressible synthesis of attachment and detachment in Quietism also. Both are distinguished by devotion to sublime aims of life and aversion to material objects and pleasures. There is in both a deep revolt against *māyā* (ignorance), cessation of cravings for mundane comforts and a state of bliss following the extermination of all types of miseries. But they differ in their genius and objectives. While *Śanta* is a state of mind marked by complete dissolution of ego, a modicum of it does stick to *Bhakti*. Moreover, Quietism is the path of knowledge and withdrawl. It culminates in the attainment of the highest goal of life, the *mokṣa*. The fruit of *Bhakti*, on the otherhand, is *Bhakti* itself (*premaprekarṣo bhaktiphalam*). It admits

of no other reward. To the devout, even the highest bliss pales into insignificance before *bhakti* and liberation is a mere demoness.

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्बुधेः परमाणुतुलामपि॥

Śāntarasa is thus the most sublime and natural state of mind. No umbrage can be taken against its independent experience.

REFERENCES

1. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।
   Sāhityadarpaṇa (*SD*), I. 3
   वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन् निपीयमाने मुदमेति चेतः ।
   Hammira-mahākāvyā, XIV. 35
2. श्रृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ।
   Śṛṅgāraprakāśa, Part I
3. एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् ।
   Uttararāmacarita, III. 47
   तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।
   SD, P. 73
4. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
   निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥
   Kāvyālaṅkāra, XII. 4
5. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
   SD, III. 251
6. *Vṛtti* on *Daśarūpaka*, IV. 35
   Locana, P. 966—974
   Natyaśastra with *Abhinavabhārati* (Varanasi edition), P. 762—782
7. तत्र केचिदाहुः—नास्त्येव शान्तो रसः । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति···सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते ।
   Vṛtti on *Daśarūpaka*, IV. 35
8. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः ।
   Locana, P. 974
9. ननु शान्तस्यानभिनेयत्वाद्यदपि नाटयेऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि······काव्यविषयत्वं न निवार्यते ।
   Avataraṇikā to *Daśarūpaka*, IV. 45

10. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाटये रसाः स्मृताः ॥
Nāṭyaśastra, VI. 16

10a. ननु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपदिष्टो मुनिना ।
Pūrvapakṣa in *Locana*, P. 966
नास्त्येव शान्तो रसः तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनात् ।
Pūrvapakṣa in *Vṛtti* on *Daśarūpaka*, IV. 35

11. *Nāṭyaśāstra* (Vārāṇasi edition, Part I, V.S. 2028), P. 762—782

11a. निर्वेदस्थामिभावः शान्तोऽपि नवमो रसः ।
Kāvyaprakāśa, IV. 35

12. *Rasagaṅgādhara*, P. 121

13. शक्यं च तत्र विचक्षणैः स्वयमुत्प्रेक्षितुम् ।
Kāvyadarpaṇa, P. 203

14. *Vṛtti* on *Daśarūpaka*, IV. 35, op. cit.

15. न चानादिसिद्धरागद्वेषवासनानामयं न चर्वणीय इति कथमस्य रसतेति वाच्यम्
Kāvyadarpaṇa, P. 203

15a. ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना ।
Pūrvapakṣa in *Locana*, P. 971

16. न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति ।
Vṛtti on *Daśarūpaka*, IV. 45

17. यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतालोकसामान्यमहानुभावचित्त-वृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्य ।
Dhvanyāloka, P. 971

17a. सर्वस्य नैकत्र हृदयसंवादः, भयानके वीरप्रकृतेरभावात् ।
Abhinavabhārati, P. 734
तर्हि वीतरागादिभिः शृङ्गारादीनामप्यचर्वणतया रसत्वं न स्यात् ।
Kāvyadarpaṇa, P. 203

18. नीरसा ये जना लोके ते च शान्ता इति स्मृताः ।
रसत्वं नास्ति शान्तस्य तस्मादेवं मुनेर्मतम् ॥
Rasaratnapradipika, P. 43

19. *Bhāvaprakāśa*, P. 137

20. न च तदीया पर्यन्तावस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्टोपरमादनुभवाभावेनाप्रतीयमाना स्यात् । शृङ्गारादेरपि फलभूमाववर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु···चित्राकारा यमनियमादि-चेष्टा···प्रतीयत एव ।
Locana, P. 969

21. अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति।
Vṛtti on *Daśarūpaka*, IV 35

22. यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाप्रबन्ध-प्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तिप्राप्त्याविरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।
Ibid.

23. न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कार प्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविधसद्भावे ऽपि यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः।
Dhvanyāloka, P. 972

24. विषयजुगुप्सारूपत्वाद्बीभत्से ऽन्तर्भावः शङ्क्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्।
Locana, P. 974

25. *Kāvyālaṁkārasārasaṁgrahah*, IV. 5

26. *Nāṭyaśāstra* with *Abhinavabhārati* (Varnasi edition), P. 762—782

27. अष्टानामिह देवानां श्रृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पेत्॥
Pratyabhijñadarśana
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः।
Saṅgrahakārikā

28. *Nāṭyadarpaṇa*, P. 305, 306, 317, 329.

29. *Dhvanyāloka* with *Locana*, P. 965-973.

30. शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव।
Dhvanyāloka, op. cit., P. 965

31. *Kāvyaprakāśa*, IV. 35.

32. वैराग्यादिविभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी शमः शान्त।
Kāvyānuśasana, II. 17

33. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
SD, III. 245

34. *Rasagaṅgādhara*, P. 121, 125 etc.

35. *Saṅgitāratnākara*, 1369, 1373.

36. *Daśarūpaka*, IV. 35 & *Vṛtti*, *Avataranikā* to IV. 45.

37. वीरो सिंगारो अब्भुवो अरोद्धो च होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसन्तो च॥
P. 34

38. शृङ्गारवीरशान्तानामेको ऽङ्गी रस इष्यते ।
    SD, VI. 317
39. Contribution of Jainism to Indian Culture (Ed. R. C. Dwivedi), P. 43.
40. रसाधिराज सेवस्व शान्तमनाश्चिरम् ।
    Pradyumnacarita, XII. 243
    भज शान्तरसं तरसा सरसम् ।
    Bharata-bāhubali-mahākāvya, XVII. 74
41. अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः ।
    Nāṭyaśastra (Varanasi edition), P. 762
42. Ibid, P. 762.
43. अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते ।
    Locana, P. 967
44. *Kāvyālaṅkārasārasaṅgraha*, P. 43.
45. V. Rāghvan : Bhoja's *Sṛṅgāraprakāśa*, P. 524.
46. तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमः ।
    Abhinavabhārati, quoted in V. Raghvanś, Number of Rasas, P. 99
47. लौकिकव्यापारान्मनस उपरमः शमः ।
    Advaitāmoda, P. 19
    विषयेभ्यो मनसो निग्रहः ।
    Vedāntasāra, P. 6
48. शमश्चित्त प्रशान्तता ।
    Mahābhārata, *Vanaparva*, XXX. 90
49. शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ।
    SD, III. 180
50. *Nātyasāstra*, VI. 18 ; *Nātyaśāstra* (KM), P. 113
51. Mammaṭa, Jayadeva, Bhānumiśra etc.
52. तत्त्वज्ञानजो निर्वेदो ऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवास्य विभावत्वेनोक्तं स्यात् । वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वम् । तदुपायत्वादिति चेत्, कारणकारणेऽयं विभावता व्यवहारः, स चातिप्रसंगावहः ।
    Abhinavabhārati, P. 614
53. सम्यग्ज्ञान प्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
    Kāvyālaṅkāra, XV. 15
54. शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव ।
    Dhvanyāloka, P. 965
55. इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता ।
    Abhinavabhārati, P. 623

56. स तु तत्त्वज्ञान-वैराग्याशयशुद्धिभिर्विभावैः समुत्पद्यते ।
Nātyaśāstra (Varansi edition), P. 762

57. प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यशास्त्रवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैः...!
Locana, 971

57a. वैराग्यादिविभावः...!
Kāvyānuśāsana, II. 17

58. *Nātyadarpaṇa*, P. 317

59. अनित्यत्वादिना ऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ।
SD, III. 246
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ।।
SD, III. 247
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
SD, III. 248

60. *Rasagaṅgādhara*, P. 136

61. तदनुभवा एव च यमनियमाद्यनुकृता अनुभावाः ।
Abhinavabhārati, P. 620
शास्त्रचिन्तादयो ऽनुभावाः ।
Ibid., P. 636

62. *Nātyaśastra* (Varansi edition), P. 762

63. विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्य-चेष्टाहानि-नासाग्रदृष्टादयोऽनुभावाः ।
Rasagaṅgādhara, P. 136

64. निवृत्ते विषयासंगे स्वान्ते शान्तिमुपेयुषि ।
निर्वेदादेरनुदयादनुभावो न दृश्यते ।।
Bhāvaprakāśa, P. 136

65. रोमाञ्चाद्याश्चानुभावाः ।
SD, III. 248

66. नोपकुर्वन्ति शान्तस्य भावाः संचारिणो यतः ।
Bhāvaprakāsa. P. 136

67. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः ।
Kāvyaprakāśa, IV. 35

BIBLIOGRAPHY

1. Mahābhārata, (Text 1-IV) : Gita Press, Gorakhpur.
2. Nātyaśāstra with Abhinavabhāratī and Madhusūdanī (Parts 1-3) : Banaras Hindu University (BHU), 1971.
3. Nātyaśāstra : Kāvyamāla
4. Kāvyālaṅkārasārasaṅgraha (Udbhata) : Oriental Institute, Baroda.
5. Kāvyālaṅkāra (Rudrata) : Kāvyamālā 2.
6. Dhvanyāloka with Locana (Part II) : MLBD, Delhi. 1963.
7. Daśarūpaka with Āloka : Nirnay Sagar Press, 1928.
8. Abhinavabhāratī : Delhi University.
9. Kāvyaprakāśa : Ed. Vishveshvar, Banaras, 1960.
10. Kāvyānuśāsana (Hemacandra) : Bombay, 1964.
11. Nātyadarpaṇa : Delhi University.
12. Bhāvaprakāśa : Gaekwad Oriental Series.
13. Sāhityadarpana : Lucknow, V.S. 1978.
14. Sarasvatīkaṇṭhābharaṇa : BHU Edition.
15. Kāvyadarpaṇa (Rājacūdāmaṇi Dīksit) : Srīrangam.
16. Saṅgītaratnākara (Śārṅgadeva) : Ānandāśrama Granthavalī, Poona.
17. Rasaratnapradīpikā (Allarāja) : Bhāratiya Vidya Bhavan, Bombay.
18. Rasagāṅgādhara : Chaukhamba, Kashi.
19. Vedāntasāra : Ed. Ram Murti Sharma, Delhi, 1978.
20. Uttararāmacarita : Ed. M.R. Kale, Bombay, 1924.
21. Hammīra-mahākāvya : Ed. Muni Jinavijay, Jodhpur, 1968.
22. Śrīdharacarita : Ed. Muni Jñānavijay, Ahmedabad, V.S. 2007.
23. Pradyumnacarita : Ahmedabad 1942.
24. Bharata-bāhubali-mahākāvya : Jain Vishva Bharti, Ladnun, 1974.
25. Contribution of Jainism to Indian culture : Ed. R..C. Dvivedi, Delhi, 1975.

वत्सल-रस-विमर्शः

लेखक—डॉ० चन्द्रकिशोर गोस्वामी
रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत-दर्शनशास्त्र
वैदिक-अध्ययन विभाग, वनस्थली
विद्यापीठ (विश्वविद्यालय)
पो० वनस्थली विद्यापीठ (राज०)

विश्वस्मिन्नस्मिञ्जगति सर्वानुभवसिद्धे द्वे वेदने—सुखं दुःखञ्च । तत्र च भवतो द्वे एव तन्निमित्ते रागो द्वेषश्च ।[1] तयोर्विस्तारादेवाविर्भवन्ति नानाभावाः स्वल्पानल्पकालस्थायिनः प्राणिनां मनस्सु ।[2] केचन मनीषिणो द्वेषमपि रागनिमित्तकं मन्यमाना रागमेकमेव मूलभावमङ्गीकुर्वन्ति[3] तत्त्वतो निमित्तैक्यान्नैमित्तिकैक्यमपि प्रसिद्धमिति नियमात् । दृष्टिरियं निर्विकल्पा, परं विकल्पकल्पनया तु नैकासां भावविच्छित्तीनां सत्ताः स्वीक्रियन्ते । भारतीयकाव्यशास्त्रिणां मतेऽप्येकोनपञ्चाशद् भावा भवन्ति । तेषु केचन स्थायिनः केचिदस्थायिनोऽन्ये च सात्त्विकाः प्रोच्यन्ते ।[4] स्थायिष्वपि रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मया

---

१. (i) अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ।···इष्टमनिष्टं चापि सुखे दुःखे च साधारणम् । इष्टेषु कामो रागः, अनिष्टेषु क्रोधो द्वेषः ।

—कणादगौतमीयम्: विश्वनाथ शास्त्री, पृ० ५९-६० ।

(ii) Emotions are desires and that the two elementary desires are (i) the desire to unite with an object that causes pleasure and (ii) the desire to separte from an object which causes pain, in other words. Attraction and Repulsion, Like ane Dislike, Love and Hate or any othcr Pair of names that may seem best.

—The Science of Emotions : Bhagban Das, p. 25

2. Everyone of the Emotions, is either pleasurable or painful.

—Ibid, p. 21

३. रसं त्विह प्रेमाणमेवामनन्ति । सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रिय इति प्रेमण्येव पर्यवसानात् । शृंगारप्रकाशः, II/पृ० ४२९.

४. ये सत्त्वजाःस्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा युक्त्या निवद्धाः परिपोषयन्ति ।।—दशरूपक, ४/४९

भावा अष्टावूरीक्रियन्ते ।[1] केषाञ्चन मते शमो निर्वेदो वा नवमोऽपि स्थायिभावो विद्यते ।[2] नातः परमन्ये स्थायिभावाः सन्ति रसप्रवर्त्तकाचार्यभरतवचनभङ्गभयादिति मतिमतां मतं भारतीयकाव्यशास्त्रविदाम् ।[3] ये केचिदन्यानपि स्थायिभावान् वत्सलताभक्त्यादीन् कथयन्ति तेषामसौ संरम्भातिरेक एव मन्यते । अनेनोपपद्यते केऽपि भावाः काव्यशास्त्रिभिः रसत्वप्राप्तियोग्या न कल्प्यन्ते।[4] यदि सन्ति रतेरनेका विच्छित्तयस्तर्हि तास्सर्वा रतावेवान्तर्भवन्ति । तस्मादष्टावेव नव वा स्थायिभावा वर्तन्ते ।

इदमत्रास्ति विचारणीयं यद्धासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयेषु भावेषु विभावानामालम्बनोद्दीपनानां भेदाद् भवति न तु स्वरूपभेदः। हासः स्वरूपतो हास एव, भवतुनामासौ विकृतवेषाद विकृतवचनाद् विकृतयत्नाद् वा । स्मितहसितविहसितापहसितोपहसितातिहसितभेदास्तु हास्यस्य मात्राकृतभेदा एव सन्ति । अनेनैव क्रमेण शोकादीनां स्वरूपेणैक्यम्, तारतम्येन तत्र भिन्नता प्रतीयते । परं रतेरेवेदं वैशिष्ट्यं यत् तत्रोभयतोऽपि भेदो भवति—स्वरूपतो मात्राकश्च । इदमेव भावानां निखिलानां रतेरेव सर्वश्रेष्ठत्वम्, सर्वाभीप्सितत्वम्, सर्वाधिकचमत्कारकारित्वं च । कान्ताकान्तयोर्या रतिस्ततो सर्वथाविलक्षणैव पित्रोः पुत्ररतिः, भ्रात्रोर्भ्रातृरतिः, भक्तस्य भगवद्रतिः, मित्रस्य मित्ररतिः, गुरोः शिष्यरतिर्वा। सामान्यतो रतिरियं चतुर्धा भवति—१. उत्तमास्यानुत्तमं प्रति रतिः २. अनुत्तमस्योत्तमं प्रति रतिः ३. समवयस्कानां रतिः ४. चेतनस्याचेतनं प्रति रतिश्च ।[5] चतुर्णामितेषामेवान्येऽपि रतेर्विशेषाः सन्ति । पित्रोरपत्यं प्रति, भगवतो भक्तं प्रति, गुरोः शिष्यं प्रति, पितृव्यमातुलभ्रातृभगिनीप्रभृतीनां ज्येष्ठानां गृहबालकं प्रति, परिचितानामपरिचितानामपि केषांचिद् यं कमपि शिशुं प्रति च रतिर्वत्सलतेति कथ्यते। पुत्रीपुत्रयोः पितरौ प्रति, भक्तस्य भगवन्तं प्रति, शिष्यस्य गुरुं प्रति, यस्य कस्यचिदपि ज्येष्ठं प्रति या रतिः सा श्रद्धा भक्तिर्वा निगद्यते । समवयस्कानां समलिङ्गानां समलिङ्गिनीनां वा रतिर्मैत्रीसख्यता वोच्यते। विषमलिङ्गयोर्यूनोः रतिस्तु सुप्रसिद्धा।

---

१. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा । जुगुप्साविस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥—नाट्यशास्त्र, ६/१८

२. (i) शम आत्मस्वभावः । यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते निर्वेदशब्देन वा तन्न कश्चिद्बाधः ।—अभिनवभारती, ६/पृ० ३३६ ।

(ii) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ॥—काव्यप्रकाशः, ४/३४.

३. रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः ।
—रसगंगाधर, प्रथमानने, पृ० ५६.

४. स्थायित्वं चैतावतामेव । जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति ।
—अभिनवभारती, ६/पृ० २८२

५. तुल्ययोर्या मिथो रतिः स स्नेहः प्रेमेति यावत् । तथा तयोरेवेति । निष्कामतया मिथो रतिः सा मैत्री । अवरस्य वरे रतिर्भक्तिः सैव विपरीता वात्सल्यम्। सचेतनानामचेतने रतिरावन्ध इत्यादि स्वयमूह्यम् ।
—काव्यप्रकाशस्य संकेतटीका (माणिक्यचन्द्रः सूरिः), पृ० ६५

श्रृंगाररसस्य स्थायिनी चित्तवृत्तिः रतिरस्त्येव। चेतनमानवस्याचेतनं प्रति या रतिराबन्ध इति व्यवहृता तस्या नैके भेदा भवन्ति-प्रकृतिं प्रति प्रकृतिप्रेमेति देशंप्रति रतिर्देशप्रेमेति, मृगयां प्रति रतिर्मृगयाप्रेमेति, द्यूतादिक्रीडां प्रति रतिरक्षादिप्रेमेति, सांसारिकतां प्रति रतिर्मिथ्याज्ञानमिति च। एतास्सर्वा रतयः परस्परं भिन्नाः, किञ्च परिपोषं गतास्ताः सकलाः श्रृंगाररस इति वक्तुं न शक्यन्ते।[1] रसदृशा तु प्रथमवर्गे वात्सल्यरसो[2] द्वितीयवर्गे भक्तिरस[3] स्तृतीयवर्गे सख्यरस[4] श्चतुर्थवर्गे च प्रकृतिप्रेमरसः[5], देशप्रेमरसः[6], मृगयारसः, अक्षादिक्रीड़ारसः,[7] मायारसश्च गण्यन्ते।[8] प्रमोदरूपापि कान्तकान्तारतिर्न सैवास्ति या मातुः पुत्रं प्रति, पुत्र्याः पितरंप्रति भक्तस्य भगवन्तं प्रति, मित्रस्य मित्रं प्रति वा रतिर्भवति। नास्ति सर्वासां रतीनां स्वरूपैक्यम्। सचेतसामनुभवस्तत्र परमं प्रमाणम्। अतः सुसिद्धमेतद् यदन्यैव यूनोःरतिरन्याश्च वत्सलतादयः।

रससंख्याप्रस्तारस्वीकारे शालीनमतिभिः साहित्यशास्त्रिभिः रतेर्द्विधात्वं प्रतिपादितम्—१. सम्प्रयोगविषया रतिश्च।[9] कैश्चिद् रतिः प्रीतिश्चेति नामद्वयेनापीमे प्रोक्ते।[10] तेषां मते सम्प्रयोगविषया रतिरेव सा रतिर्या रसरूपतामाप्तुमर्हति।[11] असम्प्रयोगविषया च या प्रीतिः सा तु भावरूपैवास्ति, न कदापि रसत्वार्हा।[12]

---

१. पित्रोरपत्यविषयो यः प्रीतिप्रकर्षो, नासौ श्रृंगारः अकान्तविषयत्वात्।
—रसविवेकः, १/पृ० ४५

२. श्रृंगारप्रकाशः, १/६

३. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः। खद्योतेभ्यः इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥
—भगवद्भक्तिरसायनम् २/७७

४. ननु दास्यसख्यवात्सल्याख्यास्त्रयो रसाः परे सन्त्यनुभूयन्ते च तज्ज्ञैस्ततः कथमत्र नवैवेति चेत् सत्यम्। तथापि नात्र ते निरूप्यन्ते।—साहित्यकौमुदी, ४/पृ० ४०

५. रसमीमांसाः (हिन्दीग्रन्थः) : रामचन्द्रशुक्लः, पृ० १४३।

६. नवरस (हिन्दीग्रन्थः) बाबू गुलाबरायः पृ० ५६२

७. प्रीतिभक्त्यादयो भावाः मृगयाक्षादयो रसाः।—दशरूपकम् ४/८३

८. प्रगाढरागः संसारे मिथ्याज्ञानं प्रकीर्तितम्।
मिथ्याज्ञानं तु सम्पूर्णं मायारस इतिः स्मृतः॥—रसदीर्घिका, ३/६४

९. (i) या सम्प्रयोगविषया सा रतिः परकीर्तिता।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते॥—अलंकारकौस्तुभः, ५/६५
(ii) रसार्णवसुधाकरः पृ० ८९, ९२

१०. रतिरेव कान्ताविषयतां परित्यजन्ती कैश्चित् प्रीतिरित्युच्यते।
--अलंकारमहोदधिः, पृ० १०२

११. रतिरुक्तलक्षणैव, सैव तु कान्ताकान्तविषयत्वे श्रृंगारः। अन्यविषयत्वे तु भावः।
—रसप्रकाशटीका (काव्यप्रकाशस्य), पृ० १३७

१२. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः।—काव्यप्रकाशः ४/३४

पूर्वोक्तेषु रतिभेदेषु वत्सलतारतेर्महत्ता दशमशताब्द्याः प्रागेव रससिद्धान्तस्य पुनश्चिन्तनेन साकं साहित्यशास्त्रिभिः स्वीकृता। तस्या वत्सलतायाः परिपाकेन जायमानं वात्सल्यं दशमो रस इति ख्यातिं गतः उक्तञ्च महाराजभोजेन—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियः··· ··· ··· ···॥[1]

चतुर्दशशताब्दी यावद् रसास्यास्य स्फुटं चमत्कारिता सुप्रसिद्धा जाता—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः॥[2]

वत्सलतायां कास्ति विलक्षणता यतो रतेर्भिन्ना सा विद्यत इति चेत् प्रश्नस्येदमुत्तरम्-कान्तकान्तारतिस्तूभयनिष्ठा परं वत्सलता तु न सर्वदोभयनिष्ठा प्रत्युतैकनिष्ठापि सदैवानन्दप्रदा। अबोधो मुग्धश्च शिशुरात्मानं प्रति वत्सलतां तु प्रत्यभिजानाति परं स्नेहं दर्शयितुं न विजानाति। तस्यावयवेषु सहजसौष्ठवं, मुक्ताफलेषु तरलत्वमिवाङ्गेषु व्याप्तं लावण्यं, मनसो निर्विकारत्वं निश्छलत्वं वा[3] वाग्वेषव्यवहाराणां लालित्यं च बलादावर्जयन्ति वत्सलानां हृदयानि।[4] सत्यं शिवं सुन्दरञ्च यदि ब्रह्म वेविद्यते, शिशुरप्यस्ति मूर्तिमत् सत्यं घनीभूतं सौन्दर्यं व्यष्टेः समष्टेश्च मंगलायतनम्। अत एवोच्यतेऽसावीश्वररूप इति।[5] लोके वत्सलतारतिः पशु-

---

१. शृंगारप्रकाशः १/६

२. साहित्यदर्पणः, ३/२५१-५४

३. निश्छले शिशुवर्गेऽस्मिन्नात्मभावः परो मतः।
वत्सलताऽत उद्भुता वात्सल्यं च प्रतीयते॥
लोके समन्वयोऽनेन परिवारस्य चोद्भवः।
हृदयस्यात्र विश्रामस्तत्त्वमिदं न वार्यते॥
— रसालोचनम् : डॉ० ब्रह्मानन्दः शर्मा, ४/३९-४०

४. (i) नन्दनस्य शुचिभा शिशुवदने॥—सिद्धार्थचरितम्: वीरेन्द्रभट्टाचार्यः, ३/६९
(ii) गृहेजानुचरः केल्यां मुग्धस्मितामुखाम्वुजः।
पुत्रः पुण्यवतामेव पात्रीभवति नेत्रयोः॥—सुभाषितरत्नाकरः, पुत्रप्रशंसा, १
(iii) न चन्द्रश्चन्द्रमाः पुत्रं चन्द्रमाहुर्मनीषिणः।
इष्टे स्पृष्टे श्रुते चोक्ते घ्राते यत्रेन्द्रियोत्सवः॥—हरिहरसुभाषितम् २/३७

५. सकलजनान्तःकरणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणं लिंगम् आनन्दमयत्वात्···एतावत्त्वं हि परमेश्वरं लिंगमस्य, यद्वाल एव सकलजनचित्तचमत्कारकारकः।
—चैतन्यचन्द्रोदयम्, १/पृ० २४

पक्षिमनुष्येषु सर्वेष्वाबालवृद्धेषु व्यापकत्वेन दरीदृश्यते। न केवलमात्मनां बालकेषु, न केवलं मनुष्यस्य मनुष्यबालकेषु, प्रत्युत मनुष्यस्य मनुष्येतरशिशुष्वपि, सकलप्राणिनां निजापत्येषु च वत्सलता वरीवृत्यते। यथा च लिखितं मयैवान्यस्मिन्नेकस्मिल्लेखे—"प्रत्यासन्ने वर्षासमये सुरक्षितस्थानं प्रति निजाण्डान् नयन्तीषु पिपीलिकासु, शावकेभ्यो नीडनिर्माणं कुर्वत्सु अन्नकणांश्च तच्चञ्चुपुटेषु निदधत्सु पक्षिषु, वत्सानवलोक्य मुहुर्मुहुरातुरतया हुम्बारवमुद्गिरन्तीषु समुपसृज्य लिहन्तीषु प्रस्नुतपयोधरासु च सुरभिषु, नैकान् मासान् मृतवत्सं वक्षसि श्लिष्यन्तीषु वानरीषु, सावधानतयाक्लेशेनारुजा निजान् गर्भजान् मुखैर्गृहीत्वा स्थानपरिवर्तनं कुर्वाणासु व्याघ्रीषु बिडालीषु चायंभावः सन्ततं साक्षात्क्रियते।"[1]

लोकेऽपि भावस्यास्यानन्ददायिता सुसिद्धेव। प्रधने हन्यमानं पुत्रं दनुं रक्षन्ती वृत्रमाता सहर्षमिन्द्रस्य वज्रेण मृत्युं वृतवती।[2] श्रवणकुमारस्य मृत्यौ पितृभ्यामाचरितोऽग्निप्रवेशः, पुत्रवियोगात्तेजस्विना राज्ञा दशरथेन कृतः प्राणपरित्यागः, पुत्रवधस्य मिथ्योदन्तादेव स्तब्धेन द्रोणेन विहितः समरे शस्त्रास्त्रपरित्यागः, हुँमायोः स्वास्थ्यलाभाय मोगलराज्ञा बाबरेण सानन्दं कृतात्मनो मरणयाच्ञा च प्रकामं सन्ति निदर्शनानि वत्सलताया व्यापकत्वस्य। अतोऽस्य भावस्य सहजसिद्धा सकलप्राणिसुलभता। यं कमपि शिशुं दर्शं दर्शं वत्सला लोका विगलितवेद्यान्तरान्तः करणा जायन्ते। शिशुमुत्सङ्गे वोढुमुत्सुकास्ते "धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति"[3] इत्युद्गिरन्ति। कवयोऽपि मन्यन्ते यन्मानुषे लोके वात्सल्यं नाम केवलमखिलेन्द्रियवशीकरणचूर्णमुष्टिः।[4] पित्रो कृते तु पुत्रोऽयमानन्दग्रन्थिरेवास्ति।[5] अतो लोक एव यदास्य भावस्यैतावती तीव्रतानुभूयते, काव्ये तु कलायोगादसावुत्कृष्टतरो तीव्रतरो वा भवति। काव्ये नाट्ये च वत्सलतानुभूतौ सद्यः साधारणीकरणं जायते परमानन्दश्चास्वाद्यते।

अयं वत्सलताभावो मनोवैज्ञानिकेषु मातृवृत्तिरूपेण (Maternal Instinct)[6] काव्यशास्त्रिषु च पुत्ररति-स्नेह-वत्सलतादिनामभिः स्थायिभावरूपेण जन्मजातसंस्कारः स्वी-

---

१. "स्थायिभावस्वरूपं वत्सलताभावस्थायित्वञ्च"
—स्वरमंगला, त्रैमासिकी, वर्षम्, ६ अंक २, पृ० १९

२. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥—ऋग्वेदः, १/३२/९

३. अभिज्ञाशशाकुन्तलम् ७/१७

४. महावीरचरितम्, भवभूतिः, ३/पृ० २७९

५. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥—उत्तररामचरितम्, ३/१७

6. That, if the animal-mother is moved by the impulse of a maternal Instinct, so also is the Woman. To repudiate this view as baseless would seem to me the hieght of blindness and folly..
—An outline of Psychology, p. 136.

क्रियते । बाल्यकालादेवाभिव्यक्तिर्जायते वासनात्मतया विद्यमानस्यास्य भावस्य । शिशूनां पुत्तलिकाक्रीडास्य प्रमाणम्, यथोक्तं महाकविना कालिदासेन—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेसे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ।।[1]

वत्सलतासंज्ञकस्य स्थायिभावस्य नैके विभावा विद्यन्ते । परिवारे पुत्रीपुत्रपौत्रीपौत्रदौहित्रभ्रातृजाभ्रातृजानुजानुजभागिनेयीभागिनेयाद्याः, समाजे च शिष्याः शिशवश्च मुख्यतोवत्सलताया आलम्बनविभावाः सन्ति । समाजे केचनान्यसम्बन्धेष्वपि वत्सलताभावः क्वचिद् दृश्यते । यथा—स्वामिनः सेवकं प्रति, भक्तस्य भगवद्बालरूपं प्रति, भगवतो भक्तं प्रति, गृहस्थस्य गृहपशून् गृहपक्षिणश्च प्रति, कृतकतनयत्वेन गृहीतान् लतातरूंश्चापि प्रति । सर्वेष्वेषु विभावेषु सामान्यतः पुत्रपुत्रीशिष्यकमनीयशिशवश्च वत्सलतोद्बोधका विभावाः सन्ति अनुभावा संक्षेपतो द्विविधा उक्ताः-कायिका वाचिकाश्चेति।[2] शिशुं प्रति निर्निमेषचक्षुषावलोकनं, तस्य शिरोघ्राणं, चुम्बनं, चुचुत्करणमुत्सङ्गधारणं, स्पर्शनालिंगनादीनि च सामान्याः कायिकानुभावा भवन्ति । शिशुना सह क्रीडनम्, शिशोरलंकरणम्, गोपुच्छादिभिः रक्षाकरणं, मृदुताडनमित्यादीनि च विशिष्टाः कायिकानुभावा वर्तन्ते । आशीर्वचनमुपदेशः शिशोः रक्षार्थं प्रभुप्रार्थना, मन्त्रजपः, कदाचित् कृत्रिमतर्जनमपि च वाचिकानुभावाः भवन्ति । सात्त्विकभावानामष्टविधत्वं काव्यशास्त्रिभिर्यद्यपि स्वीकृतम् परमेतेभ्यो भिन्नोऽपि नवमो भावो बहुलतया स्तनधारिणीषु मातृषु निजापत्यं प्रति विलोक्यते । असौ चास्ति सात्त्विकभावः 'स्तन्यस्रावः' ।[3] एवमेव त्रयस्त्रिंशत्सर्वमान्येभ्यो व्यभिचारिभ्यो व्यतिरिक्ता दयामृदुतासन्तोषादयोऽनेके भावा अनुभूयन्ते ये तत्तत्प्रसङ्गे स्वयमूह्याः । एतेषां विभावादीनां संयोगाद् व्यंग्यव्यंजकभावादभिव्यक्तः सकलसहृदयहृदयसंवादभाक् सहृदयेषु वासनात्मया स्थितः स्थायी वत्सलताभावो यदा स्वीकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीक्रियते तदा यो रस आस्वाद्यते नासौ कथमपि शृंगार इति व्यवहर्तुं सुशकः । यद्यनुभूयते न चास्ति स शृंगारस्तदावश्यमेव भिन्नामधेयेनैव वक्तव्यः । लोक एव यदामितानन्ददोऽयं कथं प्रतिषिध्यते काव्ये नाटये चास्य पुष्टिः। वत्सलतायाः पुष्टिरेव वत्सलो रसः। आचार्यविश्वनाथेन वात्सल्य हेतूनां विभावादीनां सोदाहरणं निरूपणं प्रस्तुतं परमुदारतया किन्तु उदाहरणानां विश्लेषणं न कृतम् । कविकर्णपूरगोस्वामिना तूहाहृते पद्ये वत्सलरसस्य निष्पत्तिरपि कृता तस्य अलंकारकौस्तुभे, तेन वत्सलरसस्येदमुदाहरणमुपन्यस्तम्—

आराज्जानुकरोपसमर्पणपरो जातस्मितं सञ्चर-
न्नङ्कारोहमाप्नुवन् रुरुदिषाविम्लानचन्द्राननः ।
अभ्यासार्थमुपेक्षितोऽपसरणप्रक्रान्तया सत्वरं
कण्ठेकृता यशोदया न न न नेतयाश्वासि बालो हरिः ।[4]

---

१. कुमारसम्भव, १/२९

२. रसचन्द्रिका, विश्वेश्वरः कविचन्द्रः, ५/पृ० ८३

३. नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते ।।
—हरिभक्तिरसामृत सिन्धुः, ३/४/२२

४. अलङ्कार कौस्तुभः, ५/उदाहरण संख्या-१०

पद्येऽस्मिन् विभावादीनामवस्थितिस्तेनैवं प्रकटिता—

अत्र ममकारः स्थायी। एष एकनिष्ठः आलम्बनं श्रीकृष्णः, उद्दीपनं तद्गतचंक्रमणादिः। अनुभावः कण्ठेकृत्यालिङ्गनादिः। व्यभिचारी हर्षादिः एष परोक्षो व्रजेश्वरीनिष्ठः प्रत्यक्षः सामाजिकनिष्ठः। उभयथैवाऽयमप्राकृतः।"[1]

स्थायिनः संज्ञायां भवतु नाम मतविशेषः परमियमत्र नास्ति काऽपि विचिकित्सा यच्छृंगाराद्भिन्न एवास्ति कोऽप्यलौकिकचमत्कारकारी वत्सलोरसः। काव्यशास्त्रिणो रससंख्याविस्तारभयाद् किमपि ब्रुवन्तु परं रसिकस्यैव वर्तमानात् रससम्बन्धे सहृदयाएव प्रमाणम्। आनन्दवर्धनाचार्योऽप्याह—"वैकटिका एव—रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः?"[2]

---

१. तत्रैव, ५/पृ० १४८.
२. ध्वन्यालोकः. ६/पृ० २३३.

भक्ति रस विमर्शः

लेखक—डॉ० कपिलदेव ब्रह्मचारी
प्राचार्य
श्री रामानन्द पीठ संस्कृत महाविद्यालय,
कर्णघण्टा-वाराणसी

संसार रोगेण चिरं सुतप्ताः कुतोऽपि शान्तिं न परां प्रपन्नाः ।
श्रुत्यब्धि निर्मन्थनलब्धसारं सन्तः सदा भक्तिरसं पिबन्तु ।।

आद्यरसाचार्येण भरतमुनिना केवलं शृंगारादयोऽष्टावेव रसाः स्वीकृताः किन्तु पश्चाद्वर्तिनः आचार्याः 'शान्तोऽपि नवमोरसः' इत्यादिना नवरसानामनन्ति । मुनीन्द्र मतानुसारेण वात्सल्यरसोऽपि यथाकथञ्चित्काव्यजगति स्वस्थानं गृह्णात्येव । एवमेव भक्तिक्षेत्रेऽपि भक्तिरसोऽपि स्वीकृतो भवेत्, कालान्तरे च तस्य स्वीकृतिः काव्य जगति भवेत्, किन्तु केवलं भक्तिरसविषये न तथाकृतम् । अपि चालङ्कारविषयेऽपि भरतमुनिना केवलं चत्वार एवालङ्काराः स्वीकृताः, किन्तु अधुनाऽलङ्करणरूपलक्षणेन काव्यशोभाधायकत्वरूपधर्मेण चालङ्कारा वैविध्यं लभन्ते । एवञ्च यथा ये रसा अलङ्काराश्च भरतमुनिना असम्मतास्तेऽपि विभिन्नाचार्यैः पल्लविताः स्वीकृताश्च तथैव रसनमथवाऽऽस्वादनादिरूपसामान्यधर्मेण भक्तिरसोऽपि स्वीकर्तव्य एव, किन्तु न तथा कृतं रसशास्त्रविद्भिः। यतो हि तेषां मते रसनिष्पत्तिविषये यत् सामान्यरूपमभिनवगुप्तादिना विहितं, तत् भक्तिरसविषये पूर्णरूपेण चरितार्थं न भवति । न च तेन भक्तिरसविषयककाव्यस्य समालोचना एव भवितुमर्हतीति । 'अतो रसशास्त्रविद्भिर्भक्तिरसो न स्वीकृतः । तस्मात् कारणाद् भक्तिशास्त्रनिर्मातृभिर्भक्तिरसज्ञैः भगवद्भक्तैः साधकैर्भक्तिरस आविष्कृतः ।

श्रीमदमभिनवगुप्तानुसारं रसास्वादनकाले समस्तलौकिकचित्तवृतीनां विलयः प्रधाननायकस्य चित्तवृत्तौ जायते, प्रधाननायकस्य चित्तवृत्तिस्तु साधारणीकरण प्रक्रियया स्वस्मिन् समस्तसहृदयानां चित्तवृत्तिं क्रोडीकुर्वती (आत्मसात् कुर्वाणा) रसास्वादस्य हेतुतामुपैति । तस्मिन्काले समस्तविभावादि भावाः तिरोहिताः सन्तः साधारणीकृतभावमात्रमेवावाशिष्यते । तदानीं सहृदयस्य चित्तवृत्तेर्बहिर्गमिता विनश्यति, तथा च तदानीं प्रधाननायकस्य चित्तवृत्तिरेवावशिष्यते । इत्थं च साधारणीकरणं संविद्विश्रान्तिश्च रसास्वादनेऽत्यन्तमुपयुज्येत इति स्थापितमभिनवगुप्ताचार्येण । किन्तु इयं प्रक्रिया भक्तिरसास्वादनोपयोगिनी नास्ति । तथा भक्तिरसो नानुभूयते ।

भक्तिमार्गे तु श्रीकृष्णलीलाया आनन्दोऽनुभूयते। तत्र श्री राधाकृष्णस्य रतिरूपेऽथवा यशोदाया वात्सल्यरूपेऽस्माकं मनसः परिणतिर्न भवति, किन्तु तत्र भगवद्विषयकरतिरेव जागर्ति। तत्र प्रधाननायकस्य चित्तवृत्तिरस्माकं चित्तवृत्तिं नाऽऽत्मसात् करोति, किन्तु सा केवलमस्माकं भगवद्विषयकरतिमुद्दीपयति। तत्र श्री राधाकृष्णयोः श्री सीतारामयोर्वा स्वरूपप्रच्छादने भक्तकवीनां नाभिप्रायः, किन्तु तस्य प्रबोधनमात्रमेवाभिप्रायो वर्त्तते। अतएव यावदेव वयं राधांप्रतिं श्रीकृष्णस्य रतेः परिशीलनं कुर्मः, तावत्कालपर्यन्तमेव भक्तिरसमाकमुद्दीप्यते। एवञ्च भक्तिमार्गे वयममिश्रितभावनाया आस्वादनं न कुर्मः, किन्तु श्रीकृष्णस्य भक्तिभावनया मिश्रितो भक्तिभाव एवाऽऽस्वाद्यते। इयं प्रक्रियां रसशास्त्रप्रतिपादकानां रसनिष्पत्तिविषयकसिद्धान्तात् सर्वथा भिन्ना वर्तते।

तात्पर्यमिदं श्रीकृष्णभक्तिमध्ये भक्तस्य या भावना समुद्भवति तथा चौपात्तभावातिरिक्तं सहृदयगतं यत् कृष्णप्रेमानुभूयते, तस्य समुचितं समाधानं रसशास्त्रे नास्ति। प्राचीन मतानुसारेण रसास्वादनविषये कृष्णलीला प्रशस्तिकाव्यमिव भक्तभावानामुद्दीपिका सती रसवदलङ्कारूपेण परिणमति। ततोधिका नास्ति काचिदपि भक्तिः। एतत्तु नोचितं, यतो हि तदवस्थायां कृष्णलीलागौणभूता एव भवेत्, तद् भक्ताचार्याणामभिमतं नास्ति। यतो हि भक्तिभावनया सह श्रीकृष्णलीलाऽपि तेषामभीष्टा, तस्याःसमुचितं समाधानं रसशास्त्रे नास्ति। तस्मादेव कारणाद् भक्तिरसरूपा नवीनासरणिः प्रसृता संस्कृतसाहित्यकाव्यशास्त्रजगति भक्तिरसज्ञैः।

अभिनवगुप्तमतानुसारेण स्वाभाविकचित्तवृत्तिरेव लोकवृत्तपरिनिष्ठिता यदा सहृदयैरभ्यस्यते तदा सा एव विभावादिभी रंगेऽवतीर्य सहृदयानां रसास्वादस्य हेतुभूता भवति। किन्तु भक्तिस्तु न स्वाभाविकी चित्तवृत्तिः, न तु तस्या अनुभावा एव बाहुल्येन समुद्भूताः ये सहृदयैरभ्यस्यन्ते, अपि चोद्धवादीनां प्रसंगे यत्र कुत्रापि रंगमञ्चे भक्तेरभिनयः क्रियते, तत्र तस्या भक्तेर्विवेचनं कर्त्तुं शक्यते, किन्तु यत्र राधाकृष्णयोः रतिभावस्याभिनयः क्रियते, येन तस्य समास्वादनं भवेत्, अर्थात् यदा भक्तिभावो न प्रत्यक्षीक्रियते तदा तस्य समास्वादनं कथम्? किन्तु भक्तिरसशास्त्रानुसारेण सः समास्वाद्यते। तस्या समुचितं समाधानं रसशास्त्रज्ञैर्न क्रियते। अतएव भक्तिरसः समुद्भावितो भक्तिरसज्ञैः।

प्राचीनरसतत्त्वस्यानुचिन्तनं नाट्यप्रसंगे कृतं रसज्ञैः। अतोऽस्मिन् मार्गेऽभिनयस्य सर्वथा प्राधान्यम्। काव्यजगति रसतत्त्वेभ्योऽनिवार्यता प्रदानायाभिनयस्य स्थानं गुणालंकारैः स्वीकृतम्, अर्थात् काव्ये गुणालंकारैः रसः समास्वाद्यते। किन्तु भक्तिमार्गे भक्तिविषयककाव्यस्यैव प्राधान्यं न तु नाट्यकाव्यस्य प्राधान्यं वर्तते, तत्र भक्तिनाटकस्य रचना तु गौणरूपेणैव कृता। इत्थञ्च प्रोक्तकारणेन रसशास्त्रदृष्ट्या भक्तिकाव्यानां विवेचनार्थमेव भक्तिरसविद्भिर्भक्तिरसरुपया नवीनरसधारया सिक्ता वसुन्धरा।

प्राक्तनरसशास्त्रभक्तिरसशास्त्रयोर्भेदाभेदः

भक्तिरसस्य रसविषये प्रक्रियाविषये च विचारणात्पूर्वं नितान्तविचारणीयोऽयं विषयो यत् प्राक्तनरससिद्धान्तस्य भक्तिरसं प्रति का उपजीव्यता वर्तते, यतो हि भक्तिरसस्य परि-

कल्पना नवीना सत्यपि प्राचीनरस सिद्धान्तात् सर्वथा विनिर्मुक्ता नास्ति । भक्तिरसशास्त्रस्य प्रतिष्ठापना च प्राक्तनरससिद्धान्तस्य पूर्वपीठिकायामेवाभूत् । अत एव प्रथमं भक्तिरसं प्रति प्राक्तनरससिद्धान्तस्योपजीव्यता विचार्यते ।

स्थूलरूपेण भक्तिरससिद्धान्तः प्राक्तनरससिद्धान्तेन पूर्णतया प्रभावितो वर्तते। 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः' इति भरतमुनिना प्रोक्तरसनिष्पत्तिविषयकसूत्रस्य प्रभावेण सर्वे परिवर्तिनो रसाचार्या न्यूनाधिकतया प्रभाविताः सन्ति । वस्तुतस्तत्सूत्रमेव रससिद्धान्तस्य मूलं वर्तते, यस्योपरिरसरूपबटवृक्षो विविधशाखाप्रशाखायुतः सन् पल्लवितः प्रवृद्धश्च । प्रोक्तरसपरिभाषानुकूलमेव विश्वनाथेनापि प्रोक्तम् ।

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥
—(साहित्यदर्पणे, ३/१)

प्रोक्तरसपरिभाषामाश्रित्यैव रूपगोस्वामिना 'भक्तिरसामृतसिन्धौ' भक्तिरसविषये सूत्रितम्—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ॥
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।

यद्यपि प्रोक्तभक्तिरससूत्रे प्राक्तनरससूत्रात् पूर्णतया पार्थक्यं नास्ति, तथापि किंचिद् वैशिष्ट्यमस्त्येव । तत्तु तत्र सात्विकभावैरपि रसपरिपाको भवतीति पृथगुपादानं कृतम् कृष्णरतिरूपस्थायिभाव एव रसत्वमेतीति चोक्तमिति द्वे वैशिष्ट्ये वर्तेते । अन्यत्सर्वंतुल्यमेवोभयात्र प्राक्तनरसशास्त्रे वासनावासितरसिका एव रसास्वादनं कर्त्तुं क्षमाः । भक्तिरसोऽपि भक्तिवासनावासिताः शुद्धान्तःकरणा एव भक्तिरसास्वादनेऽधिकारिणो भवन्ति । एवञ्च विभावादीनां या परिभाषा रसशास्त्रे प्रोक्ता, सा परिभाषा एव भक्तिरसोऽपि दृश्यते । केवलं सात्विकभावस्यैवाधिकतयोपादानं कृतम् । भक्तिरससूत्रे सात्विकभावस्य पृथगुपादानेन ज्ञायते प्राक्तनरसाचार्यवत् सात्विकभावरसानुभावे नान्तर्भावः स्वीकृतो भक्तिरसज्ञैः । अन्यत्सर्वं तुल्यमेवोभयत्र । भक्तिरसे नायकः सर्वथा भगवान् एव, न तु प्राक्तनरसशास्त्रानुसारेण यः कोऽपि भवितुमर्हति । रसशास्त्रे नायिकागताष्टाविंशत्यलङ्काराणां निरूपणं कृतम्, भक्तिरसोऽपि तदनुसारेण भगवद्गतसात्विकालङ्काराणां निर्वचनं कृतम् । वैशिष्ट्यं तावदत्र भक्तिरसशास्त्रानुसारेण सर्वेषामालम्बनं दृष्टान्तश्च भक्ता एव भवन्ति, न त्वन्यत् यथा रसशास्त्रे । उद्दीपनस्य वर्णन प्रसंगे श्रीकृष्णस्य वेशभूषादीनां यद् वर्णनं, तदपि रसशास्त्रसम्मतमेव । अनुभावादीनां वर्णनप्रसंगे तेषां द्वौ भेदौ प्रथितौ, तदेव प्राक्तनात् पार्थक्यम् । सात्विकभावानां वर्गीकरणं सर्वथा नवीनं वर्तते, किन्तु तेषां संख्यायां परिभाषायां कार्यकारणभावादौ च न किमपि वैलक्षण्यं दृश्यते । तस्य संचारिभावानुभावाभ्यां पृथगुपादानं सर्वथा नवीनं वर्तते, तस्याऽऽवश्यकता रसशास्त्रेऽपि समनुभूयते । सञ्चारिणां संख्या परिभाषा च रसशास्त्रानुकूलैवात्र । त्रयस्त्रिंशद्व्याभिचारिसंख्यायां नात्रव्यतिक्रमः। यद्यप्यन्येषां सञ्चारिभावानामुद्भावना

कृतात्र तथापि तेषामन्तर्भावस्त्रयस्त्रिंशन्मध्य एव कृतः। वैशिष्ट्यञ्चात्र सञ्चारिभावानां परस्परं विभावतानुभावता च प्रतिपादिता। भावोदय-भावशान्ति-भावसन्धि-भावशबलता-दीनां रसशास्त्रानुकूलमेव प्रतिपादनं कृतमत्रापि भक्तिरसज्ञैरिति।

रसानां स्थायीभावानाञ्च परिकल्पना यद्यपि सर्वथा नवीनेव प्रतिभाति तथापि रस-शास्त्रस्य प्रभावात् सर्वथाऽसंपृक्ता नास्ति। केवलं रससंख्यायां तस्याः प्रविभागे च भेदो वर्तते। अपि च तत्र केवलं श्रीकृष्णसम्बन्धात् रसानां पुनराख्याने नूतनरस इव प्रतिभाति। रसानां वैर-मैत्रीस्थितिरपि रसशास्त्रानुरूपैवात्रापि। तेषां परस्परं वैरपरिहारश्च तेषामनु-कूलरीत्या एवात्र रसाभासे यत् किञ्चिन्मौलिकत्वं वर्तते। यथाहि प्राक्तनरसविदां मते रसनिष्पत्यपूर्णतायामेव रसाभासः, परवर्तिनामाचार्याणां मतेऽनौचित्ये रसाभासः, भक्तिरस-शास्त्रे तु रसनिष्पत्यपूर्णतायामनौचित्ये च रसाभासो भवति। प्रोक्तविवेचनस्य तत्त्वमिदं निःसृतं यत् न्यूनाधिकशब्दभेदेन परिवर्तने सत्यप्युभयत्र साम्यमधिकम्, वैषम्यं तु स्वल्पमे-वास्ति। अतएव सूक्ष्मेक्षिकया तयोः परस्परं पार्थक्येऽपि प्राक्तनरससिद्धान्तात् भक्तिरसोऽयं न सर्वथाभिन्नो वर्तते।

भक्तिरसस्य लक्ष्यम्

'रसो वै सः' इत्यादिना श्रुतिप्रतिपादितस्य सच्चिदानन्दस्य परमरसस्वरूपस्य प्राप्तिरेव मानवजीवनस्य चरमं लक्ष्यमिति सर्वे रसज्ञा मन्वते। एवं रसतत्त्वस्यापि चरमं लक्ष्यमा-नन्द प्राप्तिरेव वर्तते। आनन्दप्राप्त्यर्थमेव सर्वे रसविदो रसशास्त्रेऽवगाहनं कुर्वन्ति। रस-तत्त्वचिन्तनस्येदमेव लक्ष्यं यत् रसतत्त्वानुचिन्तनेनाऽऽनन्दस्वरूपस्य परब्रह्मणः प्राप्तिर्भवेत्। 'आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान्, आनन्दाद् ह्येवेमानिभूतानिजायन्ते', इत्यादि श्रुतिभिः प्रतिपादितं तद् ब्रह्म आनन्दस्वरूपमेव, तस्मादेव सर्वे जन्तवो जायन्ते 'तमेव लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादिना पुनः तमेव प्राप्य सर्वैरानन्दोऽनुभूयते। स आनन्द एव जीवनस्य परमपुरुषार्थः। यो वै भूमा तत्सुखम् इत्यादिश्रुतिभिः स एवानन्दः प्रतिपादितः। दुःखस्याऽऽत्यन्तिकनिवृत्ति-रप्यानन्दस्वरूपैव। चतुर्विधपुरुषार्थजन्यंसुखमप्यानन्द एव। इत्थं भूतस्याऽऽनन्दस्य लाभायैव रसविदो रसे सततमुन्मज्जान्ते।

ये च लौकिका आनन्दास्ते तस्यैवाऽऽनन्दस्यांशाः, अतस्तेषां लौकिकाऽऽनन्दानाम-धिष्ठानमानन्दात्मकमात्मस्वरूपं ब्रह्मैवास्ति। जीवात्मपरमात्मभेदेन तस्य रूपद्वयमिति। वस्तुत आनन्दस्वरूप एव परमात्मा, किन्तु परब्रह्मणोंऽशत्वेन सच्चिदानन्दस्वरूपस्य तस्या-आनन्दांशो जीवेऽपि वर्तते। अग्नेः स्फुलिङ्गवदथवा सिन्धोर्जलकणवत् जीवेऽपिआनन्दानु-भूतिर्जायते। किन्तु आनन्दोऽयं स्वल्पांशो विषयजन्यश्च भवति। भरतप्रभृति रसज्ञानां लक्ष्यं तु तस्यैव जीवगतस्याऽऽनन्दांशस्योद्बोधनं प्रतिभाति। अनादिकालादारभ्य विविधजन्मनि परिभ्रमन् जीवो नानावासनाभिः परिव्याप्तोऽस्ति। मनुष्य जीवनेऽपि सा वासना जीवे-तिष्ठत्येव। किन्तु तत्र तस्मिन् जीवे काव्यार्थानुचिन्तनरूपं वैशिष्ट्यमवश्यमेव समुद्भवति। ततः स जीवो विभावादिभी रसमनुभवति। इत्थं भूतं रसास्वादनमेव भरतादिरसज्ञानामभि-मतं प्रतीयते। वस्तुत इयं रसानुभूतिः परमानन्दरसास्वादस्य पूर्वपीठिकैव, विषयप्रकृतजनैर-

नायासेन लभ्या च। किन्तु परमतत्त्वगतपूर्णानन्दस्यानुभूतिः पूर्वापेक्षयाऽतिदुष्करा, सर्वैर्दुर्लभ्या च। अनुमीयते तस्मादेव कारणात् भरतप्रभृतिभी रसाचार्यैर्निः श्रेयसः साधनीभूतश्रवणादीनां विषये न किमपि विचारितम्, न च संसारचक्रे निखिलानर्थमूलस्य जीवबन्धनस्य मूलमज्ञानस्योच्छेदनार्थमेव किमपि निरूपितम्। निखिलनिगम सिन्धून् निर्मथ्यभरतमुनिना या नाट्यसुधा समुद्भाविता, तया केवलं जीवगताऽऽनन्दांशस्यैवाऽऽस्वादनंभवति, यः पूर्णब्रह्मानन्दस्य क्षुद्रांश एव। इत्यञ्च रसशास्त्रज्ञभक्तिरसशास्त्रज्ञयोः रसविषये समानलक्ष्येऽपि सारभूतसिद्धान्ते महदन्तरमस्तीति विदितमेव प्रेक्षावतां सत्साहित्यपाथोधिमन्थनमन्दरायमाणानां शेमुषीजुषाम्।

एवञ्च प्रतीयते भरतादि प्रतिपादितजीवगताऽऽनन्दांशो भक्तिरसप्रतिपादकानामनभिमतमेव, तेषां चरमं लक्ष्यन्तु परमानन्दराशेर्भगवद्गतस्याऽऽनन्दस्य रसास्वादनमेव। अर्थात् पुष्कलरसावाप्तिरेव भक्तिरसज्ञानामाभिमतम्। सा च तदैव भवेद् यदा परमानन्द स्वरूपो भगवान् मनोगतः सन् तदाकारो भवेत्, तदनन्तरमेवासीमापरिच्छिन्नरसानुभूतिर्भवति।

उक्तञ्च मधुसूदनस्वामिना—

> भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
> मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥—भक्तिरसायने १/१०

यदा चित्तवृत्तिर्द्रवतां प्राप्य विभु-नित्यपूर्णबोधसुखात्मकं भगवन्तं गृह्णाति तदा तया न किमपि प्राप्यमस्ति लोके।[1] अतोभक्तिरसप्रतिपादितसाधनैर्मनसि विषयान् प्रति काठिन्यम्, भगवन्तं प्रति चित्तद्रवत्व च संस्थापनीयम्, यतोहि तदनन्तरमेव भगवत्साक्षात्करो जायते।[2]

भक्तिरसप्रतिपादितसिद्धान्तोऽयं भरतादिसिद्धान्तान् नातिक्रमते, किन्तु तेषां पल्लवनमात्रमेव स चकार। तदभिप्रायोऽयं प्रतीयते भगवतः पराङ्मुखो भूत्वा जलधारावत् मानवजीवस्य विषयेषु स्वाभाविकी प्रवृत्तिः,[3] विषयेष्वेव सरलरीत्या रसास्वादनं भवति। तमेव पन्थानमवलम्ब्य भरतमुनिना रसास्वादनं प्रतिपादितम्। यतो हि यावन्मानवचित्तवृत्तिः परमरसास्वादस्याऽऽनन्दांशमात्रे लौकिक जीवगतरसे पूर्णतया रसज्ञत्वं नानुभवति तावत् कथं परमानन्दस्य पूर्णरसास्वादने स्पृहालुता भवेत्। अर्थात् प्रथमजीवगताऽऽनन्दं प्राप्यैव भगवद्विषयाऽऽनन्दः प्राप्यते सोपानक्रमिकविकासरूपेणेति। एवञ्च प्रथमभूमिकारूढजनानां कृते प्राकृतरसस्य लक्ष्यं प्रदर्श्य मुनिना तत्रैव परमतत्त्वविषयाय प्राकृत रसायापिस्वीकृतिः प्रदत्ता।[4] वस्तुतस्तेन परमानन्दरसस्वरूपमलक्षितमेव वर्तते।

पूर्वोक्तविवेचनस्य तात्पर्यमिदं यद् भरतमुनिना 'गुणजिह्विकान्यायेन प्राकृतजनानां

---

१. भक्तिरसायने १/३०

२. वही, १/३१

३. कठोपनिषदि, २/१

४. भक्तिरसार्णवे, पृ० ५८

प्रकृतरसपरिचयद्वारा 'असत्ये वर्त्मनिस्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इति रीत्या अप्राकृतरसे (दिव्यरसे भक्तिरसे) चेतोऽवगाहनाय प्रथमं प्राकृतरस एव प्रतिपादितः। एवञ्च प्रयोजन-पार्थक्यात् प्रस्थानपार्थक्यमप्यभूत्। इत्थंभूतो भक्तिरसो भरतादीनां दृष्टिपथात् दूरमेव वर्तते। एवं च रससाधनायां प्राचीनार्वाचीनयोर्लक्ष्यभेदः परिदृश्यते।

प्राक्तनरससिद्धान्तात्भक्तिरसस्य पार्थक्यम्—

प्रोक्तप्रकारेण प्राचीननवीनयोर्लक्ष्यभेदे सति रसस्य निष्पत्तावास्वादने च भेदः स्वाभाविक एव वर्तते। लक्ष्यभेदेनसर्वस्मात् प्राक्तनरससिद्धान्तात् प्रभिन्नोऽयं भक्तिरससिद्धान्तः, अतस्तस्य तात्त्विकदृष्ट्या प्राचीनैः सह न कुत्रापि पूर्णरूपेण समन्वयः सम्भवति।

यथाहि विभावादिभिः कारणैः सह स्थायिभावानां संयोगादनुकार्ये रामादौ प्राधान्येन रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिर्वा भवति, ततो नरे स आरोप्यते। इत्थं भूतस्य भट्टलोल्टस्य रस-निष्पत्ति विषयकोत्पत्तिवादेन सहाऽऽरोपवादेन सह वा न भक्तिरसस्य सङ्गतिःसम्भवति।

एवमेव शंकुकस्यानुमितिवादेन सहापि समन्वयो न भवति, यतो ह्यनुकार्ये मुख्य-रामादिरूपे गृहीतनटरूपपक्षेऽकृत्रिमरूपे गृहीतविभावादिहेतुनाऽनुकार्यभिन्ननटे रतिरनुमीयते एतयोर्द्वयोः रसविदां विप्रतिपत्तयो विदिता एव। भक्तिरसदृष्ट्या च भक्तिरसे भक्तस्य समास्वादितो निजभाव एव रसरूपतां प्राप्नोति, न तु तस्योत्पत्तिरनुकार्ये, न वा नटे पक्षधर्मता सम्भवति। यतो हि समास्वाद्यत्वात् रसः सामाजिकेषु तिष्ठति न त्वनुकार्ये रामादौ, तस्या वर्तमानत्वात्, तत्परत्वाभावाच्च।[1] न च नटे पक्षधर्मताऽपिसंभवति अपि च पक्षधर्मताग्रहणं तु यद्वा नटेऽनुकार्यगतभावस्याऽऽरोपो नाट्ये संभाव्यते किन्तु भक्तिरसे रसानुभूतिः श्रवणादि-द्वाराजायते। तत्कथमत्ररसस्योत्पत्तिरारोपो वानुमातुं शक्यः।

अनेनैव प्रकारेण भट्टनायकस्य भावकत्वभोजकत्वव्यापारयोरपि नात्र सङ्गतिः, तत्र च भावकत्वव्यापारेण विभावादीनां साधारणीकरणे न भोजकत्वव्यापारेण च सत्त्वोद्रेकजन्य-प्रकाशात्मिकाऽऽनन्दात्मिका च संविद्विश्रान्तिः सिध्यति। ततो रस उपभुज्यते। इत्थमेवा-भिनवगुप्तस्य प्रमातृगत-सहजातमनोभावस्याऽऽस्वादनेन भक्तिरसास्वादं न सम्भवति। यतो ह्यभिनवगुप्तमते नाट्ये सम्पूर्णसामाजिकानां मनोभावः प्रधानपात्रस्य मनोभावेन, प्रधान-पात्रस्य च मनोभावः सहृदयमनोभावेन सह तादात्म्यं भजते, तत्तु भक्तिरसे न सम्भवति। यतो हि भक्तिरसे सम्पूर्णसामाजिकानां मनोभावः प्रधानपात्रस्य भावे विलयः, प्रधानपात्रगत-भावस्य सहृदयगतभावेन सहैक्यं न सम्भवति। अपि च यथा लौकिकरसे भावस्याऽऽश्रया नाट्यगतपात्राणि भवन्ति, न तथा भक्तिरसे, यतो हि भक्तिरसे भावस्याश्रयस्तु भक्त एव भवति। लौकिक रसे श्रृङ्गारस्याऽऽश्रय आलम्बनञ्च परस्परं दुष्यन्तः शकुन्तला च, किन्तु भक्तिरसे राधाकृष्णयोरालम्बनरूपेण भक्तस्य चाऽऽश्रयरूपेण प्रतिपादनं भवति।

---

१. रसः स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वतः॥—दशरूपके ४/३८

प्रोक्तचतुर्षु मतेषु आत्मस्वरूपस्य रसस्य नित्यता न सिध्यति। अत एव भावत्रयी-समूहालम्बनज्ञानानन्तरं जायमाना व्यवधानरहिता भगवत्प्रीतिरेव भक्तिरसरूपेण समास्वाद्यते भक्तैः।[1] तस्मादेव कारणात् भक्तिरसज्ञैर्भक्तिरसमूलानवीना पद्धतिः परिकल्पिता काव्य-शास्त्र जगति।

भक्तिरसमार्गे स्थायिभावस्य परिकल्पना सर्वथा नवीना। भक्तिरसशास्त्राचार्यैस्तु 'जात एवहि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीक्षितो भवति' इति वक्तुं न शक्यते 'न वा' न ह्येतच्चेत-नाशून्यः प्राणी भवति इत्येवं वक्तुं शक्यते।[2] ते तु केवलं भगवद्विषयकरतिमेव स्थायिभावेन मन्यन्ते। भावोऽयमुपार्जितः सम्वर्द्धितश्च भवति। प्राक्तनसंस्कारत्वेन स जन्म जातोऽपि दृश्यते।

स्वतन्त्रभक्तिरसस्य स्थापना

तत्त्वातत्त्वविचारं विनैव परम्पराग्रहग्रहवशादेव भक्तिरसखण्डनार्थं बद्धपरिकरैः शास्त्रकोविदैर्भक्तिरसस्य स्वतन्त्रसत्ता नाङ्गी क्रियते। केवलं भावरूपत्वेन रसान्तरान्तर्भूतत्वेन वा भक्तिरसं स्वीकुर्वन्ति। एतत्समर्थकाः प्राचीनाचार्येष्वभिनवगुप्त-धनिकधनञ्जय-मम्मट-भोजराज-विश्वनाथ-पण्डितराजजगन्नाथप्रभृतयस्तथाऽऽधुनिकेषु च रङ्गाचार्यरेड्डी—प्रो० मा०दा० अलतेकर-प्रो० बी० पराञ्जपे-श्री पी०वी० काणे-प्रो० द०सी० पंगु-प्रो० रा० जोग रा० टिङ्गणेकरप्रभृतयश्च सन्ति।

विवेकपूर्वकं भक्तिरसस्थापने दृढसन्नद्धाः प्राचीनाचार्येषु रसज्ञेषु शाण्डिल्यः, नारद-श्री बोपदेव-महाप्रभु चैतन्यरूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी-मधुसूदनसरस्वती-प्रमुखास्तथाऽऽधुनि-केषु भक्तशिरोमणि श्रीसूरदास-सन्तशिरोमणिभक्तप्रवरश्री तुलसीदास श्रीकरपात्रस्वामि-कविराजकृष्णदास विष्णुपुरीगोस्वामी-विश्वनाथ चक्रवर्ती-डॉ० वाटवे-डॉ०-रावजीमोडकर-रा० प्रधान-रा०भागवत-रा०म० गोरे-प्रो० द० केलकर—प्रो० रा० देशपाण्डेयप्रभृतयः सन्ति।

रसाचार्येण भरतमुनिना श्रृंगारादिनवरसाः स्वीकृताः किन्तु भक्तिरसविषये न किमपि प्रोक्तम्। पश्चादभिनवगुप्तानुसारेण भरतमुनिमते 'अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे[3] इत्यादिना निराकारोपासनायाः साकारोपासनायाश्च साक्षात् सच्चिदानन्दो ब्रह्मै-वाऽऽलम्बनं वर्तते। अतो भक्तिज्ञानयोश्च शान्तरसएवान्तर्भावः कर्तव्यः। दशरूपककारेण भक्तिर्भावरूपेव स्वीकृता।[4] भोजराजेन रससंख्यां वर्द्धयित्वापि तत्र भक्तिरसस्य गणना न कृता। अतो विचार्यते यत् तन्मतेऽपि भक्तेः रसत्वं नाङ्गीक्रियते। रतिर्देवादिविषया व्यभि-चारि तथाञ्जितः इत्यादिना मम्मटमते भगवद्विषयिणी रतिर्भाव एव न तु रस इति। विश्वनाथेन वात्सल्यरस स्वतंत्ररूपेण स्वीकृत्यापि भक्तिरसो न स्वीकृतः।

---

१. भक्तिरसायने ३/१३, २३, २४
२. अभिनवभारत्यां, पृ० २८२
३. नाट्यशास्त्रे ६/८३ अभिनवभारत्यां, पृ० ७७७/मधुसूदनशास्त्रिसम्पादिते।
४. दशरूपके ४/८३

संस्कृतकाव्यशास्त्राणामाचार्येषु पण्डितराजजगन्नाथेन किञ्चिदुदारदृष्टया निष्पक्षतया च भक्तिरससम्बन्धिविचार उद्भावितः। तन्मते भक्तिरसो दशमरसरूपेण स्वीकर्तव्यः । यतोहि व्यवहारे भक्तिरसः सर्वैर्मनुष्यैरनुभूयते । एतन्मते स्वतन्त्रभक्तिरसस्यालम्बनविभावः साक्षात् रसस्वरूपसच्चिदानन्दघन एव उद्दीपनभावो भागवतश्रवणादिरूपः, अनुभावस्तु भगवद्गुणश्रवणजन्यो रोमाञ्चाश्रुपातादिः, सञ्चारिभावो हर्षादिः, भगवद्विषयिणी रतिः (भक्तिः) स्थायिभावो वर्तते । अतो भक्तेः कथं न रसत्वमिति अपि च यदि 'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' इति भरतसूत्रमेव रसनिष्पत्तिविषये प्रमाणम्, तर्हि किं बाधकं भक्तिरसनिष्पत्तौ । विभावादिसर्वसहायकानां समवाये सत्यपि भक्तिदर्शनो रसः स्वीकरणीयः[1] । किन्तु रसनिष्पादनाय सर्वसामग्री सत्त्वेऽपि परम्पराग्रहग्रस्तः स भक्तिरसं पृथक् न मन्यते ।

अपि चास्मिन्विषये तेन नूतनभावोऽप्युद्भावितः । कामिनीविषयिणी रतिरेव कथं न भावः, यतो हि रतित्वेन कामिनीविषयिणी रतिर्देवादिविषयिणी रतिर्वा तुल्यैव । अथवा भगवद्विषयिणी रतिरेव (भक्तिः) रतित्वेन शृंगाररसस्यापि स्थायिभावोऽस्तु, कामिनीविषयिका रतिः सञ्चारिभावश्चास्तु, तयोर्हि विनिगमनाविरहात्[2] तत्र तस्मै समाधानं तेनैव दत्तम्, यत् साहित्यशास्त्रे भरतमुनिरीत्यैव रसादीनां व्यवस्था कार्या । अर्थात् भरतमुनिमते कान्तादिविषयिका रतिरेव शृंगाररसस्य स्थायिभावः, देवादिविषयिका रतिस्तु भावमात्रमेव । एतदेव मन्तव्यम् । अन्यथा पित्रादीनां पुत्रादिकं प्रति या रतिः सैव स्थायिभावः, जुगुप्साशोकौ च कथं न सञ्चारिभावः स्यातामिति ।[3] अतो भरतमुनिना व्यवस्थापिता रसस्य नवसंख्यैवोचिता । देवादिविषयकरतिकामिनीविषयकरत्योश्च तेन सादृश्यमुद्भावितम्, तत्तु नोचितम् । यतो हि भगवद्विषयकरतौ प्रेमाराध्यसुखस्य श्रीकृष्णसुखस्यैव वा केवलं प्राधान्यम्, किन्तु कामिनीविषयकरतौ चाऽऽत्मनः सुखस्य प्राधान्यं भवति । एवञ्च पण्डितराजजगन्नाथमतानुसारेण भक्तिरसोऽस्ति किन्तु परम्पराग्रस्ततया तेन पुरातनसरणिर्नोलङ्घिता । परवर्तिन आचार्या तामेवान्वसरन् ।

श्रीहेमचन्द्राचार्यमतेऽपि भक्तिर्न स्वतंत्रो रसः, अपि तु सा रतेरेव विशेषभेदो वर्त्तते । यतो ह्युत्तमेऽनुत्तमस्य या रतिः सैव भक्तिरिति कथ्यते। अतो भक्तिरसःस्वतंत्ररूपेण पृथक्तया

---

१. भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात् । भगवदनुरागरूपाभक्तिञ्चात्रस्थायिभावः ।—रसगंगाधरे प्रथमानने, पृ० १८९

२. न च तर्हि कामिनीविषयाअपि रतेर्भावमस्तु, रतित्वाविशेषात्, अस्तु वा भगवद्भक्तिरेव स्थायित्वम् कामिन्यादिरतीनां च भावत्वं, विनिगमकाभावात् ।
—रसगंगाधरे प्र०अ० पृ० १९०

३. अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद् वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनामित्यखिलदर्शनं व्याकुली स्यात् ।
—रसगंगाधरे प्रथमानने, पृ० १९१

न स्वीकर्त्तव्यः।[1] एवमेव शाङ्गदेवमतेऽपि केचित् भक्तिस्नेहलौल्यादीनामपि रसत्वं, तस्यै स्थायिभावान् श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्वीकुर्वन्ति। तत्तु नोचितं वर्तते, यतो हि ते सर्वे रतेरेव विशेषभेदा भवितुमर्हन्ति।[2]

कतिपयाऽधुनिकविद्वांसोऽपि भक्तेः रसत्वं नस्वीकुर्वन्ति यथाहि श्री रङ्गाचार्यमतानुसारेण 'रतिः' विस्तारात्मिका वर्त्तते। अतस्तत एव राष्ट्र-नृप-देव-गुरु प्रभृतीन् प्रति भक्तेर्विकासो भवति। अतः सा रतिरेव सर्वेषां पूर्वोक्तभावानां स्थायिभावो नदीनां पतिः समुद्र इव। तत्र वक्तव्यमिदमेकस्मादेवस्थायिभावाद् विभिन्नरसनिष्पत्या तु रसशास्त्रमर्यादालंघनं भवेत्। श्रीरङ्गाचार्यस्यापरेयमापत्तिर्यद् रसस्थापनाय विभावादियोजनया सहैव चारित्रिकवर्णनमप्यपेक्ष्यते। चारित्रिकवर्णनां विना केवलं भक्तिवर्णनेन भक्तिमार्गावलम्बनेन वा भक्तिः स्वतंत्ररसरूपेण भवितुं नार्हति। अतो भक्तिर्नस्वतंत्ररसः। अन्यथा रसशास्त्र मर्यादा भज्येत। तथापि प्रोक्ताऽऽपत्तिः समीचीना नास्ति। यतो हि भक्तिरसे न केवलं भक्तिरेव वार्ण्यते, अपि तु तत्र रसनिष्पत्त्यर्थं सकलसामग्र्योऽपि वर्ण्यन्ते। तत्र हि निखिल रसानन्द मूर्तिर्भगवान् एव भक्तिरसस्य विषयालम्बनभावः, भगवतो भावुकभक्तजनाः प्रियवल्लभाश्च भक्तिरसस्याऽऽश्रयालम्बनभावाः भागवतपुराणादीनां श्रवणम्, भगवत्सम्बद्धाः स्थल-शील-शक्ति-सौन्दर्याङ्गसौरभादयश्चोद्दीपनभावाः। प्रेमवशेन नृत्यं गानं भावविह्वलो भूत्वा रुदनंहसनादिकञ्चानुभावाः। भगवद्रतिश्च (भक्तिः) स्थायिभावोभवति। भक्तिभावापन्नैर्भक्तैः सह भगवतो लीलाविलास एव भक्तिरसस्यात्मा वर्तते। एतावत् सामग्री समवायेऽपि भक्तिरसस्याभावः कथम्?

भक्तिरसविरोधिनां विदुषां मते भक्तिरसविरोधस्य कारणानि तन्निरसनं च—

(क) भक्तिरसस्य स्वीकृतौ सत्यां रसादीनां भावादीनाञ्च प्रामाणिकव्यवस्थापकभरतादिनिर्णीतशास्त्रमर्यादोल्लङ्घनं भवेत्, तेन निखिलरसादिप्रतिपादककाव्यसाहित्यदर्शनमस्तव्यस्तं भूत्वा वितण्डाग्रस्तं जायेत, येन च नूतना समस्या काव्यसाहित्यशास्त्रे ऽव्यवस्था चोत्पद्येताम्। अर्थात् रसशास्त्रे परम्पराभङ्गो भवेत्।

(ख) भक्तिः केवलं भावमात्रमेव, न तु स्वतन्त्रो रसः।

(ग) भक्तिर्मूलभावो नास्ति।

(घ) निर्जीवमूर्ति प्रत्यात्मनिवेदनासक्तिरूपभक्तौ भावावेगानां तीव्रताया औत्कण्ठ्यस्य चासत्त्वात् सा केवला क्रियाहीनैव।

---

१. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमितिहि रतेरेवा······अनुत्तमस्यउत्तमे रतिः प्रसक्तिः सैव भक्तिपदवाच्या।—काव्यानुशासने, पृ० ९८

२. भक्ति स्नेहं तथा लौल्यं केचिन्मन्वन्ते रसान्।
श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः॥
तदसत्, रतिर्भेदौहि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ।
व्यभिचारित्वमनयोः नृनार्योः स्थायिनौ तु तौ॥—संगीतरत्नाकरे, पृ० ८३९

(ङ) भक्तिः सार्वजनीनापि नास्ति । अर्थात्तस्यां व्यापकता न विद्यते तस्याः क्षेत्रं परिसीमितमेव । अत एव सा रसरूपो भवितुं नार्हति ।

(क) भक्तिरसस्वीकारे परम्पराभङ्गनिरासः—

स्वतन्त्रस्य भक्तिरसस्य स्वीकारे परम्पराभङ्गरूपप्रथमाऽऽपत्तिर्निर्मूला, अयथार्था च । यतो हि काव्यपदार्थो मनुष्याणां जलतरङ्गवन्नित्यपरिवर्तनशीलरचनात्मकक्रियाशक्तेः परिणामो वर्तते । काव्यक्षेत्रे साहित्यक्षेत्रे वा परिवर्तितयुगानुरूपा नूतना नूतना भावना प्रवृत्तिश्च, तस्य नवीनाभिव्यक्तिः, तस्या नूतनमाध्यमाऽऽलम्बनं च जायते । इदमेव भारतीय सजीवचिन्तनधारायाः काव्यशास्त्रस्य साहित्यशास्त्रस्य वा क्रमिकविकासस्य जाज्वल्यमानं प्रमाणमस्ति । भरतात्परवर्तिन आचार्या मुनिमतं विखण्ड्य रसालंकारगुणरीतिभावादिषु प्रायः सर्वेषु क्षेत्रेषु नूतनं तथ्यम् नूतनकाव्यसिद्धान्तम्; नूतनकाव्यसम्प्रदायस्य संस्थापनं कृतवन्तः, तेषां सिद्धान्तानां मान्यता च जाता । अत एव पण्डितराजजगन्नाथस्य कथनमिदं यत्—

देवादि विषयकरतेर्भक्तिरसरूपत्वेन स्वीकृतौ सत्यां भरतादिनिर्णीतकाव्यशास्त्रीयमर्यादाभङ्गो भवेत्, तत्तु नोचितम् यतोहि स्वयमेव तेन सञ्चारिभावविषये भरतादिनिर्णीतत्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावातिरिक्ता नूतना चतुस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा स्वीकृताः । एवमेव मम्मटादिभिः प्राचीनैः कृतस्य काव्यलक्षणस्य तद्भेदस्य चोल्लङ्घनं नास्ति, यतो हि यद्येवं न स्यात्तर्हि नवीनपदार्थस्योद्भावना कथं स्यात् ? कथं वा रसगङ्गाधरप्रभृति साहित्यरत्नं दृष्टिगोचरं भवेत् । अतः 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्याम्, इतिरीत्या नूतनविचारसरणिः समादरणीया । अत एव प्रोक्ततत्त्वहीनविचारेण भक्ति रसो न तिरोधीयते । अन्यथा सत्यान्नेत्रनिमीलनमेव वक्तव्यम् । अतः समस्तसाहित्य रसिकैरन्धपरम्परारहितै पक्षपातशून्यैश्च भक्तिरसः स्वीकर्तव्यः ।

'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः' इत्यादिनाभरतमुनिस्वीकृताष्टरसादतिरिक्तो मम्मटेन 'शान्तोऽपि नवमोरसः, इत्यादिना शान्तरूपनवमरसः, विश्वनाथेन च स्फुटं चमत्कारितया वात्सल्यं च रसंविदुः इत्यादिरूपेण वात्सल्यरूपो दशमोरसः स्वीकृतः, तर्हि सर्वानुभवसिद्धो भक्तिरसः कथं न स्वीक्रियते ? तेनकिं रसज्ञाः परम्पराग्रहपङ्कनिमग्ना न भवेयुः ? अत एव न्यायमार्गे स्वप्रतिष्ठारक्षणार्थमपि भक्तिरसस्तैः स्वीकर्तव्यः ।

भक्तिः केवलं भावमात्रमेवेत्यस्य निरासः—

स्वतन्त्रभक्तिरसस्वीकारे भक्तिः केवलं भावमात्रमेवेति द्वितीयाऽऽपत्तिः समीचीना नास्ति। तत्र 'रतिर्देवादिविषयक व्यभिचारी तथाञ्जितः' इत्यादिना प्रायः सर्वेषां काव्यरसज्ञानां साहित्यिकानां मते देवादि विषयिणी भगवद् विषयक वा या रतिः, साकेवलं भावमात्रमेव, न तु भक्तिरस इति यः पक्षो वर्त्तते, स तु न समीचीनः यतोहि भक्तिरसज्ञानां मते सामान्यदेवविषयिका रतिर्भावो भवतु किन्तु सामान्यदेवापेक्षया 'रसो वै सः' इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितपरात्परभगवद्विषयिणी परमविलक्षणा या रतिः, सा तु न भावत्वमर्हति, अपि तु रसत्वमेव । सूत्रेऽपि 'देवः' एव कथितः, आदिपदेन तत्र इन्द्रादिदेवगुरुमातृपितृस्वामिप्रभृतिविषयिका रतिरेव

गृह्यते । ते सर्वे सामान्य जीवविशिष्टा एव परमात्मापेक्षया । अतः साक्षात् परमात्मविषयिकारती रसपदवाच्यैव । यतो हि इन्द्रादिदेवविषयिण्यी कान्तादिविषयिण्याञ्च रतौ सुखांशस्य लेशोऽपि नास्ति, किन्तु सुखाभास एव, तेन रसो न पुष्यति । परमात्मविषयिणी रतिस्तु पूर्णसुखस्य शेवेधिरेवास्ति । परमात्मविषयिका रतिर्दिव्यमहत्प्रकाशयुक्ता सूर्यसदृशी, किन्तु इन्द्रादिदेवविषयिका कान्तादिविषयिका च रति खद्योतवन्निष्प्रभा । अर्थात् कान्ताविषयिणी रतिः क्षणिकाऽऽनन्दजनिका, भगवद्‌विषयिणी रतिः सततं सर्वत्र पूर्णानन्ददायिका चिरस्थयिनी च । तस्मादविद्यया मोहितस्य मलिनसत्त्व प्रधानस्य देवस्य विषये या रतिः सा यदि भावो भवति तदा भवतु नाम, तत्तु समुचितमेव, किन्तु परमानन्दरसस्वरूपभगवद्‌विषयिणी रतिस्तु रस एव, अत एव सा रतिः कदाचिदपि भावोभवितुं नार्हतीति । अतएव मधुसूदनस्वामिमते जीवत्वविशिष्टाः परमानन्दभिन्ना ये देवादयस्तद्‌विषयिका रति भावपदेनोक्तम्, न तु परमात्मविषयिका रतिः, परमात्मविषयिका रतिस्तु स्थायिभावत्वेन रसत्वेनाभिधीयते ।[1] एवं सत्यपि कष्टं यन्नेत्रे निमील्य केचन रसज्ञाः भक्तिरसं भावमात्रमेव कथिवन्तः । औपनिषदानाम् ऋषीणां मतेऽपि शुद्ध चैतन्य सम्पृक्तो रत्यादिस्थायिभाव भक्तिरस एव । अत एव रस जन्याऽऽनन्दो ब्रह्मानन्दसहोदर इति कथ्यते । शृंगारादिनवरसास्तु ब्रह्मानन्दसहोदराएव सन्ति । एवञ्च भक्तिरसब्रह्मानन्दयोस्तु तत्त्वतस्तादात्म्यमेव विद्यते । अत एव मधुसूदनस्वामिमतो समाधिजन्यब्रह्मानन्दस्य भक्तिरसस्य च नामभेदोऽपि तत्त्वत एव ।[2] भक्तिरससंस्थापक श्रीरूप गोस्वामी समाधिजन्यब्रह्मानन्दं भक्तिरसतुलनायां परमाणुतुल्यमपि न स्वीकरोति ।[3] प्रतिपादितञ्च भागवतेऽपि यद् ब्रह्मानन्दापेक्षया भक्तिरसास्वाद एव परमश्रेष्ठः[4] इति । आनन्दवर्धनाचार्यमतेपि सर्वापेक्षया भक्तिरस एव सर्वश्रेष्ठः ।[5]

शृंगारादिनवरसानां स्थायिभावा विभादयश्च सर्वे रसोद्‌बोधकाः पदार्थाः लौकिका-

---

१. देवान्तरेषु जीवत्वात् परमानन्दप्रकाशनात् ।
तद्‌योज्यं परमानन्दरूपे न परमात्मनि ।।—भक्तिरसायने २/७५

२. समाधिसुखस्यैव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्, तस्मात् भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति ।—भ०र० टीकायाम्

३. ब्रह्मानन्दो भवेदेप चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।—भ०र०रि० १।१।१६

४. या निवृत्तिस्तनुभृतां तव पादपद्म ।
ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वास्यात् ।।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् ।
किन्त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ।।—भागवते ४/९/१०

५. या व्यापारवतीरसान् रसयितुं काश्चित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्यापरिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयनं त्वद्‌भक्तितुल्यं सुखम् ।।—ध्वन्यालोके, पृ० ५६७

एव भवन्ति। यथाहि भक्तिरसस्य स्थायिभावो भगवद्विषयिणी रतिः, निखिलरसानन्दमूर्तिः सम्पूर्णसौन्दर्यनिधिर्भगवान्कृष्णः तस्य राधादिप्रियवल्लभा भक्ताजनाश्चाऽऽलम्बनविभावाः, अनन्यासक्तिः, प्रेमाश्रु, रोमाञ्चः, दिव्योन्मादजन्यानेकानेकलोकबाह्यसीमातीतप्रणयव्यापाराश्चानुभावाः, हर्षादयश्च सञ्चारिभावा भवन्ति। एवञ्च भक्तिरसस्योद्बोधकाः, सर्वे पदार्था अलौकिका एव। अत एव भक्तिरसज्ञानां विदुषां मते स्वीकृता पराभक्तिरेव सर्वश्रेष्ठरसः कथ्यते।[1]

एवं सत्यपि महदाश्चर्यं वर्तते यत् मलिनसत्त्वाश्रितेषु नवरसेषु यत्र केवलं चिदानन्दोंऽशमात्रमेव स्फुरति, तत्रापि साहित्यरसज्ञैः रसानुभूतिः स्वीक्रियते। एवमेव कान्ताविषयकरतिजन्यश्रृंगाररसः सर्वेषु प्रधानरस इति तैः स्वीक्रियते। किन्तु 'एतस्यैवानन्दस्य मात्रया उपजीवन्ति' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितो यो ब्रह्मानन्दो वर्तते, यद्विषयकं सम्पूर्णानन्दानां श्रेष्ठं साक्षाच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्मानन्दादप्यधिकं भगवद्भक्तिजन्यपरमानन्दमपि रसरूपतयाऽस्वीकृत्य मिथ्याप्रशंसापोषितचाटुकारवृन्दवन्दितराजविषयकरतिसदृश्येव भक्तिर्भावरूपैवेति स्वीकृतमिति महत्कष्टम्? अपि च साक्षात् सुखविरोधिनो रौद्रकरुणभयानकबीभत्सादयो रसरूपेण स्वीकृताः किन्तु अनन्तगुणाधिकभगवद्विषयकरतिजन्याऽऽनन्दो रसरूपेण न स्वीकृतः, अतः परं किमाश्चर्यम्? अत एव ज्ञायते गतानुगतिकास्ते सर्वे आचार्याः सत्यासत्यविचारपराङ्मुखाः सन्तः प्राचीनदुराग्रहैर्ग्रस्ता एव। अन्यथा कथं रसोद्बोधकसकलसामग्रीसमवेताऽपि भक्तिः रसरूपा न भवेत्? विवेचने तु वस्तुतो भक्तिरस एव सर्वश्रेष्ठो रसः।

केषाञ्चिन्मते भक्तिरसस्य पक्षद्वयं वर्तते। काव्यशास्त्रीयपक्षः आध्यात्मिकपक्षश्च। तत्र काव्यशास्त्रीयदृष्ट्या शब्दनिबद्धैर्विभावानुभावसञ्चारिभावैः सम्पुष्टा भगवद्विषयिणी रतिरेव भक्तिरसत्वेनाभिव्यज्यते आध्यात्मिकदृष्ट्या तु भक्तिः स्वयमेव रसो निगद्यते।[2] अस्तु तावत् किन्तु भक्तानां दृष्टौ तु श्रवणकीर्तनादिद्वारा द्रुतस्य भक्तचित्तस्य भगवदाकारतैव भक्तिरसः। भक्तिप्रतिपादकैर्विभावादिनिरूपकैः काव्यैः प्रतीयमान आनन्दोऽपि भक्तिरस एव। भक्तमनसि स्थायिभावतया प्रतिबिम्बितः परमानन्दस्वरूपो भगवान् स्वयमेव रसत्वं समधिगच्छति।[3] सर्वेषामिन्द्रियाणां भगवद्रूपाऽऽनन्दमयत्वमपि भक्तिरस एव कथ्यते।[4]

काव्यशास्त्रदृष्ट्या भक्तिरसस्य स्थायिभावो भगवद्विषयिणी रतिर्वर्तते।[5] श्रृंगार-

---

१. पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वादनचणैः।

—भक्तिचन्द्रिकायां, पृष्ठे १३० निर्णयसागर संस्करणे

२. ईश्वरविषया रतिरेव भक्तिरसः। वाचस्पत्ये बृहत्संस्कृताभिधाने।

३. भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥ —भक्तिरसायने १/१०

४. यत्र मनः सर्वेषामिन्द्रियाणामानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिभगवद्रूपता तत्र भक्तिरस एव। —भक्तिमार्तण्डे पृ० १२०

५. स्थायीभावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः। —भ०र०सि० २/५/२

रसस्य च कान्तविषयिका रतिः। यद्यपि रतित्वेनोभयत्रैक्यं, तथापि सूक्ष्मदृष्ट्या भेदस्तत्रापि। यतोहि श्रृङ्गाररसस्य स्थायिभावो दाम्पत्यविषयिका रतिः, अतएव तत्र सुरतस्पृहा भवति।[1] किन्तु भगवद्विषयकरतौ तादृशी न कापि वाञ्छा भवति भक्तानाम्। तत्र तु भगवतो दिव्यगुणादिश्रवणद्वारा द्रुतचित्तस्य निरवच्छिन्ना धारावाहिनी भगवदाकाराकारितवृत्तिः समुत्पद्यते।[2] तस्यामेव द्रुतचित्तवृत्तौ विभावादिना रसरूपतयाभिव्यक्तं परमानन्दलक्षणं स्थायिभावं रसं वदन्ति रसविदः।[3]

विश्वनाथमतेऽपि विभावादिभिर्व्यक्तरत्यादिस्थायिभाव एव रसत्वं प्राप्नोति।[4] स्थायिभाव एव रस इत्यस्मिन् विषये भक्तिरसायनकारस्य विचारस्तु शैत्यपावनत्वेन 'गङ्गायां घोषः' इतिवदौपचारिकमात्रमेव, न तु तथ्यमिति।[5] बोपदेवमते परमानन्द-रसस्वरूपतया व्यासादिप्रभृतिभिर्निरूपितस्य विष्णोस्तद्भक्तानां वा रसात्मकस्य चरितः तस्य श्रवणादिजन्यश्चमत्कार एव भक्तिरसः कथ्यते।[6] तस्मात् भक्ति रस एव सर्वेषु रसेषु श्रेष्ठतमः, सर्वेषामुपजीव्यश्च। स एव प्राधान्येन मानवेषु श्रद्धोपासनादिरूपेण दृश्यते। अत एव भक्तिरसो भावमात्रमेव भवितुं नार्हति, स स्वतन्त्ररसतया स्वीकर्तव्यो रसिकैः। यद्यपि संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य महाविदुषा श्रीजगन्नाथाचार्येण सहृदयहृदयास्वाद्य-त्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन तर्कसम्मतयुक्त्या च भक्तेः रसत्वं स्थापितम्, तथापि पुनः परम्परा-भङ्गभीत्या तस्याः रसत्वं निराकृतम्। परम्पराभङ्गरूपदोषस्य निरासः पूर्वमेवकृतः।

भक्ताचार्यैर्भरतमुनिप्रतिपादितरससूत्रानुसारेण भक्तिरसः प्रतिपादितः। यद्यपि भक्तिरसस्य बीजं बोपदेवेन मुक्ताफले, लक्ष्मीधरेण च भगवन्नामकौमुद्यां, ततः पूर्वं नारदेन स्वकीये भक्तिसूत्रे, शाण्डिल्येन स्वीये भक्तिसूत्रे च स्थापितम्, ततः पूर्वमपि भक्तिरसस्य बीजं वैदिकवाङ्मयेऽपि समुपलभ्यते किन्तु रसशास्त्रदृष्ट्या भक्तिरसस्य साङ्गोपाङ्गनिरूपणं तु रूपगोस्वामि-मधूसूदनस्वामि-जीवगोस्वामि-नारायणभट्ट-कविकर्णपूर-विश्वनाथ-चक्रवर्त्ति कर-पात्रस्वामि प्रभृतिभिः कृतं स्वस्वग्रंथेषु।

---

१. कामः शरीरसम्बन्धविशेषस्पृहालुता। —भक्तिरसायने २/३

२. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥ —भागवते ३/२९

३. भगवद्गुणश्रवणादिजनितद्रुतिरूपायां मनोवृत्तौ विभावादिभिः रसरूपतयाभिव्यक्तो भगवदाकारतारूपरत्याख्यः स्थायिभावःपरमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति स एव भक्तियोगः (भक्तिरसः)। —भक्त्यधिकरणमालायाम् पृ० १७

४. विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिस्थायिभावः सचेतसाम्॥ —साहित्यदर्पणे ३/१

५. स्थायीभावो रस इतिप्रयोगस्तूपचारतः॥ —भक्तिरसायने ३।१४

६. व्यासादिभिर्वर्णितस्य विष्णोर्विष्णुभक्तानां वा चरितस्य नवरसात्मकस्य श्रवणादिना जनितश्चमत्कारो भक्ति रसः॥ —मुक्ताफले पृष्ठे १६७

भक्तिरसज्ञानां मते भक्तिरस एव मूलरसोऽस्ति, अन्ये तु तस्यैव प्रभेदाः सन्ति। कविकर्णपूरमतेन शृङ्गारादयो नव, वात्सल्यमितिदश, प्रेम चेत्येवमेकादशरसेन सह द्वादशो भक्तिरसः स्वीकृतः।[1] अन्ये सर्वे भक्तिरसज्ञास्तु भक्तिरसमेव मूलरसरूपेण स्वीकुर्वन्ति।

पूर्वोक्तविवेचनस्य तात्पर्यमिदं यत् भरतप्रतिपादितरससूत्रानुसारेण सर्वेषां रसज्ञानां मते तत्रापि भक्तिरसज्ञानां मते रस एव भवितुमर्हति न तु भावः।

(ग) भक्तिर्मूलभावो नास्तीत्यस्य खण्डनम्—

भक्तिर्मूलभावो नास्तीति तृतीयाऽऽपत्तिरपि समीचीना नास्ति। यतोहि भक्तिरसज्ञानां मते भक्तिरसस्य भक्तिरेव मूलस्थायिभावः।

तत्र विचारणीयोऽयं विषयो यद् भगवद्विषयिका भक्तिः स्थायिभावत्वं कथं प्राप्नोति। यतो हि पूर्णभक्तिस्तु प्रेमाभक्तिरिति कथ्यते। तस्याः पूर्वमेव रतिर्भक्तिर्वा स्थायिभावत्वं लभते। एवं चात्यन्तप्रवृद्धा भक्तिरेव प्रेमाभक्तिः। अपि च विभावादिभिः परिपोषिता रतिरेव रसत्वमेतीति सिद्धान्तः किन्तु प्रेमा भक्तिस्तु विभावादि विनापि स्वसत्त्वेन रसत्वमधिगच्छति। रतिर्भावान्तरो वा स्थायिभावः सन्नेव रसरूपेण परिणमते। एवं रसरूपात् पूर्वंस्थायिभाव एव भावपदेनाप्युच्यते। इत्थं च भक्तेः कथं स्थायिभावत्वमिति। मनसः शुद्धसत्त्वप्रधानावस्था भावः स एव भक्तितत्त्वस्य मूलस्थायिभावः, स च रति-प्रेम-स्नेहादि-शब्देनाप्यभिधीयते। इत्थंभूतो भाव एव रसप्रक्रियया रूपगोस्वामिमतानुसारेण स्थायिभावः सञ्चारिभावश्चेति। तन्मते उभावपि भावपदेनाभिधीयेते। भावाभिनिष्पत्तिविषयेऽधिकारिभेदप्रसङ्गे तेन प्रतिपादितम्-गरिष्ठम् (कर्कशचित्तम्) तथा लघिष्ठम् (कोमलचित्तम्) इति भेदेन तस्य साधकस्य भेदद्वयमिति। तत्र प्रथमोऽपि वज्र-सुवर्ण-जतुसादृश्येन त्रिविधः। तत्र भावरूपाग्निना वज्रचित्तं कदापि न द्रवति, सुवर्णचित्तं तापाधिक्येन द्रवति, जतुचित्तं तु तापलेशेनापि मासृण्यमेति। भावविषये चित्तद्रवत्वविषये वा स्वामिमधुसूदनस्य विचारो प्रदर्श्यते—चित्तं जतुरिव साधनैः प्रवहणशीलत्वमेति। यथाग्निना प्रवहणशीलं जतुः पात्रविशेषे संस्थाप्य विशिष्टाऽऽकृतिरूपेण परिकल्प्यते तथैव काम-क्रोध-लोभ-मोह-हर्ष-विषादादिभिर्भावैः जतुरूपं चित्तं द्रवति, द्रवितं चित्तं यदा भगवदाकाराकारितं भवति तदा तदेव भक्तिरित्युच्यते। अत एव तस्य भक्तिलक्षणस्य भावोऽयं यदा श्रुतश्रवणादिभागवतधर्मैर्द्रुतं चित्तं धारावाहिकतां प्राप्य भगवदाकारतायां परिणमते तदा द्रुतमनोवृत्तिरेवभक्तिरिति कथ्यते। द्रुतमनोवृत्तित्वं नाम भगवदाकाराकारितत्वम्।[2]

चित्तस्य भगवदाकारतायां प्राप्तायां सत्यां भगवद्रूपेणैव सर्वे पदार्था दृश्यन्ते। यतो यदा विम्बस्य प्रतीतिर्भवति तदैव सः प्रतिविम्बत्वेनाभिधीयते। स च भक्तेः पराकाष्ठा

---

१. अलङ्कारकौस्तुभे पृष्ठे ११०

२. द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥ —भक्तिरसायने २/३

विद्यते । निखिलविश्वं भगवन्मयमेव ये भक्ताः पश्यन्ति त एव परमभागवता इति कथ्यन्ते । इत्थं च भगवदाकारता परिणतिरूपा भक्तिरेव मूलस्थायिभावत्वं प्राप्नोति । तत्र भगवान् परमानन्दरसरूपो यदा मनोविशिष्टं भगवत्स्वरूपं विभावादीनां संयोगादभिव्यज्यते तदा परमानन्दस्वरूपभक्तिरसः समास्वाद्यते । अथवा प्रकारान्तरेण भगवदाकारतारूपपरिणतिरियं यदाऽग्निसंयोगेन जतुर्द्रवति तदा तस्मिन् यो धातुरागो निक्षिप्येत पुनश्च तापकापगमे जतोः काठिन्ये सति स एव धातुरागः स्थायीरूपेण तिष्ठति । एवमेव यदा कामादिभिश्चित्तं द्रवति, तदा तस्मिन् यदि भगवत्प्रेमरूपधातुरागो निक्षिप्येत तदा सः चित्ते स्थायित्वं प्राप्नुयात् । चेतसः पौनः पुन्येन काठिन्ये सति तन्नैव मुञ्चति । पुनः काठिन्यानन्तरं चेतसो द्रवत्वे सति तत्र निक्षिप्तराग एव प्रतिभासते । यथा श्रूयते कामादिरागैर्यदा गोस्वामी तुलसीदासः स्वपत्नीमनुगच्छतिस्मं तदा तस्मिन् सा भगवद्रूपानुरागमेव स्थापितवती । तदन्तरं गोस्वामीमहोदस्य चित्तं भगवदनुरागी बभूव । दृश्यतेऽत्रापि प्रथमं कामादिरागैःद्रुत-चेतस्येव भगवद्भावस्थापनम् अतः प्रोक्तप्रक्रिया समीचीना प्रतिभाति । अत एव भगवद्भक्तिरेव स्थायिभावो भक्तिरसस्येति भक्तिरसज्ञानां विदुषां मतम् ।

तत्र प्रष्टव्यमेतत्-प्रोक्तप्रकारेण भक्तिर्भगवदाकारितरूपा भगवत्प्रेमरूपा चेति द्विविधा भवितुमर्हति । अपि च भक्तिरेवाऽऽलम्बनविभावः स्थायिभावश्चेति भवेत्, तत्कथं सम्भवति ? उच्यते तत्र नात्र विरोधः यतो हि विम्बप्रतिविम्बभावेन तयोर्भेदो व्यवहारसिद्धो वर्तते । प्रतिपादितञ्चैतत् रूपगोस्वामिना रतिविमर्श प्रसङ्गे भक्तिरसामृतसिन्धौः—

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयं प्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥ —१/३/२

अयमभिप्रायो मनोवृत्तौ भगवद्रतिरुत्पद्य भगवदाकारतां प्राप्नोति । एवं भक्तिः प्रकाशरूपा भवति किन्तु तस्याः प्रतीतिस्तु प्रकाश्यसादृश्यमाप्नोति । तत्र प्रकाश्यो भगवान् स्वयमेव। यथा प्रदीपो यस्मिन् प्रकोष्ठे प्रज्वलति, तत्र तस्य प्रकाशः तद्वदेव प्रतिभाति तथैव यदा रतिर्भगवन्तं प्रकाशयति, तदा सा भगवत्स्वरूपेणैव प्रतीयते । अनेन प्रकारेणाऽऽलम्बनविभावस्य स्थायिभावस्य चैक्यापत्तिर्दूरं पलायिता। इयमेव भगवद् भक्तिर्भक्तिरसाचार्याणामभिमता स्थायिभावरूपेण तत्र तापकादीनामपि सहयोगो भवति । इत्थं च मिश्रितभाव एव तेषामास्वादगोचरः । अत एव तेषामभिमतमिदं सर्वेषां रसानां मूलं भगवद्रतिरेवेति । तेनैव कारणेन भक्तिरसो मुख्यगौणभेदेन द्विविधः । एवञ्च मिश्रितभावानामास्वाद गोचरस्यापि समाधानं जायते । तस्मान्नात्र कस्यापि विसंवादस्यावकाशः । किन्तु शृङ्गारादिलौकिकरसेषु भगवदाकारताया निर्वाहः कथं स्यादिति चेदुच्यते तत्रापि लौकिकरसविषयेषु भक्तिरसज्ञा निर्भ्रान्ता एव । यतो हि 'आनन्दाद् ह्येवेमानि भूतानि जायन्ते '[1] इत्यादिश्रुत्या सर्वे प्राणिन आनन्दादुत्पद्यन्ते, आनन्देन जीवन्ति, तस्मिन्नेव विलीयन्ते च । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्या केवलं ब्रह्मैव सत्यम् । विश्वस्य सम्पूर्णं पदार्था ब्रह्ममया एव, अतस्ते सर्वे पदार्था आनन्दरूपा एव । अतएव कान्तादावपि ब्रह्मण एवाऽऽनन्दांशो वर्तते, किन्तु मायायाः

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ३/२/१

प्रभावेण कान्तादिः ब्रह्ममयत्वेन न प्रतीयत इति त्वन्यत् ।

आवरणविक्षेपरूपेण मायाया द्वे शक्ती, तत्राऽऽवरणशक्त्या सत्यस्य तिरोधानं विक्षेपशक्त्या च नवीनतत्त्वस्य प्रकाशनं भवति । यथाहि आवरणशक्त्या रज्ज्वाः तिरोधानं क्रियते, विक्षेपशक्त्या च तत्राविद्यमानस्य सर्पस्य प्रतीतिः । तथैव कान्तादौ मायाया आवरणशक्त्या ब्रह्मण आनन्दांशस्तिरोधीयते, विक्षेपशक्त्या चासत्कान्तादिश्च पुनः प्रतीयते । कान्तादावप्यानन्दस्य कारणं सुखस्वरूपचैतन्यधनं ब्रह्मैव । अतो मनोवृत्तेस्तदाकारतायां सत्यामप्यावरणशक्त्या तन्न प्रतीयते । कान्तादौ ब्रह्म सत्यमेवास्ति, किन्तु ब्रह्मरूपेण न ज्ञायते, ज्ञायते तु कान्तात्वरूपेण । यदा विभावादीनां संयोगात् सत्त्वोद्रेकादिनाऽऽवरणभङ्गो जायते तदैव क्षणमात्रं ब्रह्मानन्दोऽनुभूयते। तत्र केवलमावरणस्यैव भङ्गः । न तु तत्र विक्षेपस्य सर्वथाऽभावो भवति । अतो ब्रह्मानन्दस्य प्रतिभासत्वेऽपि कान्तादीनां प्रतीतिर्भवत्येव । तत्र लौकिकवाक्यं प्रवर्त्तकं भवति, किन्तु काव्यवाक्यं तु प्रवर्तकं न भवति, अपि त्वास्वादयोग्यमेव भवति एवञ्चाऽऽनन्दांशपूर्णकान्तादीनां प्रतिभासश्चेतसि भावरूपतां धारयति किन्तु तत्र जाड्यस्य सम्मिश्रणमस्ति । अतस्ते भावाः पूर्णरसत्वं न प्राप्नुवन्ति, किन्तु जाड्यस्यामिश्रणाद् भगवद्विषयकभावः पूर्णानन्दत्वं प्राप्नोति । विवेचनस्य तात्पर्यमिदमेव यद् भगवद्विषयिका भक्तिरेव मूलभावो स्थायिभावो वा विद्यते ।

(घ) भक्तेर्निष्क्रियत्वनिरास :

भक्तिरसविरोधिभिरुच्यते यद्भक्तिर्निष्क्रिया भवतीति । यतो हि तत्र निर्जीवमूर्तिं प्रत्यात्मनिवेदनासक्तित्त्वेन भक्तौ भाववेगानामौत्कट्याभावात्तत्र क्रियाहीनत्वं भवति अत एव भक्ती रसो भवितुं नार्हति, अपि तु केवलं भावमात्रमेव भवितुमर्हति ।

तदेतन्न समीचीनम् । यतो हि श्रीमद्भागवतभक्तिरसायनोज्ज्वलनीलमणि-भक्तिरत्नावली-भक्तिरसामृतसिन्धु-भक्तिरसार्णव-गीतगोविन्दप्रभृतिभक्तिग्रन्थेषु भक्तानां भक्तिप्रभावापन्नानुभावाः प्रभावपूर्णतया च वर्णिताः, येन निष्क्रियत्वस्यारोपः स्वयमेव खण्ड्यते । तत्तद्भक्तिग्रन्थेषु भक्तानां क्रिया विशदरूपेण वर्णिताः, तर्हि कथं तस्य निष्क्रियत्वम् ? मानवानां ज्ञान-क्रियाभावनावेगानां प्राधान्यमिति भक्तिशास्त्रप्रवर्त्तकानामभिमतम् । स्वेष्टं प्रति भावनाया उत्कृष्टावस्थायां यत्र तीव्रवेदनयाऽश्रुकणाः निःसरन्ति—तत्रैवाऽऽनन्दस्य शतसहस्त्रपाटलप्रसूनान्यपि विकसन्ति । इत्थंभूताया वेदनाया आनन्दस्य च विरोधाभासोऽन्यत्रदुर्लभः । इत्थं भूतदिव्योन्मादविशिष्टावस्यामेव भक्तः कदाचित् हसति, कदाचिद् रोदिति, कदाचित् प्रलपति, कदाचित् तूष्णीं भवति, कदाचिच्चोच्चैः हरिगुणगणं गायति ।[1]

अपरञ्च भक्ता निर्जीवमूर्तिं प्रत्यात्मनिवेदनं न कुर्वन्ति, किन्तु मूर्त्युपलक्षितं निखिलजगन्नियन्तारं चराचरव्यापिनं चेतनरूपेण सर्वत्र समस्थितं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दघनं परमप्रेमास्पदं प्रत्यात्मनिवेदनं कुर्वन्ति ।

---

१. (क) एवंव्रत, स्वप्रिय······लोकबाह्यः ॥भाग० ११/२/४०
(ख) क्वचिद् रुदन्त्यच्युत······निवृताः ॥ भाग० ११/३/३२

महाकविजयदेवो गीतगोविन्दे राधिकामेकान्तप्रेमनिर्भरभक्तरूपेण निरूपयन् तस्याः प्रेमोन्मादस्यातीव मर्मस्पर्शिचित्रणमकरोत्। यथाहि विरहोन्मादिन्या राधिकाया वक्षः-स्थलस्य मालापि स्वकृशतनुत्वाद्, भारतयैव तया समनुभूयते सा सरसमसृणचन्दनस्य लेपमपि सशङ्कतया विषवत् पश्यति, मदनानलदग्धदेहा उच्चैर्निःश्वसिति। जलकणयुक्ता नाल-विहीननलिनीव नेत्रे इतस्ततो निक्षिपति। सन्ध्याकालेऽपि कपोलतलं करपल्लवेष्वाश्रित्य हरिं ध्यायति। सा किसलयकुसुमशय्यामग्निमिव विलोकयति। विशुद्धप्रेमभावनया सा हरिं रटति पौनः पुन्येन। सा कदाचित् वेदनाधिक्येन सीत्करोति। कदाचित् विलपति। कदाचि-दुद्भ्रान्ततया इतस्ततः परिधावति। कदाचित् भूमौ पतति। कदाचिच्च मूर्च्छति इत्थं च राधिकाया बहवोऽनुभावाः परिदृश्यन्ते। तत्कथं तत्र निष्क्रियता वक्तुं शक्यते। अतो भक्ति-रसे निष्क्रियत्वस्याऽऽरोपो न कर्त्तव्यः।[1] एवमेव निखिलरसानन्दमूर्तिर्भगवान् श्रीकृष्णोऽपि स्वप्रियतमाया विरहतापेन दह्यते। दीर्घमुष्णं च निःश्वसति। समुत्सुकनयनैश्चतुर्दिक्षु पश्यति। कदाचिदन्यमनस्कतया कुञ्जे गच्छति निर्गच्छति चेत्यादयः सर्वे भावाः राधा-कृष्णयोरेकान्त-प्रेमनिर्भरभक्तानामेव वर्तन्ते। ते च भगवद्विषयकानुभावाः। यदि राधिका 'एकान्तप्रेम-निर्भरभक्तरूपेण' न निरूप्यते चेत्तर्हि जयदेवस्य विलासिन्या राधायाः श्रीकृष्णस्य च विलासकला अकालकवलिता भवेत्। अस्तु विचार्यतेऽधुना यस्मिन् भक्तिरसे एतावदधिकतल-स्पर्शिमानसिकदशानां मार्मिकाभिव्यञ्जना दृश्यते, तत्र च प्रतिक्षणं जीवनस्यापारपरिस्थितीनां शतसहस्रश उच्चावचव्यापारा दृश्यन्ते, तत्र च निष्क्रियत्वस्यारोपो महान् भ्रम एव। यतोहि तत्र विस्मयहर्ष-अहंभावादयः पूर्वोक्तानुभावाश्च सन्ति। भक्तिभावापन्नपुरुषोऽहर्निशं भगवतो भजने कीर्तने स्मरणे वन्दनादिक्रियासु च संलग्नो भवति। येनान्यजनोऽपि तस्य प्रभावेण प्रभावितो भवति। इत्थंभूतेऽपि तत्र निष्क्रियत्वस्याऽऽरोपोऽरमणीयविचार एव तथाऽन्ध-परम्परानुमोदनमात्रमेव प्रतीयते। कथमन्यथा सक्रियायामपि भक्तौ निष्क्रियत्वस्याऽऽरोपः स्यात्।

(ङ) भक्तेः सार्वजनीनत्वम्—

भक्तिरसस्य व्यापकत्वे सार्वजनीनत्वे वा किमपि वक्तव्यं नास्ति, यतो हि भक्तिः सर्वस्मिन् काले सर्वेषु देशेष्वत्यधिकमहत्त्वपूर्णरूपेण दृश्यते। प्रमाणं चात्र सर्वदेशेषु विभिन्न रूपेण नामान्तरेण च तस्य विपुलवाङ्मयमेव। तस्याः बहवो भेदा यथाहिदेशभक्तिः, प्रभु-भक्तिः, राजभक्तिः मातृभक्तिः, पितृभक्तिः, गुरुभक्तिः, देवभक्तिरित्यादयः। मराठिलेखक श्रीशीवरामपन्त महोदयेन 'देशभक्तिरसः, तस्य स्थायिभावश्च देशाभिमानमिति प्रतिष्ठापितम्।[2] तन्मते यत्र निरभिमानतया श्रद्धया च प्रभोर्गुणानां संकीर्तनम्, यत्र च स्वाभिमानसहितेन नम्रतापूर्वकेण श्रद्धाभावेन देशस्य गौरवं गीयते तत्र तत्र भक्तिरसः स्वीकर्त्तव्य एव। तत्रापि प्रथमो भगवद्भक्तिरसः, द्वितीयश्च देशभक्तिरसः, अन्यत्र तु भावानुकुलो रसो मन्तव्यः।[3]

---

१. गीतगोविन्दे-देशाख्य-एकतालीताले अष्टपद्याम् ९

२. जीवन आणि साहित्ये पृष्ठे ४५

३. रस सिद्धान्तः स्वरूप और विश्लेषण नामक ग्रन्थे पृष्ठे २८५

डा० वाटवेमहोदयेन 'रसविमर्श' नामकग्रन्थे भक्तिरससमर्थकानां विदुषां मतं समुल्लिख्य मानसशास्त्रानुसारेण भक्तिरसो वैशद्येन व्यापकरूपेण च स्थापितः। तन्मतानुसारेण मानवजातेरारम्भकालादेव सर्वेषु देशेषु विभिन्नरूपेण भक्तिर्नैरन्तर्येण प्रचलति। प्रमाणं चात्र निखिलवैदिकवाङ्मयमेव। पाश्चात्त्यदृष्ट्याऽऽधुनिकानां मते सर्वप्रथमं मानवैः प्रतिक्षणं परिवर्तमानं विलक्षणं जगद् दृष्टम्। दृष्ट्वा याऽऽश्चर्यान्वितैः प्रभावितैश्च तैर्मानवैर्विभिन्नदेवताः कल्पिताः। अत एव तस्य परिणामस्वरूपं वैदिकवाङ्मयेषु वायु-वरुणाऽऽदित्य-रुद्रेन्द्रप्रभृतयश्च बहवो देवाः समुद्भाविताः। एवञ्च निखिलनिरीहैक एव परमात्मा। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादिना नानारूपेण निरूपितः। प्रोक्त देवानां शक्ति पराक्रमं च विलोक्य मनुष्या विस्मयविमुग्धा बभूवुः ते मानवाश्चिन्तितवन्तो यद् यदि वयं तेषां शक्तिपुञ्जभूतानां देवानां केनापि प्रकारेण प्रसादं लब्धुं प्रभवेम तर्हि ते देवा विपत्तौ साहाय्यं करिष्यन्ति। एवञ्च स्वरक्षाभावनयाभिभूता मानवा देवानुपासितवन्तः। तान् देवान् प्रति प्रथमं मानवानां मनसि विभ्रमस्य भावना जाता, पश्चात् सैव शनैः शनैः श्रद्धाभावनायां परिणता बभूव, कालान्तरे च सैव मनोरागरूपेण रूपान्तरिता जाता, तस्या भावनायाः परिणामस्वरूपतयैव भक्तभगवतोः (आराध्याऽऽराधकयोः) मध्ये विविधस्नेहसम्बन्धसूत्रमवतीर्णम्।

भारतीयवैदिकदर्शनपुराणकाव्यशास्त्रादिदृष्ट्या मानवसमुदायस्य भारतीयपारिवारिकजीवने मुख्यतया स्वामिभावरूपसम्बन्धः, सेवकभावरूपसम्बन्धः, सुहृदयभावरूपसम्बन्धः, वात्सल्यभावरूपसम्बन्धः, दाम्पत्यभावरूपसम्बन्धश्चेति पञ्चविधो यः सम्बन्धः स्थापितः। स एव स्वपरभेदभावाद् भक्तभगवतोऽपि मध्ये समुद्भावितः। एतेषां सम्बन्धानां पृष्ठभूमिकाऽऽधारेणैव भक्तानां शान्तस्वभावः, दास्यस्वभावः सख्यस्वभावः, वात्सल्यस्वभावः, मधुरस्वभावश्चेति पञ्चस्वभावा भक्तिशास्त्रे निरूपिताः। भक्तः स्वस्वभावानुसारेण स्वेष्टदेवे प्रोक्तपञ्चविधसम्बन्धेष्वनन्यतमैकस्नेहसम्बन्धमाध्यमेन तदनुरूपगुणान् स्वस्मिन् समारोपयति। तेनैव भावेन भक्तः स्वेष्टं समाराधयति। प्रोक्तपञ्चविधसम्बन्धेषु दाम्पत्यसम्बन्धः, तस्य माधुर्यभावश्च भक्तिशास्त्रे सर्वश्रेष्ठः स्वीक्रियते। यतोहि तस्य माध्यमेन मनोरागश्चरमोत्कर्षं प्राप्नोति। आध्यात्मिकसाधनान्तर्गते सामान्यतः परमेश्वरानुभूतिः रूपकशैल्या दाम्पत्यभावपरकशैल्या चेत्यादिप्रकरणे व्यक्तीभवति। तत्र दाम्पत्यभावपरकशैल्येव सर्वोत्तमा, यतो हि तस्या माध्यमेन भक्तो निःसंकोचभावेन सर्वथा सम्भ्रमरहितः सन् भगवतः समक्षं स्वात्मानं प्रकटयति।

उपरिलिखितो भक्तस्य भावो निर्गुणब्रह्मापेक्षया सगुण ब्रह्मण्यधिकमुपयुज्यते। अतो ज्ञानमार्गापेक्षया भक्तिमार्गस्य प्राधान्यमभवत्। किन्तु ज्ञानिभक्तेष्वपि पूर्ववत्भावनाद्वयं भवति। अत एव तत्र प्रतीकोपासना प्रारब्धा। रामकृष्णादयश्च भगवद्रूपेण पूजिताः। भक्तैर्भगवता सह प्रायः सर्वेऽपि लौकिकस्नेहसम्बन्धाः स्थापिताः। एवञ्च परमेश्वरानुरागस्य भावना संमिश्रिता जाता। भक्तैर्भगवतो धात्वादिप्रतिमा मनोमयप्रतिमा च कल्पिता। भक्तिकाव्यस्य परिशीलनेन ज्ञायते यद् भगवतो मनोमयप्रतिमां प्रति भक्तस्य बहवः सम्बन्धा भक्तिकाव्ये प्रतिष्ठिताः। तस्मादेव कारणादानन्द-विषाद-दैन्य-चिन्ता-व्याधि-भय-गर्व-व्रीडाजिज्ञासा-

प्रभृतयो विविधमधुरभावा भक्तिशास्त्रेऽनायासेन समावेशिताः। एवञ्च प्रोक्तविविधसम्बन्धेषु (भावेषु)परमोत्कृष्टशृङ्गारभाव एव, यो भावसाधनायां भक्तिरसरूपेण परमोन्नयनं प्राप्तः। एवञ्च कालान्तरे लौकिक शृङ्गार एव भक्तिरसरूपेण रूपान्तरितो बभूवेति केषाञ्चिन्मतम्। इयं भावना न केवलं श्रीवल्लभ-चैतन्य-राधावल्लभादिसम्प्रदायेष्वेव अपि तु रामोपासनाया-मपि, ततः परमाधुनिकसूफीसम्प्रदायेऽपि परिलक्ष्यते। ततः पूर्वमपि १३०० ईशवीयतमे थामस डी० हेल्समहोदयेनापि स्वग्रन्थे इसाईधर्मस्य भक्तिस्वरूपं तादृशमेवोपस्थापितम्। अत एव भक्तेर्मूलाधारो रतिर्भावो भवितुं नार्हति, अपि तु स्थायिभावतया भक्तिरस एव मन्तव्यः। व्यापकत्वेन च भक्तिरसे एवान्ये सर्वे रसाः समाविश्यन्ते, अत एव रूपगोस्वामिना शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुराः पञ्चैव मुख्यभक्तिरसाः तथा शृंगारादि सप्तरसाः गौणभक्तिरसाः स्वीकृता। ते च गौणसप्तरसाः मुख्यरसानां सञ्चारिभावतयैव परिकल्पिता भक्तिरसज्ञैः। अपि च भक्तिरसे विविधभावानां यावदधिकं सम्मिश्रणं दृश्यते, न तावदधिकमन्यरसेषु दृश्यते। यस्मिन् रसे भावानां यावदाधिक्यं भवति, स रसः तावदेव प्रभावोत्पादकः समास्वादयोग्यश्च भवति। अत एव शृंगारः करुणश्च भयानकवीभत्सरसापेक्षयाऽधिकमहत्त्वपूर्णो वर्तते।

मनुष्यस्येयं शाश्वतवृत्तिः प्रेमरतिर्वा कान्ताविषयकत्वेन, देवतादिविषयकत्वेन अपत्यविषय कत्वेन वा क्रमशो यदि शृंगाररस,ः भक्तिरसः, वात्सल्यरसश्च कथ्यते चेत्तत्र का क्षतिर्भवति? वस्तुतोव्यापकत्वादुदात्तत्वाच्चमत्कारपूर्णत्वाच्च भक्तिरससमक्षं शृंगारादिरसाः क्षुद्रायन्ते। अलौ-किक भक्तिरसस्य रसत्वं महत्त्वं च प्रतिपादयन् श्रीमधुसूदन स्वामी स्पष्टमभिधत्ते यदन्यरसा इव विभावादिभिः संयोगैर्भक्तिरपि रसत्वं प्राप्नोति। रसज्ञैर्देवविषयिका या रतिर्व्यक्तव्यभिचारि-भावश्च भावरूपेण कथितः, न तु रसरूपेण तत्तु समीचीनं नास्ति। यतो हि तादृशी भावना तु जीवांशविशिष्टसामान्यदेवान् प्रत्येव संगच्छते, न तु साक्षात् परमानन्दरसस्वरूपपरमात्मानं प्रति भवेत्। यतो हि सामान्यदेवादिभिः सम्बद्धा रतिः परमानन्ददायिनी भवितुं न शक्नोति किन्तु तद्भिन्ना परमात्मविषयिका रतिः(भक्तिः) परमानन्दरूपपरमात्मनो भक्तिश्च परानंद प्रकाशिनी भवति। कान्ताविषयकशृंगाररसे रसत्वस्य यथेष्टं परिपोषणं कदापि न संभवति। किन्तु भक्तिरसे पूर्णाऽऽनन्दः समनुभूयते। काव्यप्रकाशकारेण मम्मटाचार्येण रसस्य यद् व्यापकं लक्षणं निष्पादितम्, तत्तु वस्तुतो भक्तिरसे एव सम्भवति। तेन प्रतिपादितरसस्य स्वरूपमन्यरसापेक्षया भक्तिरसे एव परिदृश्यते।[1]

भक्तिरसस्य तादृशवैशिष्ट्येन विमुग्धः सन् निर्गुणोपासकः कवीरोऽपि प्रेममार्गस्य पथिकः सञ्जातः। डिमडिमघोषेण समुद्घोषितं तेन सद्भक्तिविना निखिलदोषमूलस्य संसारस्य जन्ममरणरूपभवबन्धनं न विनश्यति। अत एव तेन हरिः प्रियरूपेण स्वात्मानं च प्रियारूपेण स्वीकृत्य विरहिण्याः स्वस्या आत्मदशायाः यादृशं माधुर्यमयं हृदयग्राह्यमर्मस्पर्शि-निवेदनं कृतं तथाऽन्यत्र दुर्लभमेव। एवं भक्तिरसनिमग्ना मीरा सम्पूर्णैश्वर्यं लोकलज्जां च

---

१. पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवा-लिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारी शृंगारादिको रसः।—का०प्र० ४/२६-२८ टीकायाम्

विहाय गिरिधरगोपालेन सह तादात्म्यानुभावार्थं सततं सत्प्रयासं कृतवती। एवमेव प्रेमोन्मत्तो भूत्वा गौराङ्गमहाप्रभुचैतन्यः समस्तोत्तरभारतं भगवद्भक्तिरसेनाऽऽप्यायितवान्। तेनैव भक्तिरसेनानुरञ्जितो मंसूरमहोदयोऽपि शूलारोहणमपि स्वीचकार। अपि च भगवद्भक्तिरसायनेन संतृप्तः ईशामसीहमहोदयो गांधिमहोदयश्चापि भगवच्चरणारविन्दमेव गृहीतवान्। एवं च दृश्यते विश्वस्य वाङ्मये सर्वदा बाहुल्येन तादृशो दृष्टान्ताः समुपलभ्यन्ते यैर्भक्तिरसस्य सार्वजनीनत्वं व्यापकत्वं च परिज्ञायते।

सामान्यतो मानवजीवनमतिविस्तृतं सङ्कीर्णञ्च विद्यते। अत एव मनुष्यस्य मनोभावानामियत्ता नास्ति। अतो ये विद्वांसः शृंगारादिनवरसातिरिक्तं भक्तिरसं स्थापितवन्तः, तेषां प्रयासः प्रशंसनीय एव। अनया दृष्ट्या भक्तिरसोऽतिविस्तृतस्तथा तस्य विपुलं वाङ्मयमपि प्रशंसनीयमेव। श्रीरूपगोस्वामिश्रीजीवगोस्वामिप्रभृतिभिर्गौडीयवैष्णवाचार्यैश्च' राधाकृष्णयोर्लीलाविलासमेव गृहीत्वा सावयवो भक्तिरसोनिरूपितः, सर्वश्रेष्ठः सरूपेण स्थापितश्च। पूर्ववर्त्यलङ्कारशास्त्रे रसशास्त्रे कामशास्त्रादिषु वा व्यवहृतान् पारिभाषिकशब्दान् तत्र वर्णितान् विभावानुभावसञ्चारिभावान् नायकनायिकाभेदादींश्च भक्तिरसज्ञाः स्वीकृत्य नायकशिरोमणिश्रीकृष्णस्य नायिकाशिरोमणिराधिकायाश्च लीलापरिवेशरूपेण भक्तिरसमपूर्वतया विस्तारितवन्तः। एतत्सर्वं निरूपणं वैष्णवाचार्याणामाध्यात्मिकसिद्धान्तस्य मूलं वर्तते। अनन्यतमभक्तिरसस्य प्रथमं चरमं च लक्ष्यं भगवद्भक्तिप्राप्तिरेव। एवञ्च भक्तेर्गूढतत्त्वानि साहित्यशास्त्रीयपारिभाषिकशब्दावल्यामभिव्यज्य साहित्यशास्त्रस्य च विशिष्टाङ्गं शृगारं भक्तिसिद्धान्तनिकषे परीक्ष्य गौडीयवैष्णवाचार्याः काव्यानुरागिभ्यो भगवद्प्रेमानुरागिभ्यश्च भक्तिरसरूपेणानुपमं रसायनं प्रदत्तवन्तः। एवञ्च प्रतीयते वैष्णवाचार्याणां भक्तिरसविवेचनं पूर्णत आध्यात्मिकं वर्तते। तच्चाऽऽत्मपरमात्मनोरान्तरिकसंयोगस्य मार्मिकयभिव्यक्तिर्विद्यते। वृन्दावनस्थगोस्वामिपादैर्भक्तिरसो यथा व्याख्यातः, न तथा कैश्चिदन्यैः काव्यरसज्ञैर्विवेचितः। मनुष्यहृदयस्थपरमात्मन उपलब्धये तेषां वैष्णवाचार्याणां भक्तिरसस्थापनप्रयत्नोऽतीव श्लाघनीयो विद्यते। अत एव मुमुक्षुभिर्भक्तिरस एव समुपासनीयः।

पूर्वप्रतिपादितभक्तिरसविवेचनस्य निर्गलितार्थोऽयं यद् भक्तिरससदृशः समास्वाद्यः, मोक्षोपकारकः, व्यापकः, सर्वजनीनः, सुलभः, परमानन्दप्रदायकः, लोकोत्तरः, विलक्षणः, विराट विशिष्टविपुलवाङ्मयपरिपुष्टो भक्तिशास्त्रस्य मानसशास्त्रस्य दर्शनशास्त्रस्य काव्यशास्त्रस्य च निकषेऽपि परिपूर्णतया शुद्धत्वेनावतीर्णोऽन्यो रसो नास्ति। एवं सत्यपि भक्तिरसस्यास्वीकारे नास्ति किमपि समुचितं कारणमिति। भक्तिरसविषयकस्य धार्मिकस्य साहित्यिकस्य च विपुलविशिष्टसम्पत्तेर्विद्यमानत्वेऽपि तथा च रससिद्धिविषयकसम्पूर्णविशिष्टसामग्रीणां समवायेऽपि भक्तेः रसत्वास्वीकारे गतानुगतिकानां परम्पराभिमानादतिरिक्तमन्यत् किञ्चिदपि कारणं न प्रतिभाति। एवञ्च ज्ञायते काव्यशास्त्रस्य सम्यगध्ययनदृष्ट्या विकासदृष्ट्या चैतादृशो मिथ्या परम्पराभिमानः सर्वथा उपेक्षणीयः।

वस्तुतो भक्तिरस एव रसानां राजा विद्यते। स एव सरसभारतीयवाङ्मयस्य प्रथमो रसः, यत्र सर्वे रसा अनायासेनान्तर्भवन्ति भक्तिरसस्य सर्वश्रेष्ठसमर्थकेन श्रीरूपगोस्वामिना

पारलौकिकदिव्यरसराड्भक्तिरसस्य व्यापकतां निस्सीमतां च प्रतिपादयता सत्यमेवोक्तं यद् भक्तिरसो निःसीमजलधिसदृशोऽतुलः, कूलरहितो दुर्विगाहश्च वर्तते ।

अतएवालौकिकदिव्यरसराट् भक्तिरसार्णवस्य स्रोतसि निमज्ज्यैव भक्तिरसः संस्पृश्यते । एवञ्च ये रसज्ञाः साधकास्तत्र गत्वा सानुरागाः सन्तः साधनां कुर्वन्ति त एव भक्तिरसं प्राप्नुवन्ति, नान्ये । संसारसागरनिवर्तकं भक्तिरसं विना जन्ममरणबन्धनेभ्यो विमुक्तये नास्ति कश्चिदन्यः पन्थाः। अत एव श्रुतावुद्घोषितं यद् 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति । पर्यन्ते च—

अज्ञानतो वा मतिविभ्रमाद् वा
यत्किञ्चिदूनं लिखितं मया चेत् ।
तत् सर्वमार्यैः परिशोधनीयम्,
विद्वज्जनः स्यात् गुणपक्षपाती ॥

रसों की सुख-दुःखरूपता

लेखक—डॉ० कृष्ण कुमार
(अवकाशप्राप्त रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
गढ़वाल विश्वविद्यालय)
मिश्रा गार्डन, प्राचीन हनुमान्मन्दिर,
कनखल, हरिद्वार (उ०प्र०)

काव्यशास्त्र के इतिहास में रस-सिद्धान्त का प्रवर्तन सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया। यद्यपि भरत मुनि से पूर्व भी रस-सिद्धान्त के प्रति आचार्यों के उन्मुख होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं,[1] तथापि भरत-नाट्यशास्त्र से पूर्व का इस प्रकार का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जो काव्य-रसों के सम्बन्ध में किसी विशेष तत्त्व का उल्लेख करता हो।

भरत मुनि का कथन है कि नाट्य की रचना रस के निमित्त से ही होती है। उसके बिना किसी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता।[2] भरत की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त ने कहा था कि सम्पूर्ण रूपक में रस ही सूत्र के समान है।[3] नाट्य ही रस है और रस का समुदाय ही नाट्य है। नाट्य के समान ही काव्य में भी रस की यही स्थिति है।[4] उसका अभिप्राय है कि रस की स्थिति की रचना करने के लिए ही कवि काव्य की रचना करता है तथा काव्य में रस की स्थिति होने के कारण ही सहृदय काव्य के प्रति उन्मुख होता है। भरत ने काव्य में रस की स्थिति का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"

विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। सहृदय के लिये काव्य में रस की यह स्थिति अनुभूतिरूप है। रसानुभूति के लिये कवि

---

१. रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। —काव्यमीमांसा, पृ० ४-५

२. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।।—भरत-नाट्यशास्त्र अध्याय-६

३. एक एव परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति ।।
—उपर्युक्त पर अभिनव टीका

४. नाट्यात् समुदायरूपाद् रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम् न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि ॥ नाट्यशास्त्र अध्याय ६ के अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः पर अभिनवभारती टीका ॥

काव्य की रचना करता है और सहृदय काव्य का अध्ययन करता है। अर्थात् काव्य की रचना और अध्ययन में रसानुभूति ही प्रथम प्रयोजन है। अतः रसानुभूति को इस प्रकार का होना चाहिये कि कवि और सहृदय उससे सुख प्राप्त करे एवं इस हेतु उसके प्रति उन्मुख हो।

प्राचीन समालोचकों और आचार्यों ने रसानुभूति को अलौकिक माना है, लौकिक रसों की अपेक्षा काव्य-रसों की अनुभूति में निश्चय ही कोई विलक्षणता है। रस आस्वाद्यमान है। सामाजिक को यह अनुभूति अपने से अभिन्न अनुभव होती है। इसमें चित्त की सीमाओं के बन्धन नहीं रहते। यह रसास्वादन अलौकिक है और ब्रह्मानन्द के तुल्य ही होता है। अभिप्राय यह है कि रस के आनन्दरूप होने के कारण ही कवि और सहृदय की उस ओर प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्राणी स्वाभाविक रूप से आनन्द-प्राप्ति के प्रति उन्मुख होता है, दुःख पाने के लिये नहीं। काव्य का मुख्य प्रयोजन रसानुभूति होने के कारण यह अनुभूति भी सुखरूप है।

भरत आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा रस को आनन्दरूप मानते हुए भी उत्तरवर्ती कुछ आचार्यों का मत रहा कि रस की अनुभूति सुखदुःखात्मक है। यद्यपि अधिकांश रस सुखानुभूतिरूप हैं, तथापि कुछ रस दुःखात्मक भी हैं। अतः रसानुभूति के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रस्तुत होते हैं—(१) रस केवल सुखरूप हैं, सुखात्मक, हैं। (२) कुछ रस सुख-रूप हैं एवं कुछ दुःखरूप हैं। इस विषय का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(१) रसों की सुखात्मकता—

मम्मट, धनञ्जय, धनिक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य रसानुभूति को सुखरूप, आनन्दात्मक प्रतिपादित करते हैं। विश्वनाथ का कथन है कि सत्त्वगुण के उद्रेक से सहृदय जन अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार-प्राण एवं अपने से अभिन्न रूप का आस्वादन करते हैं।[1] रस की अनुभूति में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं। करुण आदि रस भी, जो कभी दुःखरूप लगते हैं, वस्तुतः आनन्दात्मक हैं। यदि उनकी अनुभूति दुःखरूप होती तो कोई भी व्यक्ति करुणरसप्रधानकाव्यों के प्रति उन्मुख न होता। यदि करुण को दुःखरूप माना जावे तो रामायण आदि काव्यों में भी दुःख के हेतु होते।[2]

---

१. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥—साहित्यदर्पण ३.२-३

२. करुणादावापि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलं ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥—साहित्यदर्पण ३.४-५

लौकिक हेतु तथा उनके सहकारी तत्त्व दुःखात्मक हो सकते हैं। परन्तु काव्यों में प्रस्तुत होकर वे अलौकिक हो जाते हैं। ये अलौकिक हेतु जब करुण भयानक आदि रसों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं तो दुःखात्मक न होकर इनकी अनुभूति सुखमय हो जाती है। वे हेतु पात्रों के लिये दुःखात्मक हो सकते हैं, परन्तु सामाजिक के लिये नहीं। रामायण की घटनाओं-वनवास, सीताहरण आदि कारण राम के लिये दुःख का कारण हो सकते हैं। परन्तु काव्य में वे ही कारण अलौकिक रूप को प्राप्त होकर, विभाव रूप में परिणत होकर सामाजिक के हृदयों में सत्त्वगुण का उद्रेक करते हैं। लौकिक हर्ष, शोक आदि कारण लौकिक हर्ष, शोक आदि को उत्पन्न करते हैं। यह लौकिक नियम है। परन्तु काव्यों में विभाव आदि से सुख ही उत्पन्न होता है।

दशरूपक की टीका में धनिक ने रसों की सुखदुःखात्मक का प्रश्न उठाया था। सुखात्मक श्रृंगार, वीर, हास्य आदि रसों से आनन्द की अनुभूति हो सकती है, परन्तु करुण आदि रसों में यह आनन्दानुभूति कैसे हो सकती है? करुण रसप्रधान काव्य के श्रवण-दर्शन आदि से दुःख का आविर्भाव ही होगा। इससे अश्रुपात आदि होते हैं। यदि रस सभी आनन्दरूप होते तो ऐसा क्यों होता। धनिक ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है—

यह ठीक है कि करुण रस के काव्य के श्रवण आदि से रसिकों को दुःख होता है। वे रोते हैं। परन्तु लौकिक करुण आदि से काव्यगत करुण आदि रस भिन्न होते हैं। काव्यगत करुण रस दुःखात्मक होते हुए भी आनन्द की अनुभूति प्रदान करते हैं। उनसे सुखदुःख-मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। यह उसी प्रकार है, जैसे सुरत के समय स्त्रियों को दन्तक्षत, नखक्षत, प्रहार आदि से भी आनन्द की अनुभूति होती है। काव्यगत करुण रस के लौकिक करुण से भिन्न होने से रसिकों की उसके प्रति प्रवृत्ति होती है। यदि लौकिक करुण के समान काव्यगत करुण रस दुःखात्मक होता तो उसके प्रति कोई भी प्रवृत्त न होता। इस अवस्था में करुण रसप्रधान रामायण आदि महान् काव्यों का उच्छेद ही हो जाता। ऐसे वर्णनों के द्वारा सामाजिकों का अश्रुपात करना आनन्दानुभूति का विरोधी नहीं है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसानुभूति को आनन्दरूप प्रतिपादित किया है। यह

---

१. ननु च युक्तं श्रृंगारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु काव्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्राप्नुयात्? तथाहि-तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदानंदात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्। किंतु तादृश एवासावानंदः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्। अन्यश्च लौकिकात्करुणात् काव्यकरुणः तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत। ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन, विनिपातितेषु लौकिकवैकलव्य दर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रवर्तन्ते न विरुध्यन्ते। तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दकत्वमेव।

—दशरूपक ४.४४-४५ पर धनिक की टीका।

आनन्दानुभूति स्वरूपाकार होती है। यह उसीप्रकार की है, जैसी कि सविकल्पक समाधि में योगियों की चित्तवृत्ति होती है। यह आनन्द लौकिक सुखों से विलक्षण है। यह अन्तः-करण की वृत्तियों से युक्त न होकर स्वतः चैतन्यरूप है।[1]

करूण रस की आनन्दरूपता को पण्डितराज जगन्नाथ ने सशक्तयुक्तियों से प्रतिपादित किया था। करुण को रसरूप में स्वीकार करना ही यह सिद्ध करता है कि यह आह्लाद का हेतु है। सहृदयों के हृदय इस बात के प्रमाण है कि जिस प्रकार श्रृंगार-रसप्रधान काव्य आह्लाद के हेतु हैं, उसी प्रकार करुणरसप्रधान काव्य भी आह्लाद के हेतु होते हैं। वस्तुतः लोकोत्तर काव्य व्यापार आह्लाद का हेतु है। यदि करुण आदि रसों से दुःख का अनुभव होता तो सहृदयों की उस ओर प्रवृत्ति ही क्यों होती? करुण आदि रसों की अनुभूति में जो अश्रुपात आदि अभिव्यक्ति हैं, वे दुःख के कारण नहीं है, अपितु आनन्दाभूति के कारण हैं। यह इसी प्रकार है, जैसे कि भगवान् के भक्त भगवान् के वर्णन को सुन कर अश्रुपात करते हैं। उसमें दुःख का अनुभव किसी अवस्था में नहीं हैं। यह लोकोत्तर काव्य-व्यापार की महिमा है कि उसमें प्रयोग किये जाते हुये अरमणीय भी शोक आदि पदार्थ अलौकिक रमणीयता को उत्पन्न करते हैं। काव्य-व्यापारों द्वारा उत्पन्न होने वाली यह रमणीयता या आह्लाद कमनीय ही होता है। जो व्यक्ति करुण रस को नही मानता, उसको आह्लादक, विलक्षण एवं चमत्कारी नहीं मानता, उसको काव्य तथा कला के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।

काव्यगत करुण आदि रसों से आनन्द की ही अनुभूति क्यों होती है, इसका मुख्य हेतु साधारणीकरण व्यापार है। साधारणीकरण व्यापार द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण होकर विभाव आदि के विशेष अंश का परित्याग होने से उसका लौकिक व्यक्तिगत सम्बन्ध तिरोहित हो जाता है। व्यक्ति से आवद्ध भाव में अल्पता होने से दुःख की अनुभूति हो सकती है। परन्तु व्यक्तिगत सम्बन्ध से मुक्त होने पर उदात्तता के समावेश से आनन्दमात्र ही अवशिष्ट रहता है। इसके लिये मधुसूदनदत्त ने यह युक्ति दी है कि रत्यादिभाव जब बोद्धानिष्ठ अर्थात् दुष्यन्त आदि पात्रगत होते हैं। तो सुख-दुःख के हेतु होते हैं। परन्तु जब वे बोद्धनिष्ठ अर्थात् सहृदयगत होते हैं, तो केवल सुख के हेतु होते हैं। अतः करुण आदि रसों की आनन्दरूपता में व्याघात नहीं होता।[2]

इस प्रकार अधिकांश भारतीय आचार्यों ने सभी रसों को अलौकिक आनन्दमय प्रतिपादित किया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र रचयिता भी रसों की आनन्दरूपता को प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू का विवेचन सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अरस्तू का कथन है कि त्रासदी में अतिशय

---

१. तत् स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरूपजायते। तन्मयीभवनमिति यावत्। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्॥

—रसगङ्गाधर प्रथम आनन, पृ० ८६,८७

२. भक्तिरसामृतसिन्धु ३.५-६

उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन हो जाता है। अर्थात् विरेचन हो जाता है। इस विरेचन से करुण और त्रास के भावों का कटुत्व दूर होकर मन विशद होता है और उसको शान्ति प्राप्ति होती है। इससे सहृदय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

बुचर का कथन है कि शोक आदि भावों की कटुता उसी समय तक प्रतीत होती है, जब तक कि वे वैयक्तिक भौतिक सीमा में बंधे रहते हैं। स्व की सीमा के नष्ट हो जाने पर उनकी कटुता भी नष्ट हो जाती है और वे दुःखद हो जाते हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिककांट, कलावादी समीक्षक रोजर फाइ और क्लाइववेल ने कलागत अनुभूति को सर्वथा अलौकिक माना है। लौकिक भावों और काव्यगत भावों में स्वाभाविक अन्तर है। लौकिक भाव काव्यगत होकर अलौकिक हो जाते हैं। वे विभावादिरूप होते हैं। काव्यगत अनुभूति का लौकिक अनुभूति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता और वे आनन्दरूप ही होते हैं।

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री और दार्शनिक अभिनवगुप्त ने सामान्यरूप से रसों को आनन्दरूप माना था। परन्तु वे इनको उभयात्मक (सुखदुःखात्मक) भी कहते हैं। भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में उन्होंने इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सभी रसों में उभयात्मक अनुभूति होती है। उनमें सुख और दुःख दोनों का समावेश होता है। परन्तु किसी रस की अनुभूति में सुख तथा किसी की अनुभूति में दुःख की प्रधानता रहती है। शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत रसों में सुख की प्रधानता है, तथा उसमें दुःख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण और बीभत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुवेध रहता है। अभिनवगुप्त के अनुसार केवल शान्त रस ही सम्पूर्ण रूप से सुखात्मक है।[1]

आधुनिक भारतीय समीक्षकों में डॉ० नगेन्द्र ने रसों की सुखदुःखात्मकता पर विशेष विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि सभी रस आनन्दात्मक अनुभूति को निष्पन्न करते हैं। आनन्दात्मक अनुभूति दो प्रकार की होती है—भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिकअनुभूति ऐन्द्रियिक रागात्मक एवं बौद्धिक तीन प्रकार की है। काव्यात्मक आस्वाद अनुभूति इन्हीं तीनों ऐन्द्रियिक, रागात्मक और बौद्धिक अनुभूतियों का मिश्रण है। काव्यात्मक अनुभूति इन्हीं तीनों अनुभूतियों के मध्य की वस्तु है। काव्यात्मक अनुभूति में एक ओर तो ऐन्द्रियिक अनुभूतियों की स्थूलता एवं कटुता नहीं रहती, दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता भी नहीं रहती। अतः ये अधिक परिष्कृत, सरस तथा आनन्दात्मक होती है।

ऊपर लिखे गये आनन्दवादी आचार्यों के मतों का विश्लेषण करने पर काव्यगत रसों की अनुभूतियों की निम्न विशेषताएं परिलक्षित होती है—

(१) काव्य की रसमयी अनुभूति आनन्दरूप है। यह अलौकिक हैं तथा सतत आनन्ददायक है। शृंगार आदि रसों के साथ ही सहृदय को करुण, बीभत्स

---

१. काव्यप्रकाश-विश्वेश्वरकृत टीका, पृ० १२१

आदि रसों के प्रसङ्ग में भी आनन्द का अनुभव होता है।

(२) करुण आदि रसों की अभिव्यक्ति में भी आनन्द के अनुभव होने का मुख्य हेतु यह है कि लौकिक कारण, कार्य और सहकारी उपादान काव्य में अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। उनके व्यक्तिगत अंश का परित्याग होकर संकुचित सीमाएँ तिरोहित हो जाती हैं। इससे उनमें कटुता और दुःखप्रदता नहीं रहती।

(३) काव्यगत रसों की अनुभूति सत्त्वप्रधान होती है। यह अन्य सब वेद्यों को तिरोहित कर देती है। यह ब्रह्मास्वादसहोदर होती है तथा अन्य सब अनुभूतियों से विलक्षण होती है।

२. रसों की सुखदुःखरूपता

प्राचीन काव्यशास्त्रियों में अधिकतर ने रसों की अनुभूति को सुखरूप स्वीकार किया था। परन्तु कुछ आचार्य ऐसे भी रहे, जिन्होंने सभी रसों की अनुभूति को सुखात्मक नहीं माना। इनमें नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र मुख्य हैं। उन्होंने रसों को सुखदुःखात्मक माना।[1] उनका मन्तव्य है कि कुछ रस सुखात्मक हैं और कुछ दुःखात्मक हैं। इनमें शृंगार हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस सुखात्मक हैं। करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस दुःखात्मक हैं।[2]

सब रसों की सुखात्मकता का खण्डन करते हुए नाट्यदर्पणकार ने कहा था कि सभी रसों को सुखात्मक मानना प्रतीति के विरुद्ध है। मुख्य अर्थात् वास्तविक लौकिक जगत् के सिंह, व्याघ्र आदि विभावों की दुःखात्मकता को तो रहने ही दें, काव्य में अभिनय से प्राप्त कृत्रिम विभावों से उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस भी रसास्वादन करने वाले सहृदयों में कुछ अवर्णनीय क्लेश दशा को उत्पन्न कर ही देते हैं। इसीलिए सामाजिक भयानक आदि दृश्यों से उद्विग्न होते हैं। परन्तु सुख के आस्वादन से उद्विग्नता उत्पन्न नहीं होती। अतः रसों को एकमात्र सुखरूप न मानकर सुखदुःखात्मक मानना चाहिए।

काव्यशास्त्रीय विचारधारा में नाट्यदर्पण से पूर्व भी रसों की सुखदुःखरूपता पर विचार किया गया था। अभिनवगुप्त की भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में किन्हीं प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख है। इनका कथन था कि रसों की सामग्री के सुख-दुःखात्मक होने से रस भी सुख-दुःखात्मक हैं। रसकलिका में रुद्रभट्ट ने रसों की सामग्री के सुख-दुःखात्मक होने से इनको उभयात्मक माना है। भोज ने शृंगारप्रकाश में एक

---

१. येन त्वम्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदुःखस्वभावो रसः। अभिनवभारती भाग १ पृ० १७८ पर किन्हीं प्राचीन अज्ञात आचार्य का कथन।

२. करुणभयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम्। रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयक्षणेन उपपद्यते। अत एव तदुभयजनकत्वम्। बी० राघवन कृत 'नम्बर आफ रसाज' के पृष्ठ १५५ पर रसकलिका (मद्रास-पाण्डुलिपि) के पृष्ठ ५१-५२ से उद्धृत।

स्थान पर रसों को सुखदुःखात्मक कहा है।[1] वामन का कथन है कि करुण रस के नाटकों में सहृदयों को सुख तथा दुःख से मिश्रित अनुभूति होती है।[2] प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी सभी रसों को एक समान आनन्ददायक नहीं माना। उनके अनुसार क्रोधप्रधान रौद्र रस में एवं शोकमूलक करुण रस में रजस् एवं तमस् का मिश्रण बना रहने से विशुद्ध आनन्द की सत्ता नहीं रहती। अतः सभी रसों में समानरूप से सुख का अनुभव नहीं होता।[3]

कुछ रसों को दुःखरूप मान लेने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उनसे दुःख की अनुभूति होती है तो वह इनके प्रति किस कारण प्रवृत्त होगा। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि यथास्थित वस्तु को प्रदर्शित करने वाले कवि या अभिनेता की कार्यकुशलता ही इसमें कारण है। वीरता के अभिमानीजन प्रहार करने में कुशल तथा सिर काट देने वाले शत्रु से भी विस्मित होते हैं। कवि या अभिनेता की कुशलता से उत्पन्न, सभी अंगों को आह्लादित करने वाले चमत्कार से ठगे गये बुद्धिमान् लोग भी दुःखात्मक करुण आदि रसों में चरम आनन्द की रूपता को समझते हैं। इसके स्वाद के लालची होकर दर्शकगण इसके प्रति प्रवृत्त होते हैं। कविगण तो सुखदुःखात्मक संसार के अनुरूप राम आदि के चरित का निबन्ध न करते हुए सुखदुःखात्मक रसों से युक्त काव्य की रचना करते ही हैं। जिस प्रकार पानक का माधुर्य तीखे आस्वाद से और अधिक स्वादिष्ट लगता है, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में होती है। अन्यथा सीता के हरण को, द्रौपदी के केशों को खींचने को, चाण्डाल का दास बनने को, रोहिताश्व के मरने को, लक्ष्मण के शक्ति लगने को, मालती के बध के उपक्रम को, सीता को वन भेजने को तथा इसी प्रकार के नाटकीय दृश्यों को अभिनीत किया जाता हुआ देखने में सहृदयों को कौन से सुख का आस्वादन हो सकता है?[4]

नाट्यदर्पणकार ने तथा अन्य भी कुछ आचार्यों ने, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, रसों के सुखदुःखात्मक होने के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, वह भारतीय काव्यशास्त्रीय समालोचनात्मक जगत् में अधिक प्रचलित नहीं हुआ। अधिकांश आचार्य रसों को दुःखात्मक मानते रहे। आधुनिक भारतीय समालोचकों में कुछ समालोचक ऐसे हुए, जिन्होंने कुछ रसों को दुःखप्रधान प्रतिपादित किया। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका मत है कि करुण रस के प्रसङ्गों की योजना करते समय कवि का उद्देश्य

---

१. रसाः हि सुखदुःखरूपाः। श्रृंगारप्रकाश। द्वितीय भाग पृ० ३९६ (मद्रास-पाण्डुलिपि) से 'नम्बर आफ रसाजः' के पृष्ठ १५५ पर उद्धृत।

२. करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः॥—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.९

३. द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावसम्भवात् सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम् अतो न सर्वेषु तुल्यसुखानुभवः।—भक्तिरसायन, पृ० २२

४. नाट्यदर्पण ३.७ की वृत्ति।

यह होता है कि सहृदय भी करुणा के भाव का अनुभव करें। यदि काव्य के दुःखात्मक प्रसङ्गों में भी सहृदय को सुख की अनुभूति होने लगेगी तो उसकी काव्य-रचना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाएगा। आचार्य शुक्ल का कथन है कि कवि तो काव्य में लौकिक सत्य को ही प्रस्तुत करता है। परन्तु काव्य को पढ़ कर सहृदय मुक्त दशा को प्राप्त करता है। काव्य को पढ़ कर पाठक अपने स्व की संकुचित अवस्था से ऊपर उठकर काव्यगत वस्तु के साथ तदाकारता का अनुभव करता है। यही मुक्ति की दशा है और रस की अनुभूति है। इसमें दुःखात्मक प्रसङ्गों में पाठक निश्चय ही उन भावों का तदनुसार अनुभव करता है।

पाश्चात्य समालोचकों में आई०ए० रिचर्ड्स का अभिमत है कि काव्यगत अनुभूति सुखात्मक भी हो सकती है, दुःखात्मक भी। कवि की कुशलता इसमें ही है कि वह लोकगत अनुभूतियों को काव्य में समाविष्ट कर सके तथा पाठक को उसी प्रकार से अनुभव करा सके।

६. निष्कर्ष—

सभी रसों को सुखात्मक प्रतिपादित करने के पक्ष में जहाँ एक ओर प्रबल युक्तियाँ दी गई हैं, वहीं दूसरी ओर उनको सुखदुःखात्मक प्रतिपादित करने के पक्ष में दी गई युक्तियाँ भी कम सबल नहीं हैं। इस सम्बन्ध में वस्तुतः सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हो सकते हैं। यह तो निश्चय है कि यदि करुण आदि रस सर्वथा दुःखात्मक होते तो सहृदयों की करुण रसप्रधान काव्यों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। उनमें सहृदयों को आकृष्ट करने के गुण अवश्य हैं, जिनसे कि वे इन काव्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) करुण आदि रसों के स्थायी भाव लौकिक अवस्था में दुःखों के कारण हो सकते हैं। काव्यगत रसों के स्थायी भावों के अलौकिक अवस्था में होने के कारण वे दुःखात्मक नहीं होते।

(ख) करुण, भयानक आदि रसों के स्थायी भावों से मनुष्यों को उसी समय तक दुःखात्मक अनुभूति होती है, जब तक कि उनका उनसे संकुचित स्वसम्बन्ध बना रहता है। काव्य में विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाने से संकुचित स्वसम्बन्ध तिरोहित होकर उदात्तता का भाव उत्पन्न होता है। इससे उनकी दुःखरूपता तिरोहित हो जाती है।

(ग) करुण आदि रसों से सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का होना सहृदय की मानसिक अवस्था पर भी निर्भर करता है। अनेक व्यक्ति करुण रस प्रधान काव्यों या नाटकों का श्रवण या प्रेक्षण करने में दुःख का अनुभव करते हुए उनको देखना पसन्द नहीं करते। यदि कुतूहलवश उनको एक बार देख भी लेते हैं। तो पुनः उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होते। परन्तु मानसिक या बौद्धिक दृष्टि से उद्बुद्ध सहृदय करुण रस प्रधान काव्यों में आनन्द की अनुभूति को प्राप्त करते हैं। अभिनवगुप्त ने सहृदय की परिभाषा इस प्रकार की है—

काव्यो के अनुशीलन का अभ्यास करके मनरूपी दर्पण के स्वच्छ हो जाने पर जिन

व्यक्तियों को वर्णनीय वस्तु में तन्मय हो जाने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, हृदय के संवाद को प्राप्त हो जाने वाले वे व्यक्ति सहृदय हैं।[1]

(घ) अभिनेता की कुशलता का भी करुण रस प्रधान काव्यों की रसानुभूति पर प्रभाव पड़ता है। यदि सामाजिक काव्यगत चमत्कार का अनुभव करता है तो वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। कवि की प्रतिभा से लौकिक दुःखोत्पादक विभाव आदि काव्यों में प्रस्तुत किये जाकर अलौकिक होकर चमत्कार उत्पन्न करते हैं। इससे सहृदयों को आनन्द की अनुभूति होती है।

(ङ) साधारणीकरण की प्रक्रिया में यह प्रतिपादित किया गया है कि विभाव आदि द्वारा स्थायी भाव के निष्पन्न हो जाने पर सहृदय को रसानुभूति होती है, उस समय रजस् और तमस् गुणों का तिरोभाव होकर सत्त्वगुण का उद्रेक होता है। रजस् और तमस् गुण ही दुःखात्मक हैं, सत्त्वगुण सुखात्मक ही होता है। अतः रस की अनुभूति सुखात्मक ही है।

(च) लोक में जिन कारणों को दुःखात्मक समझा जाता है, यह आवश्यक नहीं कि वे सभी व्यक्तियों के लिये दुःखात्मक हों। एक तपस्वी योगी पुरुष कठोर द्वन्द्वों में तपस्या करता हुआ आनन्द का अनुभव करता है। इन द्वन्द्वों की ओर साधारण मनुष्य दुःखात्मक मान कर प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार से एक सहृदय व्यक्ति जिसका बौद्धिक स्तर साधारण व्यक्ति से भिन्न है करुण आदि रस-प्रधान काव्यों में भी आनन्द का अनुभव कर सकता है। अनेक समालोचक इस अनुभूति को आत्मपरितोष नाम दे सकते हैं। परन्तु सहृदय के लिये यह वस्तुतः आनन्द का ही अनुभव है।

ऊपर के विवेचन से प्रतिपादित है कि काव्यगत सभी रसों को सुखात्मक मानना ही अधिक योग्य है।

---

१. येषां काव्यानुशीलनवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदय-संवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोक टीका पृ० १३

काव्य-दोष

—डॉ० नीरजा टण्डन
रीडर, हिन्दी विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त-हंस गुन गर्हहिं पय परिहरि बारि बिकार ।।
अस विवेक जब देइ विधाता।
तब तजि दोष गुनहिं मनुराता ।।[1]

वस्तुतः गुणों और दोषों को पहचानने की क्षमता होने पर ही गुणों का ग्रहण और दोषों का परित्याग किया जा सकता है। अन्धकार और प्रकाश-दोनों को जानकर ही अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् और सत् को जानकर ही असत् से सत् की ओर जाने की उपयोगिता समझ में आती है और यह समझ राजहंस में विद्यमान नीर-क्षीर-विवेक के ही सदृश हैं, इसीलिए वास्तव में वही विद्वान् है जो गुण-दोष के व्यामोह से मुक्त होकर गुण-ग्रहण तथा दोष-परित्याग करने में सक्षम है।

साहित्य के क्षेत्र में यह मान्यता सर्वस्वीकृत है कि किसी भी उत्तम काव्य के लिए गुणों की उपस्थिति जितनी अनिवार्य है उतना ही जरूरी है दोषों का परित्याग। काव्य-सौन्दर्य के लिए काव्य से दोषों को बहिष्कृत किया ही जाना चाहिए, क्योंकि वे काव्य के अपकर्षक हैं, विघातक हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में आचार्यों ने काव्यतत्त्वों की चर्चा करते हुए उसकी निर्दोषता पर बहुत सतर्कतापूर्वक विचार किया है। आद्याचार्य भरतमुनि का मानना है कि यदि नाटक में विकृत शब्दों का प्रयोग हो जाय तो नाट्य-शोभा भग्न हो जाती है।[2] भामह की दृष्टि में काव्यरचना करने की अनिवार्यता या बाध्यता किसी को नहीं है क्योंकि काव्यरचना न करने पर न अधर्म होता है न व्याधि; लेकिन यदि रचना की जाय और वह दोषयुक्त हो, तो रचना की अपकीर्ति ही होती है क्योंकि सदोष काव्य साक्षात्

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ६, पृ० ११

२. चेक्रीडितप्रमृतिभिर्विकृतैस्तु शब्दैर्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः कृष्णाजिनाक्षरुरुचर्मधरैः धृताक्तैर्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ।।—नाट्यशास्त्र, १७/२१४

मृत्यु ही है[३] अतः काव्यरचना की निर्दोषता के प्रति कवि को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

आचार्य दण्डी का मन्तव्य है कि जिस प्रकार शरीर की कमनीयता कुष्ठ के एक छोटे से दाग से ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही काव्य भी नाममात्र दोष आने पर नष्ट-सौन्दर्य हो जाता है।[४]

स्पष्ट है कि आचार्यों ने बार-बार कवियों को सावधान किया है कि वे दोषों से बचें। गुण तथा रस की सम्पत्ति से काव्य सम्पन्न होता है तो दोष काव्य को विपन्न बना देते हैं। अतः दोषों की अवस्थिति काव्य में उपेक्षणीय है, त्याज्य है। दोषों का परित्याग तथा गुणों का ग्रहण तभी किया जा सकता है, जब दोषों की पहचान हो जाय—

तेहिं ते कछु गुन-दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहचाने॥[५]

दोष-स्वरूप—

सामान्यतः काव्यत्व के विघातक तत्त्वों को दोष कहा जाता है। संस्कृत के आरम्भिक काव्यशास्त्री गुण-विपर्यय को दोष की संज्ञा देते हैं। आद्याचार्य भरतमुनि ने काव्य-दोष विषयक लक्षण नहीं दिया है किन्तु नाट्य-दोषों का विवरण देते हुए दोष-विपर्यय रूप में गुणों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि विद्वानों को नाटक में इन दोषों को जानना चाहिए।[६] गुण काव्य के उत्कर्ष प्रयोजक हैं, काव्य को उसी प्रकार विभूषित करने वाले हैं जैसे राजहंस पद्माकर को विभूषित करते हैं।[७] आचार्य की गुण विषयक इस धारणा के

---

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥—काव्यालङ्कार, १/११-१२

४. गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ताः पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥—काव्यादर्श, १/६-७

५. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १०

६. एते दोषा विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्त्तिताः॥—नाट्यशास्त्र, पृ० २११

७. शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिनेयान्,
नाट्याश्रयान् कृतिषु प्रयतेत कर्तुम्।
तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः,
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः॥—नाट्यशास्त्र, पृ० ११३

आधार पर उनकी दोष विषयक मान्यता यह हो सकती है—काव्य दोष काव्य के अपकर्षक हैं, काव्य सौन्दर्य को नष्ट करने वाले हैं।

आचार्य भामह ने भी काव्यदोषों का सामान्य लक्षण नहीं दिया है, परन्तु अनेकत्र दोषों को काव्य-विरोधी बताया है।[८]

आचार्य दण्डी का मानना है कि कवियों को काव्यमर्मज्ञ होना चाहिए और उसके गुण-दोषों को भलीभाँति जानना चाहिए क्योंकि जहाँ काव्य के गुण उसकी समृद्धि के कारण होते हैं, वहीं दोष उसकी विफलता के—

'काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः।
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये तथा ॥'[९]

अग्निपुराणकार काव्यानन्द में उद्वेगजनक तत्त्व को दोष[१०] कहते हैं और वामन की दृष्टि में दोष गुणों के विपर्यस्त[११] हैं।

काव्यदोष विषयक ये मान्यताएँ काव्य के बाह्य तत्त्वों—शब्द, अर्थ, छन्द आदि से ही सम्बद्ध हैं। ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पूर्व आचार्यों की दृष्टि काव्य के स्थूल और बाह्य पक्ष तक सीमित थी, ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के साथ-साथ रस ध्वनि को प्रतिष्ठा मिली और काव्य के आन्तरिक पक्ष पर विचार आरम्भ हुआ। काव्यदोषों के प्रसंग में यह स्थापना हुई कि वे तत्त्व—जो रसास्वादन में बाधक हैं, रस के अपकर्षक हैं—दोष कहलाते हैं।

ध्वनि सिद्धान्त के स्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के अपकर्ष-कारक तत्त्वों की चर्चा करते हुए दोषों को नित्यानित्य रूपों में विभक्त किया है। काव्य के नित्य दोष रसापकर्षक होते हैं और अनित्य श्रुतिदुष्टादि दोष[१२] श्रृंगारप्रधान काव्य में हेय होते हैं, अन्यत्र वे दोषावह नहीं होते। रस परिपाक में वैपरीत्योपस्थापक भाव दोष हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य-दोषों का कारण है अनौचित्य क्योंकि औचित्य का अभाव रसभङ्ग का एकमात्र कारण है।[१३] फलतः आनन्दवर्धन की दृष्टि से दोषों का सामान्य लक्षण है—वे तत्त्व, जो रसापकर्षक हैं, दोष कहलाते हैं।

---

८. (क) पदमेकं परं साधु नार्वाचीननिबन्धनम्।
वैपरीत्याद् विपर्यासं कीर्त्तेरपि करोति तत् ॥
(ख) ......न प्रयोज्यम् कथञ्चन्।
(ग) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।—काव्यालंकार, पृ० १३९, २३, ६

९. काव्यादर्श, ४/१

१०. उद्वेगजनको दोषः।—अग्निपुराण

११. गुण विपर्यासात्मानो दोषाः।—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, २/१.१

१२. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥—ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, ११

१३. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० १९०

आनन्दवर्धनाचार्य की अवधारणाओं से प्रभावित आचार्य मम्मट ने दोष विषयक सुसङ्गत लक्षण प्रस्तुत किया—

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।।'[१४]

मुख्यार्थापकर्षक को दोष कहते हैं। काव्य का मुख्य अर्थ रस है। रसाश्रित होने से वाच्यार्थ भी मुख्य हो जाता है। रस और वाच्यार्थ के हेतु शब्दार्थ होते हैं अतः दोष शब्दगत भी होते हैं अर्थगत भी।

मम्मटाचार्य ने पूर्ववर्ती वामनादि की भाँति गुणाभाव रूप में दोषों का वर्णन नहीं किया है अपितु आनन्दवर्धनाचार्य की भाँति रसानुभूति में बाधक तत्त्वों को दोष संज्ञा दी है। निष्कर्षतः रस के अपकर्षकारक तत्त्व दोष हैं।

आचार्य मम्मट के टीकाकार वामनाचार्य ने मम्मट के मन्तव्य को और भी स्पष्टतः कहा—'जो तत्त्व काव्य की उद्देश्यप्रतीति में बाधक होते हैं, उन्हें दोष कहते हैं।[१५]

आचार्य विश्वनाथ भी रसापकर्षक तत्त्वों को दोष कहते हैं।[१६]

काव्यदोष विषयक इन मान्यताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में दो रूपों में काव्यदोषों का स्वरूप निरूपित किया गया। प्रथमतः आचार्यों ने गुण-विपर्यय को दोष कहा और बाद के आनन्दवर्धन तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने काव्यदोषों का लक्षण प्रस्तुत किया कि—रसापकर्षक तत्त्व दोष हैं।

वस्तुतः काव्य में काव्यत्व का जन्म रस द्वारा ही होता है अतः रस ही काव्य में मुख्य वस्तु है। यदि 'रस' में या रसानुभूति में व्याघात उपस्थित हो जाय तो रस भंग हो जाता है और रसभंग होते ही काव्य की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि आचार्य रसदोषों से बचने के लिए विशेषतः सतर्क रहने के लिए कहते हैं।

हिन्दी के आचार्यों ने काव्यदोषों के सन्दर्भ में मम्मटाचार्यादि के ही मतों को प्रस्तुत किया है। आचार्य केशव का मानना है कि—काव्यदोषों से उसी प्रकार बचना चाहिए जैसे कृतघ्न प्रभु से—

'प्रभु न कृतघनी सेइए, दूषण सहित कवित्त'[१७]

चिन्तामणि शब्द और रस के विघातक तत्त्वों को दोष कहते हैं—

शब्द अर्थ रस को जु ईत देखि परैं अपकर्ष।
दीन कहत हैं ताहि कौ सुने घटतु है हर्ष ।।[१८]

---

१४. काव्यप्रकाश, ७/४९
१५. दोषत्वं च ह्युद्देश्यप्रतीतिबन्धकत्वम्।
—शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, गोविन्दत्रिगुणायत, पृ० १८९ से उद्धृत
१६. रसापकर्षका दोषाः।—साहित्यदर्पण, ७/१
१७. कविप्रिया।—(काव्यशास्त्र सिद्धान्त, डॉ० राजकिशोरसिंह, पृ० ५४ से उद्धृत)
१८. कविकल्पतरु।—(काव्यशास्त्र सिद्धान्त)

इसी प्रकार कुलपति मिश्र[१९], भिखारीदास[२०], प्रतापसाहि[२१] आदि आचार्य भी रसापकर्षक तत्त्वों को दोष कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी के आचार्यों की रसदोष विषयक मान्यता संस्कृताचार्यों की मान्यताओं की पिष्टपेषण मात्र है, उसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है।

दोष-भेद—

काव्य दोषों के भेदों के सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है। आचार्य भरतमुनि ने दस काव्यदोषों की चर्चा की है—

'अगूढ़मर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥'[२१]

१. अगूढ़, २. अर्थान्तर, ३. अर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ५. एकार्थ, ६. अभिप्लुतार्थ, ७. न्यायापेत, ८. विषम, ९. विसन्धि तथा १०. शब्दच्युत—ये दश काव्य दोष हैं।

पर्यायशब्दों के द्वारा जो कथन होता है, अर्थात् जहाँ बात को घुमा फिरा कर कहा जाय, वहाँ गूढ़ार्थ या अगूढ़ दोष होता है। अवर्णनीय का वर्णन करने पर अर्थान्तर, असंवद्ध अर्थ का प्रयोग होने पर अर्थहीन, अभीष्ट अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ प्रयुक्त होने पर भिन्नार्थ, अर्थभेद या अर्थसाम्य की उपेक्षा करके एक अर्थ का कथन होने पर एकार्थ दोष होता है। जहाँ वाक्यार्थ संक्षेपतः पूर्ण किया जाय, वहाँ अभिलुप्तार्थ, प्रमाण रहित रचना होने पर न्यायादपेत, छन्ददोष होने पर विषम, सन्धिहीन शब्दों का प्रयोग करने पर विसन्धि तथा अशब्दयोजना होने पर शब्दच्युत दोष होता है।[२२]

प्राचीन आलंकारिकों में आचार्य भामह ने दोष विषयक चर्चा सर्वाधिक विस्तार से की है। सारे काव्यालङ्कार का लगभग आधा (३९९ कारिकाओं में से १७० कारिकाएँ) दोष-निरूपण-परक है किन्तु इसके बावजूद दोष संख्या का स्पष्ट उल्लेख भामह ने नहीं किया है। सामान्यतः उनके द्वारा वर्णित दोषों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. सामान्य

---

१९. शब्द अर्थ में प्रकट ह्वै रस समुझन नहिं देय।
सो दूषण तन मन विथा जो जिय को हरि लेय॥
—रस रहस्य (काव्यशास्त्रसिद्धान्त पृ० ५४)

२०. दोष शब्द हूँ, वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होय।
तेहि तजि कविताई करैं, सज्जन सुमती सोय॥
—काव्यनिर्णय (का०शा०सि०, पृ० ५४)

२१. अर्थ बोध के मुख्य में, घात करत जो होई।
ताको दूषण कहत हैं, शब्द अर्थ रस सोई॥
—काव्यविलास (का०शा०सि०, पृ० ५४)

२१. नाट्यशास्त्र, १७/८८

२२. वही, १७/८९-९५

दोष, २. वाणी दोष, तथा ३. अन्य दोष। सामान्य दोष हैं—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् तथा गूढार्थशब्दाभिधान।[२३] वाणी दोष हैं—श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट[२४] अन्य दोषों के अन्तर्गत-अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम-शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी, प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांतहीन[२५] दोष आते हैं।

इन दोषों के अतिरिक्त वैदर्भी, गौड़ी रीतियों के प्रसंग में—अपुष्टार्थता, वक्रोक्ति-हीनता, ग्राम्यता, आकुलता[२६] नामक दोषों की चर्चा आचार्य ने की है तथा अहृद्यता असुनिर्भेदता, अपेशलता[२७] विरुद्धपद, अस्वर्थ, वहुपूरण, व्यायता[२८] आदि दोषों का उल्लेख भी आचार्य ने किया है।

दण्डी स्वीकृत दोष दश हैं—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि तथा देशकालादि विरोध।[२९]

आचार्य भरतमुनि ने दोषों का कोई वर्गीकरण नहीं किया है; भामह, दण्डी इत्यादि ने भी दोषों को स्पष्टतः वर्गीकृत नहीं किया है। सबसे पहले आचार्य वामन ने काव्य दोषों को निम्नलिखित चारवर्गों में विभाजित किया है—

१. पदगत दोष—

असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत, अनर्थक।

२. पदार्थगत दोष—

अत्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ, अश्लील, क्लिष्ट।

३. वाक्य दोष—

भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट, विसन्धि।

४. वाक्यार्थ दोष—

व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध।

---

२३. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढ़शब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते॥ —काव्यालङ्कार, १/३७

२४. श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥ —काव्यालङ्कार, १/४७

२५. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतु दृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते॥ —काव्यालङ्कार, ४/१-२

२६. काव्यालङ्कार, २/३४-३५

२७. वही, ५/६२

२८. वही, ५/६७

२९. काव्यादर्श; ३/१२५-२६

आचार्य वामन तक आचार्यों ने रस दोषों की चर्चा नहीं की है। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम विरस[३०] नामक अर्थदोष का वर्णन करके रसदोषों का स्मरण किया है। उन्होंने काव्यदोषों को पद, वाक्य, अर्थ और पदवाक्योभय रूप से चार भागों में बाँटा है—

१. पद दोष	२. वाक्यदोष	३. अर्थदोष	पद-वाक्योभय
(क) असमर्थ	(क) संकीर्ण	(क) अपहेतु	(क) न्यूनपदता
(ख) अप्रतीत	(ख) गर्भित	(ख) अप्रतीत	(ख) अधिकपदता
(ग) विसन्धि	(ग) गतार्थं	(ग) निरागम	(ग) अवाचकता
(घ) विपरीतकल्पना	(घ) अनलङ्कार	(घ) बाधवत्	(घ) अपक्रमता
(ङ) ग्राम्यता		(ङ) असम्बद्ध	(ङ) अपुष्टार्थता
(च) देश्य		(च) ग्राम्य	(च) अचारुपदता
		(छ) विरस	
		(ज) तद्वान्	
		(झ) अतिमात्र	

रुद्रट का दोष विषयक वर्गीकरण वामन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। रुद्रट के उपरांत भोज ने वर्गीकरण पर और अधिक प्रकाश डाला। उन्होंने दोषों के तीन वर्ग किए—

(१) पददोष—

असाधु, अप्रयुक्त, कष्ट, अनर्थक, अन्यार्थक, अपुष्टार्थ, असमर्थ, अप्रतीत, क्लिष्ट, गूढ, नेयार्थ, संदिग्ध, विरुद्ध, अप्रयोजक, देश्य और ग्राम्य।

(२) वाक्यदोष—

अपद, अरीतिमत्, अशरीर, भग्नयति, भग्नच्छंद, अधिकोपम, न्यूनोपम, भिन्नवचन, भिन्नलिंग, वाक्यगर्भित, संकीर्ण, व्याकीर्ण, पुनरुक्तिमत्, विसंधि, क्रमभ्रष्ट, शब्दहीन।

(३) वाक्यार्थदोष—

विरुद्ध, अश्लील, निरलङ्कार, अप्रसिद्धोपम, असदृशोपम, अधिकोपम, हीनोपम, विरस, परुष, अतिमात्र, खिन्न, अपक्रम, ससंशय, एकार्थ, व्यय, और, अपार्थ।

दोष संख्या विषयक आचार्य मम्मट का विवेचन सर्वाधिक सङ्गत और मान्य है। उन्होंने काव्य की आत्मा रस के साक्षात् या परम्परया अपकारक प्रत्येक तत्त्व उल्लेख किया है। उनके अनुसार दोषों के तीन वर्ग हैं—

१. शब्ददोष, २. अर्थदोष तथा ३. रसदोष। शब्ददोषों के अन्तर्गत पददोष, पदांशदोष तथा वाक्यदोष आते हैं और इस तरह मम्मट की दृष्टि में दोष के पांच वर्ग ठहरते हैं—

(१) पददोष—

श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक,

---

३०. काव्यालङ्कार; पृ० ३४३-४४

अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमतिकृत ।

(२) पदांशदोष—

श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, नेयार्थ, व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गलदायी ।

(३) वाक्यदोष—

प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसंधि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनराप्त, अर्थान्तरैकवाचक, अभवन्तयोग, अनभिहितवाच्य, अस्थानस्थपद, अस्थानस्थसमान, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धहत, भग्नप्रक्रम, अमतपरार्थ, अक्रम, ।

(४) अर्थदोष—

अपुष्ट, कष्ट, व्याहृत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशितविरुद्ध, विरुद्धयुक्त, अनुवादयुक्त, त्यक्तपुनःस्वीकृत, अश्लील ।

(५) रसदोष—

व्यभिचारीभाव, रस तथा स्थायीभावों का स्वशब्द द्वारा कथन; अनुभाव, विभाव की कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति, प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, पुनः पुनः दीप्ति, अनवसर का विस्तार, रस का अनवरत विच्छेद, अंग या अप्रधान का विस्तार, अंगी की उपेक्षा, प्रकृति का विपर्यय, अनंग का वर्णन ।

मम्मट का दोषविषयक यह वर्गीकरण सर्वपरितोषकारक है, वैज्ञानिक है, निर्दोष है, इसीलिए उनके परवर्ती काव्यशास्त्री आचार्यों पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा है और उन्होंने मम्मट से प्रेरणा प्राप्त करके काव्यदोष विषयक विवेचन किया है। आचार्य मम्मट ने न केवल सर्वाधिक दोषों का विवेचन किया है अपितु अन्वय-व्यतिरेक तुला के आधार पर दोषों का वैज्ञानिक विवेचन किया है। पदांशगत दोषों की चर्चा सर्वप्रथम मम्मट ने ही की है तथा रस दोषों का भी स्पष्टतः परिचय दिया है। दोषविषयक पाँच वर्गों के अतिरिक्त मम्मट ने दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था के विषय में भी विवेचन किया है और सफलतापूर्वक दोष परिहारक-तत्त्वों का भी निरूपण किया है।

मम्मट परवर्ती आचार्यों ने दोषभेद के संदर्भ में मम्मट का ही अनुसरण किया है। आचार्य विश्वनाथ ने—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत तथा रसगत—पाँच प्रकार के दोषों की चर्चा की है। इसी प्रकार हिन्दी आचार्यों ने अधिकांशतः दोषों के तीन भेद—शब्दगत, अर्थगत तथा रसगत-स्वीकार किये हैं। कतिपय आचार्यों ने-शब्दगत, अर्थगत, वाक्यगत तथा रसगत-चार प्रकार के दोषों का वर्णन किया है—

दोष शब्द हूँ, वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होइ।
तेहि तजि कविताई करै सज्जन सुमति जोइ ॥[31]

निष्कर्षतः मम्मटाचार्य द्वारा दी गई दोषविषयक सामग्री काव्य-दोषों के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त है।

दोष-परिहार—

'गगन चढ़ई रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलई नीच जल संगा ॥
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी ॥
धूम कुसगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मञ्जु मसि सोई ॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता ॥[32]

—धूल वायु का सान्निध्य प्राप्त करके आकाश पर चढ़ जाती है और वही धूल जल के साथ कीचड़ में मिल जाती है। तोता-मैना इत्यादि साधुजनों के घर में राम नाम का स्मरण करते हैं लेकिन असाधुओं के घर में गिन-गिन कर गाली देते हैं। कुसंगति के कारण धुँआ कालिख कहलाता है, स्याही बनने पर पुराणादि लिखने के काम आता है और वही धुँआ जल, अग्नि और वायु के संग से बादल होकर संसार को जीवन देने वाला बन जाता है।

काव्य दोषों के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि दोष प्रसङ्ग आदि की अनुकूलता होने पर गुण बन जाते हैं और गुण उचित माध्यम न मिलने पर दोष युक्त हो जाते हैं। इसीलिए आचार्यों का मानना है कि काव्य में दोष सदा दोष नहीं रहते परिस्थिति-वश गुण या दूषकता शून्य हो जाते हैं। आचार्य भामह का मानना है कि जिस प्रकार किसी रमणी के सुन्दर नेत्र में लगा हुआ अञ्जन काला होने पर भी अपने अधिकरण की रमणीयता के कारण मनोज्ञ बन जाता है, उसी प्रकार काव्य के दोष भी कहीं-कहीं अपने आश्रय की सुन्दरता से सुन्दर बन जाते हैं।[33] फूलों की माला के बीच में कौशलपूर्वक गूंथा गया पत्ता सन्निवेश की विशेषता के कारण शोभित हो जाता है ऐसे ही सन्निवेश की विशेषता के कारण सदोष अभिव्यञ्जना भी सुन्दर बन जाती है।[34] भामह का मानना है कि दुरुक्त आदि दोष विशेष स्थिति में काव्य के शोभादायक हो जाते हैं तथा भय, शोक, ईर्ष्या, हर्ष-विस्मय आदि के प्रसङ्ग में पुनरुक्त दोष-दोष नहीं माना जाता।[35]

---

३१. भिखारीदास; काव्यनिर्णय
३२. रामचरितमानस; बालकाण्ड, पृ० १२
३३. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥—काव्यालङ्कार, १/५५
३४. सन्निवेशविशेषस्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥—काव्यालङ्कार १/५४
३५. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥—वही, ४/१४

दण्डी विशेष स्थिति में काव्यदोषों का गुणत्व स्वीकार करते हैं[36] उनका मानना है कि कविकौशल द्वारा देशकालादिविरोधदोष गुण की गणना में आ जाता है । रुद्रट की भी यही मान्यता है कि विशेष स्थल पर दोषों की साधुता दृष्टिगोचर होती है—

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन् ।
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतश्लिष्टवर्णं च ।।[37]

ध्वनिवादी आचार्यों ने दोष परिहारक परिस्थितियों का चित्रण करने के लिए दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था की है । इन आचार्यों का मानना है कि कुछ दोष ऐसे होते हैं जो सदैव दोष रहते हैं, ये काव्य के नित्य दोष हैं तथा कवि को इनसे बचना चाहिए । उदाहरणतः च्युत संस्कृति नामक दोष । व्याकरण के संस्कार से हीन अर्थात् व्याकरण के नियमों के अनुकूल पद च्युतसंस्कृति दोष कहलाता है और यह दोष सदा रस के अपकर्षक होते हैं इसी से सदा दोष माने जाते हैं । इसी प्रकार असमर्थ, अनुचितार्थ, अवाचक, नेयार्थ, आदि दोष भी नित्य दोष हैं ।

कुछ दोष ऐसे हैं जो विशेष परिस्थिति में दोषत्व को छोड़कर गुणरूप बन जाते हैं, ये दोष अनित्य दोष कहलाते हैं । प्रसङ्गादि की अनुकूलता होने पर दोष काव्यापकर्षकारी न रह कर गुण बन जाते हैं । उदाहरणतः किसी वाक्य में प्रयुक्त पद सार्थक होने पर भी परस्पर असम्बद्ध हो, वहाँ अपार्थ नामक दोष होता है किन्तु यदि पागल, मदमत्त या बालकों या अस्वस्थचित्त वाले व्यक्तियों के द्वारा ऐसे परस्पर असम्बद्ध वाक्य बोले जाय तो वे दोष नहीं रह जाते हैं—

'समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते ।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ।।'[38]

इसी प्रकार श्रुतिकटु इत्यादि दोष भी अनित्य दोष हैं । श्रृंगारादि रसों में श्रुतिदुष्ट आदि दोष श्रृंगार रस की मधुरता, कोमलता को नष्ट कर देते हैं ।[39] परन्तु ये ही दोष वीर, वीभत्स या रौद्र रस में प्रयुक्त होने पर ओजो गुण के अभिव्यञ्जक होने से गुण बन जाते हैं ।

जहाँ किसी बात का कारण प्रसिद्ध हो वहाँ उसका अकथन निर्हेतु दोष नहीं होता । जैसे—'कमलों का उपभोग करते हुए चन्द्रिका का आनन्द नहीं लिया जा सकता और चन्द्रिका-पान करते हुए कमलों की सुरभि नहीं पाई जा सकती[40] इस वाक्य में चन्द्रमा और

---

३६. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथी विगाहते ।।—काव्यादर्श, ३/१७९

३७. काव्यालङ्कार, ६/४७

३८. काव्यादर्श, ३/१२८

३९. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ।।—ध्वन्यालोक, २/३४

४०. साहित्यानुशीलन, डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी एवं डॉ० राकेशगुप्त, पृ० ३४१

कमल का उपभोग साथ-साथ क्यों नहीं किया जा सकता—इसकी वजह का उल्लेख नहीं है परन्तु यह बात प्रसिद्ध है कि चांदनी में कमल नहीं खिलते, अतः यहाँ दोष नहीं है।

साहित्य में पुनरुक्ति दोष है किन्तु यदि पद की या अर्थ की आवृत्ति चमत्कार जनक हो वहाँ पुनरुक्ति दोष न रहकर, पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार हो जाता है।

आचार्यों का मानना है कि जहाँ अनुकरण होता है, वहाँ सभी दोषों की अदोषता होती है।[४१]

पात्रानुकूलता तथा रसानुकूलता होने पर दोष कहीं गुण बन जाते हैं और कहीं न गुण रहते हैं न दोष।[४२] जैसे वैयाकरण—जो व्याकरण के नियमों का ज्ञाता है—यदि रौद्रादि रसों में श्रुतिकटु शब्दों का प्रयोग करता है तो वहाँ दोष दोष न रहकर गुण बन जाता है। ग्राम्यादि दोष वक्ता-बोधव्य आदि के वैशिष्ट्य के कारण गुण बन जाते हैं तथा न्यूनपद या अधिकपद या गर्भित आदि दोष कहीं गुण बन जाते हैं और कहीं न गुण रहते हैं न दोष।

दोषविषयक ये मान्यताएँ मुख्यतः काव्योत्कृष्टता प्रकट करने के लिए स्थापित की गई हैं जहाँ काव्य का उत्कर्ष दृष्टिगोचर हो, वहाँ गुण होते हैं और जहाँ काव्यत्व की हानि हो वहाँ दोष होते हैं।

यहाँ भोज की दोषगुण विषयक अवधारणा का उल्लेख भी समीचीन है। भोज ने भामह की ही भाँति यह स्वीकार किया है कि सन्निवेश[४३] तथा आश्रय[४४] दोष परिहार के कारण हैं। परिस्थिति वश दोषों की अदोषता सिद्ध हो जाती है। ये दोष हैं—अप्रयुक्त, कष्ट, अनर्थक, अन्यार्थ, अपुष्टार्थ, असमर्थ, अप्रतीत, क्लिष्टत्व, गूढार्थ, नेयार्थ, सन्दिग्ध, विपरीतकल्पना, अप्रयोजक, देश्य, ग्राम्य, शब्दहीन, क्रमभंग, विसन्धि, पुनरुक्ति, व्याकीर्ण, संकीर्ण, वाक्यगर्भित भिन्नलिङ्ग, भिन्नवचन, अधिकोपम, भग्नच्छन्द, भग्नयति, अशरीर, शिथिलवैषम्य, कठोर, अप्रसाद, अनलङ्कार, अपार्थ, गतार्थ, एकार्थ, खिन्न, अतिमात्र, परुष, विरस तथा अश्लील।

---

४१. (क) काव्यालङ्कार, ६/४७, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ८७
(ख) अनुकरणे तु सर्वेषाम्—काव्यप्रकाश, ७/सूत्र ७९. ३४५

४२. वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ।
— काव्यप्रकाश, ७/कारिका, ८०

४३. सन्निवेशविशेषास्तु (किञ्चिद्) विरुद्धमपि शोभते।
नीलपलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १०३

४४. किञ्चिदाश्रयसम्बन्धाद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥—वही, पृ० १०२

आचार्य भोज का मानना है कि काव्यदोष ही वक्ता आदि के औचित्य से जब गुण बन जाते हैं तो वे वैशेषिक गुण या दोषगुण संज्ञा से अभिहित होते हैं।[४५]

स्पष्टतः भोज की दृष्टि में काव्य-दोषों का गुणत्व औचित्य के कारण सम्भव होता है।

कुल मिलाकर आचार्यों की दोषों के विषय में नित्यानित्यत्व की अवधारणा या वैशेषिक गुण की चर्चा दोष-परिहारक परिस्थितियों का चित्रण करती है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी एकमत से यह बात स्वीकार की है कि वक्ता आदि के औचित्य से दोष भी गुण बन जाते हैं[४६] हिन्दी आचार्यों का दोष परिहार विषयक मन्तव्य संस्कृताचार्यों के मन्तव्यों का पिष्टपेषण मात्र है, अतः विस्तारपूर्वक उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है।

निष्कर्षतः काव्यदोष की कालिमा काव्यपुरुष की अप्रतिष्ठा का कारण बन जाती है। अत्यन्त सुन्दर, सरल, सरस काव्य भी एक छोटी सी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि मात्र से सारी सुन्दरता को कुरूपता में, सरसता को नीरसता में परिणत कर देता है अतः दोषों से बचना कवि तथा लेखक का परम धर्म है। इसीलिए मम्मटादि आचार्य काव्य स्वरूप को परिभाषित करते हुए ऐसे शब्दार्थ को काव्य की संज्ञा देते हैं, जो गुणों से युक्त और दोषों से सर्वथा रहित हो।[४७] लेकिन संसार में कोई भी वस्तु सर्वथा निर्दुष्ट नहीं होती, इसलिए आचार्यों को यह स्वीकार करना पड़ता है कि अदोषों से तात्पर्य है 'काव्य को ऐसे दोषों से रहित होना चाहिए जो काव्यत्व के विघातक हैं।' जो दोष काव्यत्व की हानि नहीं करते अपितु प्रसङ्गवशात् रसानुकूल हो जाते हैं, वे तो दोष ही नहीं रह जाते। वे दोष तो गुणत्व युक्त हो जाते हैं। वस्तुतः काव्य दोषों की तीन अवस्थाएँ होती हैं। सामान्य स्थिति में दोष रसापकर्षक हैं यानी दोष हैं, विशेष स्थिति में काव्य के सौन्दर्य का आधान करने

---

४५. वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।—वही, पृ० ४९

४६. (क) वक्तादिक औचित्य ते दोषो गुण ह्वै जाई।
—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, पृ० ७९

(ख) होत नहीं अनुकरण में दूषन सबै विचार।
वक्तादिक औचित्य तें दोषै गुन निरधार॥
कहुँ न गुन नहिं दोष है, नीरस में यह जान।
करुणादिक अवतंस जे, ते सहितार्थ प्रमान॥
—कुमारमणि, रसिक रसाल, पृ० ११६-११७

(ग) कहुँ, सब्दालंकार, कहुँ छन्द, कहुँ तुक हेत।
कहुँ प्रकरन-बस दोष हू, गँने अदोष सचेत।
कहुँ अदोषौ होत, कहुँ दोष होत गुनै-खान॥—भिखारीदास, काव्यनिर्णय

४७. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश, १/कारिका-४

वाले गुण बन जाते हैं और कहीं पर वे न दोष रहते हैं, न गुण। इन दोषों की सम्यक् जानकारी किसी भी काव्य के रचयिता को होनी चाहिए ताकि वह काव्य-रचना करते समय यथा सम्भव दोष प्रयोग से बचे। यदि दोष प्रयोग प्रसङ्ग के कारण उसे करना ही पड़े तो उनके दोषत्व को गुणत्व में परिवर्तित करके प्रयुक्त करे। कवि को चाहिए कि वह कौन सा शब्द ग्रहण करे, कौन सा त्याग दे, किस शब्द के प्रयोग से रचना में चमत्कार उत्पन्न हो सकता है या कौन सा शब्द सौन्दर्य का प्रतीक बन सकता हैं तथा कौन सा शब्द काव्य सौन्दर्य का अपघात कर सकता है—यह सब जानकारी प्राप्त करके सावधान बुद्धि से काव्य में शब्दों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार करे जैसे माली फूलों की अच्छी तरह पहचान करके उन्हें माला में गूंथता है—

'एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं।
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानस्यैतदस्य ॥
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां।
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥'[४८]

---

४८. काव्यालंकार, भामह, १/५९

काव्यगुण

—डॉ० नीरजा टण्डन
रीडर, हिन्दी विभाग,
कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुणों पर विचार तभी से आरम्भ हो गया था, जब से काव्यशास्त्रीय चिन्तन की शुरूआत हुई। प्राचीनकाल में काव्यस्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिए काव्य-पुरुष की कल्पना की गई। इस काव्य-पुरुष का शरीर शब्दार्थ, आत्मा-रस, शौर्यादि गुण, काणत्व, अन्धत्व आदि दोष, अवयव संस्थान रीति तथा कंकण-कुण्डल आदि अलङ्कार माने गए[1] और गुणों को काव्य की आत्मा के धर्म के रूप में व्याख्यात किया गया।

सामान्यत: गुण का अर्थ है—विशेषता, श्रेष्ठता, दोषाभाव, उत्तमता, स्वभाव, आकर्षक अथवा शोभाकारक धर्म। काव्यशास्त्र में दोषाभाव तथा काव्यशोभाकारक धर्म के रूप में गुणों को व्याख्यात किया गया है। यों काव्यगुणों के विवेचन का आरम्भ काव्यदोषों के अभावात्मक रूप में ही हुआ था। आचार्य भरतमुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में काव्यदोषों का वर्णन करने के उपरान्त काव्यदोषों के विपर्यय—माधुर्य, औदार्य आदि काव्यगुणों का उल्लेख किया है—

'एते दोषाहि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
(एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः)
गुण विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्य-लक्षणाः।'[2]

भरतमुनि के परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भरतमुनि के द्वारा प्रयुक्त 'विपर्यय' शब्द के अलग-अलग अर्थ किये हैं। कुछ आचार्यों ने विपर्यय का अर्थ अभाव, कुछ ने अन्यथा-भाव तथा कुछ ने वैपरीत्य किया है। लेकिन गुणों को दोषाभाव या दोषविपर्यय मात्र मानना समीचीन नहीं लगता क्योंकि गुणों और दोषों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। वे एक दूसरे के विपर्यय रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। कुरूपता का विपर्यस्त सौन्दर्य या अगूढ़

१. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटक कुण्डलादिवत्।
—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

२. नाट्यशास्त्र, १६/९५

दोष का विपर्यस्त श्लेष गुण मानना कठिन है। यह भी आवश्यक नहीं है कि दोषों का अभाव ही गुण हो, कुछ गुण भावात्मक सौन्दर्य रखते हैं। गुणों को परिभाषित करते हुए भरतमुनि ने भी दोषाभाव का उल्लेख कहीं नहीं किया है और भरतमुनि के परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने सभी गुणों को दोषविपर्ययात्मक न मानकर केवल माधुर्य और औदार्य में दोषों का अभाव माना।[3] यही नहीं, आगे चलकर आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्यगुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की और दोषाभावात्मक गुणों की पृथक् सत्ता का निषेध कर दिया।[4] अतः यह कहा जा सकता है कि गुण दोष विपर्यय या दोषाभाव नहीं हैं। दोष तो काव्य के विघातक हैं जबकि गुण काव्य के विशिष्ट धर्म हैं, अनिवार्य-धर्म हैं : काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान के रूप में काव्यगुणों को आचार्यों ने स्वीकार किया है। दण्डी की दृष्टि में अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं और गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण या शोभाकारक धर्म।[5] दण्डी एक तरह से गुणों को अलंकार ही कहते हैं। काव्य के शोभाकारक धर्म के रूपमें अलंकारों की चर्चा करते हुए दण्डी उपमा, रूपक आदि को साधारण अलंकारों के अतिरिक्त काव्य के अन्य सभी सौन्दर्यकारक तत्वों को भी अलंकार ही कहते हैं।

रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन विशिष्ट-पद-रचना को भले ही काव्य का प्राण मानते हैं, पर उसके लिए गुण-सम्पन्नता को आवश्यक मानते हुए गुणों को काव्यशोभाकारक धर्म कहते हैं।

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मागुणाः।[6]

लेकिन आचार्य दण्डी की तरह वामन गुणों को अलंकार संज्ञा नहीं देते बल्कि गुणों और अलंकारों को पृथक् करते हुए अलंकारों को काव्य का अनित्य धर्म तथा गुणों को

---

३. अथ गुणेषु प्रतिजानीते—एषां विपर्ययाद्गुणा भवन्ति, एतद्दोषविघात एव गुणो भवतीत्यर्थः। किमविशेषेण नेत्याह माधुर्यौदार्यलक्षणमङ्को येषाम्। एतदुक्तं भवति-एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलङ्कारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगाव्यभिचारीत्युक्तम्।—अभिनवभारती, ६/पृ० ३३३-३३४

४. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषात्यागात् परे श्रियः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥—काव्यप्रकाश, ८/७२

५. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
× × × —काव्यादर्श, २.१
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ॥—काव्यादर्श, १/४१-४२

६. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३/१/१

काव्य का नित्य धर्म मानते हैं। उनकी दृष्टि में गुण काव्यशोभा को करने वाले उत्पादक धर्म हैं, जबकि अलंकार काव्यशोभा को बढ़ाने वाले हैं अतः अलंकार के बिना काम चल जाएगा किन्तु गुणों के अभाव में काव्य में शोभाधान नहीं हो सकता।[७]

वामन ने गुणों को रस का धर्म नहीं, शब्दार्थ का धर्म मानते हुए काव्य में उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की। यही नहीं, वे गुणों को रसाश्रित नहीं मानते, रस को ही कान्ति-गुण का अंग मानते हैं (दीप्तरसत्वं कान्तिः—का०सू०वृ० ३/२/१५)। इसके विपरीत आचार्य आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रस का धर्म या काव्य के प्राणभूत तत्त्व रस के आश्रित रूप में स्वीकार करते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।[८]

ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में गुणों की स्थिति रस में है। रस काव्य की आत्मा है और रस के अपरिहार्य तथा उत्कर्षाधायक धर्म हैं गुण—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[९]

स्पष्ट है कि ध्वनिवादियों ने गुणों के अर्थ में आमूल परिवर्तन करके वामन तथा दण्डी आदि आचार्यों की तरह गुणों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना। अपितु प्रधानभूत रस के आश्रित माना। आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन आचार्य की मान्यता को और भी स्पष्ट किया तथा विश्वनाथ ने भी आचार्य आनन्दवर्धन की धारणा के आधार पर ही गुणों का स्वरूप स्पष्ट किया। मम्मट की दृष्टि में गुण रस का धर्म होने के कारण उनके साथ अचल भाव से रहता हैं और उनके उत्कर्ष का हेतु है और विश्वनाथ की दृष्टि में भी गुण रस के अङ्गीभूत धर्म हैं—

:रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।[१०]

आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ गुणों को रसाश्रित मानकर गुणों को रस का धर्म मानते हैं। आचार्य आनंदवर्धन गुण को शब्द तथा अर्थ चमत्कार न मानकर 'चित्तवृत्ति' मानते हैं। गुणों को चित्तवृत्ति मानने के कारण रस चित्त की तीन अव-

---

७. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजः प्रसादादयः।......ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। पूर्वेनित्याः। पूर्वेगुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते।—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ३/१/१-३

८. ध्वन्यालोक, २/६

९. काव्यप्रकाश, ८/६६

१०. साहित्यदर्पण, ८/१

स्थाओं-द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज-इन तीन ही गुणों को स्वीकार करते हैं। ध्यातव्य है कि भरतमुनि व आचार्य दण्डी ने गुणों की संख्या दस, आचार्य वामन ने बीस (दस शब्द गुण तथा दस अर्थगुण) मानी थी। आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व भामह और आनंदवर्धन के उपरांत मम्मट आदि ने तीन ही गुण माने।

मम्मट ने आनंदवर्धनाचार्य की गुण-धारणा को स्वीकार किया और गुण को काव्य के अंगी रस का धर्म कहा। उनकी दृष्टि में जैसे शूरता आदि आत्मा के धर्म हैं और उनसे आत्मा में उत्कर्ष आता है, वैसे ही माधुर्यादि गुण काव्य की आत्मा के धर्म हैं और उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं। रस के साथ उनकी अचल स्थिति रहती है। चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व अवस्थाओं से उत्पन्न आर्द्रता, विस्तार और विकास ही माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण कहलाते हैं।[11]

आचार्य विश्वनाथ भी गुणों को काव्य के अङ्गी रस का धर्म मानते हैं परन्तु मम्मट की भाँति गुणों को चित्त की द्रुति आदि का हेतु नहीं मानते (माधुर्यं द्रुतिकारणमिति, तन्न, द्रवीभावस्य आस्वादरूपाह्लादाभिन्नत्वेन तत्कार्य्यत्वाभावात्—साहित्यदर्पण, वृत्ति, पृ० ५३५) अपितु गुणों को चित्तवृत्तियाँ (आनन्दवर्धन की भाँति) ही मानते हैं।

आगे चलकर पण्डितराजजगन्नाथ ने मौलिक रूप से गुणविवेचना की। उन्होंने गुणों को रसगत, शब्दार्थगत और रचनागत कहा। पण्डितराज का मत है कि चित्त को प्रभावित कर उसे द्रुत, विस्तृत या विकसित करने वाला तत्त्व गुण हैं।[12]

गुणविषयक इन मान्यताओं का अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों—भरत, दण्डी, वामन आदि ने काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ में सौन्दर्य का आधान करने वाले गुणों पर ही विचार किया किन्तु ध्वनि-प्रस्थान की प्रतिष्ठा के साथ-साथ गुणों का विवेचन रसादि रूप काव्यात्मा के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में होने लगा। रस के धर्म होने के कारण गुणों की स्थिति काव्य में अचल या नित्य मानी गई।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुणों की अक्षुण्ण महत्ता को स्वीकार किया गया है और उसे काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। अग्निपुराणकार

---

११. यतः सामाजिकानां नवरसजन्यास्तिस्त्रोऽवस्थाः द्रुतिर्विस्तारोविकासश्चेति। तत्र शृंगार-करुणशान्तेभ्यो द्रुतिश्चित्तस्य वीररौद्रवीभत्सेभ्यो विस्तारस्य हास्याद्‌भुतभयानकेभ्यो विकास इति। विकासश्च हास्ये वदनस्य अद्‌भुते नयनस्य भयानके द्रुतापसरणरूपो गमनस्य। स च क्वचिद्द्रुत्या क्वचिद्विस्तारेण च युक्तः विभाववैचित्र्यात्। प्रसादस्तु सर्वेषामाधिक्यकारीत्यवस्थात्रयरूपकार्यवैचित्र्यनियामकतया कारणत्रयमेव कल्प्यते कारणवैचित्र्येण त्रयाणामेव स्फुटमुपलम्भात्।—काव्यप्रकाश, वामन झलकीकर की टीका, पृ० ४७४

१२. रसगंगाधर, पृ० ५५

का तो यह मानना है कि काव्य में महान् शोभा का सृजन करने वाला तत्त्व गुण है[१३] गुणों के अभाव में अलङ्कारयुक्त काव्य आनन्दप्रद नही होता है—

अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ।[१४]

सौन्दर्यादि गुणों से रहित रमणी के शरीर पर धारण किया हुआ हार भारस्वरूप ही लगता है और इसी तरह गुणों से रहित काव्य भी अलंकार युक्त हो तो भी आनन्दप्रद नहीं होता ।

अग्निपुराणकार की ही भाँति आचार्य भोज भी गुणों के अभाव में काव्य को आनन्द-रहित मानते हैं—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ।।[१५]

काव्यगुणविषयक इन अवधारणाओं से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि काव्य-गुण न केवल काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान हैं अपितु रसाश्रित होने के कारण काव्य के नित्य धर्म हैं । भारतीय काव्यशास्त्र का प्रत्येक प्रस्थान गुणों को गौरवमय पद पर स्वीकार करता है यह गुणों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है ।

हिन्दी के साहित्य शास्त्रियों ने भी काव्यगुणों की महत्ता स्वीकार की और हिन्दी के कवियों ने व्यावहारिक रूप में काव्य को सरस तथा सुन्दर बनाने के लिए गुणों का समा-वेश किया । वैसे हिन्दी के आरम्भिक साहित्यशास्त्रीय आचार्यों का गुण सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन प्रायः आचार्य मम्मट के आधार पर हुआ है । आचार्य चिन्तामणि गुण को रस का धर्म स्वीकार करके[१६] माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों की सत्ता को मान्यता देते हैं ।[१७] आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण की सभी रसों में अनिवार्य स्थिति मानकर उसे ही सर्वाधिक महत्त्व दिया था किन्तु चिन्तामणि ने माधुर्य गुण को 'काव्य का सार तत्त्व' स्वी-कार करके उसे गुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है ।[१८]

कुलपति मिश्र भी मम्मटादि रस-ध्वनिवादी आचार्यों की तरह गुण को रस का

१३. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।—अग्निपुराण, ३४६/३
१४. अग्निपुराण, १०/१
१५. सरस्वतीकण्ठाभरण
१६. जे रस आगे के धरम ते गुन बरने जात—कविकुलकल्पतरु, पृ० ३
१७. प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि ।
त्रिविध गुन तिन में सवै सुकवि लेत मनमानि ।—वही, पृ० ३
१८. जो संयोग सिंगार मैं सुखद द्रवावै चित्त ।
सो माधुर्य बखानियै यहई तत्त्व कवित्त ।—कविकुलकल्पतरु, १, १४ पृ० ३

उत्कर्षाधायक धर्म मानते हैं।[१९] आचार्य देव की गुणविषयक धारणा भरत, दण्डी, वामन आदि से विशेषत: दण्डी की गुणधारणा से प्रभावित है। कुमारमणि, सोमनाथ, भिखारीदास आदि रीतिकालीन आचार्य मम्मट की गुणविषयक अवधारणाओं के आधार पर ही गुण-विषयक विचार प्रस्तुत करते हैं। हाँ आचार्य भिखारीदास ने गुणविषयक मौलिक चित्रण करने का प्रयास किया है। परन्तु भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि के पुष्कल प्रभाव से वे विनिर्मुक्त नहीं हुए हैं।[२०]

कुल मिलाकर कह सकते है कि हिन्दी के रीतिकाल में गुण-धारणा का पिष्टपेषण हुआ। कहीं-कहीं तो प्राचीन मान्यता को नवीन परिधान में प्रस्तुत करके उसमें स्वमत के मिथ्यारोप का प्रयास हुआ अत: स्वतंत्र व मौलिक चिन्तन का अभाव रहा।

रीतिकालीन आचार्यों में गतानुगतिकता का भाव रहा, पर आधुनिक काल के समीक्षकों ने काव्य-गुण-सम्बंधी पुरातन सिद्धांत का मूल्यांकन तथा निर्भ्रान्ति तत्त्व निरूपण का प्रयास नवीन दृष्टि से किया। गुण विवेचन की दृष्टि से आधुनिक आलोचकों के दो वर्ग स्वीकार किए जा सकते हैं।—एक उन आलोचकों का वर्ग है जिन्होने प्राचीन आचार्यो की मान्यताओं का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और सर्वमान्य सिद्धांत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया—आचार्य रामदहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदासकेडिया, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, बाबू गुलाबराय, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा आदि ऐसे ही समीक्षक हैं। इन समीक्षकों का उद्देश्य भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में होने वाले काव्यगुण सम्बंधी चिंतन, विश्लेषण का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना रहा। दूसरा वर्ग उन समीक्षकों का है जिन्होंने साहित्य-समीक्षा के नवीन मूल्यों के आधार पर न केवल प्राचीन गुण-धारणा का परीक्षण किया, अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी गुणों का मूल्यांकन किया और काव्य की शैली तथा आत्मा में अवस्थित उत्कर्षाधायक गुणों को नया रूप भी प्रदान किया। इन समीक्षकों में मुख्यतः उल्लेखनीय समीक्षक हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ० नगेन्द्र आदि। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यगुणों पर विशेष विवेचन नहीं किया है। काव्य की शैली के विवेचन क्रम में प्रसङ्ग-वश काव्यगुणों की भी चर्चा कर दी है। किंतु गुणों की उन्होंने उपेक्षा की हो, ऐसा नहीं है। काव्य भाषा के चार मूल तत्त्वों—१. गोचर रूप-विधान करने वाले शब्दों का प्रयोग

---

१९. जो प्रधान रस को धरम निपट बड़ाई हेत।
सोई गुण कहिए अचल थिति सुर को परम निकेत।—रसरहस्य, ६/२

२०. ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुण बरनै गनै सवादि॥
रस ही के उत्कर्ष को अचल स्थिति गुन होय।
अंगी धरम सुरूपता, अंग धरम नहिं कोय॥
कहुँ लखि लघु कादर कहै, सूर बड़ो लखि अंग।
रसहिं लाज ज्यों गुन बिना, अरि सो सुमग न संग॥—काव्यनिर्णय, १९/६२-६४

२. नाद-सौंदर्य के साधक वर्ण-विन्यास का प्रयोग ३. विशेष रूप—व्यापार सूचक शब्द तथा ४: साभिप्राय विशेषण का प्रयोग—का उल्लेख किया है।[२१]

डॉ० नगेन्द्र का मानना है कि यहाँ पहला तत्त्व-गोचर रूप विधान करने वाले दण्डी के समाधि गुण से अभिन्न है; द्वितीय तत्त्व का अंतर्भाव प्राचीन आचार्यों के शब्दगत माधुर्य, उदारता, कान्ति गुणों से मिलता है तथा तीसरा और चौथा तत्त्व-विशेष व्यापार सूचक शब्द और साभिप्राय विशेषण-वामन के अर्थगुण 'ओज' के अर्थ-प्रौढि भेद से अभिन्न है।[२२] इस प्रकार आचार्य शुक्ल का गुण विषयक अभिमत प्राचीनों से बहुत भिन्न नहीं है।

श्यामसुन्दरदास ने वामन, रुद्रट, मम्मट की गुण-रीति-वृत्ति विषयक धारणा को मिलाकर समन्वयात्मक दृष्टि से शैली के स्वरूप का वर्णन किया है। गुण-रीति-वृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को वे स्वीकार करते हैं तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद का सम्बंध मधुरा, परुषा तथा प्रौढा वृत्तियों से करते हुए प्राचीन आचार्यों की गुण धारणा को ही नवीन दृष्टि से विवेचित करते हैं।[२३]

डॉ० नगेन्द्र का गुण विषयक विवेचन तर्क पुष्ट एवं प्रौढ है। प्राचीन गुण विषयक अवधारणा का सार ग्रहण करते हुए डॉ० नगेन्द्र गुणों को काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षाधायक तत्त्व के रूप में स्वीकृति देते हैं। गुणों को ध्वनिवादी आचार्यों की तरह चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं और रीतिवादी आचार्यों की तरह शब्दार्थ का धर्म भी।

डॉ० नगेन्द्र के गुणविषयक विवेचन की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्धारण किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों को द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्ति रूप में मानकर गुण, रस और चित्तवृत्ति में परस्पर सम्बंध स्वीकार किया है। डॉ० नगेन्द्र गुणों को चित्तवृत्ति स्वरूप तो मानते हैं परन्तु उनमें कार्य-कारण सम्बंध स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि गुण एवं रस एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते। दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए क्योंकि दोनों मनःस्थितियाँ जरूर हैं परन्तु रस प्रमाता की अखण्ड आनन्दात्मक चित्त-स्थिति है, जिसमें सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और गुण चित्त के द्रवीभाव, दीप्तत्व तथा व्यापकत्व की वृत्ति है। अतः रसानुभूति के लिए मनोभूमि तैयार करने में गुण सहायक होते हैं; चित्तवृत्ति का कारण या उसका प्रयोजक नहीं हैं।[२४]

सारतः कहा जा सकता है कि आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक गुण विषयक अनेक उद्भावनाएँ हुईं और काव्यगुणों के नवीन स्वरूपों की कल्पना होती रही। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों द्वारा गुण धारणा का पिष्टपेषण मात्र हुआ और आधुनिक काल में प्राचीनों की मान्यता को ही मौलिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास करके आचार्यों ने गुण विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

---

२१. चिंतामणि; पहला भाग, पृ० २३८
२२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका; भाग-२; पृ० ६२
२३. साहित्यालोचन; पृ० ३१०
२४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ६३-६४

काव्यगुणों के भेद—

काव्यगुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतवैषम्य है। आचार्य भरतमुनि ने काव्यगुणों की संख्या दस निर्धारित की थी—

श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दर्शते ॥[२५]

आचार्य भरतमुनि के द्वारा उल्लिखित इन काव्यगुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति—को उनके परवर्ती दण्डी, वामन ने इन दस गुणों के शब्दगुणों तथा अर्थगुणों के आधार पर बीस भेद कर दिये। दूसरी ओर भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचंद्र, विद्याधर, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि पूर्वोक्त दस गुणों का अंतर्भाव प्रसाद, माधुर्य तथा ओज-तीन गुणों में कर दिया।

लेकिन गुणों की दश या तीन ही संख्या नहीं मानी गई। अग्निपुकाणकार ने काव्यगुणों के शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत तीन भेद करके शब्दगत सात—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य, यौगिकी[२६] अर्थगत छः—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि, सामयिकता, शब्दार्थोभयगत छः—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक तथा राग—यानी उन्तीस काव्यगुणों की चर्चा की है।

इसके विपरीत आचार्य कुन्तक औचित्य और सौभाग्य नामक दो साधारण गुणों तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार विशेष गुणों का उल्लेख करते हैं।[२७]

आचार्य भोज के मतानुसार गुण २४ हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता उदात्तता, और्जित्य, प्रेमकान्ति, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितता, भाविकता, गति, रीति, उक्ति एवं प्रौढि। इन चौबीस भेदों के बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक रूप से विभाजन करके आचार्य भोज ने बहत्तर काव्यगुणों का निरूपण किया।[२८]

इनके अतिरिक्त आचार्य हेमचंद्र तथा आचार्य जयदेव ने अज्ञातनामा आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्होंने पाँच या छह गुणों का वर्णन किया है। पाँच गुण हैं-ओज, प्रसाद,

---

२५. नाट्यशास्त्र; १७/६६

२६. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता ॥
सत्येव यौगिक चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥
—अग्निपुराण, काव्यशास्त्रीय भाग, १०/५-६

२७. वक्रोक्तिजीवितम्, १/३०-५०

२८. सरस्वतीकण्ठाभरण, १/६०-६५

मधुरिमा, साम्य, औदार्य तथा छः गुण हैं-न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह ।[२९] इस तरह से काव्यगुणों के वर्गीकरण के छः वर्ग हैं और इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि काव्यगुणों की संख्या घटती बढ़ती रही है ।

काव्यगुणों के ये वर्ग काव्यगुणों की संख्यागत विविधता का परिचय तो देते ही हैं; काव्यशास्त्रियों की गुणविषयक विस्तृत विवेचना को भी स्पष्ट करते हैं । परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुण विषयक दो वर्ग ही बहुमान्य हुए—शब्दार्थगत गुण वर्ग तथा रसगत गुण वर्ग । शब्दार्थगत गुण वर्ग के अन्तर्गत आचार्य भरतमुनि, दण्डी आदि के द्वारा उल्लिखित दस गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति को स्वीकार किया गया और रसगत गुणवर्ग के अन्तर्गत ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रसाद, माधुर्य एवं ओज तीन गुण मान्य हुए । भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि से लेकर आचार्य वामन तक शब्दार्थगत श्लेषादि गुणों की जो परिकल्पना हुई, वह उतनी व्यापक थी कि गुणों के वर्गीकरण की अन्य आचार्यों द्वारा जो नूतन कल्पनाएँ की गईं वे काव्यशास्त्र के अध्येताओं ने स्वीकार नहीं कीं और आचार्यों ने यह सिद्ध किया कि उक्त दस गुणों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों ने जिन गुणों की परिकल्पना की है उनमें से कुछ गुणों का इन्हीं दस गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ गुण दोषाभाव मात्र हैं तथा कुछ गुण अलंकार, भाव, ध्वनि आदि के ही रूप होने से गुण नहीं हैं । अतः शब्दार्थगत दस तथा रसगत तीन गुण ही मान्य हैं ।

(क) शब्दार्थगत गुण

(१) श्लेष—

आचार्य भरतमुनि के अनुसार कवि के अभीष्ट अर्थ से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता[३०] तथा स्वभाव से स्फुट किन्तु गहन विचार वाली वाणी[३१] को श्लेष कहा जाता है। दण्डी श्लेष को शब्दगत गुण मानते हैं अर्थगत नहीं । उनके अनुसार अल्पप्राण वर्णों से रहित, अशिथिल रचना श्लिष्ट कही जाती है ।[३२] ध्यातव्य है कि भरतमुनि ने काव्यगुणों के शब्दगत—अर्थगत भेद नहीं किये हैं परन्तु गुणों के शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत होने का संकेत उन्होंने काव्यगुणों की परिभाषाओं में कर दिया था । श्लेष के भी दोनों

---

२९. (क) काव्यानुशासन, पृ० २४०
(ख) चन्द्रालोक, ४/१२

३०. ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते ।।—नाट्यशास्त्र, १६/९८

३१. विचारगहनं यत्स्यात्स्फुटं चैव स्वभावतः ।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्त्तितम् ।।—वही, १६/९९

३२. श्लिष्टमस्पृष्टशथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।—काव्यादर्श, १/४३

स्वरूपों को उन्होंने प्रस्तुत किया है पर दण्डी ने केवल शब्दश्लेष का ही वर्णन किया है। भरत ने पदों की श्लिष्टता पर बल दिया था, दण्डी ने श्लेष में महाप्राण और संयुक्त वर्णों का प्रयोग आवश्यक माना।

आचार्य वामन ने प्रत्येक गुण के शब्दगत और अर्थगत दो भेद माने हैं। उनकी दृष्टि में मसृणत्व (बहुत पदों का एक पदवत् आभासित होना) शब्दश्लेष[33] तथा घटना (क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व व उत्पत्तियोग) अर्थश्लेष।[34]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शब्द तथा अर्थ की संश्लिष्ट योजना श्लेष गुण है।

२. प्रसाद—

आचार्यों का मानना है कि जिस काव्य को पढ़ते ही या सुनते ही अर्थ समझ में आ जाय वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। भरतमुनि प्रसादगुण में सुबोध और व्यञ्जक पदों के प्रयोग पर बल देते हैं।[35] भामह की दृष्टि में विद्वान् से लेकर स्त्री और बच्चे तक के लिए बोधगम्य शब्दों के प्रयोग में प्रसाद गुण[36] हैं, दण्डी प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों को प्रसाद[37] कहते हैं, वामन शब्दगत प्रसाद को शैथिल्य[38] और अर्थगत प्रसाद को अर्थ का वैमल्य[39] मानते हैं।

प्रसाद वह गुण है जो काव्य को सर्वजन सुबोध बनाने में समर्थ होता है। यह सभी वर्णों, समासों, रचनाओं में रहने वाला और सुनने मात्र से अर्थ की प्रतीति[40] कराने वाला होता है।

३. समता—

आचार्यों का मानना है कि बन्ध की एकरूपता समता है। भरतमुनि की दृष्टि में—

---

३३. मसृणत्वं श्लेषः।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३, १, १

३४. घटना श्लेषः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३, २, ४

३५. अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।
 सुख शब्दार्थ संयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते ॥—नाट्यशास्त्र, १६/९९

३६. आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।—काव्यालंकार, २, ३

३७. प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
 लक्ष्म लक्ष्मी तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः।—काव्यादर्श १/४५

३८. शैथिल्यं प्रसादः।—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३, १, ६

३९. अर्थवैमल्यं प्रसादः।—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३, २, ३

४०. श्रुतिमात्रेत्र शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
 साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥
 —काव्यप्रकाश, उल्लास ८, कारिका ७६

चूर्णपदों का अभाव तथा निष्प्रयोजन अर्थ का अभिधान कराने वाले या दुर्बोध पदों का अभाव[४१] समता है। इसके अलावा गुण और अलंकार का पारस्परिक सादृश्य जहाँ एक दूसरे को आभूषित करे[४२] वहाँ समता गुण होता है। दण्डी सम्पूर्ण रचना में एक रीति के निर्वाह को समता[४३] मानते हैं। वामन रचना में एक ही मार्ग का आद्यन्तनिर्वाह शब्दगत समता[४४] और सुगमता को अर्थगत समता[४५] कहते हैं।

४. समाधि—

जहाँ प्रतिभावान् व्यक्ति को अपूर्व अर्थ प्राप्त हो[४६], जिसमें एक वस्तु धर्म का अन्यत्र आधान हो[४७] वहाँ समाधि गुण होता है। आरोह और अवरोह का क्रम शब्दगत समाधि तथा अर्थदृष्टि अर्थगत समाधि गुण है।[४८] आचार्यों ने समाधि में क्रमसे गाढबन्ध और शिथिलबन्ध का अवस्थापन माना है।

५. माधुर्य—

माधुर्यगुण से ओतप्रोत काव्य को पढ़ने या सुनने पर मन प्रसन्नता से भर उठता है। उस काव्य को बार बार पढ़ने पर भी मन उद्विग्न नहीं होता।[४९] जो रचना को श्रुतिमधुर-बनाए, जो सहृदयों को बारम्बार अपनी विलक्षण आकर्षक क्षमता से प्रभावित करे वह

---

४१. नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता।—नाट्यशास्त्र, १६/१००

४२. अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणः।
अलंकारा गुणाश्चैव समाः स्युः समतामताः॥—नाट्यशास्त्र, १६/१०१

४३. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥—काव्यादर्श, १/४७

४४. मार्गाभेदः समता।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३, १, १२

४५. सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३२, ६ की वृत्ति, पृ० ८६

४६. अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलक्ष्यते।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते॥—नाट्यशास्त्र, १६/१०२

४७. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा।—काव्यादर्श १/९३

४८. आरोहावरोहक्रमः समाधिः।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३, १, १३
अर्थदृष्टिः समाधिः।—वही, ३, २, ७

४९. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्॥—नाट्यशास्त्र, १६/१०४

माधुर्य गुण है। दण्डी की दृष्टि में तो सरस काव्य ही मधुर कहलाता है[५०] अर्थात् वे माधुर्य-गुण को रसस्वरूप ही मानते हैं। वामन दीर्घसमास रहित माधुर्य गुण को पृथक् पदता[५१] और अर्थगत माधुर्य को उक्तिवैचित्र्य कहते हैं।[५२]

आचार्य मम्मट का मन्तव्य है कि टवर्ग के अतिरिक्त स्पर्शवर्णों से युक्त, ह्रस्व रेफ और णकार से युक्त, दीर्घसमासरहित रचना माधुर्य की अभिव्यञ्जक होती है।[५३]

६. ओज—

माधुर्य के विपरीत दीर्घसमासयुक्त रचना ओज[५४] गुण युक्त होती है। जब किसी कृति को पढ़कर हृदय में नवीन उत्साह का संचार होने लगता है, रक्तप्रवाह में उबाल आने लगता है तब उस रचना में ओजोगुण की उपस्थिति स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

आचार्यों ने ओजो गुण में लम्बे-लम्बे समासों के प्रयोग को स्वीकार करने के साथ उसमें रेफ वर्णों के मिश्रण को तथा टवर्ग की बहुलता को भी स्वीकार किया है।[५५] वस्तुतः ओज चित्तवृत्ति के विस्तार का गुण है इसीलिए काव्य में वीररस में उसकी अवस्थिति मानी गयी है।

(७) सुकुमारता—

आचार्य भरत ने सुखपूर्वक उच्चरित होने वाले तथा सुश्लिष्ट सन्धि वाले शब्द एवं अर्थ की सुकुमारता में सौकुमार्य गुण माना[५६], दण्डी ने अनिष्ठुर अक्षर-युक्त पदों का प्रयोग[५७] तथा वामन ने बन्ध का अपारुष्य शब्द सौकुमार्य और अपारुष्य अर्थ सौकुमार्य[५८] कहा।

---

५०. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।—काव्यादर्श, १/५१

५१. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३, १, २१

५२. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्—वही, ३, २, ११

५३. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौलघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥—काव्यप्रकाश, उल्लास ८/७४

५४. (क) समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते॥—नाट्यशास्त्र, १६/१०५

(ख) ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्—काव्यादर्श, १/८०

५५. योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥—काव्यप्रकाश, उल्लास ८/७५

५६. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते।—नाट्यशास्त्र, १६/१०७

५७. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले।—काव्यादर्श, १/६९

५८. अजरठत्वं सौकुमार्यम्।—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३, १, २२
अपारुष्यं सौकुमार्यम्।—वही, ३, २, १२

(८) अर्थव्यक्ति—

जिस रचना में एक अर्थ के बोध के बाद अनन्तर प्रयोग की कल्पना स्वतः हो जाय, जहाँ अर्थ की प्रतीति झट से हो जाय[५९] वहाँ अर्थव्यक्ति नामक काव्यगुण होता है। दण्डी के अनुसार जहाँ अर्थ में नेयत्व का अभाव हो, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।[६०] नेयत्व के अभाव से तात्पर्य है—जितना अर्थ अपेक्षित हो, उतने अर्थ का बोध कराने वाले पर्याप्त पदों का प्रयोग अर्थव्यक्ति नामक गुण उस रचना में होता है, जिसे समझने के लिए कष्ट-कल्पना न करनी पड़े, जो आसानी से समझ में आ जाय, अर्थ की तुरन्त और स्पष्ट प्रतीति हो।

(९) उदारता—

जहाँ पद और वर्ण नृत्य करते से लगे, जहाँ बात बड़े बाँकपने से प्रस्तुत की जाय और आशय को उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाय, वहाँ उदारत्व गुण होता है। भरत उदारत्व को दिव्य भावमय श्रृंगार एवं अद्‌भुत रसों से युक्त तथा अनेक भाव-संयुक्त मानते हैं[६१], दण्डी उदारत्व में उत्कृष्ट गुण की प्रतीति अपेक्षित मानते हैं[६२], वामन शब्दगत उदारत्व को विकटत्व और अर्थगत उदारत्व को अग्राम्यत्व[६३] की संज्ञा देते हैं।

(१०) कान्ति—

वह गुण जो मन को और कानों को आह्लादित करे, जिसमें लीला आदि रमणीय

---

५९. (क) यस्यार्थानुप्रवेशे न मनसा परिकल्प्यते।
अनन्तरप्रयोगस्तु सार्थव्यक्तिरुदारता॥—नाट्यशास्त्र, १६/१०९

(ख) यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ८१

६०. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य।—काव्यादर्श, १/७३

६१. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम्।—नाट्यशास्त्र, १६/१०७ (काव्यमाला)

६२. उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः।—काव्यादर्श, १/७६

६३. (क) बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ० ८०

(ख) ग्राम्यत्वप्रसंगे अग्राम्यत्वमुदारता।—वही, पृ० ९३

चेष्टाओं का वर्णन हो[६४], जिसमें लोक की वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन हो[६५], जिसमें बन्ध की उज्ज्वलता और दीप्तरसत्व[६६] हो, वह कान्ति गुण है।

(ख) रसगत गुण—

आचार्य भरतमुनि ने काव्यगुणों का वर्णन वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में किया था। उन्होंने गुणों को शब्दार्थगत जरूर माना, परन्तु गुणों की सार्थकता रस के उपकार में ही मानी थी। आगे चलकर आनन्दवर्धनाचार्य आदि आचार्यों ने गुणों को रसाश्रित मानकर भरतोक्त दस गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों (प्रसाद, माधुर्य और ओज) में कर दिया। आचार्य मम्मट ने दस गुणों के प्रपञ्च को अनावश्यक माना—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥[६७]

मम्मट की दृष्टि में वामन के द्वारा वर्णित बीस गुणों में से शब्दश्लेष, शब्दसमाधि, शब्द उदारता तथा शब्द प्रसाद—इन चारों का अन्तर्भाव ओज गुण में हो जाता है। शब्द माधुर्य—माधुर्य गुण में, अर्थव्यक्ति प्रसाद में अन्तर्भुक्त हो जाता है। समता सार्वत्रिक गुण न होने के कारण गुणों में नहीं गिना जा सकता, सौकुमार्य कष्टत्व दोष का अभाव मात्र है और कान्ति गुण ग्रामत्व का अभाव है अतः वामनोक्त दस शब्दगुणों का खण्डन हो जाता है। वामन द्वारा वर्णित अर्थगत ओज मम्मट की दृष्टि में उक्तिवैचित्र्य मात्र और अपुष्टार्थ दोष का अभाव रूप है, प्रसाद अधिकपदत्व दोष का अभाव है, माधुर्य, अनवीकृत दोष का साहित्य है, सौकुमार्य अश्लीलत्व दोष का अभाव है। उदारता ग्राम्यत्व दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव रसभावोक्ति में हो जाता है और कान्ति गुण-रसादि में अन्तर्भुक्त हो जाता है। श्लेष उक्तिवैचित्र्य मात्र है, गुण नहीं, समता क्रमहीन दोष का अभाव है और समाधि गुण ही नहीं है।[६८]

इस प्रकार दस गुणों का खण्डन हो जाने पर रसगत माधुर्यादि तीन गुण ही काव्य के गुण सिद्ध होते हैं। माधुर्य गुण उस काव्य में होता है जिसमें हृदय को विभोर करने का विशेषता हो। काव्य का माधुर्य श्रुतिमधुरता है। समासराहित्य, उक्तिवैचित्र्य, चित्त को

---

६४. यन्मनः श्रोतविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः।—नाट्यशास्त्र, १६/१०८

६५. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।—काव्यादर्श, १/८५

६६. (क) औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्यं कवेर्वचः।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ८२
(ख) दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वही, ३, २, १५

६७. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, ७२

६८. वही, अष्टम उल्लास, पृ० ३९१-३९२

द्रवित करने की क्षमता, भावमयता, आह्लादकता—माधुर्य गुण की विशेषताएँ हैं। ओज का सम्बन्ध चित्त की दीप्ति से है। जिस को पढ़ते ही श्रोताओं का मन: पटल उत्साह, वीरता, ओजस्विता, आवेश से युक्त हो जाय वहाँ ओजोगुण की अवस्थिति होती है। प्रसाद का संम्बन्ध चित्त के विकास से है। जिस काव्य को पढ़कर मन प्रसन्न हो जाय हृदय की कली खिल उठे वहाँ प्रसाद गुण होता है। प्रसाद गुण सभी रसों में तथा सभी रचनाओं में स्थित होता है।

निष्कर्षतः शब्दार्थगत दस तथा रसगत तेरह गुणों के व्यापक स्वरूप में काव्य का समग्र सौन्दर्य समाहित है। शब्दार्थगत गुणों की संज्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है किन्तु रसगत गुणों की संख्या के विषय में कोई मतभेद नहीं है। इन रसगत मधुर, ओज, प्रसाद गुणों की व्यापक कल्पना करते हुए आचार्यों ने सभी रसों को मधुर, ओजस्वी, प्रसन्न—तीन वर्गों में बाँट दिया है। अतः गुणों की महत्ता एवं उपादेयता स्वतः स्पष्ट है।

काव्य में गुणों का स्थान

काव्य में गुणों की उपादेयता और महत्ता तो स्पष्ट ही है, भारतीय काव्यशास्त्र में गुणों की अनिवार्य स्थिति भी सर्वत्र स्वीकार की गई है। अलङ्कार, रीति, औचित्य, रसादि के साथ गुणों के सम्बन्धों के विषय में भी आचार्यों ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। प्रस्तुत है गुणों का काव्यशास्त्रीय अन्य तत्त्वों से सम्बन्ध—

(क) गुण और अलङ्कार—

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण तथा अलङ्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य में माधुर्यादि गुण तथा उपमादि अलङ्कारों में भिन्नता है या नहीं और काव्य के लिए ये दोनों तत्त्व किस रूप में उपयोगी हैं—इस विषय में भारतीय साहित्यशास्त्र में पर्याप्त विचार हुआ है। आचार्यों का एक वर्ग गुणालङ्कार भेद को व्यर्थ मानता है। भट्टोद्भट का मानना है कि 'जिस प्रकार शरीर में हारादि अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से स्थित है, उसी प्रकार काव्य में शब्दार्थ-शरीर के समान उपमा, अनुप्रासादि संयोगवृत्ति से, माधुर्यादिगुण रस में समवायवृत्ति से रहते हैं। इनमें भेद की कल्पना असङ्गत है।[६९] काव्यशास्त्रियों का दूसरा वर्ग गुणों और अलङ्कारों में भेद मानता है।

आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुणों और अलकारों में अन्तर माना। वे गुणों को काव्यशोभा का उत्पादक धर्म तथा अलङ्कारों को काव्यशोभा की वृद्धि करने वाला धर्म कहते हैं। उनकी दृष्टि में गुण काव्य के नित्य तथा अलङ्कार अनित्य धर्म हैं।[७०] वामन के उपरान्त

६९. समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्यास्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः इत्यभिधानमसत्।—काव्यप्रकाश ८/६७ वृत्ति

७०. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।
पूर्वे नित्याः गुणाः तैर्विनाकाव्यशोभानुपपत्ते॥—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३/१/१-३

भट्टोद्भट के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्य गुणों और अलङ्कारों में परस्पर सम्बन्ध स्वीकार करते हुए वामन की ही मान्यता का समर्थन करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन काव्य के अङ्गीभूत रसादि के आश्रय में रहने वाले धर्मों को गुण तथा अलङ्कार को काव्य के अङ्गभूत शब्दार्थ के धर्म मानते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्॥[७१]

आनन्दवर्धन ने गुणों को आन्तरिक तथा अलङ्कारों को वाह्यतत्त्व माना। मम्मट आनन्दवर्धन की इसी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥[७२]

शरीरस्थ आत्मा के शौर्यादि धर्म जिस प्रकार आत्मा के साथ एकाकार होकर शाश्वत रहते हैं तथा आत्मा के शोभावर्धक होते हैं उसी प्रकार काव्य के माधुर्य, ओज तथा प्रसादादि गुण रस के साथ नित्य सम्बद्ध होकर काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। हार-केयूरादि आभूषण जैसे मानव शरीर के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं वैसे ही अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार कभी-कभी शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर की सौन्दर्यवृद्धि करते हैं।

निष्कर्षतः काव्यगुणों की उपादेयता काव्य में अधिक है। वे काव्य के अनिवार्य धर्म हैं और काव्य की आत्मा रस से सम्बद्ध हैं जबकि अलङ्कार काव्य के अस्थिर धर्म हैं और काव्यशरीर से उनका सम्बन्ध है। दोनों में समानता यह है कि दोनों ही काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं।

(ख) गुण और रीति—

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति और गुणों का अविभाज्य सम्बन्ध है। गुण रीति के विधायक हैं। दण्डी ने गुणों को रीति का प्राण कह कर दोनों में अभेद माना। उन्होंने रीति का नाम्ना उल्लेख नहीं किया पर काव्य के अनेक मार्ग मानकर वैदर्भ मार्ग के प्राण रूप दस गुण स्वीकार किये हैं[७३] इससे स्पष्ट होता है कि दण्डी रीति को गुणाश्रित मानते हैं।

---

७१. ध्वन्यालोक, २/६

७२. काव्यप्रकाश, ८/६६-६७

७३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ —काव्यादर्श, १/४२

वामन विशिष्ट पद रचना को रीति मानते हैं। विशिष्टता का अर्थ गुण सम्पन्नता[७४] है। अतः रीति और गुण अभिन्न हैं। वामन रीति की श्रेष्ठता का आधार गुण-सद्भाव मानते हैं अतः उनकी दृष्टि में रीति का गुण के साथ अविच्छेद सम्बन्ध है।

आरम्भ में गुण के साथ रीति का अविभाज्य सम्बन्ध रहा परन्तु बाद में इस अवधारणा में अन्तर आया। आचार्य आनन्दवर्धन गुणों और संघटना के पारस्परिक सम्बंध का विवेचन करते हुए गुण और संघटना में पार्थक्य मानते हैं। वे गुणों का विषय नियत और रीति का अनियत मानते हुए उनमें आश्रयाश्रयी सम्बंध मानते हैं—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती उपकर्त्री रसादिनाम्।'

गुण रसाश्रित होते हैं, संघटना पर आश्रित नहीं होते। गुण नियत विषय है, संघटना अनियत विषय। हाँ रीति गुणाश्रित होती है।

निष्कर्षतः रीति और गुणों में घनिष्ठ सम्बन्ध होने की वजह यहहै कि रीति गुणों पर आश्रित नहीं हैं। विशेष गुण की व्यञ्जना में रीति सहायक अवश्य हैं पर वे गुणों से अभिन्न नहीं हैं।

(ग) गुण और औचित्य

काव्य में औचित्य की अवस्थिति अनिवार्य है। गुणों का तो अस्तित्व ही औचित्य की आधारशिला पर टिका है। औचित्य के अभाव में गुण भी दोष बन जाते हैं और औचित्य होने पर दोष गुण बन जाते हैं। इसीलिए आचार्य भरतमुनि ने उद्घोषणा की कि जो वेश देशानुकूल नहीं होता, वह सौन्दर्याधायक नहीं होता। हार के रूप में मेखला को धारण करने पर वह सुन्दरता का नहीं हास्य का कारण बन जाती है—

'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे तु हास्यायैवोपजायते॥'[७५]

आनन्दवर्धन रसभङ्ग का कारण अनौचित्य को ही मानते हैं—

अनौचित्यादृते नान्यद्रभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥[७६]

अतः गुणों का प्राण औचित्य को माना जा सकता है क्योंकि गुणों का अस्तित्व औचित्य से ही सम्भव है।

औचित्य को रससिद्धि का प्राण मानने वाले आचार्य कुन्तक ने स्पष्टतः उल्लिखित

---

७४. विशिष्ट पद रचना रीति
विशिष्टो गुणात्मा। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; १, २, ७

७५. नाट्यशास्त्र; २३/६९

७६. ध्वन्यालोक; ३/पृ० ३०२

किया है कि औचित्य के अभाव में गुण और अलङ्कार अशोभन हो जाते हैं और गुण और अलङ्कार काव्य में तभी शोभा पाते हैं, जब उनका उचित विनिवेश हो।[७७]

आचार्य मम्मट ने स्पष्टतः कहा कि वक्ता, प्रतिपाद्य या विषय, व्यंग्य, वाच्य तथा प्रकरण आदि के औचित्य से कहीं-कहीं दोष भी गुण बन जाते हैं।[७८]

अतः गुण और औचित्य का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। औचित्य न केवल दोषों का परिहार करने में सक्षम है अपितु उसके अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

(घ) गुण और रस—

गुण और रस का अविनाभाव सम्बन्ध है। हालांकि अलङ्कारवादी तथा रीतिवादी आचार्य गुणों को शब्दार्थ का धर्म मानते रहे; परन्तु ध्वनि सिद्धान्त की उपस्थापना के उपरान्त रस को काव्य का अङ्गी और गुणों को रस का धर्म माना गया। माधुर्यादि गुणों की सत्ता रस से पृथक् नहीं रहती अतः गुणों के रस से सम्बन्ध को नकारा नहीं जा सकता।

भरतमुनि ने गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ से जोड़ा परन्तु प्रकारान्तर से गुणों को रसाश्रित माना है क्योंकि उनकी मान्यता है कि रस से हट कर कोई अर्थ नहीं होता।[७९]

आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित माना। आनन्दवर्धन की ही भाँति अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य गुण को रसधर्म मानते हैं।

निष्कर्षतः गुण रस के नित्य धर्म हैं, जिनकी उत्पत्ति चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति जन्य आह्लाद, विस्तार और विकास से होती है। ये आह्लाद, विस्तार और विकास काव्यशास्त्र में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण कहलाते है।

उपसंहार—

काव्य में गुणों की महत्ता अक्षुण्ण है। वे काव्य के नित्य धर्म हैं; काव्य में अनिवार्यतः सौन्दर्य का आधान करने वाले हैं; शब्दार्थ की शोभा के हेतु हैं; रस के उत्कर्षाधायक हैं और इसीलिए काव्य की उत्कृष्टता के भी हेतु हैं।

---

७७. अलङ्कारास्त्वलङ्कारा : गुणा एव गुणा सदा
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम्।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥ —औचित्य विचार चर्चा, ४/६

७८. वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणःक्वचित्क्वचिन्नोभौ। —का०प्र०; ७/५९

७९. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना०शा०, पृ० ६२

अलंकार-सम्प्रदाय-समीक्षा

—डॉ० चन्द्रकान्त शुक्ल
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
राँची कालेज, राँची (बिहार),

"इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा ।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरांश्रियम् ।।"[1]

जिस प्रकार कोई अति सुन्दरी वनिता अच्छे आभूषणों को धारण करके और भी अधिक निखर उठती है उसी तरह काव्य भी अलंकारों से युक्त होकर और भी अधिक रमणीय हो उठता है। कवियों ने इसी भाव से प्रेरित होकर अपने काव्यों को अलंकृत करने के लिए विविध अलंकारों का प्रयोग किया है। सम्भव है, बाद में चलकर कवियों ने आयासपूर्वक कुछ अलंकारों का प्रयोग किया हो, किन्तु प्रारम्भिक काव्यों में जो अलंकार हमें देखने को मिलते हैं उनका विन्यास कवियों ने अनायास ही किया है। वैदिक ऋषियों ने अपने मन्त्रों में जिन अलंकारों का प्रयोग किया है, वे इसी के उदाहरण हैं। आगे चलकर अलंकारों के इस प्रयोग ने कवित्व को इतना प्रभावित किया कि अलग से अलंकार-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य के जो विविध मानदण्ड आज हमारे सामने हैं उनमें से अलंकार ही सर्वाधिक प्राचीन है और कभी यही सम्प्रदाय प्रमुखता से युक्त था, क्योंकि काव्यशास्त्र को अलंकार-शास्त्र के नाम से भी अभिहित किया गया है। दण्डी, भामह, उद्भट, रुद्रट और वामन आदि आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर उसे अलंकार के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया है, इसी कारण अलंकार की प्रधानता होने के कारण इस शास्त्र का अभिधान अलंकार-शास्त्र हो गया। यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन और मम्मट आदि ने ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, फिर भी प्रकृत शास्त्र का नाम ध्वनि-शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध नहीं हो सका, अपितु वह तब भी अलंकार-शास्त्र ही कहलाया। प्रतापरुद्रीय की रत्नापण टीका में अलंकारशास्त्र नामकरण पर विचार करते हुए कहा गया है कि यद्यपि इस शास्त्र में रस आदि विविध विषयों का विवेचन होता है, फिर भी इसे छत्रि-न्याय से अलंकार-शास्त्र कहा जाता है—'यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेनालंकारशास्त्रमुच्यते।'[2]

अलम् के साथ कृ धातु में घञ् प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द निष्पन्न होता है जिसका सामान्य अर्थ है शोभित करने वाला—'अलंकरोतीति अलंकारः'। जिस तरह लोक में कटक, कुण्डल, हार आदि अलंकार कामिनी के शरीर को अलंकृत करते हैं उसी तरह उपमा आदि अलंकारों के द्वारा कविता-कामिनी का शरीर अलंकृत हो उठता है—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥"[३]

भामह ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस तरह वनिता का मुख विना अलंकारों के शोभित नहीं हो सकता उसी तरह काव्य भी विना अलंकारों के शोभन नहीं हो सकता है—

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।"[४]

आचार्य दण्डी ने भी अलंकार का लक्षण करते हुए उसे काव्य का शोभाधायक तत्त्व माना है—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।"[५]

आचार्य वामन, जो रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, ने भी काव्य में अलंकार के महत्त्व को रेखांकित किया और सौन्दर्य को अलङ्कार कहा। उनके अनुसार काव्य तभी ग्राह्य होगा जब उसमें अलंकार हो। वे काव्य-शोभा के अतिशय-हेतु को अलंकार कहते हैं—

'सौन्दर्यमलंकारः ।
काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।"[६]

यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अलंकार-तत्त्व को भिन्न-भिन्न रूप से निरूपित किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्री मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित दीखते हैं। एक वर्ग अलंकार को काव्य का अपरिहार्य तथा अत्याज्य अंग मानता हुआ उसे ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व घोषित करता है तो दूसरा वर्ग उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे काव्य का शोभाधायक तत्त्व मानता है, किन्तु उसकी पूर्णतः अनिवार्यता का विरोध करता है।

एक ओर जहाँ आचार्य मम्मट अपने काव्यलक्षण[७] में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कह-कर काव्य में अलंकार की अनिवार्यता को आवश्यक नहीं मानते हैं वहीं जयदेव कहते हैं कि जो काव्य को बिना अलंकार के भी स्वीकार करना चाहते हैं वे अग्नि को भी उष्णता-रहित क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ?—

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥"[८]

इस तरह अलंकार के सम्बन्ध में ये दो नितान्त विरोधी मत प्राप्त होते हैं। यों, ध्वनिवादी आदि आचार्य, जो अलंकार की अनिवार्यता के विरोधी हैं, भी अलंकारों के महत्त्व को देखते हुए विस्तार से उनका विवेचन करते हैं।

आचार्य भरत के बाद के काव्यशास्त्रियों में भामह, दण्डी, उद्भट, जयदेव तथा प्रतिहारेन्दुराज आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त अग्निपुराण भी अलंकार को प्रमुखता प्रदान करता है और अतिवादी शैली में प्रतिपादित करता है कि शब्द-सौन्दर्य से युक्त रहने पर भी बिना अलंकार के काव्य की काव्यमयता नहीं है, अपितु अर्थालंकारों के बिना काव्य विधवा की तरह होता है—

"तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।
अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ॥"[९]

आचार्य भरत यद्यपि नाट्यशास्त्री थे, फिर भी उन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' के माध्यम से काव्य-समीक्षा के विविध मानदण्डों को व्याख्यायित किया है। इसी रूप में उन्होंने अलंकारों का भी निर्देश किया है। उन्होंने नाटकों की दृष्टि से केवल चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है—

"उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥"[१०]

भरत ने उपमा के पाँच भेदों की चर्चा की है। वे हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित्सदृशी।[११] उन्होंने यमक को पादान्त, कांची, समुद्ग, विक्रांत, चक्रवाल संदष्ट, पादादि, आम्रेडित, चतुर्व्यसित तथा माला भेद से दस भागों में बाँटा है।[१२] उन्होंने रूपक तथा दीपक का कोई भेद नहीं किया है। यद्यपि अलंकार के रूप में भरत ने केवल चार का ही विवेचन किया है, फिर भी इसके अतिरिक्त उन्होंने छतीस काव्यलक्षणों का भी निर्देश किया है जिनमें से उदाहरण, निरुक्त, अतिशय, हेतु, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, प्रतिषेध, दृष्टान्त, संशय, अर्थापत्ति, आशीः, युक्ति आदि बाद में चलकर अलंकारवादियों के द्वारा कुछ परिवर्तन के साथ अलंकारों के अन्तर्गत समाहित किये गये। भरत ने इन लक्षणों को काव्यभूषण कहा है और उपमा आदि को अलंकार कहा है।

भरत के बाद भामह को ही प्रथम काव्यशास्त्री होने का गौरव प्राप्त है, क्योंकि उनके 'काव्यालंकार' में काव्यशास्त्रीय विषयों का क्रमिक और सुसम्बद्ध रूप प्राप्त होता है। वे अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी हैं। राजानक रुय्यक ने इन्हें उद्भट के साथ-साथ अलंकार परम्परा का प्राचीनतम आचार्य तथा चिरन्तन आलंकारिक कहा है—

"इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारतयालंकारापक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते ॥"[१३]

भामह का 'काव्यालंकार' छह परिच्छेदों में विभाजित है जिसके द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेदों में अलंकारों का विवेचन हुआ है। उन्होंने दो शब्दालंकारों तथा छत्तीस अर्थालंकारों का निरूपण किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति सभी अलंकारों के मूल में है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका यही सिद्धान्त कुन्तक के लिए उपजीव्य हुआ। बाद के आचार्यों ने भामह के सिद्धान्त के आधार पर ही अलंकार सम्प्रदाय का भव्य महल खड़ा किया।

भामह के बाद आचार्य दण्डी अलंकारवादियों में उल्लेख्य हुए। तीन परिच्छेदों में विभक्त उनके 'काव्यादर्श' के द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन हुआ है। इन्होंने अनुप्रास, यमक, चित्र और प्रहेलिका के भेद से चार शब्दालंकारों तथा पेंतीस अर्थालंकारों का निरूपण किया है।

सर्वप्रथम दण्डी ने ही अलंकार का लक्षण किया है। उनके अनुसार काव्य को शोभित करने वाले धर्म अलंकार कहे जाते हैं। दण्डी स्थान-स्थान पर भामह से मतभेद भी रखते हैं। वे वक्रोक्ति को भामह की तरह प्रमुखता नहीं देते हैं, अपितु उसे वे वाङ्मय का एक प्रकार मानते हैं। भामह ने सूक्ष्म, लेश तथा हेतु को इसलिए अलंकार नहीं माना था, क्योंकि उनमें वक्र-उक्ति का अभाव रहता है, किन्तु दण्डी ने सविस्तार इनका विवेचन किया है।

भामह और दण्डी के बाद अलंकारवादियों में जो कालक्रम से उल्लेख्य हैं, वे हैं उद्भट। इनका 'भामह-विवरण' नामक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। उपलब्ध होने वाला इनका ग्रंथ 'काव्यालंकारसारसङ्ग्रह' छह वर्गों अथवा अध्यायों में बंटा हुआ है। उन्होंने ४१ अलंकारों का विवेचन किया है। उनके दोनों ग्रन्थों के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे भामह के सिद्धान्तों के पोषक हैं, फिर भी उन्होंने अपने संग्रह ग्रन्थ में भामह के यमक, उत्प्रेक्षावयव, तथा उपमारूपक अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है। पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, काव्यहेतु, काव्यदृष्टान्त तथा संकर अलंकारों का विवेचन उनकी मौलिकता है। उद्भट की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने विवेच्य अलंकारों को छह वर्गों में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण बाद के अलंकारवादियों के लिए दिशा-निर्देशक हुआ। काव्यालंकारसारसङ्ग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की 'लघुवृत्ति' तथा राजानक तिलक की 'उद्भट-विवेक टीका' इस ग्रन्थ की महत्ता को प्रतिपादित करती हैं।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन भी काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ में काव्य पर विचार करते हुए कहा है कि दोष का त्याग करने तथा गुण एवं अलंकार का ग्रहण करने से काव्य में सौन्दर्य आता है। गुण काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं। किन्तु शोभा का जो अतिशय हेतु है, वह अलंकार ही है। उन्होंने उपमा को प्रधान अलंकार मानकर अन्य अलंकारों को उपमा का प्रपंच सिद्ध किया है। उन्होंने बत्तीस अलंकारों का विवेचन किया। व्याजोक्ति अलंकार की उद्भावना उनकी अन्यतम मौलिकता है।

काव्यशास्त्रियों में रुद्रट का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उद्भट ने अलंकारों को छह वर्गों में बांटा था, लेकिन उस वर्गीकरण में वैज्ञानिकता का अभाव है। रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष नामक चार वर्ग के अन्तर्गत बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से बासठ अलंकारों का विवेचन किया है। अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' के सोलह परिच्छेदों में से इन्होंने आठ परिच्छेदों में अलंकारों का निरूपण किया है। उन्होंने अपने चार प्रकार के वर्गीकरण को महत्वपूर्ण सिद्ध करते हुए कहा है कि यही विशेष है और अन्य निःशेष हैं—

"अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥"[14]

रुद्रट ने अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी रस-तत्त्व की विशदमीमांसा की है। काव्य में रस के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है—

"तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।"[15]

रस की महत्ता को स्वीकार करने के कारण ही इन्होंने रसवत् आदि अलंकारों का खण्डन किया और भाव तथा रस को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करने के सिद्धान्त का युक्तिपूर्ण खण्डन किया। भामह आदि के विवेचन में जो त्रुटियाँ रह गई थीं उनका निराकरण करके रुद्रट ने काव्यशास्त्रीय जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अपने मौलिक तथा स्पष्ट विचारों के कारण ही ये मम्मट आदि के लिए आदरपूर्वक उल्लेख्य हुए।

कुन्तक यद्यपि वक्रोक्ति नामक एक अलग सम्प्रदाय के जनक हैं, फिर भी उन्हें अलंकारवादी आचार्य कहना गलत नहीं होगा। उन्होंने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार की महत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने अलंकारों के लिए वाक्य-वक्रता को आवश्यक अंग माना और वाक्य-वक्रता से रहित अलंकारों का खण्डन किया। इसी कारण उन्होंने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' में केवल बीस अलंकारों को ही स्वीकार किया और अन्य अलंकारों को चमत्काराभाव के कारण त्याज्य समझा—

"वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्राऽलंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥
भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा ।
अलंकारस्तु ये केचिन्नालंकारतया मनाक् ॥"[16]

अलंकार के सम्बन्ध में कुन्तक की एक विलुप्त कारिका का उल्लेख सुबुद्धि मिश्र अथवा महेश्वर ने वामन पर अपनी टीका 'साहित्य मीमांसा' में किया है। इन कारिका की चर्चा डॉ० पी० वन्दोपाध्याय ने टोरन्टो विश्वविद्यालय में समर्पित अपने पी-एच०डी०—शोधप्रबन्ध में की है। इस कारिका के अनुसार अलंकार अभिधा का कोई प्रकार है जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और जो काव्य की विच्छित्ति या शोभा है—

"अभिधायाः प्रकारोऽस्ति कोऽपि यत्नादुदेत्यऽसौ ।
काव्यस्य कापि विच्छित्तिः सोऽलंकारोऽभिधीयते ॥"[17]

इस तरह कुन्तक अलंकारों के लिए वाक्य-वक्रता अथवा चमत्कार को अत्यावश्यक अंग मानते हैं। इसी कारण वे स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का खण्डन करते हैं। क्योंकि यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान लिया जाएगा तो अलंकार और अलंकार्य में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। अलंकारवादी आचार्य भामह को भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानवे में कुछ सन्देह बना हुआ था, इसी कारण उन्होंने 'इति केचित्प्रचक्षते'[18] ऐसा कहा है। कुन्तक ने रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि, उदात्त और समाहित अलंकारों का भी प्रभावोत्पादक

ढंग से खण्डन किया है। विच्छित्ति अथवा वैचित्र्य के अभाव के कारण वे समासोक्ति और विशेषोक्ति को भी अलंकार नहीं मानते हैं।

भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' नामक बृहत् ग्रन्थों में अन्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त अलंकार सिद्धान्त पर भी विस्तार से विचार किया है। इनका अलंकार-विवेचन एक तरह से पाण्डित्य-प्रदर्शन है और इन्होंने अलंकारों को शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के भेद से तीन भागों में बाँटते हुए तीनों के चौबीस-चौबीस भेद करके अलंकार के कुल बहत्तर भेदों का निरूपण किया है। उनके अनुसार शब्दालंकार बाह्य हैं, अर्थालंकार आभ्यन्तर तथा उभयालंकार मिश्र हैं। उन्होंने उपमा और रूपक के भी चौबीस-चौबीस भेद किये हैं। भोजराज ने प्रमाण, संभव तथा वितर्क जैसे विषयों को भी अलंकार के अन्तर्गत रखा है तथा उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा को उभयालंकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए गुण, रस, भाव तथा रसाभास आदि को भी अलंकार के अन्तर्गत ही समाहित करने का प्रयत्न किया है—"एवमवस्थापिते गुणरसतदाभासभावानामलङ्कारत्वे षट्प्रकारोऽलङ्कारसङ्करः सम्भवति।"[१९]

यद्यपि भोजराज काव्य में अलंकार की स्थिति को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, फिर भी वे गुण को अलंकार से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं—

"अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥
युवतेरिव रूपमगं काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥"[२०]

यद्यपि मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं और काव्य में अलंकार की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसकी अनिवार्यता का खण्डन करते हैं। फिर भी उन्होंने अपने 'काव्यप्रकाश' के नवम तथा दशम उल्लासों में अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने ही सर्वप्रथम शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विभेदक तत्त्व को स्पष्ट किया। उनके अनुसार यदि किसी शब्द में परिवर्तन कर देने से अलंकार की अलंकारता नष्ट हो जाती है तो वहां शब्दालंकार है और यदि उस शब्द के बदले में किसी अन्य शब्द के रख देने पर भी अलंकार की अलंकारता नष्ट नहीं होती है, वहां अर्थालंकार होता है। मम्मट ने सम, सामान्य, विनोक्ति तथा तद्गुण इन चार नये अलंकारों की स्थापना की। उन्होंने कुल सड़सठ अलंकारों का निरूपण किया है जिनमें वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार हैं। उन्होंने केवल संकर और संसृष्टि को ही उभयालंकार माना है।

राजानक रुय्यक भी मम्मट की तरह ही ध्वनिवादी आचार्य हैं, लेकिन उन्होंने भी अलंकारों का विस्तृत तथा वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रुय्यक के अनुसार काव्य की आत्मा व्यंग्य है और गुण तथा अलंकार तो उसकी चारुता के हेतु हैं—"तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्।"[२१]

रुय्यक ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' में साधर्म्यमूलक, अध्यवसायमूलक, शृंखलामूलक, तर्कन्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक, लोकन्यायमूलक तथा गूढार्थप्रतीतिमूलक के भेद से अर्थालंकारों को सात भागों में वर्गीकृत किया है। मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए वे कहते हैं कि उन्होंने अलंकारों को चित्तवृत्तियों के अनुसार विभाजित किया है—"चित्तवृत्तिगतत्वेनालंकाराः लक्षिताः।"[२२] उन्होंने कुल बयासी अलंकारों का निरूपण किया है।

शोभाकर मित्र ने अपने ग्रन्थ 'अलङ्काररत्नाकर' में सौ से भी अधिक अलंकारों का वर्णन किया है जिसमें से ४१ नवीन अलंकार हैं। वे केवल संकर को ही उभयालंकार मानते हैं और संसृष्टि का खण्डन करते हुए कहते हैं—"न संसृष्टि पूर्वहानाचारुत्वाभावाच्च।"[२३]

अलंकार-निरूपण की दृष्टि से जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' भी एक अत्यन्त उल्लेखनीय ग्रन्थ है। चन्द्रालोक के दस मयूखों में से केवल पञ्चम मयूख में ही अलंकार विवेचन है जिसमें जयदेव ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है तथा मम्मट आदि ध्वनिवादियों के विचारों का खण्डन किया है।

अलंकार का विवेचन करने वाले आचार्यों में विद्याधर भी उल्लेख्य हैं जिनकी 'एकावली' पर मल्लिनाथ की तरला टीका प्राप्त होती है। आठ उन्मेषों में विभक्त एकावली पर भामह तथा मम्मट का प्रभाव है। इसके सप्तम तथा अष्टम उन्मेषों में अलंकारों का वर्णन है। उन्होंने पाँच शब्दालंकारों के अतिरिक्त ७२ अर्थालंकारों को रुय्यक की तरह ही सात वर्गों में बाँट कर उनका निरूपण किया है।

विश्वनाथ महापात्र रचित 'साहित्यदर्पण' एक अत्यन्त लोकप्रिय काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसके दशम परिच्छेद में ८६ अलंकारों का निरूपण हुआ है। उन्होंने निश्चय तथा अनुकूल नामक दो नये अलंकारों की उद्भावना की है। रसवादी आचार्य होते हुए भी विश्वनाथ ने अलंकारों का विस्तार से विचार किया है।

विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों तथा काव्यों के रचयिता भानुदत्त ने 'अलंकारतिलक' नामक ग्रंथ में रस को काव्य की आत्मा मानते हुए गुण तथा अलंकार को काव्य की इन्द्रियाँ माना है, परन्तु वे उसी काव्य को उत्तम काव्य कहते हैं जिसमें गुण तथा अलंकार की बहुलता हो—"अथ रसा आत्मानः।······गुणालङ्कारा इन्द्रियाणि।······तस्माद् गुणालङ्कारबहुलमुत्तमम्, अल्पतरगुणालङ्कारं मध्यमं, गुणालङ्काररहितमधमम्।"[२४]

अप्पय दीक्षित ने कई विद्वतापूर्ण ग्रंथों की रचना की है जिनमें 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानंद' उनके अलङ्कार शास्त्रीय ग्रंथ हैं। चित्रमीमांसा में कुछ ही अलङ्कारों का प्रौढ़ तथा खण्डनमण्डनपरक विवेचन हुआ है, किन्तु कुवलयानन्द में उन्होंने सवा सौ अलंकारों का निरूपण किया है। कुवलयानन्द वस्तुतः जयदेव के चन्द्रालोक पर आधारित है, परन्तु इसमें नये सत्रह अलंकारों का समावेश है।

अलंकार-विषयक ग्रंथों की कड़ी में विश्वेश्वरपण्डित कृत 'अलङ्कारकौस्तुभ' भी उल्लेख्य कृति है। विश्वेश्वर पण्डित ने अपने ग्रंथ में अलंकारों के अनावश्यक संख्या-विस्तार

को मर्यादित करते हुए मम्मट के अलंकार-निरूपण के अनुरूप अनेक अलंकारों का खण्डन करके केवल एकसठ अलंकारों का ही विवेचन किया है—

"अव्यैरुदीरितमलङ्करणान्तरं यत् काव्यप्रकाशकथितं तदनुप्रवेशात् ।
संक्षेपतो बहु निबन्धविभावनेनालङ्कारजातमिह चारुमयान्यरूपि ।।"[२५]

विश्वेश्वर पण्डित के बाद भी आधुनिक समय तक अलङ्कारशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं और आज भी लिखे जा रहे हैं, किन्तु ऐसे ग्रन्थों में से अधिकांश पूर्व आचार्यों के सिद्धान्तों का ही पिष्टपेषण करने वाले हैं। यदि किसी अलङ्कारवादी आचार्य ने कुछ नवीनता दिखाने का प्रयत्न भी किया है तो उनके सिद्धान्त पर एकाधिक आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि संस्कृत का अलङ्कार सम्प्रदाय भारतीय अलङ्कार सिद्धान्त का पूर्ण व्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करता है। इसके जितने भी आचार्य हुए हैं उन सब के सिद्धान्त किसी न किसी रूप में प्रभावोत्पादक हैं और प्रथमदृष्ट्या ऐसे प्रतीत होते हैं कि उनका खण्डन सम्भव नहीं है। जब हम अलङ्कारवादी आचार्य के सिद्धान्तों को देखते हैं तो ऐसा लगता है कि काव्यों के लिए जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य तत्त्व है, वह अलङ्कार ही है और जब हम ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से देखते हैं तो पाते हैं कि अलंकार तो एक शोभाधायक तत्त्व है और ध्वनि या रस ही अनिवार्य तत्त्व है। वस्तुतः, ध्वनिवादियों का मत ही अधिक समीचीन भी प्रतीत होता है जिसके अनुसार रस अलंकार्य होता है और उपमा आदि अलंकार हैं। अलंकार रसों के उपकारक होकर ही काव्यों में आते हैं। तथापि स्वयं ध्वनिवादियों ने भी अलंकारों के महत्त्व को समझा है और विविध अलंकारों का विस्तृत वर्णन किया है। लेकिन कटक, कुण्डल या हार की तरह यदि अलंकारों को काव्य आभूषण न मानकर उन्हें काव्य रूपी शरीर का त्वक् माना जाए तो यह कहीं ज्यादा उपयुक्त होगा और ऐसी स्थिति में ध्वनि अथवा रस की सर्वोपरिता अक्षुण्ण भी रह जाएगी और अलंकार की महत्ता या अनिवार्यता भी निर्विवादतः स्थापित हो जाएगी।

सन्दर्भ-सूची :

१. भामह : काव्यालङ्कार- ६/३०
२. विद्यानाथः प्रतापरुदीय (नायक प्रकरण) कारिका २ पर रत्नापण टीका
३. मम्मट : काव्यप्रकाश-८/८७
४. काव्यालङ्कार-१/१३
५. दण्डीःकाव्यादर्श-२/१
६. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-१/१/२, १/१/१ तथा ३/१/२
७. काव्यप्रकाश-१/१
८. जयदेव : चन्द्रालोक-१/८

९. अग्निपुराण (काव्यशास्त्रीय भाग)-८/१,२
१०. भरत : नाट्यशास्त्र-१६/४०
११. वही-१६/४६
१२. वही-१६/६०-६२
१३. रुय्यक : अलङ्कारसर्वस्व-पृ० ३
१४. रुद्रट : काव्यालङ्कार-७/९
१५. वही १२/२
१६. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित-१/२० तथा ३/४४
१७. वही-भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोक्ति सिद्धान्त (विजेन्द्र नारायण सिंह) पृ० १३१ पर उद्धृत
१८. काव्यालङ्कार-२/९३
१९. भोजराज : श्रृंगारप्रकाश-जिल्द २, पृ० ८८३ (डॉ० वी.राघवन् कृत श्रृंगारप्रकाश : एक अध्ययन, पृ०९८ पर उद्धृत)
२०. भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण-१/५९ तथा १५८
२१. अलङ्कारसर्वस्व-पृ० ८
२२. वही पृ० २१४
२३. शोभाकर मित्र: अलङ्काररत्नाकर-सूत्र १११
२४. भानुदत्त : अलङ्कारतिलक (भानुदत्त ग्रंथावली)-पृ० २४३
२५. विश्वेश्वर पण्डित : अलङ्कारकौस्तुभ-पृ० ४१९

अलंकारविभाग का नियामक तत्त्व

लेखक—प्रो० आर०सी० द्विवेदी
संस्कृत-विभाग,
राजस्थान वि०वि०
जयपुर, (राजस्थान)

किस अलङ्कार को शब्द का और किसे अर्थ का माना जाय इस पर सम्भवतः सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन राजानक तिलक से प्रारम्भ होता है। गुणों को शब्द तथा अर्थ का धर्म स्थिर करने के लिए वामन ने भी एक सिद्धान्त का आश्रय लिया था किन्तु अलंकारों के सम्बन्ध में साक्षात् विचार न होने से वामन को अलङ्कारविभाग के नियामक तत्त्व को स्थिर करने वाला नहीं माना जा सकता है। यद्यपि यह अवश्य है कि उनके गुण-विभाग के विवेचन से, जो स्वयं अधिक विशद या स्पष्ट नहीं है, परवर्ती ग्रन्थकारों तथा टीकाकारों को सहायता अवश्य मिली होगी।

अलङ्कारविभाग के दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। एक है आश्रयाश्रयिभाव और दूसरा है अन्वयव्यतिरेकभाव। इन दोनों सिद्धान्तों के उद्भावक आचार्य उद्भट हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। समुद्रबन्ध के अनुसार उद्भट आदि प्राचीन आचार्य प्रथम सिद्धान्त के समर्थक थे।[1] अन्वयव्यतिरेकवाद न केवल इनके अनुसार युक्तिहीन ही है अपितु प्राचीन आचार्यों के मत के विपरीत भी है—

अन्वयव्यतिरेकपक्ष न केवलं युक्तिविरोधः उद्भटादिपूर्वाचार्यविरोधोऽपि।

—समुद्र०पृ० २२८

रुय्यक की पंक्ति-तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिः (अ०स०पृ० ५७) से भी यही संकेत मिलता है कि प्राचीन आचार्य, जिनमें उद्भट की निश्चित रूप में गणना है, आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक थे। इस प्रकार परम्परा के अनुसार कम से कम उद्भट तो अवश्य ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादक या समर्थक थे किन्तु हमें प्रकाशित काव्यालंकारसार-संग्रह में इस प्रकार का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है जिससे हम उद्भट को इस मत का उद्भावक आचार्य कह सकें। जो भी हो इतना निश्चित है कि मम्मट तथा रुय्यक दोनों ही उपर्युक्त सिद्धान्तों के निरूपण के लिए बहुत कुछ राजानक तिलक के अनुगृहीत हैं। जयरथ का कथन है कि तिलक ने अपनी काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका[2] में

---

१. काव्यप्रकाश के टीकाकार सारबोधिनीकार उद्भट को अन्वयव्यतिरेकवाद का समर्थक बताते हैं—

सारबोधिनीकारास्तु-उद्भटाचार्यमते अप्येवमिति दर्शयति योऽलंकार इति।

—काव्यप्रकाश (झलकीकार) पृ० ७६८

२. एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तम्।—वि०पृ० २५७

आश्रयाश्रयिभाव के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। आश्रयाश्रयिभाव शब्द न आने पर भी दो स्थलों में इस सिद्धान्त का निरूपण हमें प्रकाशित पुस्तक में मिलता है।[३] रुय्यक अपने पिता राजानक तिलक के अनुयायी हैं अतः यह कहना गलत न होगा कि आश्रयाश्रयिभाव के सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक रुय्यक तिलक का ऋणी है।

मम्मट अन्वयव्यतिरेकवाद के प्रमुख समर्थक आचार्य हैं। उनके अनुसार न केवल अलङ्कार अपितु दोष तथा गुण के भी शब्दार्थोभय-विभाग का आधार अन्वयव्यतिरेकभाव है।

इह दोषागुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।[४] — का०प्र० (अनन्तशयनम्) पृ० २२८-२९

राजानक तिलक की विवृति में अन्वयव्यतिरेकभाव के लिए पर्याप्त निर्देश हैं। अतः यह कहना (जैसा कि श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी अनुमान है) युक्तिसंगत होगा कि मम्मट ने अपने सिद्धान्त का विकास राजानक तिलक के प्रतिपादन के आधार पर किया है। श्लेष के प्रसंग में इनका यह कथन तो अन्वयव्यतिरेकवाद का स्पष्ट अभिधान-सा करता है—

काव्ये दोषगुणानां च शब्दार्थगतयान्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः क्रियते। न च भानुदीव्यमानादिशब्दसद्भावेऽलंकारोऽन्येति शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। —विवृति, पृ० ४०

काव्यप्रकाश के तथा विवृति[५] के ऊपर उद्धृत अंश को एक साथ पढ़ने पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि तिलक के शब्दों तक को मम्मट ने अपने सिद्धान्त के विकास में उधार लिया है। इस प्रकार विवृत्ति में दोनों सिद्धान्तों का सूक्ष्म निर्देश है; यह कहना

---

३. प्रासंगिक उद्धरण निम्नलिखित हैं—

(अ) अत्र शब्दमुखेनार्थस्य विचित्रत्वेऽपि मुख्यतः कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्य शब्दस्य वैचित्र्यमिति शब्दालंकारत्वं युक्तम्। ग्रंथगौरवभयात्तु न प्रतनुमः। किञ्चित्तु श्लेषस्थाने वक्ष्यामः।—विवृति, पृ० ११

(ब) एवं चेह चतुर्थरूपकं श्लेषव्यतिरेकश्च यदुक्तं तस्योक्तनयेन शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। एवमादौ शब्दमूलालंकारो न शब्दस्यालंकार इतिचेत् उक्तमत्र वैचित्र्यमलंकार इति। यद्वैचित्र्यं तस्यालंकार इति यथोक्तमेव साधु।—वही, पृ० ४०

४. श्री विद्याचक्रवर्ती इस पर टीका करते हुए लिखते हैं—

इह हि न केवलम् अलङ्काराणां यावता दोषादीनां सर्वेषामेव धर्माणां यो विभागः स तत्तच्छब्दार्थान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवस्थितिं लभते।

—सं०प्र० (द्वितीय भाग) पृ० २२८-२९

५. पुनरुक्तवदाभास को उभयालङ्कार सिद्ध करते हुए विवृतिकार का विवेचन भी उल्लेख्य है······नागशितिकण्ठपर्यायोपादानेऽप्यलंकारो न हीयते इत्यर्थोऽलंकार्यः। कुंजरकालगलशब्दपर्यायोपादाने तु नालंकारो भवतीति शब्दोऽलंकार इत्युभयावलम्बनोऽयमलंकारः।—विवृति, पृ० ३

कठिन है कि राजानक तिलक किस मत को वरेण्य समझते थे । सिद्धान्त रूप में भले ही उन्हें आश्रयाश्रयिभाव अभीष्ट रहा हो पर उन्होंने उदाहरणों में अनेकत्र अन्वयव्यतिरेक का सहारा लिया है । हमें इस प्रसंग में यह भूलना न होगा कि तिलक दोनों ही सिद्धान्तों का मूलाधार यद्वैचित्र्यवाद मानते हैं । किसी कविता में शब्द या अर्थ के आश्रय से अथवा उसके अन्वय या व्यतिरेक से अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता है । निर्णय का आधार तो वैचित्र्य या चमत्कार की अनुभूति का केन्द्र बिन्दु ही होगा । जहाँ जिससे वैचित्र्य की अनुभूति होगी वहाँ उसी के अनुसार अलङ्कार होगा । इस अनुभूति के दो आधार हैं—सहृदय और कविविवक्षा । किसी भी काव्यमयी सृष्टि के अभिव्यंजनापक्ष पर विचार करने पर इन दो को ओझल नहीं जा सकता है—कवि का कथ्य या उसकी और पाठक विवक्षा-सहृदय की कविता के प्रति प्रतिक्रिया । ये दोनों ही परस्पर अविरोधी भाव से काव्य के भाव पक्ष के ही क्यों शिल्पपक्ष के भी निर्णायक हैं । अस्तु, राजानक तिलक ने शब्द तथा अर्थ में अलंकार के विभाग का आधार यद्वैचित्र्यवाद को माना है । जहाँ जिसका वैचित्र्य है वहाँ उसी के आधार (आश्रय) पर अलङ्कार है । रससिद्ध कवि की वाणी में यह वैचित्र्य एक विशिष्ट शब्द से इतना तद्रूप हो जाता है कि उस शब्द के रहने पर ही चमत्कार की अनुभूति होती है । यही कारण है कि राजानक तिलक ने यद्वैचित्र्यवाद को मानकर आश्रयाश्रयिभाव तथा अन्वयव्यतिरेकभाव दोनों से ही उसकी संगति बैठा ली थी । वैचित्र्य अलंकार का पर्याय है वही अलङ्कार के विभाग का भी नियामक है, अतः राजानक तिलक का सिद्धान्त मूल के स्वरूप (परिभाषा) से ही अनुप्राणित हैं ।

अन्वयव्यतिरेकभाव—

मम्मट के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव अलङ्कार के शाब्दत्व या आर्थत्व के निर्णय का आधार है। अन्वय का अर्थ है जिसके रहने पर जो रहे यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः। व्यतिरेक उसे कहते हैं यदि कोई वस्तु किसी के न रहने पर नरहे —यद भावे यदभावो व्यतिरेकः । दण्डचक्र के रहने पर ही घड़े की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं । इस प्रकार घटभाव दण्डचक्र के भाव पर लम्बित है इसे अन्वयसम्बन्ध कहेंगे । दण्डचक्र के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं होती अतः दोनों में व्यतिरेक सम्बन्ध है। किसी शब्दविशेष के रहने पर अलङ्कार विशेष रहे और न रहने पर न रहे तो अन्वयव्यतिरेकभाव से नियन्त्रित होने के नाते उसे शब्दालंकार कहा जाएगा ।[६] यदि शब्दपरिवर्तन कर देने पर भी अलङ्कार रहे तो वह अर्थालंकार होगा—

यो‌ऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः"[७] ।—का०प्र०, पृ० ४२७

---

६. सति शब्दे शब्दालंकारोऽस्ति । असति नास्तीत्यादि भावाभावानुविधानम्
—सं०प्र० (द्वितीय भाग), पृ० ४२७

७. काव्यानुशासन (नि०सा०), पृ० ३५२ तथा का०प्र० (अनन्तशयनम्), पृ० ४२७ का पाठ निम्नलिखित है—'भावाभावावनुविधत्ते' ।
अतः अन्वयव्यतिरेकवाद के अतिरिक्त भावाभाववाद भी इस सिद्धान्त को संज्ञा दी जा सकती है ।

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करने वाले आचार्य तथा उनके अनुयायियों का कहना है कि यह एक अस्पष्ट सिद्धान्त है, इसका स्वरूप निश्चित नहीं है। ऐसे अलंकार जो केवल शब्द या केवल अर्थ पर आश्रित हों कम मिलेंगे। फिर सभी शब्दालंकारों का अर्थ से और सभी अर्थालंकारों का शब्द से सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। शब्द के बिना अर्थ कैसे होगा अतः आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलङ्कारों का शब्दार्थ-विभाजन निश्चित नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त को मानने से शब्दालङ्कार-अर्थालङ्कार और अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार बन सकते हैं। अतः आश्रयाश्रयिभाव मानना उचित नहीं है। अन्वयव्यतिरेक-वादी के अनुसार तो आश्रयाश्रयिभाव अन्ततः अन्वयव्यतिरेकभाव पर ही आधारित है—

योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टयाश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलङ्काराणां यथोक्तिनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।—वही पृ० ४२८

अन्वयव्यतिरेक की आलोचना

मम्मट ने अलङ्कार का निर्णायक तत्त्व जानने के लिए तर्क-प्रणाली को अपनाया है पर अलङ्कार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नहीं होता और सहृदय पाठक अन्वयव्यतिरेक के बुद्धिव्यापार द्वारा तर्क का आश्रय नहीं लेता। अलङ्कार यदि विच्छित्ति है, वैचित्र्य है तो अमुक अलङ्कार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलङ्कार से उत्पन्न सौन्दर्यबोध के साथ ही हो जाना स्वाभाविक है। उसके ज्ञान की भिन्न प्रक्रिया नहीं होती। इस प्रक्रिया को हम इसी सौन्दर्यबोध की प्रक्रिया का अंग मान सकते हैं। सौन्दर्य की प्रतीति के साथ सौन्दर्य का कारण भी जुड़ा रहता है। अतः अलङ्कारबोध के साथ ही हमें अलङ्कार के आश्रयत्व का अथवा अमुक अलङ्कार में किस तत्त्व की प्रधानता है इसका ज्ञान हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्वयव्यतिरेकभाव का खण्डन किया है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है। और उस हेतु का अपने कार्य के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का। दण्डादि में घट की सत्ता नहीं होती है किन्तु शब्द तथा अर्थ में अलङ्कार की सत्ता रहती है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक अलङ्कार का आधार शब्द है अथवा नहीं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु। नतु आश्रयत्वावगमः स पुनस्तद्वृत्तिज्ञानत्वाधीनः—रसगंगाधर, पृ० ४०२

अन्वयव्यतिरेकवाद की आलोचना करते हुए रुय्यक का कथन है कि अन्वय या व्यतिरेक-एक के रहने या न रहने पर किसी दूसरे का रहना या न रहना अलङ्कार की कार्यता का निश्चय कर सकता है अलङ्कारत्व का उससे निश्चय नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रौतोपमा में इव शब्द का प्रयोग कारण है। उपमा का श्रौत होना कार्य किन्तु यह अलंकार (श्रौतोपमा) शब्दालंकार माना जाय या अर्थालंकार इसका निर्णय

अन्वयव्यतिरेक से नहीं करना चाहिए[८]। श्रौतोपमा की भाँति ही वाच्योत्प्रेक्षा भी है जिसमें इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा को वाच्य अवश्य बनाता है किन्तु उसे अर्थालंकार मानने का कारण तो उत्प्रेक्षा का अर्थ पर आक्षिप्त होना ही है। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक-भाव किसी अलंकार विशेष के साथ कारण-कार्य के सम्बन्ध का विवेचन अवश्य करता है किन्तु उसकी शब्द, अर्थ या उभय की अलंकारता का निर्णायक नहीं हो सकता है। सुवर्ण कुण्डल का उपादान कारण है। सुवर्ण कारण है और कुण्डल कार्य किन्तु उसे कान का आभूषण क्यों कहा जाता है इसका आधार कारण-कार्य का सम्बन्ध न होकर कर्ण के आश्रय से विच्छित्ति या चमत्कार उत्पन्न करना ही है। अतः जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डल की कार्यता का नियामक भले ही हो पर उसे कर्णालंकार कहे जाने का नियामक नहीं माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार श्रौतोपमा या वाच्योत्प्रेक्षा में इव शब्द तथा इसी प्रकार अन्य अनेक अलंकारों में सह, हि आदि शब्दों का प्रयोग या अप्रयोग अलंकार की कार्यता का प्रयोजक भले ही हो पर उस अलंकार के शब्द या अर्थ के कहे जाने का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त कारण-कार्य के औपपत्तिक सम्बन्ध की विवेचना करता है किन्तु वह काव्य में प्रतीति या सौन्दर्यबोध की व्याख्या नहीं कर पाता है। साथ ही वह अलंकार-विभाग का सारा श्रेय शब्द विशेष के प्रयोग या अप्रयोग पर छोड़ देता है। इस सिद्धान्त का युक्तिगम्य परिणाम यह होगा कि जहाँ किसी अलंकार में कोई शब्द या अभिव्यक्ति, जैसे कि इव, यथा, हि, विना, सह आदि आलंकारिक शिल्प के आनुषंगिक तत्त्व होंगे, वे ही प्रधान बनकर अलंकार के शाब्द या आर्थ होने के घटक तत्त्व बन जाएंगे। यह तार्किक परिणाम कदाचित् मम्मट को भी स्वीकार न होगा।

परवर्ती अन्य आलंकारिकों में विद्याधर[९] तथा विद्यानाथ[१०] आश्रयाश्रयिभाव को मानने के नाते ही पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार मानते हैं। अप्पयदीक्षित भी इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। इसीलिए वे सभंग तथा अभंगश्लेष को अर्थालंकार मानते हैं।

आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त

रुय्यक के अनुसार जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसका अलंकार होता है—योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः। यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार कहा जाएगा। लौकिक आभूषणों के सम्बन्ध में भी यह बात चरितार्थ होती है[११]। कटक

---

८. अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। —अ०स०, पृ० २५६-५७

९. देखिए— प्रताप रुद्र० ३४३

१०. देखिये—एका० पृ० ५०९ की टिप्पणी।

११. क—अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः।
ख—आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्। —अ०स०, पृ० १२४

हाथ का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह हाथ पर आश्रित है। कुण्डल कानों तथा नूपुर पैरों का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह कानों और पैरों में पहिना जाता है, उस पर आश्रित है। विमर्शिनी ने "लोकवद्" की व्याख्या करते हुए यही मन्तव्य प्रकट किया है—

लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः।

—वि०, पृ० २५७

हाथ के संयोगमात्र से नूपुर हाथ का अलंकार नहीं हो सकता और न पैर के संयोग से कटक या कुण्डल पैरों का। लौकिक आभूषणों तथा काव्यालंकार का इस अंश तक साम्य है। आश्रय का निश्चय शोभा, विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर होता है इसकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं।

रुय्यक् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्वय-व्यतिरेक केवल कार्यता के प्रयोजक हो सकते हैं शब्दादि की अलंकारता का नियामक केवल आश्रयाश्रयि भाव ही है। अन्वय-व्यतिरेक को शब्दादि की अलंकारता का प्रयोजक मानने से श्रौतोपमा आदि को भी शब्दालंकार मानना पड़ेगा—

लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्।

—अ०स०, पृ० २५६-५७

राजानक जयरथ ने रुय्यक के उपर्युक्त मन्तव्य पर टीका करते हुए लिखा है कि यद्यपि शब्द, अर्थ तथा उभय के अलंकार समान रूप से काव्य में शोभातिशय का आधान करते हैं किन्तु कोई अलंकार शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों का क्यों माना जाता है इस प्रतिनियम का निर्णायक लोक की ही भाँति आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त है। लोक में जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलंकार कहलाता है जैसे कुण्डल आदि कर्ण आदि पर आश्रित होने से (न कि सुवर्ण से निर्मित होने के कारण) कर्ण का अलंकार कहलाता है। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र में भी शब्द आदि पर आश्रित रहने वाला शब्दादि का अलंकार होता है[१२]—

लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलंकारः।

—वि० पृ० १२४

आश्रयाश्रयिभाव का यह सिद्धान्त सौन्दर्यविधान के तत्त्व पर आश्रित है इसलिए जयरथ इसे उपस्कार्योपस्कारक भाव भी कहते हैं। यदि किसी अलंकार द्वारा शब्द का उपस्करण होता है तो वह शब्दालंकार, अर्थ का उपस्करण होता है तो अर्थालंकार कहलाएगा—

आश्रयाश्रयिभावेनेति। उपस्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः। तेन योऽलंकारो यदुपस्कारः स तदलंकार इति पिण्डार्थः।

—वि० पृ० २५७

१२: वि० पृ० २५७

सौन्दर्य-विधान का निश्चय सहृदय की अनुभूति और कवि की विवक्षा द्वारा सम्भव है, राजानक तिलक के मत का विवेचन करते हुए हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक का वाद केवल "औपपत्तिक" कार्यकरण-भाव पर आधारित होने के नाते काव्यालंकार के विवेचन में यह नियामक सिद्धान्त नहीं हो सकता है। आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त अलंकार द्वारा सौन्दर्यविधान, उस सौन्दर्य की सहृदय द्वारा अनुभूति एवं कवि की विवक्षा पर आश्रित होने के नाते ग्राह्य सिद्धान्त है।

कतिपय अलंकारों का विभाग—

आश्रयाश्रयिभाव को अलंकार-विभाग का आधार मान लेते पर पुनरुक्तवदाभास, श्लेष तथा वक्रोक्ति आदि कतिपय अलंकार शब्दालंकार की कोटि में नहीं रहते जो अन्वय-व्यतिरेकवाद को निर्णायक तत्त्व मानने के कारण इस कोटि में आते हैं।

अनेक आचार्य, जिनमें मम्मट, शोभाकर तथा विश्वनाथ प्रमुख हैं, पुनरुक्तवदाभास की शब्दालंकार में गणना करते हैं। मम्मट[13] तथा विश्वनाथ यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से इसे उभयालंकार मानना चाहेंगे।[14] किन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता अथवा कुछ प्राचीन आचार्यों की परम्परा का पालन करने के लिए उन्होंने इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत ही रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ[15] ने अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार की कोटि में रखा है। शोभाकर ने आश्रयाश्रयिभाव को सम्भवतः मानकर भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार सिद्ध करने का लम्बा चौड़ा शास्त्रार्थ कर डाला है। उनका कहना है कि आमुख तुल्यार्थ का होना शब्द का धर्म है, और फिर पौनरुक्त्य अर्थ का धर्म नहीं हो सकता अतः शब्दाश्रित होने के कारण इसे शब्दालंकार मानना चाहिए; अर्थालंकार नहीं—

आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दालंकारोऽयम्। नत्वर्थधर्मः पौनरुक्त्यमलंकार इत्यार्थालंकारता वाच्या।—अ०र०, पृ० १-२

वस्तुतः शोभाकर ने न तो आश्रयाश्रयिभाव का सही उपयोग किया है और न पुनरुक्तवदाभास के चमत्कार तत्त्व पर ही विचार किया है। उन्होंने केवल सर्वस्व के मत का खण्डन करने का दुराग्रह किया है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार ही मानना उचित है। इस अलंकार में चमत्कार समान अर्थ के आभास में होता है। न तो इसमें शब्दों की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की, केवल अर्थ की पुनरुक्ति का आभास भर होता है अतः इसे शब्द पर आश्रित मानना युक्तिहीन है। अन्वयव्यतिरेक-वादी आचार्यों के मतानुसार भी पुनरुक्तिवदाभास में अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है पर

---

१३. एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ। —का०प्र०, पृ० ४२७

१४. अतएव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः।
—का०प्र० (पूना), उद्योत टीका, पृ० ७६८

१५. वस्तुतोऽयमुभयालंकारः। —सा०द०, पृ० ४७२

वे शब्दवैचित्र्य की उत्कटता को लेकर या केवल कुछ प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करने के लिए इसे शब्दालंकार मानने का दुराग्रह करते हैं। पर उनका यह विचार सदोष है। जहाँ तक शब्दों के उच्चारण का प्रश्न है उनमें न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न चमत्कार ही। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमें तब होती है जब हम अर्थ पर विचार करते हैं। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दों पर अवलम्बित हैं अर्थहीन तर्क है, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दों के उपादान पर निर्भर है पर इसीलिए सभी अर्थालङ्कार को शब्दालङ्कार तो नहीं माना जा सकता। अर्थालङ्कारों में जो सादृश्य, साधर्म्य आदि प्रतीत होता है वह सब अन्ततः शब्दधर्मक है फिर इस तरह तो उपमादि सभी अलंकारों को चमत्कार माना जा सकता है।[१६] अर्थपुनरुक्ति का आभास पुनरुक्तवदाभास का जीवातु है। इसमें सौन्दर्य अर्थतत्त्व पर आश्रित है अस्तु, इसे अर्थालङ्कार ही मानना चाहिए[१७] शब्दालङ्कार[१८] या उभलङ्कार नहीं।[१९]

श्लेष के दो भेद हैं सभंग तथा अभंग श्लेष। उद्भट तथा रुय्यक के अनुसार पहला शब्द पर और दूसरा अर्थ पर आश्रित है। स्वर (उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित) प्रयत्न (बाह्य और आभ्यन्तर), तथा स्थान में भेद होने पर शब्दश्लेष होता है और इनके भिन्न न होने पर श्लेष[२०]। आश्रयाश्रयितभाववादी आचार्य रुय्यक का यही मत है। अन्वयव्यतिरेकवादी के अनुसार यदि वाक्य में प्रयुक्त शब्द पर्यायपरिवृत्तसह है तब तो श्लेष अर्थालङ्कार होगा, अन्यथा शब्दश्लेष अलङ्कार होगा। आश्रयाश्रयिभाव को निर्णायक तत्त्व मान लेने पर ये दोनों श्लेष अर्थालङ्कार की कोटि में चलेजाते हैं। अभंग श्लेष को तो शब्दालङ्कार मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें पदभंग न होने के कारण शब्द एक रहता है और उच्चारण, प्रयत्न या स्थान में भेद नहीं रहता।

रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणाः यथैव॥

—अ०स०, पृ० १२६

---

१६. सर्वेषामप्यलङ्काराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालङ्कारत्वं स्यात्।
—वि०, पृ० २२

१७. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालङ्कारत्वं ज्ञेयम्। —अ०स०, पृ० २१

१८. एवकारः शब्दपौनरुक्त्यावच्छेदद्योतकः। तेन शब्दस्यापौनरुक्त्यान्न शब्दालङ्कारो नाप्युभयालङ्कारोऽयम्। —वि०, पृ० २१

१९. मम्मट तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त राजानक तिलक भी पुनरुक्तवदाभास को उभयालङ्कार मानते थे —उभयालम्बनोऽयमलङ्कारः। —विवृति, पृ० ३

२०. तत्रोदात्तादिस्वरभेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दश्लेषः। यत्र प्रायेण, पदभंगो भवति अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति अतएव न तत्र सभंगपदत्वम्। अ०स०, पृ० १२३

लाल पटल धारण किए हुए (श्रमण पक्ष में—मुण्डित सिर वाले), जल से लिपटी नालसे संयुक्त (श्रमण पक्ष में—मूर्खों की संगति एकदम न करने वाले), पुष्पों की सम्पूर्ण शोभा को पराजित कर (श्रमण पक्ष में—काम से अपनी सारी अभिलाषा को हटाकर) कमल श्रमणों जैसे सुशोभित हो रहे हैं।

इस उदाहरण में "रक्तच्छदत्वम्" में पदभंग की आवश्यकता नहीं है। यहाँ श्लेष दो अर्थों (रक्त पत्र, रक्तांशुक) पर आश्रित है उसके उच्चारण, प्रयत्न तथा स्थान में भेद नहीं है। अस्तु, यहाँ अर्थश्लेष है। इसे रुय्यक ने एक ऐसे वृत्त के समान कहा है जिसमें दो फल लगे हों।

अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्।

—अ०स०, पृ० १२४

चूंकि दोनों अर्थों की प्रतीति यहाँ एक शब्द या पद (रक्तच्छद) से होती है अतः चमत्कार अर्थ पर आश्रित है अस्तु, अभंगश्लेष अर्थश्लेष है, अर्थालङ्कार है। "अर्थभेदे शब्दभेदः" इस सिद्धान्त के अनुगार यह कहना कि यहाँ भी दो अर्थों के कारण दो शब्द हैं क्योंकि एक शब्द तो एक ही अर्थ बताकर विश्रान्त हो जाता है—सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति—उचित नहीं है क्योंकि जहाँ तक स्वर, प्रयत्न तथा स्थान की दृष्टि से उच्चारण का प्रश्न है दोनों दशाओं में शब्द एक ही रहता है। "अर्थभेदाच्छब्दभेदः"—अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाने पर शब्द भिन्न हो जाता है—इस सिद्धान्त को अक्षरशः मानने पर तो अन्वयव्यतिरेकवादी के अर्थालङ्कार श्लेष में दो शब्द होंगे और वह शब्दालङ्कार बन जाएगा। अस्तु, यह मानना चाहिए कि जहाँ शब्दभेद केवल औपपत्तिक हो (जैसे कि रक्तच्छदत्व आदि में) वहां अर्थश्लेष ही होगा पर जहाँ शब्दभेद प्रातीतिक है वहाँ शब्दश्लेष मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभाववादी रुय्यक तथा जगन्नाथ का यही मत है।

यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतिरेकतावसान्नास्ति शब्दभेदः। —अ०स०, पृ० १२४

तथा—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभंगस्य) अपि प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेदस्य इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वाद् परमुभयत्र "हरि" इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अतएवाभंगस्य शब्दद्वयवृत्तिसाधनं न सुशकम्। अन्यथा प्रत्यर्थं शब्दभेद इति नये पराभिवतोऽर्थलेषोऽपि शब्दालङ्कार एव स्यात्।

—रसगंगाधर, पृ० ५३६-३७

सभंग श्लेष को रुय्यक ने शब्दश्लेष कहा है पर क्या इतने से ही इसका परिगणन शब्दालङ्कार में होना चाहिए? मेरा विचार है 'नहीं'। सभंगश्लेष में शब्द कारण होता है और शब्दचमत्कार या उसके खिलवाड़ की प्रतीति होती है पर प्रधानता अर्थ के चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालङ्कार के प्रकरण में रखा है। मम्मट ने इस पर यह आलोचना की है—

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च गणयत इति कोऽयं नयः।
—का०प्र० (पूना), पृ० ५२७

मम्मट द्वारा उद्भट की यह आलोचना जो रुय्यक पर भी लागू होती है, उचित नहीं। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमें आंशिक भेद है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि ये शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार की विभिन्न कोटियों में आते हैं। दोनों का यह आंशिक भेद स्पष्ट है कि अभंगश्लेष में तो केवल एक ही शब्द होता है तथा उच्चारण, स्थान और प्रयत्न में एकता रहती है पर सभंगश्लेष में पदभंग के कारण भिन्न शब्द बनते हैं। उनके उच्चारण आदि में भी भेद होता है। पहले में शब्द-भेद माना भी जाय तो वह केवल औपपत्तिक है, प्रातीतिक नहीं। पर दूसरे में वह केवल औपपत्तिक ही नहीं अपितु प्रातीतिक भी है। अभंगश्लेष में पद एक वृन्त के समान होता है जिसमें दो फलों की तरह दो पद श्लिष्ट होते हैं पर सभंगश्लेष में एक पद में दूसरा शब्द इस तरह से चिपका रहता है जिस तरह लाख लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उस पर चिपकी रहती है। पर लाख और लकड़ी की तरह दो शब्द भिन्न ही होते हैं। इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार की प्राधान्येन प्रतीति अर्थ के कारण होती है अतः श्लेष को अर्थालङ्कार की कोटि में ही रखना उचित होगा।[21]

आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार वक्रोक्ति भी अर्थालङ्कार है शब्दालङ्कार नहीं। वक्रोक्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय भामह, दण्डी तथा कुन्तक की वक्रोक्ति अर्थात् काव्य के व्यापक तत्त्व से नहीं अपितु अलङ्कार विशेष से है जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन सम्भवतः रुद्रट ने आरम्भ किया था। उन्होंने अलङ्कारों की गणना में इसे सर्वप्रथम स्थान दिया है[22] नामिसाधु की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति के उदाहरण "किं गौरि मां प्रति रुषा......" (काव्या-लङ्कार २/१५) में शब्द समुदाय अलंकार्य है[23] अतः यह सोचना गलत न होगा कि रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालङ्कार है। रुद्रट का ही अनुसरण कर वक्रोक्ति का विवेचन करने वाले आचार्यों में मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र तथा विद्यानाथ आदि ने इसे शब्दालङ्कार की कोटि में ही रखा है। पर वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार मानना उचित नहीं है। इस अलङ्कार के प्रधानतया दो भेद हैं श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति। श्लेष अर्थालङ्कार माना जा सकता है अतः इस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालङ्कार होगी। काकुवक्रोक्ति में भी (जिसमें काकु[24] की सहायता से अन्यथा अर्थयोजना की जाती है) चमत्कार अर्थान्तरकल्पना में होता है। अतः अर्थतत्त्व पर आश्रित होने के नाते इसे भी अर्थालङ्कार मानना चाहिए रुय्यक तथा उनके अनुयायी शोभाकर, विद्याधर तथा विद्यानाथ ने इसीलिए इसे अर्थालङ्कार माना है।

---

२१. अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्।—अ०स०, पृ० १२४

२२. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकम् × × ×—काव्यालङ्कार, २/१३

२३. यथा 'किं गौरि मां प्रति रुषा' इति शब्दसमुदायोऽलङ्कार्य एव।
—नामिसाधु की काव्यालङ्कार २/१५ पर टीका

२४. भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।

चित्रालङ्कार की औपचारिक शब्दालंकारता—

दण्डी ने गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र आदि का (तृतीय परिच्छेद में) स्वरूप-निरूपण किया है। पर नामिसाधु के अनुसार चित्र को शब्दालङ्कार के रूप में आचार्य रुद्रट ने स्थान दिया है।[२५]

"अन्यैरनुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते।—नामिसाधु, २/१५

अनेक कवि अर्थतत्त्व के सौन्दर्य को ओझल कर अपना बुद्धिव्यायाम संस्कृत की शब्द रचना में दिखाते रहे हैं। अतः परवर्ती आलंकारिकों को इसका विवेचन अवश्य करना पड़ा। रुद्रट के अतिरिक्त भोज ने इसका सविस्तार निरूपण किया है। खंगबन्ध, पद्मबन्ध, नागबन्ध, मुरजबन्ध आदि के आकार में वर्णविन्यास चित्रालंकार का लक्षण है: इसमें बन्धविशेष को दृष्टिपथ में रखकर लिपिविशेष में लिखे हुए वर्णों की पाठपुनरुक्ति होती है, पर उसे सिद्धान्ततः शब्द की पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता अतः इसे शब्दालंकार कहना भी न्यायसंगत नहीं है पर लिपि के अक्षर को श्रोत्रसमवायी शब्द की भाँति, सामान्य-जन शब्द ही समझते हैं और साधारणतया लिपिवर्णों को देखकर यह प्रतीति भी होती है। अस्तु, शब्द की लिपि-वर्ण के साथ इस ऐकात्यप्रतीति को लेकर, औपचारिक रूप में चित्रा-लंकार ही को भी शब्दालंकार मानना चाहिए। रुय्यक का कथन है—

यद्यपि लिप्यक्षराणां खंगादिसन्निवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मक-शब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतिर्वाचकशब्दालंकारोऽयम्।—अ०स०, पृ० ३०

जयरथ रुय्यक के मन्तव्य को प्रकट करते हुए लिखते हैं—

औपचारिकोऽयं शब्दालंकार इति तात्पर्यार्थः—वि०, प्र० ३०

इस प्रकार चित्र को प्रायः सभी प्रमुख आचार्य, औपचारिक रूप से ही सही, शब्दा-लंकार मानते आ रहे हैं पर वस्तुतः इसे अलंकार ही मानना उचित नहीं है क्योंकि चित्र काव्य का अंग नही बन सकता है। काव्य में केवल दो तत्त्व हैं शब्द और अर्थ। इनमें शब्द स्वतः साध्य न होकर साधन मात्र होता है, और इसका साध्य अर्थ की प्रतीति कराना होता है। पर जब शब्द (वह भी लिपिगत अक्षर) स्वतः साध्य बन जाता है तो वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और उसका अंग नहीं रहता। चित्रालंकार में केवल अक्षर विन्यास का खिलवाड़ होता है। वह शब्दचारुता जो अर्थ चारुता का उपकार कर सके नहीं रहती है अतः भले ही पाठक का यह कुतूहल बन सके पर इसे अलंकार कोटि में रखना उचित नहीं

---

२५ रुद्रट ने इस अलंकार के अनेक भेद किये हैं। देखिए—काव्यालंकार ५/२-४१ जयरथ ने अलंकारोदाहरण में मुरजबन्ध, पद्मबन्ध आदि अनेक भेदों का उपबृंहण किया है, जिसमें कतिपय का संक्षिप्त निर्देश वि० में भी मिलता है।

है[26] अच्छा हो यदि आलंकारिक इसे अलंकारक्षेत्र से बाहर ही रखें। संजीवनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने यह सलाह दी है कि कवियों को चित्रालंकार के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि यह केवल मोटी बुद्धि वालों को पसन्द आ सकता है, और फिर इसे सिद्धान्ततः शब्दालङ्कार कहा भी नहीं जा सकता है।

अतः स्थूलबुद्धिलालनीयत्वाद् वाचकशब्दवहिर्भावाच्च नात्र कविभिरादरः कार्यः × ×
—संजी०, पृ० ३७

इस आधार पर विश्वनाथ का भाषासम अलङ्कार भी[27] परित्याज्य है, क्योंकि इसमें भी कवि का सारा बुद्धि व्यायाम विभिन्न भाषाओं में एक ही शब्द के द्वारा वाक्य-निर्माण पर होता है, शब्दचमत्कार या अर्थचमत्कार की सृष्टि में नहीं।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा (उपचारतः) चित्रालङ्कार शब्दालङ्कार की कोटि में आते हैं। रुय्यक तथा उनके अनुयायी इन चारों अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न मानते हैं।[28] पर कतिपय आलङ्कारिक छेक तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अनुप्रास अलङ्कार के दो भेद मानते हैं (छेकवृत्तिगतो द्विधा) कुछ आलङ्कारिक लाटानुप्रास (जो रुय्यक के अनुसार उभयालङ्कार ही है) को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं—

लाटीयमप्यनुप्रासमहेच्छन्त्यपरे यथा। —भामहालङ्कार, २/१८

उद्भट ने इन तीनों को भिन्न माना है[29] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है किन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है[30] विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है[31] अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास के दो भेद किये हैं।[32] इस तरह के अलङ्कार मानना केवल छोटी-मोटी बात को लेकर अलङ्कारों की

---

२६. संजीविनी का उपर्युक्त स्थल पर व्याख्यान उल्लेखनीय है—

ननु कथमयं शब्दालङ्कारः लिपिसन्निवेशिनां वाचकत्वाभावादित्य आह-यद्यपीत्यादि। खंगादिसन्निवेशो हि लिप्यक्षराणामेव न श्रोताकाशसमवायिनां, वाचकत्वं तु श्रोताकाशसमवायिनामेव न पुनर्लिपिसन्निवेशिनाम्। इत्थं च सति खंगादिबन्धगतानां यद्यपि वाचकशब्दालङ्कारता नोपपद्यते तथापि लौकिकानां लिप्यक्षरेष्वेव वाचकत्वप्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारत्वमुपचर्यत इति भावः।—संजी०, पृ० ३६-३७
इस सम्बन्ध में नि०का० संख्या ११ भी देखिए

२७. सा०द०, पृ० ४८४

२८. देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० ३४१-३४२ तथा ३४५-३५०
एका० पृ० १८३-१८९ ; अ०र० पृ० ३-४

२९. देखिए—का०अ० सं० ३/१०

३०. का०प्र० (पूना), पृ० ४६४-४६८

३१. देखिए—सा०द० पृ० ४७४-७५

३२. वही, पृ० ४७६-७७

अनावश्यक संख्या बढ़ाना है। छेकानुप्रास लक्षण की दृष्टि से भिन्न है[३३] व्यंजनमात्र की पुनरुक्ति के सामान्य रूप को लेकर उन्हें एक ही अलङ्कार के दो भेद मानना उचित नहीं। रुय्यक ने इस सम्बन्ध में उद्भट का अनुसरण कर[३४] उन्हें भिन्न अलङ्कार ही मानना उचित समझा है। मुझे भी यही मत समीचीन प्रतीत होता है, मम्मट तथा विश्वनाथ का नहीं। व्यंजनपौनरुक्त्य के सामान्य लक्षण के आधार पर यदि छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अलङ्कार के दो भेद माना जा सकता है तो शब्द[३५]—पौनरुक्त्य के सामान्य आधार को लेकर छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक को एक ही अलङ्कार के तीन भेद क्यों न माना जाय ?

लाटानुप्रास में शब्दतत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों का चमत्कार समान रूप से रहता है। तात्पर्यभेद इसका जीवातु है[३६] इसीलिए इसे अनुप्रास का भेद नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से उन आचार्यों का[३७] मत असमीचीन है जो इसे सम्भवतः अनुप्रास के शब्दसाम्य को लेकर, अनुप्रास का एक भेदमात्र मानते हैं। रुय्यक के अनुसार लाटानुप्रास उभयालङ्कार है।

उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः।—अ०स०, पृ० २५५

आदि शब्द से अन्य किन अलङ्कारों को उभयालङ्कार की कोटि में रखा जाय, यह विवादास्पद है। समुद्रबंध के अनुसार श्लिष्ट—परम्परित[३८] आदि का ग्रहण होना चाहिए। श्लिष्टपरम्परित पद परम्परित रूपक के लिए आया है जिसमें श्लेष का योग होता है। उन्होंने दूसरे व्याख्यानों का भी मत दिया है जिनके अनुसार संसृष्टि और संकर के कुछ

---

३३. छेकानुप्रास का लक्षण है "संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः"—अ०स०, पृ० २
श्रीविद्याचक्रवर्ती के शब्दों में संख्यानियम का अर्थ है—
युग्मशोऽवस्थितानां व्यञ्जनसमुदायानां परस्परमनेकधा सादृश्यमिह संख्यानियमः।
—संजी० पृ० ३०
वृत्त्यनुप्रास इससे भिन्न है—अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः—अ०स०, पृ० २५
दूसरे शब्दों में इनका भेद यह है—
अनियमेनैकद्वित्र्यादिव्यंजनमात्रपौनरुक्त्याश्रितो वृत्त्यनुप्रासः।—तरल, पृ० १९४

३४. यद्यपि चायं व्यंजनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवादनुप्रास एवान्यैरन्तर्भावितस्तथापि ग्रंथकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्।
—वि०, पृ० २४—२५

३५. शब्दपौनरुक्त्यं च व्यंजनमात्रनिष्ठतया स्वरव्यंजनसमुदायनिष्ठतया च द्विप्रकारम्।
—संजी०, पृ० ३०

३६. ……तात्पर्यभेद एव ह्यस्य जीवितम्।—वि०, पृ० २८

३७. देखिए—भामहालङ्कार, २/८

३८. लाटानुप्रासादय इत्यत्रादिशब्देन श्लिष्टपरम्परितादयो गृह्यन्ते।
—समुद्र०, पृ० २२७

भेदों का ग्रहण उपर्युक्त आदि पद से होता है।[३९] जयरथ का कहना है कि रुय्यक के अनुसार केवल लाटानुप्रास और श्लेष इन दो को ही उभयालङ्कार माना जा सकता है अतः 'उभयालङ्कारः' में बहुवचन की संगति संसृष्टि और संकर को ही मानकर लगाई जा सकती है।

ननु च लाटानुप्रासश्लेषयोरेवोभयालङ्कारत्वं पूर्वमुक्त्या उभयालङ्कारा इति बहुवचननिर्देशः कथं संगच्छते······संसृष्टेरुभयालङ्कारत्वं यथा××× —वि०, पृ० २५६

श्रीविद्याचक्रवर्ती संजीविनी में उभयालङ्कारों के विषय में मौन हैं पर सम्प्रदाय-प्रकाशिनी में उन्होंने पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक, अर्थान्तरन्यास और अपह्नुति को उभयालङ्कार की श्रेणी में रखा है।

पुनरुक्तवदाभासः उभयपौनरुक्त्यं श्लिष्टशब्दं परम्परितरूपकं श्लेषं ताद्रूप्यारोपं चानुविधत्त इत्युभयालङ्कारौ, तथा हिशब्दहेतुकोऽर्थान्तरन्यासः छलादिशब्दहेतुका अपह्नुतिप्रभृतयश्चोभयभावाभावानुविधानादुभयालङ्कारा द्रष्टव्याः।

—सं० प्र०, पृ० ४२७–२८

वस्तुतः अन्वयव्यतिरेक मानने से उन सभी अर्थालङ्कारों को, जिनमें किसी शब्द-विशेष की सहायता आवश्यक है, उभयालङ्कार मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार इस कठिनाई के लिए अवकाश ही नहीं है क्योंकि यदि चमत्कार अर्थ पर आश्रित है तो अपह्नुति (तृतीयभेद[४०]) या अर्थान्तरन्यास (जिसमें 'हि' शब्द के प्रयोग या अप्रयोग से अलङ्कार बनता है)[४१] आदि को उभयालङ्कार मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार रुय्यक-सम्मत उभयालङ्कारों में लाटानुप्रास, श्लेष, संसृष्टि तथा संकर (जिनमें शब्दालंकार तथा अर्थालङ्कार का एकत्र समावेश हो) को रखा जा सकता है। रुय्यक के अलङ्कारविवेचन की यह विशेषता है कि उन्होंने अलङ्कारों को क्रिया, प्रत्यय तथा व्याकरण के अन्य पेचीदे रूपों से यथासम्भव मुक्त रखा है। जहाँ कहीं किसी शब्द-विशेष के प्रयोग की व्याख्या रुय्यक ने की है वहाँ यह विवेचन प्रत्यक्षतः या परोक्षरूप में किया है कि कोई विशेष शब्द किसी अलङ्कार का घटक नहीं है। अनेक अलङ्कारों के वे भेद जो किसी वैयाकरण प्रयोग या 'हि' आदि के खिलवाड़ पर निर्भर हैं उन्हें रस का व्याघातक मानकर या सहृदय के हृदय का उद्वेजक घोषित कर रुय्यक ने उन्हें त्याज्य ही माना है। उदाहरण के लिए मम्मट ने उपमा के अनेक भेदों का व्याकरण की विशेषताओं आदि के आधार पर प्रतान किया था, शब्दालङ्कारों के तो अनेक भेदोपभेद चले ही आ रहे थे पर रुय्यक ने जहाँ तक सम्भव हो सका है इन भेदों को अपनी मान्यता नहीं दी है। उन्होंने न केवल शब्दालङ्कारों का विवेचन अत्यन्त संक्षेप रूप में किया है अपितु अर्थालंकारों के अनेक उद्वेजक भेदोपभेदों को भी छोड़ दिया है; उपमा के मम्मटसम्मत अनेक भेदों को छोड़ने का भी यही रहस्य प्रतीत होता है।

---

३९. केचित्तु आदिशब्देन शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं चाश्रितयोः संसृष्टिसंकरप्रकारयोर्ग्रहणमित्याहुः।—वही

४०. देखिए—अ०स०, पृ० ३५ का ४५वाँ श्लोक।

४१. ज्ञातव्य है कि यह भेद रुय्यक मानने को प्रस्तुत नहीं हैं—
हिशब्दाभिधानाभ्यां,··· च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात्।—अ०स०, पृ० १३७।

रसवत् अलंकार

लेखक—डॉ० राजेन्द्र मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी,
शिमला (हि०प्र०)

ऋग्वेद में अरङ्कृति शब्द के प्रयोग[1], उपमा[2]-उत्प्रेक्षादि के नामोल्लेख-विहीन संविधानक तथा यास्क एवं पाणिनि[3] द्वारा औपम्यविधा की सुस्पष्ट व्याख्या के अनन्तर अलंकारों का युक्ति-युक्त विवेचन सर्वप्रथम हम आचार्य भरत (ई० पूर्व चौथी शती) प्रणीत नाट्यशास्त्र में पाते हैं। भरत ने मात्र चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक की सोदाहरण व्याख्या की है।

भरत के अनन्तर आचार्य भामह (छठीं शती ई०) ने काव्यालंकार में यह कहते हुए कि 'मेरे पूर्ववर्तियों ने पाँच ही अलंकारों का व्याख्यान किया है[4]' कुल ३८ अलंकारों (दो शब्दालंकार तथा ३६ अर्थालंकार) का विवरण प्रस्तुत किया। भामह द्वारा उदाहृत पूर्ववर्ती पाँच अलंकारों में चार अलंकार तो भरतप्रोक्त हैं। पाँचवाँ अलंकार 'अनुप्रास' सम्भवतः आचार्य मेघाविन् अथवा मेधाविरुद्र ने आविष्कृत किया, जिनका अनेकशः उल्लेख भामह ने किया है।

काव्यालंकार के तृतीय परिच्छेद में व्याख्यात २३ अलंकारों में दूसरा स्थान रसवत् अलंकार का है। आचार्य भामह इसे प्रेयस् तथा ऊर्जस्वि के मध्यस्थ-रूप में उपन्यस्त करते

---

१. यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्याग्निहूतो अरङ्कृतः ॥—ऋग्वेद १०.१४.१३ (यमसूक्त)
भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरङ्कृतम्।—अथर्व० पृथ्वीसूक्त १६

२. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मयो न योषामभ्येति पश्चात्।
—ऋग्वेद १.११५.२ (सूर्यसूक्त)

३. उपमेति गार्ग्यः (निरुक्त)
उपमानानि सामान्यवचनैः १२.१.५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २.१.५६—अष्टाध्यायी

४. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः॥

हैं। परन्तु उन्होंने इन तीनों ही अलंकारों का लक्षण न देकर, सीधे उदाहरण ही दे दिया है। आचार्य के ही शब्दों में,

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द! जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥
रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥
ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः॥

इन व्याख्यानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामह की दृष्टि में अतिशय प्रिय वचन, अतिशय रस-समन्वय तथा गर्वोक्ति ही क्रमशः प्रेयस्, रसवत् एवं ऊर्जस्वि अलंकार हैं। जिसमें श्रृंगारादि रस स्पष्टता से दिखाए गये हों वही रसवत् अलंकार है। इसका उदाहरण देते हैं भामह—

'देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता'।

अर्थात् 'धर्ममस्करिणी देवी प्रकट रूप में उपस्थित हुई।' भामह द्वारा उपस्थापित इस उदाहरण का मूलसन्दर्भ सुस्पष्ट नहीं है। टीकाकार ताताचार्य के मतानुसार यह सन्दर्भ कुमारसम्भव महाकाव्य का है। तपस्यारत उमा के समक्ष, छद्मवेषधारी शिव उनके प्रेम की परीक्षा के लिए आते हैं और अन्ततः वास्तविकरूप में प्रकट हो जाते हैं।[1]

परन्तु ताताचार्य की व्याख्या मूल सन्दर्भ के सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है क्यों कि उपर्युक्त प्रमाणानुसार छद्मवेषधारी (धर्ममस्करी) के प्रकट होने की बात (स्वरूपमास्थाय वृषराजकेतनः) ही सिद्ध होती है न कि पार्वती की!

मेरे विचार से आचार्य भामह यहाँ भासप्रणीत स्वप्नवासवदत्तम् के रमणीय कथानक की ओर संकेत कर रहे हैं। देवी (वासवदत्ता) महामात्य यौगन्धरायण की योजना के अनुसार, पातिव्रत धर्म के पालनार्थ मस्करिणी (संन्यासिनी) के रूप में रहती है। राजा उदयन उसे लावाणक ग्राम के अग्निकाण्ड में दग्ध हुई मान लेता है। परन्तु यह सारी योजना स्वामिभक्त अमात्य यौगन्धरायण ने बनाई थी क्यों कि देवी के जीवित रहते उदयन किसी और रमणी से विवाह नहीं कर सकता था। वासवदत्ता के दाह प्रवाद के बाद, पद्मावती और उदयन का विवाह सम्पन्न हो जाता है। तभी एकदिन अकस्मात् धर्ममस्करिणी देवी (वासवदत्ता) वास्तविक रूप में प्रकट होकर वत्सराज के समक्ष आती है।

१. इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः॥
तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणायपदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥
—कुमार ५.८४, ८५

जिसे राजा मृत मान चुका था उसी प्राणाधिक प्रिया वासवदत्ता का सहसा जीवित प्रकट होना रसवत्ता की पराकाष्ठा है। इस घटना में नायक-नायिका का अभुक्तप्रणयजन्य श्रृंगार तो है ही, करुणा तथा अद्‌भुत रस का भी सुस्पष्ट प्रदर्शन है फलतः इस प्रसंग को भामह रसवत् अलंकार का उदाहरण मानते हैं।

भामह के परवर्ती, काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी की काव्यशास्त्रीय दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ प्रतीत होती हैं। उन्होंने प्रथम बार प्रेयस् रसवत् तथा ऊर्जस्वि को परिभाषित करने का यत्न किया, गोकि दण्डी के ये लक्षण भामह के उदाहरणों के गर्भ से ही प्रकट हुए हैं। दण्डी प्रियत्तर आख्यान, रसपेशलत्व तथा रूढ़ अहंकार को ही क्रमशः प्रेयस् रसवत् एवं ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं।[1]

परन्तु इस सन्दर्भ में आचार्य दण्डी की मौलिकता प्रशंसा योग्य है जब वह कहते हैं कि 'युक्तोत्कर्षञ्च तत् त्रयम्।' अर्थात् प्रियतर आख्यान, रसपेशलत्व तथा रूढ़ाहंकार का होना ही पर्याप्त नहीं है, उनमें उत्कर्ष अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार भी होना चाहिये। चमत्कार का अर्थ है—लोकातिक्रान्तगोचर वचन! और यह चमत्कार कविता में 'अतिशयोक्ति' से ही आता है। इस सन्दर्भ में भामह[2], दण्डी[3], आनन्दवर्धन[4], कुन्तक[5] तथा मम्मट[6]—सब एकमत हैं।

भामहप्रदत्त रसवत् अलंकार के उदाहरण में रसपेशलता का उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिसके वियोग में कोई प्रियजन घुंट-घुंट कर जिये (मृत्यु के कारण) जिसके पुनर्मिलन की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हों—वही रूपसौन्दर्य की प्रतिमा प्राणाधिक प्रिया सहसा सामने आ खड़ी हो! भला इससे अधिक चामत्कारिक रसमय प्रसंग और क्या हो सकता है। यह प्रणय-प्रसंग नित्यप्रति मिलने वाले नायक-नायिका के श्रृंगारानुभव की तुलना में निश्चय ही उत्कर्षयुक्त है।

---

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवत् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षञ्च तत्त्रयम्॥—काव्या० २.२७५

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया तथा॥—भामहा० २.८१

३. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥—काव्या० २.२२०

४. प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया।

५. केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति।—वक्रोक्ति० १.७

६. सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।

काश्मीरनरेश जयापीड़ के सभापण्डित आचार्य उद्भट (779-813 A.D.) ने रसवत् आदि अलंकारों का अत्यन्त प्रौढ़ व्याख्यान प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'दर्शितस्पष्ट-श्रृंगारादिरस' को ही रसवत् मानते हुए, रस के संघटकों (स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा संचारी) के स्पष्ट प्रतिपादन पर जोर दिया है[1]। रसवत् का उदाहरण उद्भट के दृष्टिकोण के पूर्णतः अनुरूप है—

> इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
> शम्भूतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्॥
> स्विद्यतापि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
> कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम्॥
> क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
> क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत॥

यहाँ भगवान् शिव (पार्वती के प्रति) के आभिलाषिक विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन है। यहाँ स्थायी रतिभाव स्वशब्द (कन्दर्प) से उन्मीलित है क्योंकि युवक और युवती की मन्मथात्मिका रतिभावना ही विभावादि से पुष्ट होकर श्रृंगार रस बनती है। औत्सुक्य, चिन्ता एवं प्रमोद (हर्ष) शब्दों से सचारीभाव प्रकट किये गये हैं। स्वेद एवं पुलक (रोमाञ्च) ये दोनों भी सात्त्विक भाव हैं तथा स्वशब्दोपात्त हैं। 'भावयतस्तस्य' द्वारा यहाँ विभाव को निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'दृशा' शब्द द्वारा अपांगाभिनय को भी संकेतित किया गया है। साकल्येन देखा जाय तो इस उदाहरण में उद्भटाभिमत रस के पाँचों अंग (स्थायी, संचारी, सात्त्विक, विभाव तथा अभिनय) स्वशब्दोपात्त हैं, फलतः यहाँ रसवत् अलंकार है।

लघुवृत्तिकार आचार्य प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एषाञ्च श्रृंगारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति। यदुक्तं भट्टोद्भटेन पञ्चरूपा रसा इति। तत्र स्वशब्दाः श्रृंगारादेर्वाचकाः श्रृंगारादयः शब्दाः स्थायिनो रसानामुपादानकारणप्रख्या रत्यादयो नव भावाः। संचारिणस्तु निर्वेदादयो रसानामवस्थाविशेषरूपाः। विभावास्तु तेषां निमित्तकारणभूता योषिदादय ऋतुमाल्यानुलेपनादयश्च। आङ्गिकादयस्तु चत्वारो रसानां कार्यभूता अभिनयाः। एतेषां च स्वशब्दादीनां पञ्चानां समस्तव्यस्ततया आस्पदत्वाद्येन काव्येन स्फुटरूपतया श्रृंगारादिरसाविर्भावो दृश्यते तत्काव्यं रसवत्। रसाः खलु तस्यालंकाराः।

रसवत् के सन्दर्भ में आचार्य उद्भट का भामह एवं दण्डी से स्पष्ट मतभेद दिखाई पड़ता है। भामह एवं दण्डी उत्कर्ष अथवा चमत्कारयुक्त 'रसपेशलत्व' को रसवत् मानते हैं परन्तु आचार्य उद्भट 'पञ्चरूप रस की स्वशब्दोपात्तता' को, जैसा कि अभी

---

१. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥

सुस्पष्ट किया गया है, उद्भट-प्रदत्त उदाहरण में कोई उत्कर्ष सा चमत्कार है भी नहीं! हाँ उसमें स्थायीभाव, विभाव, सात्विकभाव, संचारीभाव एवं अंगाभिनय—ये पाँचों रस-संघटक शब्दों द्वारा प्रकट अवश्य किये गये हैं।

रस अलंकार है अथवा अलंकार्य? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अलंकारवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य इस बिन्दु पर सर्वथा पृथक् हैं। अलंकारवादी आचार्य अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। परन्तु नकी दृष्टि में अलंकार मात्र काव्य का शोभाधायक अथवा उत्कर्षवर्धक अस्थिर धर्म (उपमारूपकादि) नहीं है बल्कि वह काव्य का सहज एवं स्थिर सौन्दर्य है जैसा कि आचार्य वामन ने कहा है—

सौन्दर्यमलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु प्रयुज्यते।

आचार्य दण्डी ने भी स्पष्टतः कहा कि मात्र काव्यशोभा को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार नहीं है, बल्कि जो तत्त्व काव्यशोभा के जनक या निष्पादक हैं, वे भी अलंकार ही हैं।[1] अतएव यदि रस भी काव्यशोभा का निष्पादक है तो अलंकार ही हुआ। इतना ही नहीं, सन्ध्यंग, वृत्त्यंग तथा आगमान्तर में वर्णित लक्षण आदि तत्त्व भी यदि सौन्दर्य-निष्पादक हैं तो वे भी हमें अलंकार के ही रूप में मान्य हैं।[2]

परन्तु ध्वनिवादी आचार्य अलंकार अथवा सौन्दर्य के विपरीत रस (रसध्वनि) को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस तो अनुभव-संवेद्य वस्तु है। वह स्वप्न में भी 'स्वशब्दवाच्य' नहीं हो सकता।[3] भला, 'शृंगार-शृंगार' रटने से शृंगार की अनुभूति हो सकती है? तो ऐसी स्थिति में, जब कि रस वाच्य हो ही नहीं सकता उसे हम अलंकार कैसे कह सकते हैं? क्योकि अलंकार सदैव वाच्यार्थरूप ही होता है।

अनेक ध्वनिवादी आचार्य अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों के टीकाकार हैं। उन्हें प्रायः इस विसंगति का बोध हुआ है। क्योंकि व्यक्तिगत रूप से तो वे रस को अलंकार (वाच्य) मानने के विरुद्ध हैं परन्तु अलंकारवादी आचार्य के मूल अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्हें रस को अलंकार मानना ही पड़ा है। वस्तुतः उन्हें अलंकारवादियों के साथ रस को 'अलंकार' तथा रसवादियों के साथ उसे 'काव्यात्मा' कहना पड़ा है।

उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज इसी द्विविधा एवं 'उभयतः पाश' के शिकार हैं। उनका अपना दृष्टिकोण तो यही है कि न खलु काव्यस्य रसानां चालङ्कार्यालंकारभावः किन्त्वात्मशरीरभावः। अपनी बात को ओर स्पष्ट करते हुए वह पुनः कहते हैं—

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया स्थितः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। —काव्या० २.१.

२. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥ —काव्या० २.३६७

३. द्रष्टव्यः ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत (यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यः आदि)

परन्तु यही प्रतीहारेन्दुराज एक अन्य प्रसंग में यह भी कहते हैं कि 'रस भी काव्य के अलंकार ही हैं।'[1] और जब उसे 'स्वमतविरोध' का भय लगने लगता है तब वह बड़ी चतुराई से यह कहते हैं कि 'रसादि का अलंकारत्व तो हमने इसलिये कह दिया क्योंकि वहाँ (उस प्रसंग में) इस प्रकार के भेद की हमारी विवक्षा नहीं थी।' इसका अर्थ यह हुआ कि रसादि का अलंकारत्व उन्होंने 'तुष्यद् दुर्जनन्यायेन' प्रतिपादित किया।[2]

अन्ततः आचार्य अलंकारवादियों के दृष्टिकोण के प्रति अपनी असहमति जताते हुए यह कह देता है कि ग्रंथगौरव के भयवश हम इस समस्या पर विचार नहीं कर रहे हैं कि रसादि काव्यालंकारमात्र हैं अथवा काव्यात्मा ! आचार्य के ही शब्दों में,

रसानां भावानाञ्च काव्यशोभातिशयहेतुत्वात् किं काव्यालङ्कारत्वम् उत काव्यजीवितत्वमिति न तावद् विचार्यते ग्रंथगौरवभयात्।

ध्वनिवादी आचार्यों का दृष्टिकोण

प्रतीहारेन्दुराज मुकुलभट्ट के शिष्य हैं[3] जिनके पिता कल्लट काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (८५७-८८४ ए.डी.) के समय में विद्यमान थे। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन भी अवन्तिवर्मा के ही शासनकाल में प्रतिष्ठित थे—यह तथ्य राजतरंगिणी के साक्ष्य से प्रमाणित है।[4] दूसरी ओर यही प्रतीहारेन्दुराज (—भट्टेन्दुराज) लोचनकार अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्र-गुरु भी हैं। इस परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रताहारेन्दुराज से पूर्ण ही ध्वनिकार रस का काव्यात्मत्व स्थापित कर चुके थे। यही कारण है कि उद्भट (अलंकारवादी) तथा आनन्दवर्धन (ध्वनिवादी) जैसे दो विरोधी ध्रुवों के परिप्रेक्ष्य में 'रसवत्' की व्याख्या करते हुए प्रतीहारेन्दुराज को 'द्वैध' का अनुभव करना पड़ा। सिद्धान्ततः वह ध्वनिकार के पक्षधर थे, परन्तु व्यवहारतः टीकाकार होने के कारण उन्हें उद्भट का ही अनुसरण करना था।

आनन्दवर्धन ने रस, रसवत् तथा अलंकार—तीनों का पृथक् क्षेत्र स्वीकार किया। अलंकारवादियों की दृष्टि में तो अलंकार्य था—शब्दार्थ अथवा काव्य। फलतः जिस काव्य में रस प्रधान (दर्शित स्पष्ट शृंगारादिः भामह) होते हुए भी, शब्दार्थसमष्टिमय अलंकार्य काव्य का अलंकरण कर रहा हो, उसे अलंकारवादी आचार्य 'रसवत्' अलंकार कहेंगे। जहाँ रस की स्थिति प्रधान न हो, अंगभूतहो उसे उदात्तालंकार की संज्ञा दी गई। काव्यालंकारसार-

१. रसाः खलु काव्यस्यालङ्कारा।
२. यत्तु रसादीनां पूर्वमलंकारत्वमुक्तं तदेवंविधभेदाविवक्षया।
३. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः॥ —लघुवृत्ति
४. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥

संग्रह में उदात्तालंकार की लघुवृत्ति लिखते हुए आचार्य प्रतीहारेन्दुदाज ने यही तथ्य बड़ी स्पष्टता से उपन्यस्त किया है—न खलवत्र महापुरुषचेष्टितं वाक्यतात्पर्यगोचरतामनुभवति अर्थान्तरोपलक्षणपरत्वात्। यत्र च रसास्तात्पर्येणावगम्यन्ते तत्र तेषां वाक्यविश्रान्तिस्थानत्वेन चतुर्वर्गतदितरप्राप्तिपरिहारोपायभूतस्थायि गावपरिपोषात्मनाऽस्वाद्यमानत्वाद्रसवदलङ्कारो भवति।

ध्वनिकार ने अलंकारवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हुए बड़ी स्पष्टता से कहा कि जहाँ रस प्रधान है वहाँ वह स्वयं 'अलंकार्य' होता है। शब्द और अर्थ तो वहाँ 'उपसर्जनीकृतस्वार्थं'[1] अर्थात् गौण होते हैं। ऐसी स्थिति में, अलंकार्य रस अलंकार कैसे हो सकता है ?[2] ऐसे स्थलों पर तो उपमादि अलंकार स्वयमेव अलंकार्य रस के उत्कर्षाधायक होते हैं। ध्वनिकार का कहना है कि ऐसे प्रसंगों में रसवत् अलंकार नहीं, रसध्वनि होती है : रसवत् अलंकार तो वहाँ होना चाहिये जहाँ रस की अपेक्षा काव्यार्थ (वाच्यार्थ) अधिक उत्कर्षवान् हो और रस स्वयं उस (वाच्यार्थ) का उपस्कारक हो[3] !

आनन्दवर्धन का यही मन्तव्य, रसवत् अलंकार के सन्दर्भ में एक नूतन प्रस्थान बना। लोचनकार अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया।[4]

आचार्य मम्मट रसवत् को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं क्योंकि यह अन्यान्य अलंकारों की भाँति अंगाश्रित (—शब्दार्थाश्रित) होकर अंगी (काव्यार्थ) की शोभा नहीं

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ —ध्वन्या० १.१३

२. इह केचिदाहुः—वाच्यवाचकरूपालंकरणमुखेन रसाद्युपकारका एवालंकाराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्तेति।
साहित्यदर्पण (रसवतप्रसंग)

३. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।

४. मात्र वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक इसके अपवाद हैं। उनका सारा जोर 'रसवत्' शब्द पर है। कुन्तक भी अन्ततः वही बात कहते हैं जो ध्वनिकार कह चुके थे। परन्तु उनके कहने का ढंग पृथक् है। वह कहते हैं कि सहृदयों को आह्लादमग्न करने में समर्थ जो अलंकार 'रस के समान' (रस-वत्) हो जाता है, वही रसवत् कहा जा सकता है। सरस समासोक्तियों को प्रस्तुत कर कुन्तक कहते हैं कि यहाँ आरोपमूलक अलंकार रसमयता उत्पन्न करने के कारण रस के जैसा ही है। आश्चर्य यही है कि ध्वनिकार भी रस के वाच्योपस्कारक होने पर (समासोक्ति आदि में) रसवत् ही मानते हैं।

बढ़ाता। फलतः रसवत् को अलंकार न कहकर, गुणीभूतव्यङ्ग्य का एक भेद-विशेष ही मानना चाहिये।[1]

साहित्यदर्पणकार ने सर्वप्रथम तो रसवत् को परिभाषित एवं उदाहृत किया। तदनन्तर उन्होंने रसवदलंकार सम्बन्धी समूचे प्रकरण की ऐतिहासिक समीक्षा की है, जिसके अनन्तर इस सन्दर्भ में कुछ भी कहने को शेष नहीं रह जाता। आचार्य मम्मट का ही अनुकरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि रस, भाव, रसाभास/भावाभास तथा भावप्रशम—ये चारों जब किसी के अंग बन जाते हैं तब क्रमशः रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकार होते हैं—

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्॥

तत्र रसयोगाद्रसवदलंकारो। यथा—अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि। अत्र श्रृंगारः करुणस्याङ्गम्।

उपर्युक्त उदाहरण महाभारत से उद्धृत है। सात्यकि द्वारा काटी गई भूरिश्रवा की भुजा को लक्षित कर उसकी रानियाँ विलाप कर रही हैं—'हाय! यही है वह प्राणनाथ का हाथ जो (रतिव्यापार में) करधनी को खींचने वाला, पीन पयोधरों का विमर्दक, नाभि-ऊरु एवं जघन का संस्पर्श करने वाला तथा नीवी को शिथिल करने वाला था।'

यह सम्पूर्ण वर्णन सम्भोग श्रृंगार का है ; परन्तु भूरिश्रवा की मृत्यु हो जाने के कारण प्रधान रस तो यहाँ है---करुण! श्रृंगार यहाँ करुण का अंग बन गया है, फलतः यहाँ रसवत् अलंकार है।

साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में रसवत् अलंकार के सन्दर्भ में तीन प्रकार के आग्रह हैं—

१. पहला मत तो यह है कि रसवदादि अलंकार हो नहीं सकते क्यों कि वे शब्द एवं अर्थ के उपकारक नहीं, उपकार्य हैं।[2]
२. दूसरा मत यह है कि प्राचीन आचार्यों (भामह, दण्डी, उद्भटादि) की प्रसिद्धि के अनुसार रसवदादि को भी अलंकार मानना ही चाहिए। वस्तुतः अंगभूत रसादि अंगीभूत रसादि के उपकारक होते हैं। उनके लिये प्रयुक्त अलंकार शब्द भी लाक्षणिक ही मानना चाहिये।[3]

---

१. सविस्तर द्रष्टव्यः काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास। आचार्य मम्मट रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, भावशान्ति, भावोदय तथा भावशबलता नामक अलंकारों को 'अपराङ्ग' गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत रखते हैं। उन्होंने रसवत् का उदाहरण दिया है—'अयं सरसनोत्कर्षी' आदि, जहाँ पर श्रृंगार करुण रस का अंग है।

२. रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्ता इति।

३. अन्ये तु रसाद्युपकारमात्रेणेहालंकृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्ध्याऽङ्गीकार्य एव इति।

३. तीसरा मत यह है कि रसादि का उपकारक होने से ही प्रधान अलंकारत्व होता है अतः रसवदादि ही प्रधान (मुख्य) अलंकार है।[1] रूपकादि तो प्रायः अर्थ के (और तद्द्वारा रस के भी) उपकारक होते हैं। अतः उन्हें (रूपकादि) 'अजागलस्तनन्याय' से ही अलंकार कहा जाता है। जैसे बकरी के गले में लटकते मांसपिण्ड को मात्र 'आकारसाम्य' से स्तन कहा जाता है, गो कि न ही वे स्तन होते हैं और न ही स्तनों जैसा कार्य (दूध देना) करते हैं। ठीक उसी प्रकार रूपकादि के लिये भी अलंकार शब्द का प्रयोग गौण ही समझना चाहिये।

इन (पूर्वपक्षभूत) तीन मतों को उपन्यस्त करने के अनन्तर ही आचार्य विश्वनाथ रसवदलंकार के सन्दर्भ में अपना (ध्वनिवादियों का) सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते है। उनका कहना है कि अंगभूत रसादि अपने व्यंजक शब्द एवं अर्थ से उपकृत होकर, अंगी रस के व्यंजक शब्द एवं अर्थ का उपकार करते हुए ही, प्रधान रस के उपकारक होते हैं। अतएव मुख्य वृत्ति से ही उन्हें अलंकार कहा जाता है। समासोक्ति में नायिका आदि के व्यवहार का आरोप ही अलंकार है, न कि उस आरोप से उत्पन्न आस्वाद! इसीलिये ध्वनिकार ने स्पष्टतः कहा है कि 'रसादिक जहाँ किसी अन्य वाक्यार्थ में अंगभूत हों, वहाँ वे अलंकार ही होते हैं।'[2]

कुवलयानन्दकार आचार्य अप्पय दीक्षित संभवतः मम्मटोत्तर-युग के अन्तिम प्रतिष्ठित आचार्य हैं जिन्होंने रसवत् की संक्षिप्त किन्तु सुरुचिपूर्ण व्याख्या की है—

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिर्व्यञ्जितो रतिहासशोकादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः। स यत्रापरस्याङ्ग भवति तत्र रसवदलंकारः। तत्र रसवदुदाहरणम्—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ॥

यहाँ पर (चुलुकजल में ईश्वर के अवतारद्वय को देखने से उत्पन्न) अद्भुत रस मुनिविषयिणी रति (भाव) का अंग है। अतएव यहाँ रसवत् अलंकार है।

---

१. अपरे च रसाद्युपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो, रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानम् अजागलस्तनन्यायेन इति।

२. अभियुक्तास्तु स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरंगभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादि व्यवहार-मात्रस्यैवालङ्कृतिता न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात् इति मन्यन्ते। अतएव ध्वनि-कारेणोक्तम्-प्रधानेऽन्यत्रादि।

रीति तत्त्व विवेचनम्

लेखक—डॉ० लक्ष्मी चन्द्रः शास्त्री
अध्यक्षः, संस्कृत विभागः,
राजकीय स्नातकोत्तर-महाविद्यालयः
कोटद्वारम् (गढ़वालः)

संस्कृत काव्य शास्त्रेषु रीति तत्त्व विवेचनम् ।
[1]बहुधाख्यातमाचार्यैः संक्षेपेणात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

बाणो भामहो दण्डी च वामनः कुन्तकस्तथा ।
रुद्रटो भोजराजोऽग्निपुराणं राजशेखरः ॥ २ ॥

बहुरूपो मिश्रः शिङ्ग भूपालोऽच्युतरायकः ।
प्रतापोरूद्रोगोविन्दो जयदेवादिशोधकाः ॥ ३ ॥

[2]'सुवर्ण नाभ' आचार्यः रीति निर्णय कारकः ।
कथ्यते किन्तु तद्ग्रन्थो दुष्प्राप्यो वर्तते भुवि ॥ ४ ॥

[3]ऋग्वेदे बहुशः रीतिः 'नद्येव···महती स्तुतिः' ।
स्वभावगति धारादि बहुष्वर्थेषु दृश्यते ॥ ५ ॥

'रियन्तेऽनया गच्छन्ति' रीतिः प्रस्थान-पद्धतिः ।
संघटना-पन्था-मार्गः समानार्थेषु कथ्यते ॥ ६ ॥

वैदर्भादिकृतः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
[4]"रीङ्गतावितिधातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते" ॥ ७ ॥

[5]'विदर्भादिषु दृष्टत्वाद्' वैदर्भमिति भामहः ।
देशाधारकृतं मार्गं न तु काव्योपकारकम् ॥ ८ ॥

---

१. कृपया विस्तृत जानकारी हेतु देखें—संस्कृत काव्य शास्त्र में रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ
—डॉ० लक्ष्मी चन्द्र शास्त्री, १९८९
इण्डो-विजन प्रा०लि० ११ए-२२०, नेहरू नगर गाजियाबाद प्रकाशित

२. काव्यमीमांसा—प्रथम अध्याये-राजशेखरः ।

३. ऋग्वेद--२/२८/१४, २/३९/५, ५/४८/४, ६/१३/१, ९/१०८/१०

४. स०कं०भ० २/२७

५. का०लं०सू०वृ० १, २, ११

'अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपिसाधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।। ९ ।।
वैदर्भमन्यदस्तीतिमन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्याय: सदर्थमपि नापरम् ।। १० ।।
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ।। ११ ।।
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ।। १२ ।।
अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकेवलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।। १३ ।।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।'
[1]इत्थंप्रादेशिकाधारं भामहेन निराकृतम् ।। १४ ।।
अज्ञातकालतो रीतिः देशाधारेस्थिता मता ।
प्रथमं बाणभट्टेन स्वकाव्ये सा प्रदर्शिता ।। १५ ।।
[2]'श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ।। १६ ।।
नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटोरसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्' ।। १७ ।।
बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वं सम्प्रदायोऽपि कीर्तितम् ।
कविना गद्यकाव्येऽपि रीतितत्त्वं निरूपितम् ।। १८ ।।
[3]'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भ गौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ।। १९ ।।
चन्दनं मलयोत्पन्नं दृश्यतेऽन्यत्र यद्यपि ।
तथा वैदर्भ गौडीयौ मार्गौ प्रतिकवि स्थितौ ।। २० ।।
[4]'इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। २१ ।।
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ।। २२ ।।
इक्षु क्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।। २३ ।।

---

१. द्र० भामह—का०लं० १, ३० से १, ३५ तक
२. द्र० बाणभट्ट—हर्ष चरितम् १, ७-८
३. द्र० दण्डी—काव्यादर्श १, ४०
४. दण्डी—काव्यादर्श १, ४२-१०२

गौडीया गणिका तुल्या वैदर्भी च कुलाङ्गना ।
बाह्यालंकृतो ह्येकस्या देहोऽन्यस्याः गुणान्वितः ।। २४ ।।

यथोदाहरणौ निम्न श्लोकयोः सम्प्रदर्शितौ ।
आद्यो वैदर्भ मार्गस्य द्वितीयो गौडवर्त्मनः । २५ ।

'अनयोरनवद्याङ्गि ! स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
अवकाशो न सम्प्राप्तः तव बाहुलतान्तरे' ।। २६ ।।

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेव विधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ।। २७ ।।

कविःस्वभावो वैदर्भः गौडीयः पण्डितः कविः ।
पौरस्त्यदाक्षिणात्यानां कविर्दण्डी न संशयः ।। २८ ।।

सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षर-डम्बरे ।
शोभते यं विना नोक्तिः स पन्था इति पुष्यते ।। २९ ।।

अन्धास्ते कवयः येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत् ।
परेषां तु यदाक्रान्तः पन्थास्ते कवि कुंजराः । ३० ।

[1]विशिष्टा-रचना रीतिः गुणात्मपदसंयुता ।
काव्यात्मा सा समाख्याता काव्यं तत्र प्रतिष्ठितम् ।। ३१ ।।

आचार्यः प्रमुखः ख्यातः नाम्ना यद्यपि वामनः ।
काव्यसंसारमाक्रान्तं तेन त्रितयरीतिजम् ।। ३२ ।।

पांचाली तु महाकाली वैदर्भी-गौड़िसंगमात् ।
मेलनं श्रीसरस्वत्योः कवीनां भूतयेऽस्तु सा ।। ३३ ।।

[2]अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्र गुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वर सौभाग्य वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। ३४ ।।

सतिवक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ।। ३५ ।।

समस्तात्युद्भट पदामोजः कान्ति गुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ।। ३६ ।।

अश्लिष्ट पद भावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।। ३७ ।।

रेखामध्ये यथा चित्रं इक्षुमध्ये यथा रसम् ।
देहमध्ये यथा ह्यात्मा तथा रीतिः गुणैः वृता ।। ३८ ।।

---

१. वामन—का०लं०सू०वृ० १, २, ७

२. वामनः—का० अ०सू०वृ०—१, २, ७, व १, २, १६

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति या ।
[1]विशिष्टा रचना सैव ध्वन्यालोके रसाश्रिता ।।३९ ।।

कविस्वभावमाश्रित्य रीत्यौचित्यं विचारयन् ।
भगिनी-मातुलेयानां विवाहौचित्यवत्स्वयम् ।। ४० ।।

देशधर्मं स्थितां रीतिं कुन्तकः प्रतिषेधयन् ।
मार्गत्रयविधानेन कृतवान् युग सर्जनम् ।। ४१ ।।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्च तृतीयकः ।
[2]सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः ।। ४२ ।।

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुम काननेनैव षट् पदाः ।। ४३ ।।

सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्ध कवयो गताः ।
खड्गधारा पथेनैव सुभटानां मनोरथाः ।। ४४ ।।

अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरंजके ।
विदग्धनेपथ्य विधौ भुजंगा इव सादराः ।। ४५ ।।

[3]समासाधार माश्रित्य रुद्रटेन निरूपिता ।
लाटीया नामिका रीति पंच-सप्त पदान्विता । ४६ ।

भोजराजेन रीतीनां मिश्रणाल्लक्षणं कृतम्
[4]समस्त रीति व्यामिश्रा लाटीया रीति रुच्यते ।। ४७ ।।

तथैवाग्नि पुराणेऽपि कृतं रीतिविवेचनम् ।
वाग्विद्या संप्रतिज्ञाने पूर्वाचार्योपवर्णितम् ।। ४८ ।।

[5]लाटीया स्फुटसन्दर्भा नातिविस्फुटविग्रहा ।
परित्यक्तापि भूयोभिरूपचारैरूदाहृता ।। ४९ ।।

वाग्विन्यास क्रमा रीतिः राजशेखरवर्णिता ।
[6]चतुर्धा घटना ज्ञेया भौगोलिक प्रदेशजा ।। ५० ।।

आधारो योगवृत्यादि समासो गुण एव च ।
नवीनोद्भावना काव्यमीमांसक कृतास्ति सा ।। ५१ ।।

---

१. आनन्दवर्धन,—ध्व० ३/६
२. कुन्तकः—व०जी० १/२४, १/२९, १/४३, १/५२
३. रुद्रट—का०लं०, २/५
४. भोजराज —स० कं० भ० २/३३, शृं० प्र० पृ० २७०
५. अग्निपुराणम्—३४०/४
६. काव्यमीमांसा—अ० १, राजशेखरः ।

वर्ण्यवस्त्युपचारादि बन्धानुप्रासयोगजाम् ।
[1]गदतिबहुरूपस्य दश रूपक दीपिका ।। ५२ ।।

गण्यते शिङ्गभूपालैः बुद्ध्यारम्भेषु रीतयः ।
[2]रीतिः स्यात्पदविन्यासभङ्गी सा तु त्रिधा मता ।। ५३ ।।

कोमला कठिना मिश्रा वर्णेषु प्राणतागुणम् ।
ग्रन्थे साहित्यसाराख्ये विस्तरेण विवेचिता ।। ५३ ।।

[3]तत्तद्रसार्हं पदसंघटना रीतिरीरिता ।
वैदर्भी च तथा गौडी पांचाली चेति तत्क्रमात् ।। ५४ ।।

[4]द्वितीय तुर्य वर्णै— र्या स्वल्प वर्गेषु निर्मिता ।
अल्पप्राणाक्षर प्राया दश प्राण समन्विता ।। ५५ ।।

समास रहिता स्वल्पैः समासैर्वा विभूषिता ।
कोमला ह्येव वैदर्भी विदर्भजन वल्लभा ।। ५५ ।।

अतिदीर्घ समासा या बहुलवर्ण संयुता ।
कठिना सैव गौडीया ज्ञेया गौडबुधप्रिया ।। ५६ ।।

यत्रोभयगुणग्राम सन्निवेशस्तुलाधृतः ।
सा मिश्रा सैव पाञ्चाली युक्ता तद्देशजप्रिया ।। ५७ ।।

त्रिधा प्रतापरूद्रेऽपि माधुर्यादिविभूषिता ।
रीतिर्नाम गुणाश्लिष्टपदसंघटना मता ।। ५८ ।।

सानुस्वारविसर्गादिदीर्घस्वरजगौरवम् ।
कठोरं तत्पदं गौडी परूषाऽऽरभटीस्थितम् ।। ५९ ।।

अनेक दीर्घस्वरजैकसंयोगजगौरवम् ।
प्राकृतं तत्तु पांचाली प्रौढा सात्त्वत्युपस्थितम् ।। ६० ।।

सर्वलोक प्रसिद्ध्यैव प्रयुक्तं ग्राम्यमुच्यते ।
पांचाल्यादौ च गौड्यादौ यथा युक्तं प्रतीयताम् ।। ६१ ।।

एक स्वरगुरुत्वं वाऽगुरू वा कोमलं मतम् ।
वैदर्भी मधुरा कैशिक्युपगं तद् विलोक्यताम् ।। ६२ ।।

पण्डितैक प्रसिद्धं यन्नागरं तत्पदं स्मृतम् ।
वैदर्भ्यादौ च गौड्यादौ पाञ्चाल्यादौ यथाक्रमम् ।। ६३ ।।

---

१. बहुरूप मिश्र—द० दी० भाग १, पृ ७१-७४
२. शिगभूपाल—र०सु० १/२२७-२२८
३. अच्युतराय—साहित्यसारम्—गुणरत्नम्— ७/१३६, पृ० २१
४. रसार्णव सुधाकरः—१,२२८ व १/२४०

पंडितानुचर द्वित्रिचतुरैकप्रसिद्धिकम् ।
[1]उपनागरमेतच्चाप्युक्तरीत्यँय वीक्षताम् ॥६४॥

ओजो माधुर्यमित्येते स्वे स्वे वेश्मनि तिष्ठतः ।
[2]वैदर्भ्यामत्र माधुर्यं गौड्यामौज इति स्मृतम् ॥ ६५ ॥

[3]काव्यप्रदीपकारेण माधुर्योजःप्रसादजाः ।
व्यञ्जकैरक्षरैर्युक्ताः रीतयः सम्प्रदर्शिताः ॥ ६६ ॥

उपनागरिकारीतिः परुषा कोमला तथा ।
ग्राम्यस्त्रीसाम्यतः कश्चिद् ग्राम्यां वदति कोमलाम् ॥ ६७ ॥

[4]आचतुष्ट्यमासप्तं यथेष्टैरष्टमादिभिः ।
समासः स्यात्पदैर्नस्यात् समासः सर्वदापि च ॥ ६८ ॥

पांचाली किं च लाटीया गौडीया च यथा रसम् ।
वैदर्भी च यथासंख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ॥ ६९ ॥

एवं यद्यपि रीत्यादेर्गुणैकायत्तता स्थिता ।
तथापि वक्त्राद्यौचित्यादन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७० ॥

'मंथेति' भीमसेनोक्तौ वेत्णयां वक्त्रैकयोगतः ।
प्रश्नेऽपि गौडीरीतिश्च वृत्तिर्वा परुषा मता ॥ ७१ ॥

[5]वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचना वृत्ति वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७२ ॥

बालरामायणे विश्वामित्रा श्रमजनोक्तितः ।
रक्तेति वाच्यैकोचित्याद् रीत्याद्यौद्धत्यमीक्षाते ॥ ७३ ॥

आख्यायिकायां संभोगेऽप्येव वक्तर्यनुद्धते ।
विकटा एव रीत्याद्याः स्युर्हर्षचरितादिवत् ॥ ७४ ॥

कथायां तु तथा कादंबर्यादौ तामसेऽपि च ।
रसे प्रासंगिकेनातिविकटा रीतिवृत्तयः ॥ ७५ ॥

महापुरुष सौख्यैकप्रतिपत्तिसमर्पणम् ।
[6]कर्त्तुं तस्याः कल्पितस्वाद् वैदर्भ्याद्यात्मिकैव सा ॥ ७६ ॥

---

१. साहित्यसारम्—गुण रत्नम्, ७/१५२-१५७, पृ० २१५ ।

२. साहित्यमीमांसा—चतुर्थं प्रकरणम्-पृ० १६

३. म०म० गोविन्द—काव्यप्रदीपे । पृ० ३४०-३४१ (काव्यमाला-२४) ।

४. जयदेव—चन्द्रालोके ।

५. मम्मट—काव्यप्रकाशे ।

६. अच्युत शर्मा—साहित्यसारे पृ०र० ७, श्लोक—१६०-१६६

[1]उपक्रमादि षड्लिङ्गानुग्रही रीतिरीरिता ।
भार्गवे मग्न भूभृद्भे मार्गे कः प्रतिभूर्भवेत् ॥ ७७ ॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थनादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥ ७८ ॥

रीतिः सा यस्त्विहार्थानामुत्पत्त्यादिक्रिया क्रमः ।
[2]इच्छादिरूपरत्यादिगुणोऽप्येतस्यजातिवत् ॥ ७९ ॥

आन्ध्री लाटी च सौराष्ट्रीत्यादयोमिश्र रीतयः ।
सन्ति तत्तद्देशविद्वत् प्रियमिश्रण भेदतः । ८० ॥

त एव पद संघातास्ता एवार्थविभूतयः ।
तथाऽपि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ॥ ८१ ॥

तासां लेखगडुत्वेन विस्तरं नोच्यते मया ।
साहित्यदर्पणादौतत्तदाकांक्षिभिरीक्ष्यताम् ॥ ८२ ॥

मधुरं रसवत् प्रोक्तमेतद्वैदर्भं जीवितम् ।
श्रोत्रेषु विदुषां वाणी सरसास्यन्दते मधु ॥ ८३ ॥

पृथक्पदत्वं माधुर्यं केचिदिच्छन्ति सूरयः ।
वैदर्भी रीतिरेषैव कथ्यतेऽन्यैर्मनीषिभिः ॥ ८४ ॥

यया कयाचिच्छ्रुत्यायत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपादिपदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ ८५ ॥

तत्तत् रीति युतं काव्यं तत्तद्रीति समन्वितम् ।
तत्तद् रीतिरसं सूते तत्तज्जाति यथोचितम् ॥ ८६ ॥

समास वृत्त्यनुप्रासोपचारोत्कर्षभेदतः ।
वैदर्भी रीतिरावन्ती पाञ्चालीगौडिका तथा ॥ ८७ ॥

चतस्रो रीतयो लक्ष्या इति केचन मन्वते ।
[3]पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ॥ ८८ ॥

तत्तद्रसोपकारिण्यस्तत्तद्देश समुद्भवाः ।
[4]पद्येषु रीतयो गौडी वैदर्भी मागधी तथा ॥ ८९ ॥

माधुर्य व्यंजकैर्वर्णैरूपनागारिकोच्यते ।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा, कोमला परैः ॥ ९० ॥

---

१. रुय्यक (मङ्खुक ?):—७/२०७

२. वही—७/१३३

३. विश्वनाथः—साहित्यदर्पणम्, परि० ९

४, केशवः—अलंकार शेखरे ।

[1]केषांचिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः ।
मागध्यावन्तिकायोगात् षोढा रीतिर्निगद्यते ॥ ९१ ॥

[2]गौडी डम्बर बद्धास्यात् वैदर्भी ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥ ९२ ॥

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्ची-स्वर सौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥ ९३ ॥

उपचार युता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।
[3]दीर्घसमासागौडीया व्याससम्मत रीतिषु ॥ ९४ ॥

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
[4]अशक्नुवद्भिः व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः ॥ ९५ ॥

त एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षर पङ्क्तयः ।
[5]पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥ ९६ ॥

यायावर कृतोग्रन्थो लुप्तो 'रीतिविनिर्णयः' ।
'कविः प्रथममात्मानं कल्पयेद्' रीतिनिर्णयः ॥ ९७ ॥

[6]विद्याधरोभटोद्भट्टोऽभिनवोमहिमादयः ।
हेमचन्द्रश्च वाग्भट्टौ—विद्यानाथार्कसूरयः ॥ ९८ ॥

[7]सौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी ।
याति प्राकृतमित्येव व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥ ९९ ॥

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निवबन्धुः क्रियाविधिम् ॥ १०० ॥

[8]देशभाषाक्रिया वार्तां ख्यापयन्ति प्रवृत्तयः ।
[9]वाग्व्यापारयुतावृत्तिः रीतिरेव न संशयः ॥ १०१ ॥

---

१. मम्मटः—काव्यप्रकाशे ।

२. लक्ष्मी टीका—सा० दर्पण, परि० ९ (पृ० ५९९)—कृष्णमोहन शास्त्री), टीकाकारः

३. वेदव्यासः—अग्निपुराणाङ्कः—(कल्याण), पृ० ५७९-५८०—अध्यायः-३४०

४. आनन्दवर्धनः—ध्वन्यालोके ।

५. शारदातनयः--- भावप्रकाशे ।

६. द्रष्टव्य—संस्कृत काव्य शास्त्र में रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ, पृ० ९२-९६
· लेकडॉ० लक्ष्मीचन्द्र शास्त्री

७. दण्डीः—काव्यादर्शे १, ३५

८. भरतः—नाट्यशास्त्रे, पृ० १६५

९. अभिनवगुप्तः—अभिनव भारती, ना०शा० टीका

[1]नैकमोजः प्रसादो वा रसभाव विदः कवेः ।
[2]वच्छोमी, माअही, वत्सगुलमी, पञ्चालिआ च या ।। १०२ ।।

काव्यदेव्यः समुद्भूताः रीतयस्ता प्रदेशजाः ।
रीति 'रुत्तरखण्डीया' 'खालिस्थानी' च 'पाकजा' ।। १०३ ।।

'लिट्टीया' चोग्रवादीयाऽऽसामीया 'मार्क्स' जा च या ।
राजनीति प्रभावेण जायमानाः दिने दिने ।। १०४ ।।

पुराणमार्गमुत्सृज्य नव्य काव्यस्थ रीतयः ।
नवीनैर्नामभिर्नूत्नं विवेचनमपेक्ष्यते ।। १०५ ।।

आशासे दीक्षिताचार्याः विश्वविद्यालये स्वके ।
शीघ्रमायोजयिष्यन्ति गोष्ठीं शास्त्रज्ञशास्त्रिणाम् ।। १०६ ।।

मधु कुसुमवृक्षेभ्यो यथा गृह्णन्तिमक्षिकाः ।
था साहित्यशास्त्रेभ्यो रीतितत्त्वं मयान्विदम् ।। १०७ ।।

गृहीतं, लिखितं लेखे, प्रस्तुतं शोधपत्रकम् ।
गच्छतः स्खलनं शोध्यं, मुद्रणीयमपेक्ष्यते ।। १०८ ।।

हरिनारायणाचार्याः दीक्षिताः संस्कृतात्मके ।
यशे, सदा प्रसीदन्ता, कामयेऽहं दिने दिने ।। १०९ ।।

---

१. माघः—शि०पा०व०, २८५

२. P.V. Kane—History of Skt. Poetics, P. 381

साहित्ये रसदर्शनस्य पृष्ठभूमिः

लेखक—प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
एन/१६/४-३, पत्रकारनगरम्
विनायका, वाराणसी

छन्दः पादाभिरामां घनजघनलसत्तर्कविद्याप्रसारां,
पार्श्वोद्यत्सांख्ययोगां हृदयसरसिजोद्भासितब्रह्मतत्त्वाम् ।
वक्षोजव्याप्तवेदां पदमयवदनामागमोद्भासिभालां
काव्यालङ्काररहास्यां भजत भगवतीं भारतीं भारतीयाम् ।।

सर्वोऽपि जनः स्वमनीषानुसारं वस्तुतत्त्वमवगच्छतीति स्वभावः। तमेवाऽनुसृत्य-प्रवर्तमानोऽहं भवद्भिरवेक्षणीयः स्वीकरणीयो वा निराकरणीयो वा भवेयमिति नातिचित्रम् । विश्वस्मिन् सर्वोऽपि लोकः स्वानुकूलसंवेदनीयं सुखमेवाऽभिलषति, परिजिहीर्षति च प्रतिकूलसंवेदनीयं दुःखमिति हेतोः सर्वेऽपि शास्त्रकाराः पर्यन्ततः परमपुरुषार्थाधिगमरूपं सुखमेव परमोपेयतया प्रतिपादयन्ति ।

तच्च सुखं कृत्रिममकृत्रिमिति द्वेधा विभज्यते शास्त्रकारैः, लौकिकं धनदाराधिकारादिरूपं कृत्रिमं तदितरत् शाश्वतिकश्रेयोरूपं अकृत्रिममित्यभिधीयते, तस्य च मुक्तिः, निर्वाणं, निःश्रेयसम् ब्रह्मभावावाप्तिः, कैवल्यम्, आनन्दः, स्वातन्त्र्यम्, इत्यादयो बहवः पर्यायाः सम्भवन्ति ।

साहित्यशास्त्रकारा अपि किमपि सुखविशेषमुद्दिश्यैव तदधिगमयितुं स्वप्रणालिकया प्रवर्तन्ते । सा का प्रणालिकेति जिज्ञासायां दृष्टिपथमुपयाति नामरूपात्मिका शब्दार्थात्मिका वा योजना नाम । सृष्टिरियं नामरूपात्मिका यथा कस्याऽप्युक्तिः—

'नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा ।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः' ।।

ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं वेदादिशास्त्रपरम्पराप्रसिद्धं सर्वगोचरञ्च । "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" "अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्" इत्यादि प्रमाणशतपरिपुष्टञ्च । वस्तुतः 'रूपम्' इति अर्थस्यैव पर्यायः, पूर्वोक्तं सुभाषितं तु कमनीयकाव्यकर्तृत्वमुद्दिश्य कवेः प्रशस्तिप्रायोवादः ।

अर्थस्य शब्दाऽविनाभावित्वं तु प्रसिद्धमेव—

"न सोऽस्मि प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।"

स्वप्नादौ मानसिकचिन्तनादावपि शब्दानुविद्धज्ञानस्याऽनुभवसिद्धत्वात्। एवञ्च शब्दार्थयोः समकालिकी सृष्टिरस्ति परस्परसापेक्षत्वात्। शब्दसमुदायोनाम पञ्चाशद्वर्णात्मिका भगवती मातृका यत्प्रसूतमिदं चराचरात्मकं विश्वम्। तत्प्रतिपाद्यः सर्वोऽप्यर्थसमुदायोऽपि तदभिन्न एव मन्तव्यः। अन्तर्विद्यमानस्यैव बहिःप्रकाशनं सृष्टिः। सत्कार्यवादभङ्गया कारणांशे विद्यमानस्यैव बहिः प्रादुर्भावः। नहि असतः सत् उत्पत्तुमर्हति।

किञ्च वैदिकमर्यादयाऽपि "स भूरिति भुवमसृजत् इत्याद्युक्तेः सृष्टेः शब्दजन्यत्वं वेदजन्यत्वं वा शास्त्रकारैरभ्युपेयते। आचार्यसायणस्योक्तिः—

"यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥"

शारीरकभाष्येऽप्याचार्यचरणैः सृष्टेः शब्दजन्यत्वं निरणायि। अतएवाऽस्माकं वैदिके वाङ्मये मन्त्रमयत्वान्महानादरः।

इयञ्च शब्दार्थयुगली प्रकाशविमर्शरूपा शब्दो विमर्शः, अर्थश्च प्रकाशात्मा। आगमशास्त्ररीत्या विमर्शः शक्तितत्त्वं प्रकाशश्च शिवतत्त्वमिति स्थितिः। सा च द्विविधाऽपि सृष्टिः समकालीनोत्पत्तिका समकालाभिवृद्धिशालिनी यथा बीजादङ्कुरतच्छाये। तत्र चच्छायादर्शनेन वृक्षानुमितिरनुभवसिद्धा। सा च च्छायायां वृक्षसमानाकारत्वं वृक्षाऽविनाभावं च विनाऽनुपपन्नेति तद् द्वयमपि तत्र कल्प्यम्। प्रत्यक्षसंवादविषयश्च तद्वच्छब्दः सर्वोऽप्यर्थाविनाभूतः अर्थज्ञानजनकज्ञानविषयत्वात्। अतएव "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये" इति महाकवेरुक्तिः तथा अर्थसमानाकारोऽपि। तथाहि यावन्तः शब्देऽवयवास्तावन्त एवाऽर्थे तज्ज्ञाने चाभ्युपेयाः। "चैत्रस्तण्डुलं पचति" इत्यादौ चैत्रपदं सुप्प्रत्ययः तण्डुलपदं अम् प्रत्ययः पचिधातुस्तिप् प्रत्ययश्चेति षडवयवात्मकस्य शब्दसमूहस्य चैत्रः कर्तृत्वं, तण्डुलः कर्मत्वं तेजःसंयोगः कृतिश्चेति विशकलिताः षडर्थाः। अग्रे तेषां परस्परसमभिव्यवहारस्य तुपरस्परसम्बन्ध विशेषोऽर्थ इति शास्त्रकाराणां सरणिः। एवमनयो शब्दार्थयोः परस्परसंश्लिष्टत्वं प्रमाणप्रतिपन्नम्।

इयञ्च सृष्टिः परब्रह्मपरिणाम एव। "आत्मकृतेः परिणामात्" इति सूत्रकारोक्तेः। श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि सौन्दर्यलहर्याम्—

"त्वयि परिणतायां न हि परम्" इत्युक्तम्। शब्दार्थात्मिका सृष्टिः सूक्ष्मरूपा, सैव स्थावरजङ्गमरूपेण परिणमन्ती स्थूलरूपा कथ्यते। अनयोः सृष्ट्योर्ज्ञानजनकं मन एव। तच्च शब्दं श्रोत्रेन्द्रियद्वारैव गृह्णाति, अर्थं तु कञ्चन साक्षात् कञ्चनचक्षुरादिद्वारेति विशेषः। ते च द्वे अपि सृष्टी स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमभेदात् प्रातिस्विकं चतुर्विधे। श्रोत्रमनसोस्तु अर्थान्तः पातित्वात् एव चातुर्विध्यम्। एवञ्च स्थूलश्रोत्रेण स्थूलशब्दश्रवणात् स्थूलार्थस्य स्थूलमनसाज्ञानम्। सूक्ष्मश्रोत्रेण सूक्ष्मशब्दश्रवणात् सूक्ष्मार्थस्य सूक्ष्ममनसा ज्ञानम्। इत्यादि क्रमो द्रष्टव्यः। श्रोत्रमनसोः सूक्ष्मत्वादिकं तु शास्त्राभ्यासयोगाभ्यासादिपाटवजन्यम्। तदेतद्योगशास्त्रे "निर्विचारवैशद्येऽध्यात्मप्रसादः" इति सूत्रे "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इति सूत्रे च स्पष्टम्। तदेतत्सर्वं गर्भीकृत्यैव श्रुतिराह—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥" इति ।

वैखरी च सर्वमपि शब्दजातं व्याप्नोतीति प्रत्यक्ष सिद्धम् । पूर्वोक्तानां चतुर्णां वाचकानां चतुर्भ्योवाच्येभ्यो भेदा अपि चत्वारः कल्पिता स्थूलादिरीत्या चतुर्विधोज्ञेयाः । अस्य सृष्टिचतुष्टयस्याऽपि मूलभूतो बिन्दुविशेषो बीजस्थानापन्नः । तस्मादपि परतस्तु सूक्ष्मतमापेक्षया सूक्ष्मतममपि विशिष्यतद्वाचकादभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादि पदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव । तच्च प्रकाशैकाकारादर्थादत्यन्ताऽभिन्नतया शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देशविशेषस्य अभावात् "अनिर्देश्यम्" "अग्राह्यम्" "अशब्दम्" "अस्पर्शम्" इत्यादिनिषिद्धविशेषणम् । वस्तुतस्तु सृष्टिद्वयमूलभूत सूक्ष्मरूपविशेषात्मकत्वादभिन्नशब्दार्थरूप शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव तच्च प्रकाशैकस्वरूपम् । घटः स्फुरति, पटः स्फुरति इत्यादि प्रत्ययेन पदार्थमात्रे स्फुरणाख्यवस्तुविशेषस्य तत्तदभिन्नस्य अनुभवसिद्धत्वात् । प्रकाशस्याऽपि स्फुरणमवश्यं वाच्यम् "प्रकाशं स्फुरति" इति प्रत्ययात् ।

तच्च स्फुरणं शक्तिरित्युच्यते । प्रकाशस्फुरणयोश्च मिलितयोरेव जगत्कारणत्वम् । अन्यतरमात्रस्य जनकत्वानुपपत्तेरित्यादि कामकलाविलासादौ स्फुटतरमुपपादितम् । तेन शुद्धस्य शिवस्य शुद्धायाः शक्तेर्वाजगत्कारणत्वं तत्रतत्रोच्यमानं शिवशक्तिरूपस्योभयात्मन एवेति वोद्धव्यम् । तत्र च प्रकाशः अकारस्वररूपः तद्वाच्यश्च । स्फुरत्ता तु हकाररूपा तद्वाच्या च । तौ एतौ अकार हकारौ परारूपौ सूक्ष्मतमौ प्राङ्निर्दिष्टौ । परादिसृष्टिमूलभूतस्य बीजस्थानीयस्य विन्दुविशेषस्य तु व्यक्ताव्यक्तविलक्षणौ वाचकौ । तयोः शून्यस्वरूपत्वादेव "स्रोतोवाचोनिवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतिभिः अवाच्यता प्रतिपाद्यते । "वाचः" इति बहुवचनेन परादिचतुष्टयस्य ग्रहणम् ।

एवञ्च अकारहकारोभयात्मकत्वं शिवशक्तिद्वयरूपत्वञ्च अहं पदस्य निष्कृष्टोऽर्थः । भगवता पाणिनिनाऽपि प्रत्याहारन्यायेन अकारहकारयोर्मध्य एव सर्ववर्णपाठः स्वीकृतः । ककारस्तु लकारादभिन्नः "क्ष" कारस्य कषयोगरूपत्वान्न तद्बहिर्भावः शङ्कनीयः । पूर्वोक्तशिवशक्त्यात्मकतत्त्वजन्यानां सूक्ष्मादिस्थूलान्तानामखिलसृष्टीनां अहं पदवाच्यत्वम् । यथा उदुम्बरपदवाच्याद् बीजाज्जनितानां परस्परविलक्षणानामपि पर्णकाष्ठकुसुमफलक्रिमीणां सर्वेषामुदम्बरत्वं तथैव सर्वेषामपि सृष्टिपदार्थानामहं पदवाच्यत्वम् । यथोक्तं छान्दोग्ये—

"अहमेवाऽधस्ताद् अहमुपरिष्टाद्
अहं पश्चात् पुरस्मादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम्" इत्यादि ।

ऋग्वेदे वागाम्भृणी सूक्तेऽपि—"अहं राष्ट्रीसङ्गमनीवसूनामहमादित्यैरुतविश्वदेवैः" इत्यादि श्रूयते । अन्यच्च—

"अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः । अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ॥
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः । अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिऽहमिस्फुटम् ॥"

एवञ्च पर्यालोचनया पराहन्तामयी मातृका सर्वेषां शास्त्राणां काव्यशास्त्राणां रसानाञ्च प्रसवभूमिरिति पर्यवस्यति।

एतत्सन्दर्भमनुसृत्यैव ध्वनिकारस्य कारिका स्मरणीया—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥"

न हि महाकवेः सामान्यः शब्दः अर्थो वा काव्यव्यापारघटको भवति किन्तु विलक्षणः, अन्तर्निहितसूक्ष्मतमपर्यन्तपदार्थावगाही। स च केनाऽपि यत्नविशेषेणैव प्रत्यभिज्ञेयः तत्राऽपि न सर्वैरेव अपितु काव्यार्थभावनाग्रहणानुकूलनिर्मलीभूतमनोमुकुरैरेवेति तात्पर्यम्। किञ्च किमिदं प्रत्यभिज्ञातम ? इति प्रश्ने लोचनकारः स्फुटीकरोतिप्रत्यभिज्ञेयशब्देन इदमाह—

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः" इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैव तत् परिस्फुरति तथाऽपि इदं इति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः--

तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके।
कान्तोलोक समान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा॥

लोकस्यैव तथाऽनवेक्षितगुणः स्वात्माऽपिविश्वेश्वरी।
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥ इति।

तेन ज्ञातस्याऽपि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानम्, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्।

अयमत्र लोचनकाराणामाशयः प्रतिभाति त एव शब्दा अर्थाश्च सर्वत्र प्रयुज्यन्ते कविभिः परं महाकविप्रयुज्यमानानां तेषामनितरसाधारणः कश्चिदस्ति विशेषः येन झगिति शब्दार्थोभयरूपबाह्यमावरणं विभिद्य सारभूत परमानन्दमात्मस्वरूपमाविशन्ति सहृदयाः पूर्वपरामृष्टाया अहन्तायाः विश्रामभूमिश्च पराहन्ता। यस्यामात्मनः पूर्णत्वाभिव्यक्ति सम्पद्यते।

उत्पलदेवोदिते दृष्टान्ते च विरहवेदनाचरमावस्थामापन्नायाः कामिन्याः सर्वमपि बहिर्व्यापारमपश्यन्त्याः सन्निहितेऽपि प्रियतमे न तस्मिन् विश्वसिति बुद्धिः, परं तत्क्षणमेव सर्वविश्रम्भस्थानभूतया सख्या—"अयं ते प्रियतम : पश्येनमित्युक्ते झटितिपरमानन्दसङ्गमनिमज्जनं जायते तद्वदेवेयं महाकविशब्दार्थज्ञानप्रत्यभिज्ञा रसावगाहिनीति तात्पर्यम्। तथैव पक्षान्तरेऽपि देशकालदेहादिवद्धः सङ्कोचमञ्चन् जीवाख्यः परमेश्वरः सुदृढगुरुकटाक्षपातविच्छिन्नपाशजालः सद्यः सर्वव्यापकं विश्वेश्वरीभावरूपं प्रत्यभिज्ञाय स्वातन्त्र्यमनुभवन् दीव्यतीति अपरोऽर्थः, सेयं प्रत्यभिज्ञैव रसशास्त्रस्य भूमिका। यद्यपि कण्ठचामीकरन्यायेन निर्विकल्पवृत्या स्वरूपावाप्तिरेव मोक्ष इति ब्रह्मवादिना घण्टाघोषः, रसविषयिणी प्रतीतिर्न तत्सदृशी किन्तु ततो नितरां भिन्ना परमानन्दघनस्वरूपानन्दमास्वादयन्ती जेगीयते। अत एव शास्त्रेषु चतुर्विधपुरुषार्थफलप्रदानस्य सामान्यत्वेऽपि साहितीसुरभिले पथि सूक्ष्माधियां प्रवृत्तिः साहजिकी सम्पद्यत इति "कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात" इत्याह दर्पणकारः।

तत्र रसाभिव्यक्तिः शब्दार्थोभयादिति प्रसिद्धम्। परं तयोः संयोजने काश्चिदस्ति विशेषः यद्वशात् रसप्रसूतिः सम्भाव्यते, स च 'साहित्य' नामा सम्बन्धविशेषः। स च न यथाकथान्चित् प्रवृत्तः किन्तु वासनावासितान्तःकरण—चतुर रचनाप्रवीणकविप्रणीत एवोपयुज्यते। यद्यपि भोजराजादिभिः द्वादश साहित्यलक्षणानि प्रतिपादितानि, परं तत्वस्तु तयोर्यथावत्संयोजनमेव तल्लक्षणं यथा च कुन्तकाचार्यस्य मतम्—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः

ईदृशी मनोहारिण्यवस्थितिः कालिदासादीनां महाकवीनां रचनासूपलभ्यते न सर्वत्रेति ध्वनिकारोऽप्याह—

वस्तुतत्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां सरस्वती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्ततमभिव्यनक्ति, येनाऽस्मिन्नतिविचित्रकवि-परम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः" इति। अमुमेव ध्वनिकारसिद्धान्तमुपजीव्य तत्रभवानाचार्यमम्मटोऽपि—शब्दार्थौ काव्य "मिति नैजं लक्षणं पर्यवस्थापयत्। तल्लक्षणे रसग्रहणाभावान्न्यूनत्वशङ्काऽपि निर्मूला। तत्र किञ्चदवघातव्यमरसस्य शब्दवाच्यत्वाभावात्, शब्दवाच्यत्वे च उद्वेगजनकतया दोषप्रसङ्गान्न साक्षाद्रसपदनिवेशो लक्षणवाक्ये। वस्तुतो विचार्यमाणे निर्दोषत्वादिगुणगणपरिष्कृतयोर्महाकवि शब्दार्थयोः साहित्यमेव रसं प्रसूते। किञ्च "शब्दार्थौ" इति "द्वन्द" समासे द्वयोरपि समं प्राधान्यं परस्परोपकारकत्वञ्च प्रतीयते। तदेव सहभावेन साहित्यपदाऽभिधेयं रस निस्यन्दहेतुः। तादृशकाव्यनिर्माणाय प्रतिभाव्युत्पत्यभ्यासाः सामुदयिकतया कारणीभूता इत्याचार्यः। प्रतिभाविषये बहुतरं परामृष्टं प्राचीनैस्तथाऽपि तत्र रुद्रटाचार्योक्तिरेव ज्यायसी—

"मनसि सदा सुसमाधिनि
विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च
विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥" इति।

प्राचीनालङ्कारशास्त्रपरिपाट्यां दशगुणाः शब्दार्थयोः परिगण्यन्ते, तत्रार्थगुणेषु कश्चिदस्ति "समाधि" नाम गुणः, यद्वशात् कवेर्नूतनार्थ स्फूर्तिरुपजायते। तेन द्विविधोऽर्थः स्फुरति अयोनिरन्यच्छायायोनिश्चेत्यादि प्रसिद्धम्। तदेवाऽनुसन्धान रुद्रटस्योक्तिरियम्। काव्यनिर्माणावसरे विषयान्तरप्रमोषवशाज्जायमाना एकाग्रवृत्तिरेव समाधिः। समाधौ विवर्णयिषतं वस्तु अर्थतत्वं अनेकधा परिस्फुरति। कविरेवमूहापोहं कल्पयति इदं वा वर्णयामि इदं वा वर्णयामीतिरीत्या। न च तावन्मात्रेण सिद्धिः, किन्तु तादृशस्य विवर्णयिषितस्य वस्तुनः समर्पकं सहजसुलभं पदकदम्बकं यावन्नोपतिष्ठते, तावन्न काव्यस्याऽऽविर्भावः सम्भवतीति तादृशपदकम्दम्बकसौलभ्ये सत्येव बहिः काव्यप्रादुर्भावः अयमेव प्रतिभाव्यापारः। इदमेवाऽसाधारणं कारणं काव्यनिर्माणे।

इयञ्च प्रतिभा परां प्रतिभामाश्लिष्यैव प्रवर्तते, परायाः प्रतिभाया अभावे तादृश लोकोत्तर निर्माणस्याऽसम्भवात्। लोचनप्रथमोद्योतपर्यवसाने श्रीमानाचार्याभिनवगुप्तपादः प्रतिभां स्तौति—

यदुन्मीलनशक्त्येव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां शिवाम् ।।

अत्राऽयमाशयो विचिन्तनीय :—

प्राङ् निरूपिते शब्दार्थस्वरूपे परानाम प्रथमा वागस्तीति निर्दिश्यते, या च मूलं शब्दसृष्टेः, न केवलं शब्दमात्रस्य अपितु शब्दार्थोभयरूपस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य । तस्यां शब्दतत्त्वमिव अर्थतत्त्वमपि साकल्येन जागर्ति । मयूराण्डरसन्यायेन कललावस्थायां विचित्रचित्रकप्रपञ्च इव परायां शब्दरूपायामप्यन्तः अर्थचमत्कारः कल्लोलायते । सा च परा प्रतिभैव परमेश्वरी कवेर्वाचमाविशन्ती चमत्कारप्रसूर्भवति । इयञ्च महाकवीनां वश्यवाचामेव स्थितिः । तारतम्यात्तु ततोऽवराणामपि कवीनां सैव अंशांशिकया स्पृशन्ती चमत्कारजनने विद्युदुद्योतप्रायं स्वरूपमुपदर्शयतीति स्वीकर्तव्यमेव । अत्राऽप्याचार्यः—"उन्मीलन" शब्दमेव प्रयुङ्क्ते । उन्मीलनञ्च अन्तरवस्थितस्य बहिरवभासनमिति तदेव प्रत्यभिज्ञानपदेन निवेदितचरम् ।

अत्राऽप्यागमसंवादः शरणीकरणीयः तथाहि स्मर्यते—

अनादिनिधनात् स्वान्तात् शिवात्परमकारणात् ।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया: ।। इति ।

सर्वोऽपि प्रपञ्चः क्रियाशक्तेर्विलासः, सा च कवेरेकप्रजापतिपदं निर्मिमीते । यदुपज्ञां भणितिश्च—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

इच्छैव तावत् प्रथमकारणं तां विना सर्गारम्भो न भवति । इदमेव "तदैक्षत" बहु स्यां-प्रजायेय इति श्रुत्युक्तरीत्या ईक्षितृत्वावस्थापन्नं परं ब्रह्मेत्युच्यते । आगमेष्वपि "इच्छाशक्तिरुमाकुमारी" इति इत्यादिसूत्रेण सा निरूपिता । मूलभूता एतास्तिस्रः शक्तय एव विश्वविलासनिर्माणहेतुभूता प्रसिद्धाः परमेश्वरसमवेताश्च शास्त्रेषूपवर्णिताः यथा—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।।
एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
ज्ञात्वा तदैव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते ।।
एवमेषा त्रिरूपाऽपि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थाचाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।।

रसानुभावविषये अभिनवगुप्तपादाचार्यैः विभावादीनां साधारण्ये जायमाने शब्दप्रत्यक्षयोः सामानाधिकरण्येन प्रतीतिर्भवतीत्युक्तम् । गेयसंवादशबलिते नाट्ये चक्षुरादिभिर्बाह्येन्द्रियैर्मनोबुद्ध्याद्यन्तः करणैश्च सहैव प्रतीतिरुपजायते सेयं ज्ञानक्रियाशक्त्योर्युगप-

दवतारादेव सङ्गच्छते। बहिरन्तःप्रतीत्योश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावकल्पतया प्रत्यभिज्ञान-स्वरूपमुपवर्ण्यमानमपि युज्यत एव।

पारमेश्वरीसृष्टिरिव कवेः सृष्टिरपि तत्तदर्थोपाधिवशादनन्ततां याति इति ध्वनिकार सम्मतः पन्थाः—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।
अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः।

न केवलं व्यङ्ग्यस्याऽपितु वाच्यस्याऽप्यानन्त्यमिति तत्र निरूपितमेव। किञ्च किञ्चदुपादानं कारणं विना न कार्यारम्भः। तत्र किमुपादानकः कवेः काव्यारम्भ इति प्रश्ने दत्तमेवोत्तरं व्यतिरेकालङ्कारेण। तथाहि—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने।

इति सुप्रसिद्धे तदुदाहरणे कविव्यापारसमाधिरनुभूयताम्। भगवतः प्रतिभाख्या शक्तिरेव स्वसामर्थ्यात् भित्तिरूपं चित्ररूपञ्च समाश्रित्य जगच्चित्रनिर्माणपाटवं प्रथयति चेत् तथैव कविनिष्ठा सा विविधाकार सारस्वतप्रकारमारभते। अत्राऽप्यागम संवादः श्रोतव्यः—

'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'। इति।

ध्वनिकारोऽपि तदेव प्रकारान्तरेणाऽनुवदति—

'न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः'। इति।

अथेदानीं एतद्व्यापारफलभूतस्य रसाविर्भावस्य विषये किमपि प्रस्तूयते—

अस्मत्कृते मङ्गलाचरणे विशेषणमेकं सन्निवेशितं सरस्वत्याः "काव्यालङ्कारहासः स्याम्" इति। जगन्मातुः सरस्वत्याः प्राचीनेष्वागमेषु वर्ण्यमानं क्वचिदस्ति स्वरूपं, यत्र तत्तदवयवेष्वशेषशास्त्राणां सन्निवेशः परिवर्णितः तस्मादेव मया विशेषणमिदमत्राऽपि परिगृहीतम्। सरस्वत्याः हासभूतं काव्यालङ्कारशास्त्रमिदम्। हासः कदा प्रादुर्भवतीति जिज्ञासायामिदं वक्तव्यमेव यत् परमतुष्टिरेव हासस्य कारणम्। सर्वस्याऽपि जनस्य सति परमसन्तोषे हासः स्मयमानमुखता च सम्पद्यते। परं नित्यतृप्ताया विश्वमय्याश्च जगन्मातुः कस्तावत् तृप्तिविशेषो यो हासभासं जनयतीति प्रश्ने किञ्चित्प्रतिपत्तव्यम् यदयमात्मानुरागो रतिरेव।

"रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।" इति तस्या लक्षणम्। आत्मविषयिण्यनुरागे पूर्णतामापन्ने समुच्छलन्निव तदीयोऽनुभावः हास्यात्मना प्रादुरासीत्। अत एव श्रुतिषु—"आत्मकामः आत्मरतिः" इति परतत्त्वविशेषणानि। "आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवतीति" च। पूर्णत्वाभिव्यक्तौ च आनन्दशक्तेः प्रादुर्भावो भवति यदुक्तम्—

"पूर्णत्वादहमित्यज्ञानमानन्द उच्यते" इति। अत्र च विषयसंवादाय "शोकः" श्लोकत्वमागतः" इति व्याख्यायां स्थिता लोचनपङ्क्तयः स्मरणीयाः—

"स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तवृत्तिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसः परिपूर्णकुम्भोच्छलनवच्चित्तवृत्तिनिस्पन्दस्वभाववाग्विलापादि समयानपेक्षित्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिनयेनाऽकृतकतयैवावेशात् समुचितच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः मानिषादेत्यादि । न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् ।"

एनमेव सिद्धान्तमुपोद्वलयन्ति आग्नेयपुराणवचनानि---यथा---

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ।
आद्यस्तस्य विकारोऽयं सोऽहंकार इति स्मृतः ॥
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ॥
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृंगार इति गीयते ।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ॥
स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः ॥ इत्यादि ।
एतावता पूर्वपरामृष्टा विचाराः परिपोष्यन्ते ।

रतिरेव मूलभावः, अन्ये तु तस्यैव प्रकारान्तरमाश्रिता भेदाः लौकिकस्थितौ रतेः कान्ताविषयिण्यां सर्वानुभवसिद्धायां प्राधान्यात्काव्येष्वपि तद्विषयकाऽलौकिकप्रत्यक्षेऽपि तस्याः प्राधान्यं परिगण्यते, किन्तु सा सर्वथा विलक्षणैवेत्यङ्गीकर्तव्यम् ।

"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च" इत्यादि यत्किञ्चित्सम्बन्धानवच्छिन्नतयैव तत्प्रतीतेः वैलक्षण्यं, सकलसहृदयसंवादश्च उपपद्यते । एवञ्च महासत्तायामेकरसीभूता रत्याख्या आनन्दशक्तिरेव रसपदवीमारोढुमर्हतीति निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः ।
उक्तञ्च प्रत्यभिज्ञायाम्—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥

अस्याञ्च प्रतिबिम्बमशेषं नवनवायते, परमानन्दसान्द्रतया वाऽनुभूयते इति किमत्र साधनीयं नाम ।

अत्राऽपि अवधेयं किञ्चित्—इयमानन्दशक्तिः प्रधानभूताऽपि न एकाकिनी प्रसरति । आनन्द शक्तेरयं स्वाभाविकः स्पन्दः, यदियं द्वयोः चिच्छक्ति-सच्छक्त्योः साहचर्यमादायैव विजृम्भते । तदुक्तं शास्त्रकारैः—

यत्रचित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्राऽऽनन्दो विराजते ।
यत्राऽऽनन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः ॥

अनया च प्रक्रियया आलम्बनोद्दीपनादीनां भावान्तराणाञ्च व्यामिश्रीभावोऽपि न दुष्यति। न खलु प्रपाणकरसे सत्यपि माधुर्यप्राधान्ये एलामरिचादीनां सम्बन्धो वार्यते, प्रत्युत तेन च कश्चन विशेष एवोपजायते। भगवान् परमशिवो नटराज इति प्रसिद्धनामा स एव सर्वशास्त्रोपदेष्टा स्वयं तदनुभविता च, तस्मिन् कर्तृत्वकर्मत्वयोः सामानाधिकरण्यं न दुष्यति। नाट्यादेव रसानुभव इति सिद्धान्तः। स च भगवान् पञ्चसन्धिमूलभूताः पञ्च अवस्थाः परिकल्प्य विश्वमञ्चे महारसमाविर्भावयतीति शास्त्रकाराः स्वदृशा व्याचचक्षिरे। यथा—

जनन शैशव यौवनवार्धक-
व्ययमयैरखिलैरपि सन्धिभिः।
अभिनयन्नपि पौरुषनाटकं
परिणतो स शिवोऽस्मि महानटः।। इति।

एतावता परमेश्वरस्य आनन्दशक्तिरेव रसनाद्, रस इति कथने न शंकाकलंकावकाशः। 'रसो वै सः' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतयोऽपि पक्षममुं समर्थयन्ते। यत्तु केचिद् व्याख्याकारा रसविषये 'ब्रह्मास्वाद सहोदरः' इति विशेषणे—ब्रह्मज्ञाने ब्रह्ममात्रं प्रकाशते, रसास्वादे तु चित्प्रतिबिम्बता विभावादयोऽपीति प्रतीयन्ते इति तस्य सहोदरत्वमित्याहुः। तेऽपि न सम्यग्दर्शिनः। ब्रह्मानन्दस्तु आनन्दत्वेन एक एव नहि सर्वव्यापके चरमोपलभ्ये तस्मिन् आनन्दे काचन विजातीयता। 'उपेयप्रतिपत्यर्थमुपाया अव्यवस्थिताः' इति न्यायेन उपेयरूपतायां वैषम्यस्याऽनुभवात्। किमधिकेन सर्वास्वपि ललितकलासु हृदयग्रंथिविभेदेन परमानन्दावाप्तिरित्याचक्षते शास्त्रकाराः—

वीणावादनतत्वज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः।
तालज्ञश्चाऽप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति।

एतञ्च रसस्वरूपं परिनिष्ठितवाचां महाकवीनां रचनास्वेव प्राधान्येनाऽनुभूयते। प्रसिद्धप्रस्थानमतिक्रम्याऽपि प्रवर्तमानो महाकविः रसप्रधानतया स्वरचनायां रसमुन्मुद्रयितुं प्रगल्भते। दिङ्मात्रं यथा मेघदूते प्रथमपद्ये—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनाऽस्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।

इत्यत्र विप्रलम्भश्रृंगाराश्रययोः प्रणयिनोर्नाम निर्देशोऽपि नास्ति। कश्चिदनिर्दिष्टनामायक्षः तत्प्रेयसी च अग्रेवक्ष्यमाणा 'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्' इत्यादिरूपा। सर्वनाम्नैव द्वयोः परिचयेऽपि न बाधः। तत्रेदं कारणं महाकविः स्थानविशेषनामगोत्रादिनिरपेक्षो रसमेवाऽवतारयति। 'कान्ताविरहगुरुणा' इति 'अस्तंगमितमहिमा' इति 'वर्षभोग्येण भर्त्तुः' इत्यादि शब्दैः सहृदयाः सहजतया नायके जातस्नेहा आर्द्री भवन्ति, अन्तःकरणे विप्रलम्भास्वादः सहसैव समुदेति सेयं रससिद्धिर्महाकवेः। इतोऽप्यधिकमेकमुदाहरणं कविकुलगुरो रघुवंशे यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

न हि करुणरसानन्तरमव्यवधानेन श्रृंगारोत्पत्तिः क्वचिद् दृश्यते । अत्र तु परमकारुणिकः कविः प्रणयिनोर्विरहमसहमानस्तयोरपूर्वं संगममुपकल्पयति। अस्ति च 'सद्यः' पदप्रयोगः। नचाऽत्र सहृदयानां किमपि वैरस्यमुपजायत इति अनुभवसिद्धम् ।

एतद्विषये अभिनवभारत्यामाचार्यैरिदमुक्तं यत्—परमेश्वरप्रसादपवित्रितवाचा कविनैव दुर्घटमपि सुयोजितमिति सेयं महाकवे रससिद्धिः । अस्ति च प्रसिद्धिर्महाकवीनां स्वच्छन्दवाङ्मयधारायां न जम्बालजालकृतोऽवरोधः सम्भवतीति—

अवद्यजम्बालगवेषणाय कृतोद्यमानां खलसैरिभाणाम् ।
कवीन्द्र वाङ्निर्जरनिर्झरिण्यां सञ्जायते व्यर्थ मनोरथत्वम् ।।

एवं महाकवीनां प्रबन्धतल्लजोऽपि रसाभिषेकं विना काव्याधिराजपदवीं नाऽधिरोहतीत्युच्यते । यथा—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि,
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

रसास्वादप्रक्रियायाः काचन अनुभवपद्धतिः सोपानक्रमेण पर्यवेक्षणीया भवति तथाहि-प्रथमतः सहृदयसुहृज्जनाऽनुरोधेन नाट्यमण्डपं प्रविष्टः सहृदयः प्रेक्षको नाट्यगृहनिर्माणकौशलं, समुचित यवनिकानेपथ्यादिविधानं सूक्ष्मया दृष्ट्या परामृशति। तत्कालोचितै कुतपादिप्रारब्धैर्वाद्यध्वनिभिः शनैः शनैरार्द्रचेता सम्पद्यते ।

अथ प्रारब्धे नाट्य वस्तुनि नायकादिषु नटनटीबुद्धिमात्रं मन्वानोऽपि तदीययथार्थं चतुर्विधाऽभिनयकौशलेन वास्तविकं नायकनायिकाभावमाकलयति । ततः परञ्च विगलिते नायकादिबुद्ध्याग्रहे स्त्रीपुंसादिसम्बन्धरहितमानन्दमात्रमास्वादयतीति स्थितिः ।

अतएवेयं चर्वणागोचरा शुद्धसंविदेव । एतच्च उपनिषत्सु अन्नप्राणादकोषज्ञानक्रमेण आनन्दमयकोषविश्रान्तिरूपं परं तत्त्वम् । बहिर्मुखान्यपि प्रमातुरिन्द्रियाणि प्रत्यङ्मुखानि सम्पद्यन्ते अमृततत्त्वमास्वादयन्ति च । तदुक्तम्—

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ।' इति ।

ध्वनिसिद्धान्त

लेखिका—डॉ० किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत विभाग,
कुमायूं विश्वविद्यालय,
नैनीताल (उ०प्र०)

ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए 'ध्वन्यालोक' नामक अनुपम ग्रन्थरत्न का प्रणयन करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन भारतीय काव्यशास्त्रियों में विशिष्ट स्थान रखते है। उनके ग्रन्थ के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्हें 'ध्वनि' नामक इस अद्‌भुत तत्त्व की स्थापना के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ा। ध्वन्यालोक की पहली कारिका ही उनके इस संघर्ष की परिचायिका है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥—ध्वन्यालोक, १/१

किन्तु यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने इस तत्त्व की प्रतिष्ठा में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की और इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि इस प्रतिष्ठा को बनाये रखने में उन्हें ध्वन्यालोक पर लोचन टीका प्रस्तुत करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त, काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट, साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ, रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों का प्रबल एवं हार्दिक समर्थन भी मिला।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

—ध्वन्यालोक, १/१३

आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा देते हुए उसका लक्षण किया है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः"।

—काव्यप्रकाश, १/४ का उत्तरार्द्ध।

आचार्य विश्वनाथ ने भी ध्वनिकाव्य को उत्तमकाव्य माना है—

"वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्—साहित्यदर्पण, ४/२

पण्डितराज जगन्नाथ का भी मत है—

"शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्" ।

—रसगंगाधर, १/२

स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को उत्तमकाव्य की कोटि में रखते हुए उसका जो स्वरूप बताया है, वह आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण की ही प्रतिच्छाया है । तदनुसार जहाँ शब्द तथा/अथवा अर्थ अपने आप को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग 'ध्वनि' कहते हैं । अर्थात् काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर 'ध्वनि' होती है ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' में 'बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' इस कथन से यह भी स्पष्ट किया है कि 'ध्वनि' कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है । उन्होंने ध्वनि का स्वरूप बताते हुए 'सूरिभिः' शब्द प्रयुक्त किया है और उसका अर्थ विद्वान् बताया है और विद्वानों में भी सर्वप्रथम स्थान का अधिकारी वैयाकरणों को माना है तथा वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने भी 'बुधैः' शब्द का प्रयोग करके उसे वैयाकरणों का पर्याय माना है। दोनों आचार्य यह मानते हैं कि 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार उन्होंने वैयाकरणों में देखा है—

(क) सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः ।

—ध्वन्यालोक, १/१३ कारिका की व्याख्या

(ख) बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्य-व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

—काव्यप्रकाश, १/४ के उत्तरार्द्ध की व्याख्या

अतः वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में[१] तथा स्फोटरूप व्यंग्य के व्यंजक शब्द में[२] ध्वनि का व्यवहार करते हैं ।

आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने भी वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के आधार पर ही[३] ध्वनि के पाँच अर्थ किये हैं---

(क) ध्वनति इति ध्वनिः [वाचक शब्द] ;
(ख) ध्वनति इति ध्वनिः [वाच्यार्थ] ;
(ग) ध्वन्यते इति ध्वनिः [व्यंग्यार्थ] ;
(घ) ध्वननमिति ध्वनिः [व्यञ्जना व्यापार] तथा

१. पतञ्जलि, [अनु०पं० चारुदेव शास्त्री] महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ०सं० ४
२. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, कारिका ९७, १०२
३. वही, ७५-८४, ९३-१०६

(ङ) काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्त प्रकार-ध्वनिचतुष्टय-मयत्वात[४]।

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने इस ध्वनितत्त्व की स्थापना के लिए पहले इसके सम्बन्ध में तत्कालीन तीन विरोधों को प्रस्तुत किया है—

(क) अभाववाद--

कुछ विद्वान् ध्वनि का अभाव मानते हैं। इस अभाव का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया गया है--

१. शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। अनुप्रासादि अलंकार शब्द की चारुता में हेतु हैं; उपमादि अलंकार अर्थ की चारुता के कारण हैं; वर्णसंघटना के धर्म माधुर्यादि गुण भी देखने को मिलते हैं; उपनागरिकादि वृत्तियाँ और वैदर्भी आदि रीतियाँ भी सुनी गई हैं। इन सबके अतिरिक्त यह ध्वनि नाम की कौन सी वस्तु है अर्थात् कोई वस्तु नहीं है [ध्वन्यालोक, १।१ कारिका का व्याख्याभाग]।

२. ध्वनि मान्य नहीं है। शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि काव्य के तत्त्व हैं। इनसे भिन्न मार्ग को स्वीकार करने में तो काव्य की हानि होगी क्योंकि सहृदय के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है। प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न किसी और मार्ग में तो काव्य का लक्षण घटित ही नहीं होता। ध्वनिसिद्धान्त को मानने वाले लोगों में से किन्हीं को सहृदय मानकर यदि ध्वनि में काव्य की कल्पना कर भी ली जाए तो भी यह सिद्धान्त सभी विद्वानों को मान्य नहीं हो सकता (क्योंकि सभी विद्वान् अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि को ही काव्य का तत्त्व मानते हैं, ध्वनि को नहीं और इनसे सम्पन्न शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं)।

--(ध्वन्यालोक, १।१ कारिका का व्याख्याभाग)।

(३) ध्वनि नामक कोई अपूर्व वस्तु है ही नहीं। यदि ध्वनि रमणीयता का ही कारण है तो उसका अन्तर्भाव रमणीयता के उपर्युक्त हेतुओं—अलंकारों, गुणों इत्यादि में ही कर दिया जाना चाहिए। अथवा इन हेतुओं में से किसी एक का नाम "ध्वनि" रख देने से ही ध्वनिवादियों का काम चल जाएगा अर्थात् वे सन्तुष्ट हो जाएँगे। और फिर वाणी के अनेक प्रकार सम्भव हैं। इनमें से कोई छोटा मोटा प्रकार ऐसा भी हो सकता है, जिसकी गणना प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों से छूट गई हो, तो उसी (तुच्छ से) प्रकार को ध्वनि-ध्वनि कहकर झूठी सहृदयता की भावना में नेत्र बन्द करके जो नाचते हैं (अर्थात् ध्वनितत्त्व की स्थापना का बड़ा काम कर दिया है सोचकर खुश होते हैं) तो उस प्रसन्नता का कोई कारण हमारी समझ में नहीं आता। महान् आचार्यों ने अलङ्कारों के ही हजारों प्रकार बताये हैं और बताएँगे, किन्तु उन अलङ्कारों की ऐसी दशा नहीं सुनी जाती अर्थात् इतना हो-हल्ला नहीं सुनाई पड़ता। जितना कि इस तुच्छ ध्वनि के लिए आप लोग कर रहे हैं।

४. ध्वन्यालोक (लोचनटीका) डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ०सं० २४१-२५१

स्पष्ट है कि (१) ध्वनि अलंकार, गुण रीति, वृत्ति आदि से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है; (२) यदि गुण, अलंकारादि से भिन्न कोई तत्त्व है तो वह काव्य का तत्त्व नहीं है; (३) और गुण, अलंकारादि की भाँति काव्य में कमनीयता का आधान करने वाला है, तो उसका अन्तर्भाव कमनीयता के साधक अलंकारों में विना किसी शोरगुल के हो जाना चाहिए।

अतएव ध्वनि प्रवादमात्र है। उसमें परिशीलन करने योग्य कोई तत्त्व नहीं है। मनोरथ नामक विद्वान् ने कहा भी है—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

—ध्वन्यालोक, १/१ कारिका के व्याख्याभाग से सम्बद्ध परिकरश्लोक।

भाक्तवाद

कुछ लोगों के मतानुसार ध्वनि अलग से कोई तत्त्व नहीं है, अपितु यह वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ अथवा गौण अर्थ ही है जो लक्षणारूपभक्ति से निकलता है। अथवा भक्ति ही ध्वनि का लक्षण अथवा उपलक्षण है।

अलक्षणीयतावाद

कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो ध्वनि का लक्षण करने में असमर्थ हैं और इसे वाणी के लिए अगोचर और सहृदयहृदयसंवेद्य ही मानते हैं।

वास्तव में अभाववादी वे हैं, जो ध्वनि नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं मानते हैं; भाक्तवादी आचार्य वे हैं, जो उसे मानकर भी उसका अन्तर्भाव भक्ति (गौणी) में करना चाहते हैं और अलक्षणीयतावादी आचार्य वे हैं, जो ध्वनि को मानते तो हैं, किन्तु उसका लक्षण नहीं कर सकते।

आचार्य आनन्दवर्धन का मानना है कि ध्वनि का स्वरूप तो सभी सत्कवियों के काव्यों का रहस्य और अत्यन्त सुन्दर है। भले ही सूक्ष्म बुद्धि वाले भी काव्यलक्षणकारों से इसका स्वरूप नहीं देखा गया, किन्तु सहृदय रामायण एवं महाभारतादि लक्ष्यग्रन्थों में उसका व्यवहार तो देख ही सकते हैं। अतएव ध्वनि का न मानना ठीक नहीं है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि है और उपमादि अलङ्कारों से अलग उसकी सत्ता है। वह भक्ति से भी अलग महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और उसका लक्षण भी किया जा सकता है। उनके मत में विरोधी पक्षों का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) अभाववाद का खण्डन

(१) ध्वनिकार के मतानुसार वाच्य विशेष अथवा वाचक विशेष से अभिव्यक्त अर्थ ध्वनि हैं। अतएव ध्वनि वाच्यवाचक के चारुत्व हेतुओं उपमानुप्रासादि अलङ्कारों से भिन्न सत्ता रखने वाला तत्त्व है। उसे वाच्यार्थ से भी भिन्न करने के ही लिए उन्होंने कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
—ध्वन्यालोक १/४

पाश्चात्य काव्यशास्त्री पोप ने भी इस बात को माना है—

In wit, as nature, what affects our hearts
Is not the cxactness of peculiar parts;
'T is not a lip, or eye, we beauty call
But the joint force and full result of all.
—ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर) की भूमिका से साभार।

(२) "ध्वनि को मानने पर प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न मार्ग मानना पड़ेगा जो काव्यत्व का ह्रास करने वाला है,—यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि वह केवल (उसका) लक्षण करने वालों में ही प्रसिद्ध नहीं है। वह तो काव्य का सारभूत तत्त्व है। रामायण, महाभारतादि लक्ष्यग्रन्थों के अनुशीलन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो सकती है। इसलिए ध्वनि को प्रतिष्ठित करने की इच्छा रखने वाले विद्वानों को झूठा सहृदय नहीं कहना चाहिए—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथावादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
—ध्वन्यालोक, १/५, ६

(३) ध्वनि को कमनीय तत्त्व मानकर उसका अन्तर्भाव अलङ्कारादि में नहीं किया जा सकता। क्योंकि अलङ्कार वाच्यवाचक पर आश्रित हैं, जबकि ध्वनि व्यङ्ग्यव्यंजकभाव पर आश्रित है। उपमा, अनुप्रासादि अलङ्कारों की बात जाने दीजिए, प्रतीयमानार्थ से युक्त समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, दीपक, अपह्नुति, संकरादि अलङ्कारों में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि वही प्रतीयमानार्थ ध्वनि की संज्ञा में आता है, जो वाच्यातिशायी हो। इन अलङ्कारों में वाच्यार्थ प्रतीयमानार्थ से प्रधान होता है, अतः इनमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता और प्रतीयमानार्थ की प्रधानता होते ही ये अलंकार, अलंकार न रहकर ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं और इनका अन्तर्भाव ही ध्वनि में हो जाता है। इस तरह अलङ्कार, गुण, रीति आदि अंग हैं और ध्वनि अंगी है। अंगी में अंगों का अन्तर्भाव होता है और अंगी अंगों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होता है। फिर व्यङ्ग्य अलङ्कार रूप ध्वनि के अलावा ध्वनि के दो भेद और भी हैं—वस्तुध्वनि तथा रसध्वनि। इस दृष्टि से भी अलङ्कार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।—ध्वन्यालोक १/१३ कारिका की व्याख्या में

भक्तिवाद का खण्डन

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के दो भेद बताये हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षिवान्यपरवाच्यध्वनि। इनमें पहले भेद में लक्षणा (भक्ति] का प्रधानतया उपयोग है

और दूसरे भेद में भी लक्षणा के उपयोग को माना जा सकता है तो लक्षणा और ध्वनि में अभेद समझा जा सकता है। किन्तु—

(१) ध्वनि का स्वरूप भिन्न होने से, उसमें लक्षणा से अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता। वाच्यार्थ से भिन्न और व्यंग्य की प्रधानता से युक्त ध्वनि है। जबकि भक्ति केवल उपचारमात्र है जो संकुचित अर्थ से भिन्न अर्थ बताती है। अतः भक्ति ध्वनि का पर्याय उस तरह नहीं बन सकती जिस तरह घट, कलश का पर्याय है।

(२) भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अर्थात् लक्षणा (भक्ति) ध्वनि से भिन्न स्थानों में भी हो सकती है और लक्षणा वाचकत्व पर ही आश्रित होने के कारण व्यञ्जकत्वमूलक सम्पूर्ण ध्वनि को व्याप्त भी नहीं कर सकती। जबकि शुद्ध लक्षण वह है, जो लक्ष्य से बाहर भी घटित न हो और सम्पूर्ण लक्ष्य में भी घटित हो। अभिधापुच्छभूता लक्षणा में ध्वनि का शुद्ध लक्षण बनने का सामर्थ्य नहीं है। वस्तुतः रूढ़ि लक्षणा में ध्वनि नहीं होती और अविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य प्रकारों में भक्ति या लक्षणा का लेश भी नहीं होता, इसलिए यह ध्वनि का लक्षण भी नहीं है। अविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी सभी भेदों में व्यंग्य के बिना लक्षणा नहीं हो सकती। —[काव्यप्रकाश, ५ कारिका ४७ की व्याख्या में।]

(३) भक्ति को ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता और उससे सम्पूर्ण ध्वनि को लक्षित नहीं किया जा सकता। यदि भक्ति को ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण मानना है तो अभिधा से ही सम्पूर्ण अलङ्कार वर्ग भी लक्षित हो सकता है। अलङ्कारों के अलग-अलग लक्षण और भेद बताने की क्या आवश्यकता है? जिस तरह अभिधेय भी अलङ्कारादि के भामहादि आचार्यों ने लक्षण किये हैं वैसे ही ध्वनि को भक्ति से उपलक्षित न मानकर अलग से ही उसकी स्थापना आवश्यक है। —ध्वन्यालोक, १/१४-१६

अलक्षणीयतावाद का खण्डन

भक्तिवादियों ने ध्वनि का लक्षण तो किया ही है, चाहे वह लक्षण त्रुटिपूर्ण ही क्यों न हो, इससे यह मान्यता अनुचित हो जाती है कि ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकता और फिर ध्वनिवादियों ने अनेक प्रकार से ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो अलक्षणीयतावाद भी व्यर्थ है। हाँ, यदि ध्वनि को श्रेष्ठ बताने के लिए वे उसे अनिर्वचनीय मानते हैं, तो हमें भी उनकी बात स्वीकार है। क्योंकि हम भी तो (अर्थात् ध्वनिवादी) ध्वनि को काव्य का सारभूत मानते हैं। —ध्वन्यालोक, १/१९ के बाद का व्याख्याभाग।

ध्वनि की आवश्यकता

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः॥
उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च
नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति।

—ध्वन्यालोक, ३/४६ तथा उसके बाद का गद्य भाग

(ध्वनि काव्य) निरूपण में कुशल सत्कवि और सहृदय अवश्य ही काव्य विषय में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

आचार्य आनन्दवर्द्धन उन्हीं कवियों को महाकवियों की श्रेणी में रखने के पक्षपाती हैं, जो व्यंग्यार्थ [प्रतीयमानार्थ] रूप ध्वनि से युक्त काव्यप्रणयन में समर्थ हों।[५]

आचार्य आनन्दवर्द्धन यह भी मानते हैं कि उस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द और अर्थ को महाकवि प्रयत्नपूर्वक जानें।[६]

व्यंजक शब्द अथवा व्यंजक अर्थ से व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली, "ध्वनमिति ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति वाली शब्दशक्ति का नाम है—व्यंजना। जिस तरह ध्वनि के अन्य रूपों [व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ एवं ध्वनिकाव्य] को मानना अनिवार्य है, वैसे ही व्यञ्जना मानना भी अनिवार्य हैं, क्योंकि यह काव्य में उस कार्य को सम्पन्न करती है जो अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या आदि शक्तियों तथा अनुमान, अर्थापत्ति आदि तत्त्व सम्पन्न नहीं कर सकते। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

—साहित्यदर्पण, २/१२ का उत्तरार्द्ध, १३कापूर्वार्द्ध।

इसलिए प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति करने वाली व्यंजनावृत्ति का विरोध कदापि उचित नहीं है। क्योंकि [१] अभिधामूलक, विवक्षितवाच्यध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद [रसादि] में प्रतीयमानार्थ स्वप्न में भी वाच्य न होने से, उसकी अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना मानना अनिवार्य है[७] [२]। अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक भेद [वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि] को यदि अभिधेय मानें तो कुमारिल भट्ट के मतानुसार अभिधा केवल पदार्थबोध करा पाती है, वाक्यार्थ बोध के लिए उसे तात्पर्याख्याशक्ति का सहारा लेना पड़ता है, तो वह व्यंग्यार्थरूप काव्य के वास्तविक अर्थ का बोध कराने में कैसे समर्थ हो सकती है? प्रभाकर भट्ट के मत में भी अभिधावृत्ति केवल सामान्यविशेष रूप अर्थ ही ज्ञान करा सकती है। इस प्रकार अतिविशेषभूत वाक्यार्थ का ही बोध न करा सकने वाली अभिधा व्यंग्यार्थ का बोध कैसे करा सकती है? अलंकारध्वनि में तो अलंकार व्यंग्य होकर वाच्यातिशायी हो जाता है और उसकी प्रतीति वाच्यार्थ का विषय नहीं रहती। इस बात को इस लेख में पहले भी स्पष्ट किया गया है। अब बची वस्तु ध्वनि, तो वह भी वाच्य नहीं है। क्योंकि इसके उदाहरणों में वाच्यार्थ यदि विधिपरक है तो व्यंग्यार्थ निषेधपरक निकलता है; और वाच्यार्थ यदि निषेधपरक है तो व्यंग्यार्थ विधि-

---

५. ध्वन्यालोक, १/३ और उसकी व्याख्या।

६. वही, १/७, ८ और उनकी व्याख्या।

७. [क] ध्वन्यालोक, १/कारिका ४ का व्याख्या भाग।
[ख] काव्यप्रकाश, ५/४७ कारिका के बाद का गद्य भाग
[ग] साहित्यदर्पण, ३/२७ का उत्तरार्द्ध।

परक निकलता है; तथा वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय भी कभी-कभी अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए क्रमशः देखिए—

[क] भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शूनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिहेन॥

[ख] श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमक्ष्यसि॥

[ग] कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि, वारितवामे, सहस्वेदानीम्॥

इसीलिए ध्वन्यालोककार ने प्रतीयमानार्थ को "अन्यदेव" कहकर उसके सभी भेदों को वाच्यार्थ से भिन्न बताकर वस्तुध्वनि के उदाहरण दिये हैं। आचार्य मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश में, स्वरूप, प्रतीति, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय की दृष्टि से व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न बताया है। [काव्यप्रकाश, ५/कारिका ४७ की व्याख्यायें]। इसी प्रसंग में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से दस प्रकार से भिन्न माना है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्य॥

—साहित्यदर्पण, ५/२

फलस्वरूप वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा उपर्युक्त प्रसंगों में व्यग्यार्थ की अवबोधिका नहीं बन सकती। अर्थात् व्यंग्यार्थ बोध के लिए व्यंजना को मानना अनिवार्य है [काव्यप्रकाश, ५/४७ की व्याख्या; साहित्यदर्पण, ५/१ कारिका की व्याख्या]। [३]। "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः" ऐसा कहने वाले भट्टलोल्लट अभिधा से ही व्यग्यार्थ का जो दावा करते हैं, वह अनुचित है। क्योंकि उनकी बात मानने से तो लक्षणावृत्ति की स्थापना भी सन्देह में पड़ जाएगी। अतः अभिधावृत्ति व्यंजनावृत्ति का काम नहीं कर सकती। [काव्यप्रकाश, ५/४७ कारिका की व्याख्या भाग से, साहित्यदर्पण, ५/१ कारिका की व्याख्या]।

[४] लक्षणावादी आचार्यों के मत में लक्षणा से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है, अतः व्यंजना को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु उनका ऐसा मानना अनुचित है। क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थबाध के पश्चात् अन्य अर्थ को तो लक्षित कर सकती है, किन्तु लक्षणा का जो प्रयोजन है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए तो उसे व्यंजना की शरण में ही जाना पड़ता है। मम्मटाचार्य ने कहा भी है—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।।
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।।

—काव्यप्रकाश, २/१४ के उत्तरार्द्ध से १८ के पूर्वार्द्ध तक ।

अतः "गंगायां घोषः" आदि उदाहरणों में, शैत्यपावनत्वादि लक्षणा का प्रतीति रूप प्रयोजन अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यादि से सिद्ध नहीं हो पाता । उसे सिद्ध करने के लिए व्यंजना का आश्रय लेना ही पड़ता है । क्योंकि "गंगायां घोषः" का लक्ष्यार्थ 'गंगातटे घोषः' होने के बाद, संकेतग्रह, मुख्यार्थबाध अन्वयानुपपत्ति आदि कारणों के न रहने से अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यादि का सामर्थ्य भी नहीं रहता और "गंगातटे घोषः" के स्थान पर "गंगायां घोषः" लिखने का प्रयोजन व्यंजनागम्य ही हो जाता है ।

—साहित्यदर्पण, ५/१ कारिका की व्याख्या

[५] धनिक-धनंजय ने दशरूपक में तात्पर्याख्यावृत्ति को ही काव्य के वास्तविक अर्थ की बाधिका माना है ।[८] किन्तु वाक्य में अन्वय मात्र की बोधिका तात्पर्याख्यावृत्ति, जिसकी पहुंच अर्थ की द्वितीय कक्षा तक ही है, चतुर्थ कक्षा में विद्यमान प्रतीयमानार्थ की अवबोधिका कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

[६] आचार्य महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में अनुमान से व्यंग्यार्थ की प्रतीति को मानकर व्यंजना को अनावश्यक सिद्ध करने की चेष्टा की है और

भ्रम धार्मिक ! विश्रब्धः स शूनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन ।।

इस उदाहरण में धार्मिक भ्रमण निषेध को व्यंजनागम्य न मानकर अनुमेय माना है । किन्तु अनुमान से व्यंजना का काम नहीं चलाया जा सकता । क्योंकि यहां अनुमान का जो हेतु सिंहोपलब्धि है, वह अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध होने के कारण हेतु न होकर हेत्वाभास है । धार्मिक व्यक्ति अथवा वीरव्यक्ति, गुरु के उपदेश अथवा कान्ता के प्रति प्रेम के कारण, कुत्ते से डरता हुआ भी ऐसे स्थान पर जा सकता है, जहां सिंह हो और फिर अभिसारिका स्त्री का कथन विश्वसनीय भी नहीं है । प्रमुख प्रतीयमानार्थ के रूप में प्रतिष्ठित रस भी अलौकिक आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय होने से अनुमेय नहीं हो सकता ।[९]

अतएव व्यंजनावृत्ति एवं उससे अभिव्यक्त होने वाला व्यंग्यार्थ रूप ध्वनि [काव्य] अनिवार्य रूपेण स्वीकरणीय है । इसकी पुष्टि के लिए ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधरादि ग्रन्थरत्नों में प्रस्तुत किये गये ध्वनि के अनेकानेक भेद देखे जा सकते हैं । यहां पर उदाहरण के लिए आचार्य मम्मट सम्मत ध्वनिकाव्य के शुद्ध ५१ भेदों को दर्शाने वाला रेखाचित्र प्रस्तुत है

---

८. दशरूपक, ४/३७ और उसकी व्याख्या ।

९. [क] काव्यप्रकाश ५/४७वीं कारिका की व्याख्या से,
[ख] साहित्यदर्पण ५/४ की व्याख्या ।

ध्वनि (51)

- अविवक्षितवाच्य (4)
  - अर्थान्तरसंक्रमित
    - पदगत
    - वाक्यगत
  - अत्यन्ततिरस्कृत
    - पदगत
    - वाक्यगत
- विवक्षितान्यपरवाच्य
  - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (6)
    - पदगत
    - वाक्यगत
    - पदांशगत
    - वर्णगत
    - रचनागत
    - प्रबन्धगत
  - संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य
    - शब्दशक्त्युत्थ (4)
      - वस्तुध्वनि
        - पदगत
        - वाक्यगत
      - अलंकारध्वनि
        - पदगत
        - वाक्यगत
    - अर्थशक्त्युत्थ (36)
      - स्वतःसम्भवी
        - वस्तु से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - वस्तु से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
      - कविप्रौढोक्तिसिद्ध
        - वस्तु से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - वस्तु से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
      - कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध
        - वस्तु से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - वस्तु से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से वस्तु
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
        - अलंकार से अलंकार
          - पदगत
          - वाक्यगत
          - प्रबन्धगत
    - उभयशक्त्युत्थ (1) (वाक्यगत)

51×51×4+51 10455

ध्वन्यालोककार का मानना है कि ध्वनि के इन सभी भेदों में प्रधानभूत व्यंग्य की स्पष्ट प्रतीति होने पर ही ध्वनि का सम्पूर्ण लक्षण घटित होता है—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद् व्यंग्यस्यांगिभूतस्य तत् पूर्ण ध्वनिलक्षणम् ॥—ध्वन्यालोक, २/३३

उन्होंने ध्वनि के सभी भेदों में रसध्वनि को सर्वप्रधान मानते हुए कवि को सदुपदेश दिया है कि व्यंग्य-व्यंजक भावसम्पन्न ध्वनि काव्य के बहुत से भेद सम्भव हैं, किन्तु उसे सर्वाधिक ध्यान रसादिध्वनि [रस, भाव, रसाभास, भावाभासादि] से युक्त काव्य में ही लगाना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर उसका काव्य रामायण महाभारतादि के वर्णनों के समान अपूर्व हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि व्यंग्यार्थ रूप ध्वनि, अलंकारादि से पृथक् सत्ता रखने वाला और काव्यशास्त्रियों को मान्य महाविषय है तथा इस व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यंजनाशक्ति भी अभिधा, लक्षणा, तात्पर्याख्या शक्ति से अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण शक्ति है, जिसके माध्यम से काव्य की आत्मारूप रसध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। अतः वैयाकरणों को मान्य, आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिष्ठित और मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा पोषित ध्वनि आज भी काव्यशास्त्रियों में विख्यात है।

सहायक-सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. काव्यप्रकाश [आ० विश्वेश्वर] ज्ञानमण्डललिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय सं० १९६७
२. दशरूपक [डॉ० भोलाशंकरव्यास], चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पं० सं०, १९७६
३. ध्वन्यालोक [आचार्य विश्वेश्वर] ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय सं०, १९७१
४. ध्वन्यालोक [लोचनटीका—डॉ० रामसागर त्रिपाठी] मोतीलाल बनारसीदास द्वितीय सं० १९७९
५. महाभाष्य १-३ [पं० चारुदेव शास्त्री], मोतीलाल बनारसीदास, द्वि० सं०, १९७१
६. वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड [पं० रामगोविन्द शुक्ल] चौ० सं० सीरीज, वाराणसी, ११,१९८१
७. संस्कृत निबन्धावली [डॉ० हरिनारायण दीक्षित] ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र० सं० १९७६
८. साहित्यदर्पण [सत्यव्रतसिंह], चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ सं० १९७६
९. ध्वनिसिद्धान्त विरोधी सम्प्रदायः उनकी मान्यताएं [डॉ० सुरेशचन्द्रपाण्डेय —स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७१

००००

आनन्दवर्धन की ध्वनि

लेखक--आचार्य चण्डिकाप्रसादशुक्ल, डी०लिट्०
[अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय]
७२ ए, दरभङ्गा कीसल कम्पाउण्ड, इलाहाबाद, [उत्तर प्रदेश]

महर्षि वाल्मीकि की वाङ्मयीकृति 'रामायण' काव्य जगत् की प्रथम सर्वाङ्गसम्पन्न प्रभविष्णु अमरसृष्टि बनी। इसके पूर्व लोकगीतों के रूप में लौकिक संस्कृत एवं प्राकृत के गीत गाये जाते रहे। 'रामायण' ने ही प्रथमबार कविकर्म को साकार किया। कुशीलवों ने 'रामायण' को गाया भी और और रूपायित भी किया। कविकर्म [काव्य] की दृश्य एवं श्रव्य दोनों धाराओं का परिष्कृत स्रोत रामायण बना। असंख्य श्रव्य एवं दृश्य काव्यरचनायें रामायण के आदर्श पर निर्मित हुई। तदनु काव्यमर्मज्ञ आचार्यों की मनीषा ने काव्य का व्याकरण लिखना उचित समझा जिसमें काव्य का लक्षण एवं स्वरूप आदि उसी भांति सुरक्षित रक्खा जा सके जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में शब्दों का स्वरूप सदा नूतन अविकृत एवं अमर रूप में रक्खा गया था। फलतः काव्यशास्त्र का निर्माण अनेक वादों के रूप में प्रकट होने लगा। शब्दार्थमयी काव्यरचना में जीवित भूत प्रधान तत्त्व को किसी ने रस किसी ने अलङ्कार, किसी ने रीति-गुण, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि नाम दिया। इन वादों में दो वाद प्रधान प्रस्थान रूप में चले--एक अलङ्कारवाद दूसरा ध्वनिवाद। इन्हीं में अन्य वादों का अन्तर्भाव हो गया। अलङ्कारवाद के प्रधान आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट रुद्रट, रुय्यक, भोज आदि हुए तथा ध्वनिवाद के आचार्यों में आनन्दवर्धन, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रधान माने जाते हैं।

आनन्दवर्धन को ध्वनिसम्प्रदाय का प्रवर्त्तक आचार्य माना जाता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अपने युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ ध्वन्यालोक द्वारा जिसे काव्यालोक तथा सहृदयालोक भी कहते हैं, आनन्दवर्धन ने काव्यरचना का सर्वस्व व्यंग्य अर्थ तथा उसके व्यंजक शब्द एवं अर्थ का महत्त्व बताया। सहृदयजगत् का ध्वनिकाव्य से परिचय कराया। ध्वनिविरोधियों को उत्तर दिया, तथा व्यञ्जना व्यापार, व्यंग्य अर्थ एवं व्यञ्जक वर्ण पदार्थादि की दृष्टियों से ध्वनिकाव्य के भेदोपभेदों का विस्तृत सोदाहरण निरूपण किया। काव्य में व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता प्रमाणित की। गुण, रीति, अलङ्कार आदि का काव्य में उचित स्थान एवं मूल्य निर्धारित किया। रसावेश की व्यवस्था करते हुए इसके विरोधाविरोध का समाधान बताया। कविप्रतिभा के साथ ध्वनिरूप काव्यरचनाकार अनादिकाल से अविनाभाव सम्बन्ध

प्रमाणित किया। काव्यजगत् में नवीनता की सृष्टि ध्वनिमयी रचनाओं के द्वारा ही सम्भव बतायी। काव्य समालोचना का नितान्त नूतन किन्तु सर्वथा सनातन सत्य मानदण्ड स्थिर किया। प्रथमवार काव्य के ध्वनि, गुणीभूत तथा चित्र तीन वर्ग बताये और उनका तारतम्य बताया जो बाद में मम्मटादि की लेखनी से उत्तमध्यम आदि व्यपदेशभाग् बने।

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि एक विशेष प्रकार का काव्य है, जिसमें उसके वाचक शब्द अपने वाच्य अर्थ को तथा वाच्य अर्थ स्वयं अपने को गौण या अप्रधान कर प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं---

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः॥

दूसरे शब्दों में---व्यंग्य अर्थ का प्रधानरूप से व्यञ्जक काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है। वस्तुतः इस लक्षण द्वारा आनन्दवर्धन ने एक विशेष प्रकार के काव्य से सहृदयजगत् का परिचय कराया और उसका नाम बताया ध्वनि। अपने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक ग्रन्थ में ध्वनिकार ने ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल एक इसी काव्य प्रकार विशेष] अर्थ में किया है-उदाहरणार्थ-१. 'व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनिः", २. 'ननुध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तम्', ३. 'ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्', ४. 'व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्'। ५. व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूत-व्यंग्यता'। ६. तदयमत्रसंग्रहः---"यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते। संवृत्त्या-भिहितौ वस्तु यत्रालंकार एव वा। काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यंग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः। सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः।" ७. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्। न काव्यार्थविरामो अस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः॥" इत्यादि।

ध्वनिसम्प्रदाय के सम्मान्य अनुयायी एवं वरिष्ठ व्याख्याता आचार्य मम्मट ने भी अपने समस्त काव्यप्रकाश में ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल इसी [काव्यप्रकारविशेष] अर्थ में किया है। उन्हीं के शब्दों में--"इदमुत्तममतिशयिनिव्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।" तथा-"सङ्कलनेन पुनरस्यध्वनेस्त्रयोभेदाः व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वाद्।" इत्यादि।

इसी प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र के विपश्चिदपश्चिम, मूर्धन्य समालोचक पण्डित-राज जगन्नाथने भी अपने रसगङ्गाधर में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग अपने उत्तमोत्तम काव्यप्रकार के ही अर्थ में किया है और रसादि व्यंग्यों को उसकी आत्मा कहा है---१. "अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति।" २. "एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मारसस्तावद-भिधीयते।" इत्यादि।

और संस्कृत साहित्यशास्त्र के ये आचार्यत्रय [आनन्दवर्धन, मम्मट, जगन्नाथ]। उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ प्रमाणभूत है जैसे व्याकरणशास्त्र में पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि ये मुनित्रय। और जैसे भगीरथ प्रदर्शित मार्ग पर चलने वाली ही जलधारा भागीरथी या गङ्गा कहाती है, किन्तु उसी से निकाली जाने वाली मार्गान्तर से चलने वाली जलधारा केवल कुल्या या नहर कहलायेगी गङ्गा नहीं, उसी प्रकार आनन्दवर्धन से हटकर अपना स्वरूप प्रस्तुत करने वाली कोई व्याख्या ध्वनिप्रस्थान में नहीं स्वीकार्य होगी। अस्तु।

सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने भूलकर भी ध्वनिशब्द का प्रयोग न व्यंग्य अर्थ के लिए नहीं व्यञ्जना व्यापार के लिए किया है। उन्होंने इस प्रकार के व्यंग्यप्रधान काव्य को ध्वनि नाम देने का प्रामाणिक आधार भी बताया है---"वैयाकरणों ने सुनाई पड़ने वाले स्फोटव्यंजक वर्णों को ध्वनि कहा है, तो उन्हीं के अनुयायी काव्यतत्त्वार्थवेदी अन्यमनीषियों ने शब्दार्थयुगलमिश्रित शब्दस्वभाव वाले काव्य को भी व्यंजकत्वसादृश्य के कारण ध्वनि नाम दिया---"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। तेच श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः [ध्व०]। आचार्य मम्मट ने इन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि अपने काव्यप्रकाश में इस प्रकार की है— 'बुधै-र्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्म-तानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। [का०प्र०]

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आनन्दवर्धन के अनुसार 'ध्वनि' का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ हुआ—ध्वनति इति अर्थात् व्यञ्जक। और प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ हुआ--व्यंग्य अर्थ को प्रधानरूप से व्यक्त करने वाला व्यञ्जक काव्यविशेष।"

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आनन्दवर्धन ने ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल एक विशेष प्रकार के काव्य के ही अर्थ में किया है तो ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही उल्लिखित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा, क्योंकि काव्यप्रकारविशेष को काव्य की आत्मा कहना संगत नहीं समझ पड़ता, और फिर, आगे आने वाली दूसरी ही कारिका में काव्यात्मा को सहृदयश्लाघ्य अर्थरूप से व्यवस्थित बताया गया है। अतः 'काव्य-स्यात्मा ध्वनिः' में भी ध्वनिशब्द का अर्थ व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ ही होना चाहिए, जिसको आगे काव्यस्यात्मा स एवार्थः आदि द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप में कहा जायगा।

इसका समाधान इस रूप में समझना चाहिए कि प्रथम कारिका में उल्लिखित 'काव्य-स्यात्मा ध्वनिः' यह मत आनन्दवर्धन के भी पूर्व बुधों अर्थात् काव्यतत्त्वविद् सहृदयों में प्रचलित था, जिसका अर्थ है कि ध्वनि अर्थात् व्यञ्जक काव्यविशेषरूप अंश ही काव्य अर्थात् काव्यसामान्य का वास्तविक आत्मा अथवा श्रेष्ठ अंश है। आत्मा शब्द को इस प्रकार श्रेष्ठ अंश अथवा जीवनाधायक तत्त्व रूप में आचार्यों ने भूयसः प्रयुक्त किया है। वामन ने भी इसके पूर्व इसी प्रकार गुणमयी [विशिष्ट] पदरचनारूप रीति को काव्य की आत्मा कहा था---'रीतिरात्मा काव्यस्य'। अतः आत्मा कहने से अर्थरूप कोई आभ्यन्तर तत्त्व नहीं खोजने लगना चाहिए। इसको अधिक स्पष्ट स्वयं ध्वनिकार ने ग्रन्थ के अन्त में किया है-"काव्याख्ये अखिल सौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः। सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्।" [ध्व० ४]—अर्थात् जैसे विबुधोद्यान में कल्पवृक्ष उस उद्यान का प्राण अथवा आत्मा होता है" [यद्यपि कल्पवृक्ष भी वृक्षों के समुदायरूप उस उद्यान में एक वृक्ष-मात्र ही है]--वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। इस सादृश्यकथन का तात्पर्य यह है कि सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमय रूप काव्यसामान्य के गद्य, पद्य, चम्पू, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रूपक, उपरूपक, मुक्तक आदि जो भी प्रकार हैं, उन सब में आत्मा अथवा श्रेष्ठ अंश ध्वनि-

रूप रचना होती है, जिसके अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्यगत वर्ण-पद-पदांश-वाक्य-प्रबन्धादिरूप से अनन्त प्रकार बताये गये हैं। उदाहरणार्थ यही 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि प्रसिद्धश्लोक उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें 'अधम' यह पदध्वनिरूप काव्यविशेष सम्पूर्ण श्लोकरूप काव्यसामान्य का श्रेष्ठ अंश या आत्मस्वरूप है। इसी प्रकार ध्वनि के अन्य भेद भी काव्य में स्थित होकर उस पूरे काव्यसामान्य प्रकार को सजीव कर देते हैं। अतः काव्यसामान्य का वह काव्यविशेष आत्मा है, इस कथन अथवा मान्यता में कोई दोष नहीं।

आनन्दवर्धन का वास्तविकध्वनिस्वरूप विवेचन प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका में ही होता है, और उस उद्योत की दूसरी से बारहवीं कारिका तक का भाग उनके इस वक्ष्यमाण ध्वनिलक्षण की भूमिकामात्र है, जैसा कि वे स्वयं द्वितीय कारिका के प्रारम्भ में कहते हैं—

"तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिका रचयितुमिदमुच्यते---

योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ॥"---ध्व० ८।२

ध्वनि विषयक अनेक विसंवादों तथा भ्रान्तियों का कारण केवल इस कारिका का यथार्थ बोध न होना ही है। यहाँ आनन्दवर्धन एक सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत मत को लेकर अपना विवेचन प्रारम्भ करते हैं। उनके ध्वनिकाव्य अथवा ध्वनिवाद का प्राण प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ है। यदि उस व्यंग्य अर्थ की वाच्यादि से पृथक् सत्ता उन्होंने सिद्ध कर दी तो ध्वनिवाद स्वतः सुप्रतिष्ठित हो जायगा। किन्तु व्यंग्य अर्थ जहाँ भी होगा वहीं उसका व्यञ्जक वाच्य अर्थ अवश्य रहेगा, क्योंकि व्यंग्य अर्थ शब्द का सहज या साक्षात् अर्थ नहीं होता व्यवहित ही होता है। और वह वाच्य उस व्यंग्य के सम्पर्क से स्वयं भी रमणीय हो जाता है। अतः काव्य में सहृदयजन जिस अर्थ की प्रशंसा करते हैं, जिसे काव्य की आत्मा अथवा प्राण कहते हैं, उसके दो भाग होते हैं---एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। ध्वनिनामक काव्यविशेष में आत्मा या श्रेष्ठ अंश प्रतीयमान ही रहता है। किन्तु गुणीभूतव्यंग्यनामक काव्यविशेष में तो प्रायः वाच्य अर्थ ही श्रेष्ठ रहता है---व्यंग्य उससे अवर माना जाता है। व्यंग्य से मुक्त होने पर वाच्य रमणीय तो हो ही जाता है। उसमें जब व्यंग्य प्रधान होता है तो ध्वनि; और जब वाच्य प्रधान होता है, अथवा वह व्यंग्य अप्रधान होता है, तो गुणीभूतव्यंग्य। अतः सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मरूप अर्थ के वाच्य-प्रतीयमान दो भाग मानने में कोई असंगति नहीं। प्रतीयमान अर्थ शब्द का साक्षात् अर्थ तो है नहीं, वह वाच्यबोध के बाद ही बोधविषय बनता है---कभी असंलक्ष्यक्रमरूप से अर्थात् रसभावादिरूप से कभी संलक्ष्यक्रमरूप से अर्थात् वस्तु अलंकार रूप से। अतः उसको व्यक्त करता हुआ वाच्य स्वयं भी उससे संपृक्त ज्ञानगोचर होता रहता है। उसी के आधार पर व्यंग्य स्थित होता है। दोनों का आधाराधेय सम्बन्ध है। अतः दोनों का बोध एक प्रसंग में शब्द से एक साथ क्रमशः होता है। और शब्द से मिलने वाले उस अर्थप्रतान के वाच्यभाग एवं व्यंग्यभाग स्वतः पृथक् स्पष्ट प्रतीत होते हैं। किन्तु व्यंग्यरहित-

वाच्य तो काव्य में कभी सहृदयश्लाघ्य हो ही नहीं सकता। अतः व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की इस द्वितीय कारिका में उल्लिखित वाच्यांश की काव्यात्मा पर आक्षेप करना उन दोनों आचार्यों के अपने भ्रम का केवल विजृम्भण ही कहा जायगा। उन लोगों ने तो ध्वनि का अर्थ ही व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ मान लिया है। अतः उनका तो भ्रम ही मौलिक है। अस्तु।

प्रथम उद्योत की इस दूसरी कारिका में जिस काव्यात्मा का उल्लेख है उसका प्रथम कारिका में कथित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' से कोई सम्बन्ध नहीं। वस्तुतः यहाँ प्रकरण ही दूसरा हो जाता है। यह है भूमिकाप्रकरण, जो दूसरी कारिका से बारहवीं कारिका तक जाता है, जिसमें ध्वनिकार व्यंग्य अर्थ का परिचय देते हैं जो ध्वनिकाव्य की आत्मा है। यदि यही सहृदयश्लाघ्य अर्थ जो यहीं [द्वितीय कारिका में] काव्यात्मा कहा जा रहा है, प्रथम कारिका का 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का ध्वनि भी है तो मानों दूसरी ही कारिका में उन्होंने ध्वनि की परिभाषा भी कर दी और उसके वाच्य प्रतीयमान दो भेद भी बता दिये। अतः अब तेरहवीं कारिका में उसकी परिभाषा तथा उसके अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो भेद करने भी व्यर्थ होंगे। वस्तुतस्तु दूसरी से बारहवीं कारिका तक का यह अंश तो केवल भूमिका मात्र है। जिसमें केवल प्रतीयमान अर्थ की सत्ता एवं महत्ता से परिचय कराया गया है। जिसका उपयोग आगे ध्वनि स्वरूप के विवेचन में तेरहवीं कारिका में किया जाता है। जैसा कि तेरहवीं कारिका प्रारम्भ करने के पूर्व आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं—"एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यंग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह" इत्यादि। अतः दूसरी कारिका में एक दूसरा ही विषय है, जिसका प्रथम के उल्लेख से कोई सम्बन्ध नहीं।

वस्तुतः वह प्रतीयमान अंश ही जो ललना में लावण्य की भाँति विराजमान होता है, काव्य की आत्मा है। उसी के स्पर्श या संगति से वाच्य में भी चारुता आ जाती है और वह भी काव्यात्मपद के योग्य बन जाता है। इस प्रकार प्रथम उद्योत की दूसरी से बारहवीं कारिका तक में बड़ी युक्ति के साथ व्यंग्य अर्थ की वाच्य से पृथक् सत्ता एवं चारुता को सिद्ध करके आनन्दवर्धन उसका ध्वनिलक्षण करने में उपयोग करते हैं। प्रतीयमान अर्थ का परिचय कराने के लिए यहाँ जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें सर्वसहृदय स्वीकृत काव्यात्मभूत प्रधान अर्थ न वाच्य है न लक्ष्य, अपितु उसे इनसे भिन्न ही मानना होगा। उसे ही व्यंग्य या प्रतीयमान कहते हैं। तेरहवीं कारिका के पूर्व तथा आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी उन्होंने ध्वनिशब्द का प्रयोग व्यंग्य अर्थ के लिए नहीं किया है। और इस तेरहवीं कारिका के बाद, जबकि ध्वनि को एक काव्यप्रकारविशेष के रूप में लक्षित कर दिया तो ध्वनि काव्य विशेष बन ही गया—काव्यविशेष मान ही लिया गया। अब आगे तो उन्होंने व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ को ही [उसके वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि तीनों रूपों को] ध्वनि की आत्माअथवा प्राणरूप से भूयोभूयः निर्दिष्ट भी किया--१. ध्वन्यात्मभूते शृंगारो। २ मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। ३. अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्यध्वनेः संलक्ष्यक्रम-

व्यंग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकार: इत्यादि ।

और साथ ही इस ध्वन्यात्मा अथवा काव्यात्मा व्यंग्य का वोध करने के लिए व्यंजकत्व अथवा व्यंजना व्यापार की भी अनिवार्य सत्ता उन्हें बतानी पड़ी, जिसका विवेचन उन्होंने तृतीय उद्योत में किया है---'किमिदं व्यंजकत्वं नाम' इत्यादि रूप से । ध्वन्यालोक में कहीं भी व्यंजना शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । उसके लिए प्राय: व्यंजकत्व शब्द ही प्रयुक्त हुआ है । अस्तु ।

और फिर, जब उन्होंने ध्वनि का केवल एक ही लक्षण दिया है तो जब-जब अपने ग्रन्थ में उसका प्रयोग करेंगे तब-तब उसका केवल वही एक अर्थ समझा जायगा । यदि उन्हें उसे किसी अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त करना अभीष्ट होता तो वे स्पष्टत: कह देते कि यह ध्वनि अमुक अतिरिक्त अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, अन्यथा उनके लक्षण में अतिव्याप्ति-नामक दोष माना जायगा । और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि आनन्दवर्धन की ओर से तो ध्वनिशब्द का प्रयोग अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से केवल काव्यप्रकार विशेष के ही अर्थ में हुआ है । इसलिए वे भूयोभूय: उसका स्मरण भी दिलाते गये हैं । प्रथम उद्योत में ही ध्वनि के अभाववादियों को मुंहतोड़ उत्तर देने के पश्चात् आनन्दवर्धन कहते हैं---"तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः । अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षित-वाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन (ध्व० १)

फिर एक स्थल पर तो उन्होंने व्यंजनाव्यापार एवं व्यंग्य अर्थ के साथ ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल काव्यप्रकारविशेष के लिए किया तथा साथ ही उसके प्रसिद्ध दोनों भेदों का भी उल्लेख किया---तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च । तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यंग्यप्राधान्यं तदाध्वनिः । तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपर-वाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ ।" (ध्व०)

अतएव यह भी न सोचना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यंजना व्यापार के अर्थ में भी कहीं किया होगा । उन्होंने 'भक्त्याविभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः' इत्यादि कारिका द्वारा दोनों का नितान्त पृथक् रूप निस्सन्दिग्ध एवं स्पष्ट शब्दों में प्रति-पादित भी कर दिया है । उनका कहना है कि 'पूर्वलक्षित ध्वनि का भक्ति अथवा लक्षण के साथ ऐक्य नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के स्वरूप नितान्त भिन्न हैं---"वाच्य से अतिरिक्त अर्थ को जहाँ वाच्य वाचक तात्पर्यरूप से प्रकाशित करते तो उस व्यंग्यप्रधान को ध्वनि कहते हैं, और भक्ति या लक्षणा तो केवल उपचार (अन्य अर्थ में अन्य अर्थ का आरोप) मात्र है-"अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्य-वाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।" (ध्व०) । एक वात यहाँ और स्पष्ट कर देनी है कि प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका में ध्वनिकार ने ध्वनिनामक काव्य के ही तीनों विरोधियों का उल्लेख किया है, और पूरे प्रथम उद्योत में उन्हीं को मुंह-तोड़ जवाब भी दिया है । ये विरोधी यहाँ न व्यंग्य अर्थ के हैं न व्यंजना व्यापार के । इनके विरोध का प्रसंग तो तीसरे उद्योत में आता है, जब "किमिदं

व्यंजकत्वं नाम" इत्यादि रूप से व्यंजना का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। वहीं ध्वनिकार ने व्यंग्य अर्थ तथा व्यंजना व्यापार दोनों की पूर्ण तर्क-संरम्भ के साथ सिद्धि की है। अतएव ध्वनि नामक काव्यप्रकार का सब प्रकार से विवेचन करने के पश्चात् आनन्दवर्धन पुनः कहते हैं--

विमतिविषयो य आसीन् मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥

और ग्रन्थान्त में काव्य में ध्वनिनामक प्रकार को नन्दनवन में कल्पवृक्ष के समान बताकर उसकी काव्यप्रकारता को और भी स्पष्ट कर दिया है—

"काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्यानेध्वनिर्दर्शितः।
सोऽय कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ।।" —(ध्व०)

यहाँ एक शङ्का स्वाभाविक रूप से उठती है कि यदि व्यंग्य अर्थ के वस्तु, अलङ्कार रस तीनों प्रकार ध्वनि नहीं है और ध्वनि केवल काव्यविशेष ही है तो वस्तुध्वनि, अलङ्कार ध्वनि, रसध्वनि आदि शब्दों का क्या अर्थ होगा। इसका समाधान स्वयं ध्वनिकार ने द्वितीय उद्योत में दे दिया है। उनका कहना है कि जिस ध्वनि काव्य में जिस व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य रहे उस ध्वनिकाव्यप्रकार का नाम उसी व्यंग्य के नाम से रखना चाहिए—"यत्र तु व्यंग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः"। इस प्रकार वस्तुध्वनि, रसध्वनि आदि शब्दों में मध्यमपदलोपी बहुव्रीहि समास मानना पड़ेगा—"वस्तुव्यंग्योध्वनिः वस्तुध्वनिः" इत्यादि। वस्तुतः ध्वन्यालोक के प्रत्येक वाक्य को सिद्धान्तसूत्र के रूप में महत्त्व-पूर्ण समझना चाहिए।

किन्तु अन्त में यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही उठता है कि यदि ध्वनिकार ने ध्वनि शब्द का प्रयोग इतने निस्संदिग्ध रूप से केवल काव्यप्रकारविशेष के ही अर्थ में किया है। तो फिर ध्वनि शब्द का व्यंग्य अर्थ एवं व्यञ्जना व्यापार के लिए प्रयोग क्यों और कैसे चल पड़ा। इसके उत्तर के लिए हमें ध्वन्यालोक के कुछ समीक्षकों एवं टीकाकारों को देखना पड़ेगा। सर्वप्रथम ध्वनिविरोधी आचार्य भट्टनायक ने जो काव्य में भोज्य-भोजक व्यापार की प्रधानता मानते हैं, अपने हृदयदर्पण में ध्वनि का अर्थ व्यञ्जना व्यापार माना। फिर ध्वन्यालोक की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त ने बड़ी खींचतान कर ध्वनि के व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार आदि पांच अर्थ (अनर्थ) किये, यद्यपि उन्होंने स्वयं यह तथ्य स्वीकार किया है कि ध्वनिकार की कारिका में तो ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल एक (काव्यप्रकार) ही अर्थ में हुआ है—"कारिकायान्तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् (ध्व० १।१३ पर लोचन)। उन्हें ध्वनि का इस प्रकार अनेक अर्थों में व्याख्यान करने के लिए वाक्यपदीय में भर्तृहरि द्वारा निरूपित ध्वनि का अनेक अर्थों में व्याख्यान करना पड़ा, जैसा कि उन्होंने प्रत्येक अर्थ के लिए प्रमाण रूप में वाक्यपदीय से कारिकाविशेष को उद्धृत कर बड़ी खींचतान के साथ अपनी व्याख्या का समर्थन किया है। इस प्रकार अधिकतर तो अभिनव के प्रमाण पर तथा मूलतः ध्वनिकार के प्रथम उद्योत की प्रथम दो कारिकाओं में प्रयुक्त आत्मा शब्द का भ्रान्तिवश एक ही अथ

समझा लेने पर—१. महिमभट्ट—"केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः सहि प्रतीयमानार्थकविषयोयुक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनित्वेनेष्टत्वात्। यत स एवाह—'काव्यस्यात्माध्वनिरिति।" इत्यादि—(व्यक्ति०वि०) २. भोज—'तात्पर्यमेववचसि ध्वनिरेव काव्ये।" (शृ०प्र०)। ३. हेमचन्द्र—"मुख्याद् व्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः॥" (काव्यानु)। ४. विश्वनाथ—"यच्च ध्वनिकारेणोत्तम अर्थ सहृदयश्लाध्यः⋯उभौस्मृतौ। इति वाच्यात्मत्वं काव्यस्यात्मा ध्वनिः इतिस्वयमविरोधादपास्तम्।" (सा०द०)। प्रभृति मान्य आचार्यों ने आँख मूंद कर ध्वनि का प्रयोग प्राधान्येन व्यंग्य अर्थ के लिए ही प्रारम्भ कर दिया। और फलतः परवर्ती सहृदय समाज में साधारण बोलचाल में भी ध्वनिशब्द ध्वनिकार के व्यञ्जक अर्थ में प्रयुक्त न होकर भ्रान्तिवश, व्यंग्य अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा—जो न व्याकरण सम्मत है न साहित्यसम्मत बड़ी विड़म्बना हुई। भ्रान्ति ही सिद्धान्त बन गई है। अज्ञान ने ज्ञान का जामा पहिन लिया है। उसी भ्रान्ति की दुर्बल नींव पर प्राचीन काल से आज तक संस्कृत हिन्दी आदि सभी भाषाओं में साहित्यशास्त्र सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रबन्धपिरामिडों का निर्माण हुआ और होता जा रहा है।

और संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में ध्वनि शब्द में चिर काल से आज तक धड़ल्ले के साथ व्यंग्य अर्थ एवं कभी-कभी व्यञ्जना व्यापार के ही अर्थ में मिथ्या प्रयुक्त हो रहा है। ध्वन्यालोक की सभी टीकायें अन्ध श्रद्धावश अभिनव के लोचन की दृष्टि से देखकर ही ध्वनि की व्याख्या प्रस्तुत करती है—'अन्धेन नीयमाना यथान्धाः। मैंने अपनी 'दीपशिखा' टीका (विश्वविद्यालय प्रकाशक, वाराणसी) में ध्वनिविषयक इस भ्रान्ति को प्रदर्शित कर उसका आनन्दवर्धनसम्मत व्याख्यान प्रस्तुत किया है। विशेष जानकारी के लिए मेरा विनम्र निवेदन है कि विद्वान् विवेकी सहृदयजन उस टीका का अवलोकन अवश्य करेंगे।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

लेखक—डॉ० दशरथ द्विवेदी
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उत्तरप्रदेश)

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का मूलतः तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में अतिशयोक्त्यपरपर्याय वक्रोक्ति सर्वालङ्कार सामान्य तत्त्व है, इस तथ्य को भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन, तदनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। आचार्य कुन्तक भी इस विचार से अस्पृष्ट नहीं है। द्वितीय अवस्था में भामहप्रोक्त यही वक्रोक्ति पल्लवित होकर एक सिद्धान्त या प्रस्थान का रूप ले लेती है, जिसकी प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। तृतीय अवस्था में वक्रोक्ति एक सीमित अर्थ में, एक अलङ्कारविशेष के रूप में प्रस्फुटित होती है। वामन की दृष्टि में वह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालङ्कार है तो आचार्य रुद्रट और तदनुयायी मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति की दृष्टि में काकु और श्लेष पर निर्भर, शब्दालङ्कार मात्र सीमित, वक्रोक्ति अलङ्कार।

संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ इतिहासकारों ने वक्रोक्ति शब्द की प्राचीनता पर विचार किया है। उनके अनुसार महाकवि बाणभट्ट तथा अमरु कवि ने वक्रोक्ति शब्द को क्रीडालाप अथवा परिहास-कथन के रूप में प्रयुक्त किया है।[1] नवीं शती के कवि "राघव-पाण्डवीयम्" के प्रणेता कविराज ने सुबन्धु, बाण तथा स्वयं को वक्रोक्ति मार्ग निपुण घोषित किया है। तीनों कवियों की रचनाओं को देखकर तो यही स्पष्ट होता है कि यहाँ वक्रोक्ति को श्लेषमूला या यों कहें कि रुद्रट-मम्मट की दृष्टि से देखा गया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के मत का उपसंहार करते हुए मनोरथ नाम

---

१. द्रष्टव्य...महामहोपाध्याय पी० वी० काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४७१-७२ तथा डॉ० सुशील कुमार दे—भूमिका वक्रोक्ति जीवित, पृ० १५-१६। इन सन्दर्भों में बाण की कादम्बरी के उद्धरण तथा अमरुशतक, १.२६ के भी उद्धरण द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ बाण ने वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन तथा—एषापि बुध्यत एवैतावतीवक्रोक्तिः का प्रयोग किया है। नायिका के सन्दर्भ में अमरुशतक की उक्ति न जानाति सविभ्रमाङ्गवलना वक्रोक्ति संसूचनम् भी वहीं द्रष्टव्य है। कवि रत्नाकर की चौरपञ्चाशिका में वक्रोक्ति शब्द प्राप्त है।

२. सुबन्धु बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः। वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते नवा। वही, सु०कु० दे, पृ० १६ की पाद-टिप्पणी।

के आचार्य की उक्ति प्रस्तुत की है—"यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति, व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्......।"[१] इसकी व्याख्या में, जिसका सङ्केत डॉ० दे ने भी किया है, अभिनवगुप्त का कथन है कि वक्रोक्ति उत्कृष्टा सङ्घटना। तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम् वक्रोक्ति उत्कृष्ट संघटना है। उससे शून्य का अर्थ है—शब्दार्थ गुणों का अभाव। वहीं आपका यह भी कथन है कि वक्रोक्तिशून्य शब्द से, अलङ्कारों के वक्रोक्तिरूप सामान्य लक्षणों के अभाव में सर्वालङ्कार-अभाव अर्थ अभिव्यक्त होता है, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं।[२] निःसन्देह यहाँ अभिनवगुप्त का संकेत अलंकारवादी आचार्यों की ओर ही है जो ध्वनि को तो स्वीकार नहीं ही करते हैं और अतिशयोक्ति के अभाव में अलंकार की सत्ता नहीं मानते।

भामह को अलंकार-प्रजापति कहा जाता है[३], यह विशुद्ध रूप से अलंकारवादी आचार्य हैं। ध्यान देने योग्य है कि वामन ने स्पष्ट शब्दों में सौन्दर्य मात्र को अलंकार की संज्ञा दी है सौन्दर्यमलंकारः।[४] उनसे पूर्व दण्डी ने समस्त शोभाकर काव्यतत्त्वों को अलंकार की कुक्षि में डाल दिया—काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते[५]—कहकर। इस दिशा में देखा जाय तो भामह भी अलंकारवादी तो हैं, पर उन्हें वक्रोक्तिवादी[६] भी कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा, क्योंकि जहाँ वह—न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्—कहकर काव्यालंकार का समर्थन करते हैं, वहीं वह सारे अलंकारों में वक्रोक्ति की सत्ता अनिवार्य रूप में रहती है, इसका भी उद्घोष करते हैं—

> सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥[७]

और वक्रोक्ति के अभाव में हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को अलंकार मानने को वह उद्यत नहीं हैं।[८] वक्रोक्तिशून्य उक्तियाँ—सूर्य अस्त हो गया, चन्द्र शोभायमान है आदि कथन

---

१. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक (चौखम्बा संस्करण, १९६५), पृ० २९
२. द्र०—ध्वन्यालोक लोचन, वही, पृ० २९-३० तथा डॉ० दे की पादटिप्पणी, वही, पृ० १६
३. व्यक्तिविवेक व्याख्यान—रुय्यक, पृ० १८, उद्धरण डॉ० आर० सी० द्विवेदी, अलं-मी० पृ० ९९
४. वामन—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १/२
५. काव्यादर्श, २/१
६ श्रीदेवेन्द्र शर्मा, भूमिका, काव्यालङ्कार, पृ० ४१
डॉ० राधा वल्लभ त्रिपाठी का कथन कि भामह वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार मानते हैं, सर्वथा भ्रान्त धारणा है। डॉ० त्रिपाठी का ग्रन्थ काव्यशास्त्र और काव्य, पृ० १२५
७. भामह, काव्यालंकार, २/८५. द्रष्टव्य—डॉ० दे की भूमिका वक्रोक्ति, पृ० १७, १८
८. हेतुश्च सूक्ष्मोलेशश्च नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ वही, २/८६

उनकी दृष्टि में वार्तामात्र हैं।[1] इसी प्रकार भामह ने अनेकधा वक्रोक्ति की चर्चा की है।[2] चाहे काव्य हो या अलंकार सभी में वक्रोक्ति का समावेश वाञ्छित है, पर भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति कोई अलंकार विशेष नहीं है अन्यथा अन्य अलंकारों के संयोग में संसृष्टि या संकर का प्रसंग उपस्थित होता। लोकातिक्रान्तगोचर कविवचन ही जत्र गुणातिशय का सम्पर्क सुलभ कर जाता है तब वह वक्रोक्ति पदवीविभ्राट् बन जाता है।[3] इस प्रकार यह एक काव्य तत्त्व विशेष है, जो काव्य के प्रतिप्रसंग में अनुस्यूत रहता है, कविता का आवश्यक, अपरिहार्य धर्म है।

भामह-प्रोक्त वक्रोक्ति की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी प्रस्तुत की है। अलंकारों के अलंकारान्तरव्यंग्य संस्पर्श के सन्दर्भ में आपका स्पष्ट अभिमत है कि—प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्य-च्छविं पुष्यति।...भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—सैषा सर्वैव वक्रोक्ति—सैव सर्वालंकाररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।[4] सभी अलंकारों में अतिशय का योग रहता है, उसी से कविजन काव्य में लोकोत्तर काव्यच्छटा की सृष्टि करते हैं। अतिशयोक्ति जिस अलंकार में विराजती है, कवि प्रतिभा के कारण उसमें चारुत्वातिशय का योग बन पड़ता है, जहाँ वह नहीं होती, वहाँ अलंकार कथन मात्र होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति सर्वालंकार रूप है। इसी सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि काव्य का कोई प्रकार नहीं है, जहाँ अतिशययोगिता उत्कर्ष का आधान न करे। कवि हृदयस्थ औचित्यवश अतिशय का प्रयोग करता है, जिससे उसके काव्य में लोकोत्तर शोभा की सृष्टि होती है। अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है, अलंकार का सब प्रकार है। शब्द और अर्थ की लोकोत्तर अवस्थिति ही दोनों की वक्रता है। लोकोत्तरता ही अतिशय है, इसलिये अतिशयोक्ति सर्वालंकार सामान्य तत्त्व है। इससे पुरातन भी अर्थ विचित्रतया भावित होता है, प्रमदोद्यानादि विभावता को प्राप्त होते हैं, अर्थ विशेष रूप से भावित होता है, रसमय कराया जाता है।[5]

---

१. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।। वही, २/ ७
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। वही, १/१३०, अपुष्टार्थमवक्रोक्ति १/३४

२. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः। १/३६, वक्रवाचं कवीनाम् ६/२३, वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते। ५/६६, द्र० डॉ० दे, सं० सा० इ०, भाग २, पृ०४७

३. वही, २/८१ तथा ८४

४. ध्वन्यालोक ३/३६ की वृत्ति

५. अतिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकारप्रकारः सर्वः।...शब्दस्य च वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्यमेवासावलंकारभावः। लोकोत्तरतैव चातिशयः तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम् —अनया अर्थः पुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते अभिनवभारती, पृ० ४६८-५००, तु० मम्मट का०प्र० पृ० ७४३ तथा प्रदीपोद्योत। लक्षण से वक्रोक्ति के विकास हेतु देखिये...डॉ० रा० ब० त्रिपाठी का ग्रन्थ काव्यशास्त्र और काव्य, पृ० ८-९

आचार्य अभिनवगुप्त तो यहाँ तक मानते हैं कि समस्त अर्थालंकारों के बीजभूत तथा कथा में वैचित्र्य लाने वाले वक्रोक्तिरूप चमत्कार ही लक्षण शब्द से व्यवहृत किये जाते हैं— समस्तार्थालंकारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्कारा: कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा, लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते (नाट्यशास्त्र १६/३० पर अभिनवभारती)। इस कथन से भी वक्रोक्ति की व्यापक अर्थवत्ता प्रमाणित है। डॉ० राधा वल्लभ त्रिपाठी का यह कथन कि लक्षण तत्त्व ही भामह-कुन्तक प्रोक्त वक्रोक्ति बन गया, विचारणीय है। इस प्रकार "अनयार्थो विभाव्यते" की संगति अभिनवगुप्त की व्याख्या में ही ठीक बन पाती है और आचार्य भामह की वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) ध्वनिवादी के ध्वनि सिद्धान्त तक का स्पर्श करती है। अलंकार, वस्तु और रस तीनों की विभावक है वक्रोक्ति। भामहाचार्य की काव्यव्यापिनी वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक की प्रतिभा ने सम्यक् निभालित किया और उसे एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त का सर्वांगीण रूप दिया। इसलिये वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर विस्तृत चर्चा तो कुन्तक के मत के निभालन में हो ही सकती है, पर उसके पूर्व एक आचार्य और हैं···काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी। वक्रोक्ति के विषय में दण्डी के विचारों का समीक्षण करने के अनन्तर ही हमें कुन्तक तक पहुँचने में सुविधा भी मिलती है, अतः दण्डी के कथन का भारी महत्त्व है, यह महत्त्व इसलिये भी है कि कुन्तक के कतिपय विवेचनों पर दण्डी का पर्याप्त प्रभाव है।

आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को काव्य का आवश्यक उपादान तथा सर्वालंकार सामान्य स्वीकार किया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने स्वभावोक्ति का उल्लेख तो किया, पर उस पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। महाकाव्य की परिभाषा के उपसंहार में आपने··· युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्[1]—कहकर लोकस्वभाव का समादर तो किया है, पर वक्रता के अभाव में, जैसाकि पूर्वपंक्तियों में कह आये हैं, हेतु, सूक्ष्म और लेश को अनलंकार सिद्ध किया और पशु-पक्षियों-सूर्योदयास्तादि के वर्णन को वार्तामात्र। स्वभावोक्तिरलंकार इतिकेचित्प्रचक्षते[2]···कहकर उन्होंने स्वभावोक्ति के प्रति अपनी अरुचि ही नहीं दर्शायी प्रत्युत···बालक श्वेत से गायों को हाँक रहा है[3]—जैसे उदाहरण देकर उसे आपने धीरवेदायैव—कहकर तिरस्कृत भी किया है। भामह की इस अरुचि को देखकर ही डॉ० सु०कु० दे ने यह मन्तव्य किया है कि संस्कृत के आचार्यों में प्रकृति के (मृदु-रुक्ष-सुख-दुःखमय भावों की वर्णना के प्रति वैसी रुचि नहीं देखी जाती, जैसी पाश्चात्य समीक्षक कवियों में पायी जाती है)।[4]

---

१. भामह, वही, १।२१

२. भामह, वही, २/९३

३. आक्रोशन्नाह्वयन्नाद्यावन्मण्डलै रुदन्।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः।। वही, २/९४

४. द्र० वही, सु०कु० दे···वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ० २०-२१ तथा हि० सं० पो० भाग दो, पृ० ४८-५१ तथा हिन्दी संस्करण, भाग दो, पृ० ४७ की पाद-टिप्पणी।

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वीकार तो अवश्य किया पर उसकी व्यापकता को सीमित कर दिया। उनकी मान्यता है कि सभी वक्रोक्तियों-वक्रकथनों में श्लेष शोभासृष्टि करता है। यही नहीं अलंकार वाङ्मय ही दो प्रकार का निष्पन्न होता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति भेद से। दण्डी की कारिका दर्श्य है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥[1]

इसकी व्याख्या में रत्नश्री टीकाकार का व्याख्यान है कि "स्वभावोक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी अलंकारों में श्लेष सौन्दर्य की सृष्टि करता है। भिन्न भिन्न प्रकार की परिकल्पनाओं से मण्डित वक्र-सूक्तियाँ ही वक्रोक्ति हैं। कारिका में प्रयुक्त प्रायः शब्द वाहुल्यार्थ में है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कहीं-कहीं श्लेष सौन्दर्य का पोष नहीं भी करता है। प्रायः शब्द से यह भी वोध होता है कि कभी-कभी स्वभावोक्ति में भी श्लेष श्रीविधान करता है। अलंकार काव्य ही दो प्रकारों में विभक्त होता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति रूप में। स्वभावोक्ति जाति को कहते हैं जो यथावस्थित विचित्र पदार्थ को परिदीपित करती है और वस्तु स्वभाव का नानारूप में अन्यथा विधान स्वरूप विचित्र प्रभेद-समन्वित उपमादि अलंकारजात वक्रोक्ति है।"[2] टीकाकार ने यहां दण्डी के अभिमत को तो व्यक्त किया ही है स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति के स्वरूप को भी निरूपित किया है। इस सन्दर्भ में लगभग ऐसे ही विचार हृदयंगमा में भी पाये जाते हैं, पर तरुणवाचस्पति की दृष्टि किञ्चित् भिन्न है।[3]

आचार्य भामह ने स्वभावोक्ति पर अपनी अरुचि दर्शायी थी, पर दण्डी ने न केवल उसे वाङ्मय विभाजन का एक आधार ही माना, प्रत्युत् उसे आद्या-प्रथमा-उत्तमा अलंकृति की संज्ञा भी प्रदान कर दी—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥[4]

यही नहीं, उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि आन्वीक्षिकी आदि विद्यास्थानों में स्वभावाख्यान का ही साम्राज्य है और काव्यों में भी इसी की अभीप्सा रहती है—शास्त्रे-

---

१. द्रष्टव्य—काव्यादर्श (मिथिला विद्यापीठ सं०) २।३६०

२. श्लेषोऽयं स्वभावोक्तिं जात्यपरपर्यायां मुक्त्वा सर्वासूपमादिषु न कस्याञ्चिदेव···श्रियं शोभां पुष्णाति···प्रायो बाहुल्येन।···जातौ वा क्वचित्प्रयोगात् प्राय इत्युक्तम्।··· स्वभावोक्तिर्जातिः यथावस्थितिविचित्रपदार्थपरिदीपनरूपा, वक्रोक्तिश्च वस्तुस्वभावस्य तथा तथान्यथाभिधानस्वभावा पूर्वोक्तं विचित्र प्रभेदा उपमादिः।

—वही, रत्नश्री, पृ० १९६

३. देखिये, डॉ० डे की व० जी० पर भूमिका, पृ० २४

४. काव्यादर्श, २।८

ध्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।[1] वक्रोक्ति के अभाव में, आचार्य भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश की अलंकारता ही अमान्य कर दी थी, पर दण्डी ने इन्हें वाणी का उत्तम भूषण कहकर ज्ञापकहेतु के उदाहरण में—

> गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
> इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥[2]

"गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि वर्णनों को उचित मान्यता दी । "गतोऽस्तमर्कः" की चारुता ध्वनिवाद में तो प्रथित ही है । दण्डी भी कहते हैं—इति लक्ष्याः प्रयोगेषु रम्या ज्ञापकहेतवः[3] समस्त विवेचनों से सुस्पष्ट है कि दण्डी को वक्रोक्ति मान्य है, एक निश्चित सीमा में । स्वभावोक्ति, उनकी दृष्टि में, उत्तम अलंकार है । 'गतोऽस्तमर्कः" जैसे कविकथन कालावस्था के निवेदक होने के कारण रम्य और उपादेय हैं । जैसाकि आगे प्रतिपादनीय है, कुन्तक स्वभाव को अलंकार नहीं मानते । इस दृष्टि से कुन्तक भामह के अधिक समीप हैं । हाँ, अलंकार के सामान्य स्वरूप के सन्दर्भ में कुन्तक दण्डी के मत को ही पल्लवित करते हैं, इस हम आगे के विवेचनों में स्फुट करेंगे ।

इसके पूर्व कि वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की दृष्टि से वक्रोक्ति का सर्वांग विवेचन हो कालक्रम प्राप्त दो आचार्यों की दृष्टि पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा । जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत कर दिया था आचार्य वामन वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हैं और लक्षण करते हैं--सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः ।[4] वक्रोक्ति सादृश्याश्रित लक्षणा है । उपचरित शब्दों या उपचार के प्रयोग में इसका निबन्धन होता है ।[5] कुन्तक की उपचार वक्रता वक्रोक्ति मे वामन प्रोक्त वक्रोक्ति भी समाहित है । आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र मान लिया ।

जहाँ वक्ता अन्यथोक्त वचन को उत्तर देने वाला अन्यथा समझता है वहाँ प्रथम प्रकार की वक्रोक्ति होती है । अन्यथोक्त कथन का अन्यथा अर्थ यहाँ पदभंग से प्राप्त होता

---

१. काव्यादर्श, २।१३
२. वही, २।२४२
३. वही, २।२४४
४. वामन, का०सू०वृ०, ४.३.८
५. डॉ० सु०कु० दे के अनुसार...वामनोक्त वक्रोक्ति ध्वनिकार की दृष्टि में लक्षणामूला गूढार्थ व्यंग्यप्रधानध्वनि है (व०जी०, पृ० ४) । अलंकारसर्वस्व के टीकाकार विद्याचक्रवर्ती वामन की इस वक्रोक्ति को लक्षणामूला अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि मानते हैं । द्रष्टव्य—डॉ० आर०सी० द्विवेदी स०अलं० सर्वस्व-संजीवनी, पृ० ७ । इसी सन्दर्भ में रुय्यक का यह कथन भी ध्यातव्य है—वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारं ब्रुवता कश्चिद्ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः ।

अलं०स०, वही, पृ० ७

है, इसलिये इसे श्लेषवक्रोक्ति कहते हैं।[1] स्वरविशेष के कारण उच्चरित कथन से अर्थान्तर की प्रतीति ही में दूसरी वक्रोक्ति—काकुवक्रोक्ति होती है।[2] रुद्रट प्रतिपादित वक्रोक्ति अलंकार के इस रूप को परवर्ती मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र[3] प्रभृति सभी आलंकारिकों ने स्वीकार कर लिया और भामह-दण्डी प्रतिपादित व्यापक वक्रोक्ति की सत्ता ही विलुप्त कर दी गयी। विशेष जैसे अलंकारों के सन्दर्भ में—उन्होंने अतिशय योग के लिये भामह की कारिका—सैषा सर्वैत वक्रोक्तिः[4]—का स्मरण अवश्य किया, पर मात्र अलंकारों के सन्दर्भ में ही यह ग्राह्य हो सका।

आचार्य भामह प्रतिपादित काव्यव्यापिनी वक्रोक्ति को लेकर आचार्य कुन्तक[5] ने संस्कृत काव्यशास्त्र में एक अभिनव प्रस्थान की प्रतिष्ठा कर डाली। कुन्तक ने दण्डी का भी विस्मरण नहीं किया और दण्डी प्रतिपादित अलंकार की व्यापक सीमा को, जैसाकि हम आगे देखेंगे, कुन्तक ने भी पूर्णतया स्वीकार किया, यह अलग बात है कि दण्डी द्वारा प्रतिपादित स्वभावोक्ति की अलंकारता को कुन्तक ने अंगीकार नहीं किया। कुन्तक का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। विषयों का जितना सुस्पष्ट विवेचन कुन्तक करते हैं, संस्कृत के अन्य आचार्यों की वहाँ तक प्रायः गति ही नहीं। अपवाद ध्वनिकार हो सकते हैं, पर सरल और सुबोध ललित पदावली की जो विन्यास परिपाटी कुन्तक में है, वह आनन्दवर्द्धन में कहाँ? अपने सिद्धान्तों के समर्थन में उदाहरणों के चुनाव में जितने सतर्क सावधान कुन्तक हैं, दूसरा कोई नहीं। आधुनिक समीक्षाशास्त्रियों ने कुन्तक को—उनके सिद्धान्तों को, महान् आदर की दृष्टि से देखा है।[6] पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों के आलोक में भी कुन्तक के विचारों को विद्वानों ने अधिक सुसंगत पाया है, तो अब हम कुन्तक विवेचित वक्रोक्ति सिद्धान्त की ओर चलें।[7]

---

१. द्र०, रुद्रट काव्यालंकार, २।१४
२. वही, २।१६
३. का०प्र० ६।७८' सा०द० १०।६, वक्रोक्ति अलंकार का ऐतिहासिक स्वरूप, भेद आदि सविस्तार जानने के लिए द्र० डॉ० दशरथ द्विवेदी शोध-प्रबन्ध "संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का उद्भव विकास", पृ० ६०१-६८८
४. का०प्र०, पृ० ७४४ (झलकीकर)
५. कुन्तक के नाम, समय और रचना कर्तृत्व के लिए विस्तार से देखें—
डॉ० डे०हि०सं०पो० पृ० १८४-१६४ उसी का हिन्दी संस्करण, सं०का-इ० पृ० १६६-७४, डॉ० पी०वी० काणे० सं० का०इ पृ० २८१-२६४।
६. द्रष्टव्य—डॉ० आर०सी० द्विवेदी द्वारा सं० "प्रिन्सिपल्स ऑव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत" में डॉ० श्रीमती हेमलता आर० त्रिपाटी का निबन्ध—वक्रोक्ति एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ६०-६१
७. इस सन्दर्भ में आचार्य विश्वेश्वर सं० वक्रोक्तिजीवित की डॉ० नगेन्द्र द्वारा लिखित भूमिका तथा उन्हीं के ग्रन्थ—काव्य में उदात्त तत्व को देखना चाहिए।

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित प्रमुख प्रस्थानों का अपनी दृष्टि से निरूपण किया है, जिसके अनुसार विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य कहे जाते हैं। शब्दार्थ की यह विशिष्टता प्रधानतः तीन रूप की होती है—धर्ममुख से, व्यापारमुख से और व्यंग्य मुख से। व्यापारगत वैचित्र्य भी दो प्रकार से बनता है—भणिति की विच्छित्ति और भोग व्यापार से। इन पांच प्रमुख पक्षों में प्रथम अलंकार पक्ष उद्भटादि आचार्यों का है, द्वितीय गुणपक्ष वामन का। तृतीय भणिति वैचित्र्यव्यापारपक्ष कुन्तक को मान्य है तो चतुर्थ भोगव्यापार भट्टनायक को और पंचम व्यंग्यत्व आनन्दवर्द्धन को।[1]

स्पष्ट है कि वक्रोक्तिकार भणितिभंगी को काव्य में विशेष स्थान देते हैं। भणिति-भंगी ही वक्रोक्ति कही जाती है। कुन्तक वक्रोक्ति के आचार्य है। ठीक भी है, क्योंकि वक्रोक्तिप्रधान काव्य होता ही है। "रत्नश्री" का यहाँ यह कहना सर्वथा युक्तियुत् है —

"वक्रोक्त्या किं न ख्यायते, वक्रोक्तिप्रधान त्वात्काव्यस्य।[2]

यह कहना असंगत नहीं होगा कि काव्य की परिभाषा—शब्दार्थौसहितौ काव्यम्—की सम्यक् व्याख्या कुन्तक ने ही प्रस्तुत की है। वक्रोक्ति सिद्धान्त, जिसे कुन्तक ने एक प्रस्थान का रूप दिया, व्यंग्यार्थ तथा रस को नकारता नहीं, मार्ग (रीति) और गुण की अभिनव व्याख्या करता है, अलंकार की अलंकारता को सही ढंग से उपस्थित करता है, कवि कौशल की पराकाष्ठा काव्य को यथार्थ के धरातल पर कसने का प्रयास करता है।

काव्य क्या है? कुन्तक के अनुसार—कविकर्म को ही काव्य कहा जाता है—कवेः कर्म काव्यम्।[3] काव्य में कविकर्म की कुशलता ही प्रधान होती है। कुन्तक काव्य में कवि व्यापार, कविकर्म, कविकौशल की नैकधा चर्चा करते हैं।[4] सामान्यतः कविकर्म या कवि व्यापार काव्यक्रिया का ही नाम है। कविकौशलकाष्ठाधिरुढ परम रमणीय काव्य का परम प्रयोजन है सहृदयहृदयाह्लाद। सहृदयाह्लाद के अतिरिक्त अलौकिक चमत्कार का सम्पादन धर्मादिसाधन व्यवहारज्ञान तथा काव्यामृत-रस से चेतश्चमत्कार[5] का निर्माण भी काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। शास्त्रप्रतिपाद्य चतुर्वर्ग से व्यतिरिक्त भी काव्य का जो अतिरिक्त परमार्थ है, वह सहृदय हृदय, काव्यमर्मज्ञ सत्पुरुष को ही प्रतिभासित होता है, जहां अर्थ की

---

१. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन चेति त्रय पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्द्धनेन।
—स०बं०, पृ० ३-४

२. काव्यादर्श रत्नश्री, पृ० १५

३. वक्रोक्तिजीवित, (डॉ० डे, सं० १९६१) पृ० ३

४. कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम्। वही, पृ० २८, कवि-व्यापारः काव्यक्रिया-लक्षणः पृ० २९, कवि-प्रतिभा प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। पृ० १३

५. वही, १/२-५

पर्यालोचना के बिना भी गीत के समान पान का स्वादवत् अनिर्वचनीय आन्तर सुख की अनुभूति होती है।[1]

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से काव्य का परमरहस्य पाने के लिये जहाँ पाठक का काव्यमर्मज्ञ होना आवश्यक है वहीं उस प्रकार की लोकोत्तर सम्पत्ति-निर्माण के लिये कवि का विदग्ध होना भी परमावश्यक है। संसार का कोई भी पदार्थ सामान्य जन के समान कवि के चित्त में भी प्रथमतः अनगढ़ पाषाणशकलकल्प ही प्रतिभासित होता है। विदग्ध कवि का यह कर्तव्य बनता है कि वह पदार्थ को अपनी प्रतिभाजन्यवक्रता से मण्डित कर इस प्रकार के पदसमूह-वाक्यों में उसे सजाये कि अनगढ़पाषाणकल्प भी वह पदार्थ तराशी गयी मणि के समान सुन्दर बन जाय, तद्विद् को परमानन्द मिल जाय।[2] एक ही वस्तुवर्णन में एक सावधान और असावधान कवि की रचना में महान् अन्तर पाया जाता है।

काव्य-क्रिया--कविकर्म की सार्थकता सुन्दर शब्दार्थमय काव्य की निर्मिति में है। भामह के समान कुन्तक ने भी शब्दार्थ के सहभाव-साहित्य को काव्य माना और जो लक्षण प्रस्तुत किया--

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[3]

इसमें काव्यस्वरूप, कवि-व्यापार और तज्जन्य काव्यालंकारवक्रता, काव्य का अधिकारी काव्यमर्मज्ञ, काव्य प्रयोजन--आह्लाद समग्र समाहित है। तो कुन्तक मानते हैं कि तद्विद् आह्लादकारी, वक्रकविव्यापारशाली रचना में व्यवस्थित सहित शब्दार्थ ही काव्य है।

प्रश्न हो सकता है, शब्दार्थ का सहभाव-साहित्य तो प्रसिद्ध ही है, फिर भामह के काव्यलक्षण--शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्--से कुन्तक की इस परिभाषा में वैशिष्ट्य क्या है? उत्तर है--कुन्तक की अनवद्य व्याख्या।[4] इसे ठीक-ठीक समझने के लिये काव्य सम्बन्धी कुन्तकप्रोक्त कारिकाओं, वृत्तियों और उदाहरणों का सम्यक् परिशीलन अपेक्षित है। कुछ लोग कविकौशलकल्पित कमनीयताविशिष्ट शब्द को काव्य मानते हैं तो इतर रचना-वैचित्र्य चमत्कारकारी अर्थमात्र को, किन्तु कुन्तक इस मत के सर्वथा विरुद्ध हैं। आपका स्पष्ट कथन है कि शब्दार्थ साहित्य का अर्थ ही है तैल के प्रति तिल की भाँति काव्य के प्रति शब्द

---

१. वही, संग्रहश्लोक, ३७-४०

२. कविचेतसि प्रथमं प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविरचित वाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति।
—वही, पृ० ९

३. वही, १।७

४. ननु वाच्यवाचक सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् एतयोः न कथञ्चिदपि साहित्य विरहः, सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।—वही, पृ० १०

और अर्थ दोनों की सहभागिता।[१] यही कारण है, अनणुरणन्मणिमेखलम्---आदि उदाहरणों में वर्णसावर्ण्य रम्यता में वह काव्यत्व नहीं स्वीकारते, क्योंकि ऐसे प्रयोगों में तो अनौचित्य भी सहज ही प्राप्त है, और तो और यहाँ अर्थ का कोई चमत्कार नहीं है। इसलिये काव्य में शब्द और अर्थ की अवस्थिति समान गुणशाली परस्परशोभाधायक संगत दो मित्रों के समान होनी चाहिए।[२] जिनमें परस्परस्पर्द्धित्वभाव विद्यमान रहता है। यह स्पर्धिता शब्द की शब्दान्तर से अर्थ की अर्थान्तर से और फिर शब्द और अर्थ की परस्पर में अपेक्षित है।[३] प्रायः देखा जाता है कि समर्थ वाचक के अभाव में अर्थ अपने आप में मनोहारी होने पर भी मृतकल्प प्रतीत होता है, वाक्योपयोगी अर्थ के अभाव में शब्द भी वाक्य का व्याधिभूत प्रतीत होता है।[४] सामान्यतः अर्थ के प्रतिपादक कई शब्द होते हैं, पर अभीष्ट सामान्य या विशेष अर्थ के प्रतिपादक शब्द के चयन में समर्थ कवि की ही प्रतिभा प्रसन्न हो पाती है। ऐसा अर्थ जिससे वर्णनीय वस्तु के स्वभाव की महत्ता में अपूर्वता आ जाय, रस का परिपोष हो और सहृदयहृदयाह्लाद सम्पन्न हो, बड़ी कठिनाई से मिल पाता है।[४] कुन्तक स्पष्ट करते हैं कि कविविवक्षित विशेष के अभिधान की क्षमता ही वाचकता की कसौटी है---कविविवक्षित-विशेषाभिधान क्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।[५] सामान्यतः द्योतक और व्यंजक शब्द भी अर्थ-प्रतीति कराते हैं। इसलिये कुन्तक द्योतक और व्यञ्जक शब्दों को भी उपचार से वाचक ही मानते हैं।[६] व्यक्त है, कुन्तक की दृष्टि में द्योत्य और व्यंग्य अर्थ भी वाच्यार्थ की ही कोटि में आयेंगे। फलतः वक्रोक्तिमार्ग में शब्दार्थ साहित्य का मर्म अपूर्व ही है---अस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे एतयोः परमार्थः किमप्यपूर्वम्।[७] 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्'

---

१. तेन यत्केषांचिन्मतं···शब्द एव केवलं काव्यम्···वाच्यमेव काव्यमितिपक्षद्वयमपि निरस्तं भवति, तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादिकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। वही, पृ० ७। न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य---केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्य, पृ० १०

२. कविनावर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितं न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिकाकाचिदस्ति।···अति-ग्राम्येयमुक्तिः···। पृ० ७-८ तथा समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ। परस्परस्य-शोभाये शब्दार्थौ भवत्ये यथा—वही, अन्तरश्लोक, १८

३. शब्दस्य शब्दान्तरेण वाक्यस्य च वाच्यान्तरेण साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षि-तम्। पृ० १२ अर्थः समर्थवाचकासद्भावे···मृतकल्प एवावतिष्ठते···शब्दोऽपि वाच्या-सम्भवे वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभाति। पृ० १४

४. शब्दोविवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः।
—वही, १.९

५. वही, पृ० ७

६. ननु द्योतकव्यञ्जकावापि शब्दौ अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव।
---वही, पृ० १५

७. पुनश्च, वही, पृ० १५

इत्यादि कुमार संभव, 'तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी' इत्यादि रघुवंश तथा 'भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे' इत्यादि मेघदूत आदि के उदाहरणों में वक्रोक्तिकार ने वाच्य के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ की रमणीयता को सतर्क-सविस्तार प्रदर्शित कर काव्य लक्षण में शब्द और अर्थ के साहित्य की इतिकर्तव्यता मानी है। संक्षेप में कुन्तक की दृष्टि में शब्द और अर्थ की अन्यूनानतिरिक्तत्व भाव से अवस्थिति ही उनका साहित्य, किं वा काव्य है जिसमें मार्गानुकूल सुन्दर माधुर्य आदि गुण विजृम्भित होते हैं, वक्रतातिशयसंवृत्य अलङ्कार का विन्यास होता है, वृत्ति और औचित्य से सरस रसों का परिपोष होता है, तद्विदानंद सुन्दरशब्दार्थ की यथाविभव परस्पर स्पर्धा विराजती है और गति के समान अर्थ की पर्यालोचना के बिना भी पानकास्वादवत् अद्‌भुत आनन्द की सर्जना होती है। कुन्तक को ऐसा लोकोत्तर काव्य अभिप्रेत है।[1] सुखद आश्चर्य का विषय है कि कुन्तक के काव्यविषयक उपर्युक्त विचारों का पाश्चात्य समीक्षकों कार्वे, ब्रोवेल, रेड, वेली प्रभृति के विचारों से अद्‌भुत साम्य है।[2] "शब्द स्वयं में न काव्य है न अकाव्य, कवि की कल्पनाशक्ति से ही उसे काव्यत्वपद प्राप्त होता है" लॉस के ये विचार कुन्तक के इन विचारों के समतुल्य हैं कि---सर्वत्र कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।[3] यहाँ एक तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि काव्यसम्बन्धी कुन्तक के उपयुक्त विचार सर्वथा नवीन नहीं हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन[4] प्रभृति ने सहृदयहृदयानन्ददायी शब्दार्थ को नैकधा काव्य की संज्ञा प्रदान की ही थी, कुन्तक की विशेषता उसके अभिनव व्याख्यान तथा पाठक के सामान्य धरातल पर उसे उपस्थित करने में है। कुन्तक ने सविस्तार सव्याख्य सिद्ध किया--शब्दार्थ सहभाव काव्य है। सभी शब्दार्थ काव्य होंगे ? नहीं, वे शब्दार्थ काव्य कहे जायेंगे जो बन्ध-रचना में व्यवस्थित होंगे। बन्ध के दो विशेषण (का०

---

१. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः। वही, १।१७ तथा वृत्ति-अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी-परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते, नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्ति। पृ० २७। वही संग्रहश्लोक भी ३४-३८

२. द्रष्टव्य---कृष्णचैतन्य की पुस्तक, संस्कृतपोयटिक्स, पृ० ६२-६३

३. कृष्णचैतन्य, वही, पृ० ७१ तथा कुन्तक, पृ० १३

४. ध्वन्यालोक—शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्। (पृ० १७), सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् (पृ० २३), काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेश चारुणः शरीरस्य पृ० ४५, विविधवाच्यवाचकरचना प्रपञ्चचारुणः काव्यस्य, पृ० ८९, इसी प्रकार ध्वन्यालोक तथा लोचन और वामन प्रभृति के काव्यलक्षण सभी कुन्तक के ही समान हैं, परन्तु काव्यलक्षण और काव्य की लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा तो कुन्तक के शब्दों में ही बनती है। "रचयेत्तमेव शब्दं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्" रुद्रट की इस उक्ति में भी चारुता का समावेश है, भामह भी वर्णसाम्यरमणीयता को सौशब्द्य कहते हैं और उभयात्मक सौन्दर्य के पोषक हैं। पं० राजजगन्नाथ का--रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—प्रसिद्ध ही है।

७) दिये गये हैं—१. बन्ध-रचना को वक्रकविव्यापारशाली होना चाहिये तथा २. उसे तद्विदाह्लादकारी होना चाहिये। तो वक्रता क्या है? कुन्तक ने इस प्रश्न का उत्तर निम्न कारिका में दिया है, जिसमें अलङ्कार-अलङ्कार्य का निरूपण तो हुआ ही है, वक्रोक्ति का स्वरूप परिमार्जित है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरिष्यते ॥[१]

व्याकरणादि शास्त्रप्रसिद्ध शब्द-अर्थ से व्यतिरिक्त पूर्व प्रकार से प्रतिपादित विशिष्ट शब्द और अर्थ दोनों ही अलङ्कार्य हैं। इन दोनों की अलंकृति एक है---वक्रोक्ति। वैदग्ध्य-भंगीभणिति ही वक्रोक्ति है। भंगी, शोभा, विच्छित्ति, वक्रता, सौन्दर्य[२] ये सभी शब्द संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः समान अर्थ में ही प्रयुक्त हैं। कविकर्मकौशलरूप विदग्धता समन्वित भंगी-विच्छित्तिपूर्वक अभिधान-अभिधामुखेन प्रतिपादन ही वक्रोक्ति है। उपर्युक्त कारिका तथा वृत्ति से कुन्तक ने तीन बार वक्रोक्ति का लक्षण किया है—१. वैदग्ध्यभंगीभणितिः वक्रोक्तिः, २.[३] वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, ३. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः। वक्रोक्तिकार ने समग्र ग्रन्थ में इस तथ्य को अनेकधा रेखांकित किया है कि विचित्र प्रकार की अभिधा ही वक्रोक्ति है।[४] विचित्र प्रकार है—प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त रूप में प्रतिपादन तो, यह वक्रोक्ति ही शब्दार्थ का अलंकार है। शब्दार्थ अलङ्कार्य है। समुदायभूत काव्य ही अलङ्कार्य है।[५] उसका अलङ्कार वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति भी काव्य से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, क्योंकि कुन्तक की दृष्टि से काव्य अलंकृत होता ही है, लोक की भाँति काव्य में अलंकार कहीं से लाकर जोड़े नहीं जाते, केवल अपोद्धार बुद्धि से ही यह कहा जाता है कि यह शब्द-अर्थ काव्य है, यह उसका अलङ्कार है, क्योंकि अलङ्कारों की अभिव्यक्ति भी तो शब्दार्थमुखेन ही होती है। ध्यान देने की बात है कि जब हम काव्य के सन्दर्भ में अलङ्कार की चर्चा करते हैं तो वह वक्रोक्ति ही होती है और उससे गुणालङ्कार सभी का परिग्रहण होता है।[६]

दण्डी ने स्वभावोक्ति की प्रभूत प्रशंसा की और उसे काव्य का उत्तम भूषण सिद्ध किया। भामह स्वभाव कथन को अलङ्कार मानने के पक्ष में नहीं थे, यह बात पहले

---

१. वही, १।१०
२. द्रष्टव्य डॉ०डे०, भूमिका, पृ० २७, काणे० सं०का०इ० पृ० ४७३ तथा वहीं आलङ्कारिकों के मत।
३. वही, १।१० की वृत्ति
४. वही, काव्यपूर्व्वाभिधा सैव जीवितम्। पृ० १४४
५. अलङ्कारो विधीयते, कस्य? काव्यस्य।
६. वही, १।६ तथा वृत्ति, यद्यपि समुदायभूते तयोरन्तर्भावः। ···सकलस्यालङ्करणसहितस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोगः।—पृ० ६-७

कही जा चुकी है। कुन्तक यहाँ भामह के विचारों के समीप हैं। अभी प्रतिपादित किया गया कि काव्य का एकमात्र अलङ्कार है—वक्रोक्ति। किन्तु स्वभावोक्ति अलङ्कार क्यों नहीं ? कुन्तक मानते हैं कि स्वभाव का अर्थ है पदार्थ-धर्म, वही काव्य का वर्ण्यविषय है। वह अपने आप में स्वयं अलङ्करणीय है। उसे ही अलङ्कार मान लेने पर स्वक्रियाविरोध होगा। संसार का कोई भी विषय निःस्वभाव नहीं होता। उसे अलङ्कार मान लेने पर दो स्थितियाँ बन सकती हैं—भूषणान्तर का योग होने पर स्वभाव और उस अलङ्कार का भेदावबोध प्रकट हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। प्रथम स्थिति में संसृष्टि होगी, द्वितीय में संकर। अन्य अलङ्कारों का विषय ही नहीं मिलेगा।[1] वस्तुसत् यह है कि अलङ्कारों का निरन्तर विवेचन होता चला आ रहा है।

कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन का परमार्थ मात्र इतना ही है कि सुकुमार सुन्दर वस्तु अलङ्कारानपेक्ष होती है, स्वभावतः जो सुन्दर है, रम्य है, उसमें आहार्य योग की क्या आवश्यकता ? वाक्यवक्रता की व्याख्या के पूर्व प्रतिपाद्यवस्तु सौन्दर्य की चर्चा में कुन्तक ने स्पष्ट किया है कि पदार्थों की स्वाभाविक सुकुमारता के वर्णन प्रसङ्ग में वाच्यालङ्कारों का प्रचुर प्रयोग उतना उपयोगी नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में, यह डर रहता है कि, उसकी सातिशयिता ही म्लान पड़ जाय। इस प्रकार के वर्णनों में कवि व्यंग्य का सहारा लेता है। सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य का निर्माण यों ही तो होता नहीं। असुन्दरवस्तु में अलङ्कारों का योग अनुपयुक्त फलक पर चित्रालेखन के समान चमत्कारशून्य होता है। इसीलिए कवि को अतिरमणीय स्वाभाविक धर्मसमन्वित वस्तु का ही चयन करना चाहिए और औचित्यानुसार उसमें रूपकादि अलङ्कारों का समायोग करना चाहिए। पर, इसका ध्यान अवश्य रहे कि विवक्षितार्थ के स्वभाव सुन्दर होने पर उसमें प्रचुर अलङ्कार न जोड़े जायँ, वैसा होने पर वस्तु की स्वाभाविकसुकुमारता तो चौपट होगी ही, रसादि का परिपोष भी नहीं हो पायेगा।[2] सर्वाङ्गसुन्दर सर्वालङ्कार-अलङ्कार्य विलासिनी भी स्नान, व्रत, विरह, सुखादि मे

---

१. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥—वही, १।११

स्वभाव एवोच्यमानः...किमन्यत्तद्व्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते...न किंचिदित्यर्थः। वृत्ति तथा १।१२-१५ एवं वृत्ति—स एव यस्य कस्यचित्पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतार निबन्धनम्...स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम्। स एव चेदलङ्कारो तत् किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते यद्लंकुरुते...आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति। × × स्वभाव एव सहृदयह्लादकारी काव्यशरीरत्वेनवर्णनीयतां प्रतिपद्यते—स एवालङ्कारेण योजयितव्यः।—वही, वृत्ति

२. भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपयोगयोग्यता संभवति, सौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसङ्गात्। × × अगतिकगतिन्यायेन काव्यकरणं न यथाकथंचिदनुष्ठेयतामर्हति × × अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयमलङ्करणमप्यसमुचितभित्तिभागोल्लिखितालेख्यवन्न शोभातिशयकारितामावहति। × स्वाभाविकसौन्दर्यप्राधान्येन विवक्षितस्य च भूयसा रूपकाद्यलङ्कार उपकाराय कल्प्यते—वही, वृत्ति, पृ० १३४-३५

प्रचुर आभूषण नहीं सह पातीं ।[1] कुमारसम्भव के 'तां प्राङ्मुखीम्' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत करते हुए कुन्तक ने देवी पार्वती की स्वभावसुकुमारमनोहरता को उपन्यस्त कर महाकवि कालिदास के कवि-कौशल की सराहना की है । कुन्तक का निष्कृष्टार्थ यह है कि सहज सुकुमार सुन्दर वस्तु ही काव्य में वर्ण्यमान होता है, प्रतीत्यन्तरोत्पादक कोई भी अलङ्कार उसमें उपकारी नहीं होता, विभावादि का सम्यक् सोद्देश्य संश्लेष न होने से रसाद्यपरिपोष प्रस्तुत की शोभा हानि ही करता है । प्रथम-प्रथम तरुणी का तारुण्यावतार हो, सुकुमार वसन्तादि समय का समुन्मेष हो, ऐसे वर्णनों में कविगण उनके प्रतिपादक वाक्यवक्रतारूप मामूली से अलङ्कारों का ही संयोग करते हैं । अतिशयशून्य धर्मयुक्त, विभूषित भी वस्तु पिशाचादि के समान उद्वेजक ही होती है[2] और सातिशय धर्मयुक्त स्वभावसुन्दर वस्तु स्वयमेव अलङ्कार्य होती है, भूषणान्तर असहिष्णु होती है, स्वयं का अलङ्कार होती है ।

इस प्रकार कुन्तक स्वभावोक्ति का सर्वथा निरास नहीं करते । वाक्यवक्रता विवेचन के पूर्व उन्होने भावों के दो स्वरूपों की चर्चा की है—१. चेतन और २. जड़ ।[3] चेतन भाव के भी दो भेद होते हैं—प्रथम है—सुरासुरासिद्धविद्याधरगन्धर्वप्रभृति तथा द्वितीय सिंहादि-पशु-पक्ष्यादि गण । सुरादि-भाव प्रधान हैं, सिंहादि गौण । सुरासुर प्रभृति प्रधान चेतन भावों के निबन्धन में रत्यादि भावों का परिपोष होता है, शृंगार आदि रसों की निष्पत्ति होती है ।[4] सिंहादि प्रभृति अप्रधान चेतन भावों के स्वजात्यनुसारी स्वभावों के उपनिबन्धन में रसादि का उद्दीपन किया जाता है ।[5] इस प्रकार सिंहादि प्रभृति अप्रधान चेतन भावों के स्वभाव को प्राचीनों की स्वभावोक्ति अलंकृति और कुन्तक का उद्दीपन विभाव कहा जा सकता है । स्वभावोक्ति-उदात्त-और रसवदाद्यलंकार का सम्यक् निरूपण रुय्यक के अलंकार-सर्वस्व में भी अच्छी तरह विवृत है ।[6]

वक्रोक्तिस्वरूप तथा उसके प्रसंग में स्वभावोक्ति की चर्चा की गयी । वक्रता के भेदों की चर्चा करने के पूर्व काव्यक्रिया के कारणभूत कविमार्ग का निरूपण आवश्यक है ।

---

१. विलासवतीव—नात्यन्तमलङ्करणसहतां प्रतिपद्यते । —वही

२. सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव × अनुपादेयत्वमेव । —वही, पृ० १३६-३८

३. भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।
चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम् ।। —वही, ३/५

४. तत्रपूर्वं प्रकाराभ्यां द्वाभ्यामेव विभिद्यते ।
सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः ।।
मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोष मनोहरम् ।
स्वजात्युचितहेवाक समुल्लेखोज्ज्वलं परम् ।।—वही, ३/६-७ तथा वृत्ति

५. रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धन बन्धुरम् ।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा । —वही, ३/८ तथा वृत्ति

६. स्वभावोक्तेरलंकारत्वम्—नाम का मेरा शोध-पत्र दर्शनीय, अ०भा० प्रा०वि० सम्मेलन में पठित तथा सा० अकादमी, द्वारका से शीघ्र प्रकाश्य ।

कुन्तक के अनुसार कविप्रस्थान हेतु तीन मार्ग हैं, न दो, न चार। वे हैं—१. सुकुमार २. विचित्र और ३. मध्यम[1]। इस मार्ग-निरूपण के प्रसंग में कुन्तक ने वामन और दण्डी के रीतिविषयक मतों का खण्डन भी किया है। वामन का अभिमत था कि रीतिकाव्य की आत्मा है। रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। देशविदेश के नाम पर इनका वैदर्भी आदि अभिधान है। वैदर्भी समग्रगुणोपेत होने से उत्तम और ग्राह्य है। गौडी में कम गुण पाये जाते हैं, पाञ्चाली में भी अपेक्षाकृत कम गुण हैं अतः ये दोनों मध्यम और अधम हैं।[2] दण्डी वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों को स्वीकार कर चलते हैं। कुन्तक वामन के उत्तमाधममध्यम भेद और देशसमाख्या का स्पष्ट खण्डन करते हुए कहते हैं कि देशभेद के आधार पर रीतियों के भेद करने पर रीतियों की अनन्तता हो सकती है, क्योंकि देश अनन्त हैं। मातुलेय भगिनी विवाह के समान किसी भी काव्यक्रियाकी विशिष्ट रीति को किसी भी देशविशेष से जोड़ा नहीं जा सकता। देश धर्म तो वृद्धव्यवहार-परम्परा पर चलता है किन्तु काव्यक्रिया शक्त्यादिकारणकलापसापेक्ष होती हैं। दाक्षिणात्य गीत-विषय-सुस्वरता-ध्वनि रमणीयता के समान रीतियों को देशविशेष में बाँधने पर वह स्वाभाविकता नहीं मिल पायेगी। शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्यादि आहार्य कारणों को प्रतिनियत देशविशेष में नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमुक देश में अमुक प्रकार की व्युत्पत्ति है। ऐसा उस देश विशेष में पाया नहीं जाता। न अन्यत्र उसका अभाव ही देखा जाता है। रीतियों की उत्तमाधम मध्यमता भी नहीं स्थापित की जा सकती। सुन्दर काव्य का प्रस्ताव आने पर तो वैदर्भी जैसा सौन्दर्य अन्य में नहीं मिल पायेगा। फिर अन्य रीतियों का उद्देश्य भी व्यर्थ हो जायेगा। वैदर्भी ही ग्राह्य है। यह भी नहीं कह सकते क्योंकि रीतियों का निबन्धन प्रकरण सापेक्ष होता है।[3] इस प्रकार वामन के मत का खण्डन कर कुन्तक दण्डी के दो रीति मानने का भी विरोध करते हैं क्योंकि रीतियाँ कवि प्रतिभा पर अवलम्बित है और कवि प्रतिभा पर अवलम्वित है और कवि प्रतिभा तीन ही प्रकार की होती है—सुकुमार, विचित्र और उभयच्छायासंवलित मध्यम।

कवि स्वभाव भेद से काव्य प्रस्थान भेद होता है।[4] सुकुमार स्वभाव कवि में उसी प्रकार की सहज शक्ति तथा सुकुमार रमणीय व्युत्पत्ति होती है और वह उन दोनों के माध्यम से सुकुमार मार्ग से अभ्यास तत्पर होता है। विचित्र मार्गानुसारी कवि में उसी के अनुरूप शक्ति और वैदग्ध्य-वन्धुर व्युत्पत्ति होती है, वह इन्हीं दोनों की वासना से वासित

---

१. संप्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ वही, १/२४

२. रीतिरात्माकाव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः, विशेषोगुणात्मा। देशेषु नामसमाख्या। समग्रगुणोपेता वैदर्भी। ओजः कान्तिमयी गौडीया। माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। तासाम् पूर्वाग्राह्या सर्वगुणत्वात्। नेतरेस्तोकगुणत्वात् वामन, का०सू०वृ०

३. देशभेदानुबन्धत्वेन रीतिभेदानाम् देशानामामानत्यादसंख्कत्वं प्रसज्येत—न च रीतिना-मुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यं अवस्थापयितुं न्यायम् ×। वही, पृ० ४५-४६

४. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समंजसतामवगाहते। वही, पृ० ४६

होता है। फलतः इन्हीं मार्गों से अभ्यास तत्पर होता है।[1] इन दोनों की सुन्दरच्छाया से संवलित कवि में वैसी ही उभयात्मक शक्ति और व्युत्पत्ति होती है। ऐसा कवि उभयच्छायापेशल मार्ग से अभ्यासतत्पर होता है।[2] इस प्रकार यद्यपि कविस्वभाव भेद से मार्गों के अनन्त भेद हो सकते हैं।[3] पर सामान्यतः उपर्युक्त तीन ही प्रकार परिगृहीत हैं, तीनों ही रमणीय हैं। अपने अपने विषय में तीनों ही रमणीय और कोई किसी से कम या हीन नहीं है। इस प्रकार प्रकारान्तर से कुन्तक ने काव्यहेतु के लिये शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी समर्थन किया है। एक तथ्य यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक के त्रिविध मार्गों को अन्य आचार्यों की त्रिप्रकारा रीतियों का पर्याय नहीं मानना चाहिए, ऐसी भूल विद्वानों ने प्रायः की हैं।[4] कुन्तक के मार्ग रीतियों के अतिरिक्त कुछ और भी हैं।

कुन्तक का सुकुमार मार्ग कवि शक्ति पर अवलम्बित है प्राक्तपनाद्यतन संस्कार के परिपाक से प्रौढ पतिभा[5] वह अपूर्व कवि शक्ति है, जिसमें नूतनांकुर न्याय से नवनवार्थ निर्भर शब्द स्वयं कवि की वाणी में चले आते हैं। यहां सब कुछ अयत्नज और अनाहार्य निबन्धित होता है। समग्र वर्णना रसमयी होती है। अयत्नज मनोहारी तथा स्वल्प अलंकारों का परिग्रह किया जाता है। भावों की स्वभाव सुकुमारता ही प्रधान होती है। उससे आहार्य कौशल तिरस्कृत होता है। पूर्वोक्त दो प्रकार के चेतन स्वभाव सुर, गन्धर्व तथा शकुनितरुलतादि के उपनिवन्धन द्वारा कवि सहृदयाह्लादकारी काव्य के उपनिवन्धन में समर्थ होता है। इस मार्ग में कविकौशल की इयत्ता को रेखांकित करना बड़ा कठिन होता है, केवल आनन्द लिया जा सकता है। विधाता की सृष्टि के समान सुन्दर इस मार्ग का कवि भ्रमर के समान रसव्यसनी होता है। वस्तु में कुसुम समान अभिजात्य विराजता है। कालिदास जैसे कवि ही इस मार्ग पर चलकर यशोभागी वनते हैं।[6] कुन्तक ने कारिकावृत्ति और उदाहरणों द्वारा सकुमार मार्ग की जो विवेचना की है—विधि-वैदग्ध्यनिष्पन्न निर्माणातिशयोपमः—कारिका की वृत्ति में रमणीय-रमणी लावण्य आदि का प्रयोग कर जो

---

१. विचित्रः स्वभावो यस्य कवेः . . रमणीय एव . . काचिद्विचित्रैव तदनुरूपाशक्तिः समुल्लसति। तया च तथाविध वैदग्ध्यवन्धुराम् व्युत्पत्तिभाववघ्नाति। ताभ्यां च विचित्र वर्तमभ्यासभाग् भवति। —वही, वृत्ति० ४६

२. वही, पृ० ४६

३. कविस्वभावभेदनिवन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिर्वायम्। —वही, पृ० ४७

४. रत्नाकर के हरविजय, १३-१० पर अलक की टीका, उद्धृत डॉ० के० कृष्णमूर्ति की भूमिका व०जी० पृ० २४

५. प्रतिभा का सुन्दर व्याख्यान देखें —डॉ० शिवशंकर अवस्थी का ग्रन्थ कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका सातवाहन प्रकाशन नयी दिल्ली

६. अम्लानप्रतिमोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेवषट्पदाः।
—वही, १/२५-२९ तथा वृत्ति एवं उदाहरण

उपमा प्रस्तुत की है वह ध्वनिकार के लावण्यमिवाङ्गनासु तथा "नातिनिर्वहणैषिता" आदि को अभिव्यक्त करता है। कुन्तक का सुकुमार मार्ग वस्तुतः ध्वनि मार्ग ही है, जहाँ रस ही प्रधान है। इसकी पुष्टि इसी मार्ग के अभिजात्य गुण की वृत्ति में निहित है। सुकुमार मार्ग के चार गुण हैं। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। प्रथम में असमस्त पद पाये जाते हैं। अनायास अभिप्राय प्रकाशन, सद्यः अर्थ समर्पण तथा रस और वक्रोक्ति प्रसाद गुण की विशेषता है। शब्दार्थ की सुकुमारता के अनुरूप पदों का सन्निवेश वर्णविन्यास, विक्षित्ति लावण्य गुण है। कर्ण सुखद हृदयस्पर्शी स्वाभाविक आहार्य, मृसणता अभिजात्य गुण का विषय है।[1] लावण्य गुण को कुन्तक बन्ध सौन्दर्य मानते हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को ललनालावण्यप्रख्य[2] कहा था। कुन्तक इसका तात्पर्य मात्र इतना ही लेते हैं कि वाच्यवाचक भाव से व्यतिरिक्त रूप में प्रतीत प्रतीयमान अर्थ सहृदय मात्रगम्य है, किन्तु वन्धसौन्दर्य तो पद पदार्थ का ज्ञान न रखनेवालों को भी श्रवण मात्र से हो जाया करता है, वैसे ही जैसे रमणी का लावण्य तो सकललोकलोचनगोचर है, कामिनी का अनिर्वचनीय आनन्द उसके उपयुक्त उपभोक्ता नायक को ही मिलता है। प्रतीयमान का बोध तदुपयुक्त सहृदयों को ही।[3] इस प्रकार ध्वनिकार का ध्वनि को ललनालावण्यप्रख्य बताना, उपमामात्र देना था, न कि लावण्य को अगोचर बताना। प्रकारान्तर से कुन्तक ने ध्वनि को सुकुमार मार्ग का ही विषय बनाया है।

कुन्तक का विचित्र मार्ग अलंकार मार्ग या अलंकृत शैली है। प्रतिभा के प्रथम प्रकाश में शब्द और अर्थ की वक्रता इस मार्ग का विषय है। कवि एक अलंकार से सन्तुष्ट न होकर वस्तु में अन्य अलंकारों का सन्निवेश करता है। भास्वरभूषणों से कामिनी शरीर के समान स्वयं प्रकाश अलंकारों से अलंकार्य प्रकाशित हो उठता है। पुरातन भी वस्तु कवि की उक्तिमात्र की विचित्रता से अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। कवि की प्रतिभा के कारण अन्य भी वस्तु यथारुचि अन्यथा प्रतीत होती है। वाच्यवाचकवृत्तिशून्य वाक्यार्थ की प्रतीयमानता यहाँ भी विराजती है। यहाँ स्वभावसरसाकूत भावों का अपूर्व कमनीय वैचित्र्य मण्डित निबन्धन देखा जाता है। वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवन है। अति दुर्गम विदग्धकविभात्रगम्य यह विचित्र मार्ग असि-धारा तुल्य है -[4] इस मार्ग का कवि व्युत्पन्न और कल्पनाप्रौढ़ होता है। भणिति-वैचित्र्य मात्र ही इस मार्ग का काव्यार्थ है।

---

१. वही, १/३०-३३

२. ध्वन्यालोक, १/४

३. ननु कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तुललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितम् तत् कथं वन्ध-सौन्दर्यमात्रम् लावण्यमित्यभिधीयते···प्रतीयमानम् पुनः काव्यपरमार्थज्ञानमेव।··· कामिनीनाम् किमपि सौभाग्यं···नायकानामेव संवेद्यतामर्हति···लावण्यम् सकललोकगोचरतामायाति।
—वही, वृत्ति पृ० ५६

४. ···विचित्रोयत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते। सोऽतिदुःसञ्चरोयेन विदग्ध कवियोगताः।
—वही, १/३४-४३

भणितिवैचित्र्य के सहस्रों प्रकार हो सकते हैं।[1] प्रतीयमान अर्थ यहाँ भी अपनी समग्र शोभा से शोभित होता है, पर प्रथम मार्ग की प्रतीयमानता ध्वनिरसविषयक है और इस मार्ग की प्रतीयमानता अलंकारपरक, इस तथ्य को न पहचानने में विद्वानों ने भूल की हैं। प्रथम मार्ग के चारों गुण इस मार्ग में भी पाये जाते हैं, किन्तु उनके स्वरूप में अन्तर है। विचित्रमार्ग के माधुर्यगुण में पदों में शिथिलता का अभाव होता है। ओज का किञ्चित् स्पर्श करती हुई असमस्त पदरचना प्रसाद गुण का स्वरूप है। कुन्तक का अभिमत है कि सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण में ओज गुण पूर्णतः विराजमान रहता है, पर विचित्र मार्ग में ओज का किञ्चित् स्पर्श मात्र होता है। इस प्रसाद गुण का एक सौन्दर्य यह भी है एक ही वाक्य में अर्थ समर्थक दूसरे वाक्य भी जुड़े रहते हैं। अलुप्तविसर्गान्ति, संयोगपूर्व लघु समन्वित परस्पर संश्लिष्ट पद-रचना लावण्यगुण कही जाती है। प्रौढिनिर्मित न अत्यन्तकोमल कान्ति न अत्यन्त कठोर, मनोहर पदावली अभिजात्य गुण का वैशिष्ट्य है।[2] प्रथममार्ग के चारों गुणों की यहाँ उपस्थिति कुन्तक की अपनी प्रौढि है। अन्तर मात्र यह है कि प्रथममार्ग के गुण अनाहार्य कौशलजनित होते हैं तो विचित्र मार्ग के गुण आहार्यकौशलजन्य।[3]

उपर्युक्त मार्ग द्वय मिली-जुली सहज आहार्य शोभामण्डित अतिरिक्त अपूर्व शोभा-परिपुष्ट मध्यम वृत्ति समन्वित मार्ग को वक्रोक्तिकार मध्यममार्ग कहते हैं। यहाँ दोनों मार्गों की सम्पत्ति परस्पर स्पर्धापूर्वक विद्यमान रहती है। कान्ति ओर वैचित्र्यरंजित इस मार्ग का कवि वस्तुव्यसनी आरोचकी कोटि का होता है। मध्यम मार्ग में पूर्वोक्त चारों गुणों की अपने-अपने मार्गों की विहित उभयात्मक विच्छित्ति पायी जाती है।

कुन्तक ने उपर्युक्त तीनों मार्गों के चार-चार विशेष गुणों के अतिरिक्त दो सामान्य गुणों की भी चर्चा की है। प्रथम है औचित्य और द्वितीय है सौभाग्य। स्वभाव का सहज झटिति पोषण तथा वक्ता या प्रमाता के स्वभाव से वाच्य का संवरण औचित्य गुण है। उचिताभिधान ही इसका प्राण है।[4] औचित्य का समर्थन ध्वनिकार ने भी किया है।[5] वक्रोक्ति की समग्र विधाओं से युक्त कविप्रतिभा की परिणति काव्य का गुण ही सौभाग्य गुण है। तीनों मार्गों में विराजमान इन दो गुणों से पद, वाक्य, प्रबन्ध सभी में सामान्य रूप से शोभा-सृष्टि होती है है।[6] कुन्तक के अनुसार प्रथम मार्ग के कवि कालिदास और सर्वसेन प्रभृति हैं। बाण, भवभूति तथा राजशेखर आदि कवि द्वितीय मार्ग से अपनी काव्य यात्रा

---

१. अति दुःसञ्चरः येन केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलम् गताः। मणिति वैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः···भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं सम्भवति। पृ० ५८-६५

२. द्र० वही, १/४४-४८

३. वही, १/४९-५२

४. वही, १/५३-५७

५. ध्वन्यालोक, ३/३२-३३
अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम्। पृ० ३६२

६. कुन्तक के मार्गों की पाश्चात्य विचारों से तुलना के लिए द्रष्टव्य कृष्णचैतन्य का सं० पो०पृ० १०५-०७

करते हैं। मातृगुप्त तथा भानुराज जैसे कवि तृतीय मार्ग के पथिक हैं। ध्यान देने योग्य है कि भारवि, माघ अलंकृत शैली के रचनाकार माने जाते हैं। पर कुन्तक ने उनको इन मार्गों का योग्य पथिक नहीं माना। यह बात और है कि उनकी रचनाओं से उद्धरण वह अवश्य लेते हैं। इस प्रकार कुन्तक का मार्ग विवेचन मात्र रीति निरूपण न होकर रीतियों से पर्याप्त विलक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से ध्वनिकारनिरूपित वृत्तिरीति कुन्तक के अधिक समीप है।[1] पर प्राचीनों की रीति कुन्तक के मार्ग से पर्याप्त दूर है।

कवियों की काव्य यात्रा के निमित्तभूत मार्गों का निरूपण करने के अनन्तर कुन्तक निरूपित षट्प्रकार की वक्रता का विवेचन आवश्यक है। कवि-व्यापार, कवि-कर्म, कवि-कौशल वक्र होता ही हैं, वक्राभिधान, अभिधामुखेन सौन्दर्य सम्पादन ही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता पदपूर्वार्द्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता, छः प्रकार की वक्रताओं से समग्र काव्यकौशल को समाहित किया है। इनका निरूपण वक्रोक्तिजीवित के प्रथम तथा अन्य तीनों उन्मेषों में विजृम्भित है। स्वल्पान्तर से एक, दो अनेक वर्णों की आवृत्ति, वर्णान्त योगिस्पर्शों की पुनरुक्ति, त, ल, न आदि वर्णों की द्विरुक्ति रेफ आदि संयुक्त वर्णों की आवृत्ति स्वरों के असारूप्य से युक्त अव्यवहित वर्णावृत्ति यमकाभास तथा यमक में वर्ण-विन्यास वक्रता की शोभा पायी जाती है।[2] कुन्तक पेशल वर्णों से भूषित नाति निर्वाहनिर्बन्धयुक्त वर्णावृत्ति में वक्रता के इस प्रभेद की इतिश्री मानते हैं, जिसमें पूर्वावृत्ति वर्ण का परित्याग तथा नूतन वर्णावृत्ति के परिग्रह का आग्रह है। ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में इसे प्राचीनों का वृत्तिवैचित्र्य, अनुप्रास और यमक स्वीकार करता है—वर्ण-विन्यास वक्रतानाम् वाचकालंकृतिः।[3]

पदपूर्वार्द्धवक्रता में पद के पूर्वार्द्ध प्रातिपदिक और धातुरूप पद की वक्रता निबंधित होती है। पद-पूर्वार्द्धवक्रता के प्रातिपदिक रूप भेद को कुन्तक ने रूढ़ि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, वृत्ति, लिंग भेद से अनेक प्रकार का स्वीकार किया है। इन भेदों के भी अनेक अवान्तर भेदों को सोदाहरण वक्रोक्तिकार ने प्रदर्शित किया हैं जिनमें ध्वनि के अभिधामूल तथा व्यञ्जनामूल भेदों को समाहित किया गया है। ध्वनिकार के ध्वन्यालोक से पर्याप्त उदाहरण लेकर ध्वनि के तत्तद् भेदों में वक्रोक्ति के तत्तद् रूप दिखाये गये हैं। रूढ़ि वक्रता का उदाहरण 'स्निग्धश्यामलकान्ति लिप्तवियतो' आदि में राम शब्द अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है।[4] कुन्तक स्पष्ट कहते हैं—

एवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपितु वस्त्वन्तरप्रतीतिकारित्व-मात्रेणेति नातिप्रतन्यते, यस्मात् ध्वनिकारेणात्रव्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्रसुतरां समर्थितः।[5] रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता दो प्रकार की होती है—कविनिरूपिता अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति

---

१. ध्वन्यालोक ३/३३,३/४६ तथा वही वृत्ति
२. वही, १/६ तथा २/१-७
३. वही, पृ० ८६
४. वक्रोक्तिजीवित, पृ० ८६, ध्वन्या० पृ० १७६-७७
५. वही, पृ० ८६

से। रामोऽसौ भुवनेषु आदि रूढ़िवक्रता के उदाहरण ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि में सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

पर्यायवक्रता में भी अभिधेयान्तरतम अन्य अर्थ की सुन्दरता सुलभ है।[1] कुन्तक ने इसके भी अवान्तर भेदों को सोदाहरण प्रदर्शित किया है। जहाँ लक्षणा-मूल-ध्वनि तथा शब्द शक्ति मूल पदध्वनिप्राप्त है।[2] पर्यायवक्रता में अलंकारों से शोभान्तर का आधान तथा अलङ्कारों का भी शोभान्तर आधान निहित है। कुन्तक यहाँ भी प्रकारान्तर से ध्वनि भेदों को ही समेटते हैं।[3] रूढ़िवक्रता में रूढ़ि ाच्य अर्थों से उत्कर्ष आता है तो पर्यायवक्रता में पर्यायपदों के प्रयोग से। रूढ़ि और पर्याय पदों के असम्भाव्य धर्मगर्भित होने के कारण वाच्य से व्यतिरिक्त अवान्तर शोभा की सृष्टि यहाँ सहज सम्भाव्य है।

मूर्त अमूर्त द्रवत्व-घनत्व, चेतन-अचेतन आदि पदार्थों के साधारण धर्मों में किञ्चित् साम्य के आधार पर उपचार से जहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत आदि अभिप्रेत अर्थ समारोपित किये जाते हैं, वहाँ उपचारवक्रता होती है।[4] यहाँ रूपक आदि अलंकारों की सरस सुषमा निबद्ध होती है, जिसके मूल में लक्षणा निहित है। उपचार वक्रता के अनेक भेदों में प्रथम भेद के उदाहरण में प्रस्तुत "गगनम् च मत्तमेघम्"[5] आदि में ध्वनिकार अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि स्वीकार करते हैं। "स्निग्ध श्यामल" आदि रूढ़िवक्रता के पूर्वप्रदर्शित उदाहरण में भी कुन्तक स्निग्ध पद को उपचार वक्र मानते हैं। यहाँ भी ध्वनि है। अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में उपचार की सत्ता अङ्गीकार कर कुन्तक ने लगभग सभी ध्वनि-प्रपंचों को उपचार वक्रता आदि में ही समाहित करने का प्रयास किया है।[6]

पदपूर्वार्द्धवक्रता का विशेषणवक्रता प्रकार क्रिया अथवा कारक के विशेषण माहात्म्य में निबन्धित होता है।[7] स्वभाव और रस का परिपोष तथा रसस्वभावानुकूल अलंकारों का निबन्धन विशेषणवक्रता की विशेषता है।[8] वैचित्र्यविवक्षा से जहाँ सर्वनाम आदि किन्हीं पदों से वस्तुगोपन कर अपूर्व अर्थों का संयोग किया जाता है वहां संवृतिवक्रता होती है।

---

१. वही, २/१०-१२ तथा वृत्ति
२. ...गौर्वाहीक इत्यनेन न्यायेन...। एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणन व्यंग्यस्य पदध्वने विषयः। वही, पृ० ९५
३. अलंकारेण शोभान्तराधानम्...अलंकारस्य शोभान्तराधानम् च। वही, पृ० ९८
४. वही, २/१३-१४
५. वही, पृ० १०१ तु० ध्वन्या० पृ० १८९
६. उपचारवक्रतादिभिः समस्तोध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। रुय्यक, अलं०स०, पृ० १० यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि उपचारवक्रता में ध्वनि के कतिपय भेदों को समाहित करने के कारण जयरथ प्रभृति विद्वान् कुन्तक को ध्वनिकार के भाक्तमाहुस्त-मन्ये' पक्ष का सिद्ध करते हैं। द्र० डॉ० डे० वक्रोक्तिजी० भूमिका, पृ० ४२-४३, काणे पृ० २८८ तथा डे, सं०सा०इ०, पृ० भाग २, पृ० १७२-७३
७. वही, २।१५
८. वही, संग्रहश्लोक पृ० १०५

संवृति से अथवा संवृतिप्रधानवक्रता होने के कारण इसको यह नाम दिया गया है।[1] प्रतीयमानता यहाँ भी द्रष्टव्य है। समास, तद्धित आदि वृत्तियों से विहित वक्रता में वृत्तिवक्रता का सौन्दर्य निहित है।[2] समान अधिकरण में वाच्य से पृथक् अन्य लिङ्गों के विनियोजन में लिङ्गवैचित्र्य वक्रता होती है। स्त्री शब्द नाम से ही पेशल होता है। परिणामतः कविगण अन्य लिङ्गों के वाच्य होने पर भी प्रायः स्त्रीलिङ्गों का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं। इस प्रकार विशिष्ट लिङ्गों के प्रयोग में भी अपूर्व छाया की सृष्टि होती है। अभिधा प्रकार होने पर भी कुन्तक प्रोक्त उपर्युक्त सभी वक्रताओं में प्रतीयमान छाया विद्यमान रहती है।[3]

पद-पूर्वार्द्ध वक्रता के धातु रूप वैचित्र्य को भी कुन्तक ने कई भेदोपभेदों में विभक्त किया है। प्रथमतः क्रिया-वैचित्र्य वक्रता के पाँच प्रकार गिनाये गये हैं। क्रिया के प्रति कर्ता की अत्यंत अन्तरङ्गता, कर्मान्तर की विचित्रता, क्रिया के अपने विशेषण का वैचित्र्य, सादृश्य आदि समन्वय को लेकर धर्मान्तराध्यारोप पूर्वक क्रिया के उपचार का सौन्दर्य और कर्म आदि कारकों की संवृत्ति रूप वक्राभिधानता में क्रियावैचित्र्यवक्रता समुल्लसित होती है। ध्वनिकार तथा काव्यप्रकाशकार द्वारा ध्वनिप्रसंग में उदाहृत कतिपय उदाहरण यहाँ ध्वनि से सीधे सम्बन्ध रखते हैं तो कतिपय में क्रियोत्प्रेक्षादि के सौन्दर्य द्रष्टव्य हैं।[4] पद-पूर्वार्द्ध वक्रता की धातुवक्रता से ही सम्बन्धित भेदों में काल, कारक, संख्या और पुरुष भेदों का भी निरूपण किया गया है। विवक्षित काल कारक आदि से भिन्न काल आदि का निबन्धन करने से उत्पन्न अतिरिक्त छाया में इन वक्रताओं को आँका जाता है।

पदपरार्द्ध वक्रता में सुप् तिङ् आदि प्रत्ययजनित[5] रमणीयता परिप्रेक्ष्य होती है। विहित प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों के संयोग में समुत्पन्न वक्रोक्तियों में प्रत्ययवक्रता निहित है। जिसमें प्रतीयमान सौन्दर्य भी समुल्लसित होता है। प्रकृतिप्रत्यय व्युत्पन्न पदों की वक्रता के अनन्तर कुन्तक ने अव्युत्पन्न उपसर्ग और निपात पदों की वक्रता का भी विचार किया है।[6] यहाँ भी ध्वनि निर्माण को ही दृष्टि में रखा गया है। उपर्युक्त सभी वक्रताएँ अपना अलग सौन्दर्य तो रखती ही हैं, एक-दूसरे की परस्पर उपकारक होकर चित्रकान्तिवत्[7] नाना रमणीयताओं की उत्पत्ति भी करती हैं। कुन्तक की दृष्टि से इन सभी का फल है—शृंगार आदि रसों की व्यञ्जना, उक्ति-वैचित्र्य की सिद्धि कवि कौशल की कमनीयता की विवृत्ति, सन्निवेश सौन्दर्य का समुदय, तद्विद् को आनन्दाप्ति और काव्यक्रिया की समस्त सम्पत्ति का सृजन।[8]

---

१. वही, २।१६
२. वही, २।१९
३. वही, २।२१-२३
४. वही, २।२४-३१ तथा वृत्ति उदाहरण
५. वही, २।१७-१८ तथा ३२
६. वही, २।३३
७. वही, २।३४
८. वही, पृ० १३३

अभिधान के विविध प्रकार ही अलङ्कार हैं, जिनमें विक्षिति-वैचित्र्य लोकोत्तराभिधान, अलौकिकच्छायातिशय, भणितभंगी का योग पाया जाता है। कवि-प्रतिभा का आनन्त्य होने से अलङ्कारों की संख्या भी भूयसी हो सकती है। समस्त अलङ्कारवर्ग वाक्य-वक्रता का विषय है।[१] वर्णनीय वस्तु ही अलङ्कारों से विभूष्य होती है, उसकी सहज-रमणीयता की चर्चा मैंने स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में पर्याय रूप में कर दी है। वक्रोक्तिकार के अनुसार स्वभाव सुकुमार वस्तु के वर्णन प्रसंग में वाच्यालंकारों का प्रचुर प्रयोग अग्राह्य है किन्तु रचना में नानावैचित्र्य का योग करना हो तो रूपकादि अलंकारों का योग अवश्य अपेक्षित है।[२] हाँ, स्वाभाविक सुकुमार वस्तु की वर्णना में यदि कदाचित् अलंकार का प्रयोग किया भी जाय तो उसे वर्णनीयवस्तु की सुकुमारता को और अधिक उद्रिक्त करना चाहिए। सातिशायी सुन्दर वस्तु अलंकार्य है। अलंकार उनका आभूषण। निश्चय ही कुन्तकोक्त यह वस्तु-वक्रता रस का विषय है। वर्णनीय वस्तु की वक्रता का एक दूसरा रूप भी है जिसमें शक्ति और व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ सहज और आहार्य कविकौशल की लोकोत्तरता देखी जाती है। कविकौशल का ही परिणाम है, अविद्यमान भी पदार्थ रचना में इस प्रकार उपन्यस्त किये जाते हैं कि वे अपनी सम्पूर्णसत्ता से रमणीयता का आधान करते हैं। पदार्थ की आहार्यवक्रता ही अलंकारों का विषय है, सहज रस का।[३]

वाक्यवक्रता का समग्र साम्राज्य कविकौशल पर टिका है, ठीक वैसे ही जैसे चित्रकला का समग्र सौन्दर्य चित्रकार की निपुणता पर। रस, वस्तु की रमणीयता भी कविकौशल पर निर्भर करती है पर अलंकार की अलंकारता तो कवि की कल्पना प्रवणता पर ही आश्रित है क्योंकि अलंकारों का सबसे बड़ा कार्य है विभावादि को रसनीयता की चरम सीमा तक पहुँचाकर रसस्वरूपता को प्राप्त करना। इसके लिये कवि भावों के चेतन तथा जडरूप स्वभावों का चित्रण करता है। चेतन-भावों में रस-सृष्टि होती है जडभावों से रसोंउद्दीपन। चेतन आलम्बन होता है तो जड़ उद्दीपन। चेतनभावों के पशु-पक्ष्यादि के स्वभाव वर्णनों से भी रस का परम परिपोष होता है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से अलंकार जहाँ अभिधाप्रकार हैं वहीं वे रस परायण भी हैं। वाक्य वक्रता मात्र वाच्यालंकारों का ही नहीं प्रतीयमान अलंकारों का भी विषय है। यही कारण है कि कुन्तक के अलंकारों के लक्षण में प्राचीन आलंकारिकों के लक्षणों से विलक्षणता है, साथ ही वक्रत्वविहीन कतिपय अलंकारों का उनके द्वारा तिरस्कार भी किया गया है।

रस अलंकार्य है, ध्वनिवादियों के इस मत से कुन्तक को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि काव्य कोई भी हो, रसवत्ता उसमें रहती ही है।[४] ध्वनिवाद से इस नय में अन्तर मात्र

---

१. वही, १।२०

२. वही, ३/१ तथा वृत्ति, पृ० १३६-१३८

३. वही, ३/२-७ तथा विस्तृत विवेचनार्थ वृत्ति। निश्चय ही कुन्तक का प्रकृत विवेचन ध्वनिकार से अधिक स्पष्ट एवं विभ्रान्त तथा श्लाघ्य है।

४. श्रृंगारादिरेव प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽलंकार्यः। पृ० १५७
यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्वमेव। पृ० १६२

इतना ही है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त में रसभावादि सभी वक्रोक्ति के अंग हैं। वर्णनीय वस्तु की सहज सुकुमारता, प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता में रसादि की अभिव्यक्ति में द्रष्टव्य है। भामह प्रभृति प्राचीन आचार्य रस को ही रसवत् अलंकार कहते हैं। रसादि-ध्वनि की अप्रधानता में ध्वनिवादी रसवत् अलंकार अंगीकार करते हैं। कुन्तक ने भामह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार सभी के रसवत् अलंकारों का विस्तार से खण्डन किया है।[1] आपने रसवत् की सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश अलंकार, जिनमें रसवत्ता थी ही नहीं, वक्रोक्तिनय में अमान्य कर दिये गये। शृंगारादि रसों के समान प्रतीत होने वाले तथा काव्य में रसवत्ता का आधान करने वाले उपमादि अलंकारों को कुन्तक ने रसवत की संज्ञा प्रदान की है[2] क्योंकि उपमादि भी काव्य में वही भूमिका निर्वाह करते हैं जो रसादि।[3] रस समाहित होने के कारण, कुन्तक को, सीमित अलंकारों में ही अलंकारता मान्य है। वे हैं—दीपक, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, ससन्देह, विरोध और अपह्नुति। वाक्य वक्रता में समुल्लसित इन अलंकारों की कुन्तक ने अभिनव व्याख्या भी प्रस्तुत की है जिसके परिणामस्वरूप, 'उपोढरागेण' जैसे गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरणों में रूपक अलंकार रसवत्ता का आधान करता है।[4] ऐसे स्थलों में श्लेष की विशेषणवक्रता तथा लिंगवैचित्र्यवक्रता भी रसाधान में सहायक हुई है। कुन्तकोक्त अधिकांश अलंकार प्रतीयमान[5] सौन्दर्य समुल्लसित हैं। इस प्रकार वाक्यवक्रता मात्र वाच्यालंकार ही नहीं प्रतीयमान अलंकारों का भी विषय है।

रसवत् अलंकार से नीरस पदार्थों में भी सरसता का सम्पादन किया जाता है,[6] यही कारण है कि कुन्तक इसे सभी अलंकारों का प्राण मानते हैं। प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित तथा उदात्त को अलंकार्य का विषय मानकर कुन्तक इनकी अलंकारता का प्रत्याख्यान करते हैं।[7] उपमेयोपमा, अनन्वय, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, परिवृत्ति प्रभृति अलंकारों को वह उपमा से व्यतिरिक्त नहीं मानते।[8] समासोक्ति भी प्रतीयमान उपमा का विषय है, उसमें कोई अतिरिक्त चमत्कार भी नहीं है। इसलिये कुन्तक उसकी भी अलंकारता का

---

१. वही, ३/११ तथा वृत्ति पृ० १५६-१६५
२. वही, ३/१५१६ तथा वृत्ति (के० कृष्णमूर्ति)।
३. रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधात्येवमुपमादिरपि उभयं निष्पादयन् रसवद-अलंकारः।—वही (कृ० मूर्ति) पृ० १६५
४. डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा यहां डॉ० राघवन् तथा डॉ० सु०क०दे० की भ्रान्ति की आलोचना बहुत उपयुक्त है। भूमिका वक्रोक्तिजीवित, डॉ० के० कृष्णमूर्ति, पृ० ३२-३३
५. व्यतिरेक के शाब्द और प्रतीयमान दो भेद करके कुन्तक ने प्रतीयमान के समर्थन में आनन्दवर्धन की कारिका 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' को उद्धृत भी किया है।
६. नीरसानां पदार्थानां सरसतां समुल्लासयितुं रसवदलंकारं समासादितवान्।
—वही (के० कृष्णमूर्ति), पृ० १६९
७. वही, पृ० १३७-१७४
८. वही, पृ० २००-२०४

खण्डन करते हैं। यथासंख्य, विशेषोक्ति, आशीः, सूक्ष्म, लेश, हेतु और उपमा रूपक जैसे अलंकारों का भी वक्रोक्तिकार निरास करते हैं।[1] अलंकारों को सीमित करने में कुन्तक का यह अभिप्राय निहित है कि अलंकार्य के विषय तो असख्य हैं पर अलंकारों की सीमा बहुत ही अल्प है, लोक में भी अलंकारों की प्रचुरता नहीं देखी जाती। वाक्यवक्रता की वाच्य-प्रतीयमान उभयरूप विस्तृत साम्राज्य-सम्पत्ति का जितना सुन्दर और समुज्ज्वल[2] विवेचन कुन्तक ने किया है, अन्यत्र अप्राप्य है।

महाकवियों के प्रबन्धों में विराजमान प्रकरणवक्रता सहज रसनिष्यन्दिनी होती है। कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के सन्दर्भ में अनेकों कारिकाओं और उदाहरणों से व्यक्त किया है कि प्रबन्धों में कविगण कथाओं को कुछ ऐसा मोड़ प्रदान करते हैं, उनमें कल्पनामूलक कुछ ऐसा परिवर्तन ला देते हैं कि कथांश की महनीयता बढ़ जाती है, रसपरिग्रहपरम्परा उद्भासित हो उठती है। अभिज्ञान जानकी नामक नाटक और रघुवंश के कौत्सदक्षिणा सम्बन्धी प्रकरण का उदाहरण देते हुए कुन्तक ने प्रकरणवक्रता का प्रथम प्रकार वहां स्वीकार किया है। जहां यशस्वीजनों का अपना अभिप्राय विशेष मूल से लेकर सम्पूर्ण विकास पर्यन्त निष्प्रतिबन्ध प्रकाश प्राप्त करता है।[3] उपर्युक्त नाटक में समुद्रबन्धन के प्रयास की सहजता तथा रघुवंश में रघु की उदारता और प्रभाव का जो चित्रण कवियों ने प्रस्तुत किया है उससे स्पृहणीय रस की सृष्टि होती है। दूसरे प्रकार की प्रकरण वक्रता का समुल्लास वहाँ होता है जहां इतिहास प्रसिद्ध कथाओं में कवि अपनी कल्पनाओं से ऐसा रूपान्तर प्रस्तुत कर देता है कि उससे अपूर्व लावण्य और रस की पराकाष्ठा समुद्भाषित होती है।[4] उदाहरणार्थ अभिज्ञानशाकुन्तल का दुर्वासा-शाप, अंगुलीयक वृतान्त, दुष्यन्तका 'रम्याणिवीक्ष्य', आदि के द्वारा मानसिक द्वन्द्व, शकुन्तला के विरह में उसकी करुणदशा, भ्रमर तक को कारागार में डाल देने की धमकी आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनसे नाटक में रस का परमपरिपोष होता है। कुन्तक के अनुसार इतिहासप्रसिद्ध कथा का उत्पाद्यलावण्य दो प्रकार का होता है। कहीं तो इतिहास में न होने पर भी कवि उन्हें कल्पित कर लेता है और कहीं प्रसिद्ध कथा को भी औचित्यवश छोड़कर अन्यथा रूप दे दिया जाता है। प्रथम का उदाहरण तो शाकुन्तल के उक्त प्रकरण हैं। द्वितीय का उदाहरण 'उदात्तराघव' है, जहाँ मायामृग के वध के लिए लक्ष्मण को प्रेषित किया गया है और उनके आर्तस्वर पर कातर सीता ने राम को लक्ष्मण की रक्षा में भेजा है। उपर्युक्त दोनों ही वक्रताएँ प्रकरण के माध्यम प्रबन्ध में भी रस की इयत्ता प्रख्यापित करती हैं।[5]

---

१. भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचिन्नालंकारतया मनाक्।—वही ३/६२ (क्र०मू०)

२. अभिधायाः प्रकाराणामानन्त्यं प्रतिभोद्भवम्।
वक्तुं न पार्यंते कान्तालीलावैचित्र्यवत्स्फुटम्।—वही (क्र०मू०) पृ० २०४

३. वही, (क्र०मू०) ४/१-२ तथा वृत्ति

४. वही, ४/३-४ तथा वृत्त्युदाहरण।

५. निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।—वही, संग्रह श्लोक, पृ० २५२

प्रबन्ध के एकदेश में विहित कथा जब प्रधान कार्य के अनुसन्धान में अन्ततक उपकार्य-उपकारक भाव से सन्निहित होकर कवि की विशेषप्रतिमामण्डित नूतन वक्रता का सृजन करती है तब तृतीय प्रकार की प्रकरण वक्रता की सृष्टि होती है। पुष्पदूषितक नाटक का अंगुलीयक वृत्तान्त तथा उत्तररामचरित का 'जृम्भकास्त्र वृत्तान्त' इसका उदाहरण है। एक ही प्रतिपाद्य विषय प्रतिप्रकरणों में इस प्रकार निबद्ध किया जाता है कि अन्यून नूतन रसालंकार भ्राजमान प्रतीत होता है, प्रकरणवक्रता का यह पृथक् प्रकार है।[२] हर्षचरित, तापसवत्सराज, तथा रघुवंश के उद्धरण यहां दर्शनीय हैं। महाकाव्य-आदि के अंगभूत जलक्रीडादि प्रकरणों से भी प्रकरण वक्रता का नया सौन्दर्य भासित होता है।[३] अंक या सर्ग का वह प्रकरण जिसमें अंगीरस की ऐसी पराकाष्ठा दृश्यमान हो जो पूर्व अंकों या सर्गों में अ-सुलभ हो, अपर प्रकरण वक्रता को जन्म देती है।[४] विक्रमोर्वशीयम् के उन्मत्तांङ्क तथा किरातार्जुनीयम् के बाहुयुद्ध में इसकी रमणीयता दर्शनीय है। प्रधान कथा की निष्पत्ति के लिये निबद्ध कथान्तर[५], अंक में ही गर्भित अंकान्तर में निपुण नटों द्वारा नटान्तर की भूमिका के निर्वाह[६] तथा पूर्वोत्तरभावी प्रकरणों में सन्धि-संविधान के सुन्दर निर्माण में[७] भी पृथक्-पृथक् प्रकरणवक्रताओं की मंजुल-मधुरिमा पायी जाती है। इनके सुन्दर उदाहरण मुद्राराक्षस, वालरामायण और पुष्पदूषितक, कुमार संभव, शिशुपालवध में सुलभ हैं जिनकी रसपरायणता का वक्रोक्ति जीवित में चित्तद्रुतिकर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। प्रकरण-वक्रता का प्रमुख विधेय है—रसप्रवाह—

एवमेषा महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रताविच्छित्तिः रसनिष्यन्दिनी।[८]

ऐसे में प्रकरणवक्रता स्वयं में रसों का भी रसायन बनकर प्रबन्ध की महनीयता को रमणीयता की चरम सीमा तक आरूढ कर देती हैं। प्रकरण-समुदाय प्रबन्धों में यद्यपि प्रकरणों से ही रामणीयक सिद्ध होता है तथापि प्रबन्धवक्रता के पृथक् प्रकार भी बताये गये हैं।

प्रथम प्रकार की प्रबन्धवक्रता वहाँ होती है जहां अभिजात जनों को उन्मुख करने के लिये कविगण प्रायः शब्द-अर्थ और प्रकरण की वक्रताओं से मण्डित कथाओं में, इतिहास

---

१. वही ४/५-६ तथा वृत्त्युदाहरण
२. वही ४/७-८ तथा वृत्त्युदाहरण
३. वही ४/६, तथा वृत्त्युदाहरण
४. वही, ४।१० तथा वृत्त्युदाहरण
५. वही, ४।११ तथा वृत्त्युदाहरण
६. वही, ४।१२-१३ तथा वृत्त्युदाहरण
७. वही, ४।१४-१५ तथा वृत्त्युदाहरण
८. वही, पृ० २४८ तथा संग्रहकारिका—
निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः। ४।१३४ तथा ४७-४८ भी

प्रसिद्ध रसों की उपेक्षाकर अन्य रमणीय रसों का निर्वाह करके प्रबन्धवक्रता की रमणीयता का समुल्लास करते देखे[1] जाते हैं। वेणीसंहार की कथा शान्तरसप्रधान महाभारत से ली गयी है किन्तु कवि ने वीररस का समाश्रयण कर अभिजात जनों को राज्यश्री के भोग के लिए उत्साह की प्रेरणा प्रदान की है। इसी प्रकार उत्तररामचरित करुणरस प्रधान रामायण पर आश्रित है, पर नाटक के उपसंहार में सकलदिव्यास्त्र कुशल लव की शक्ति को देखकर जनकनन्दिनी सीता के आनन्द से परिपुष्ट संभोगशृंगार का निबन्धन कर कवि ने अभिजात जनों के आनन्द की सृष्टि की है। प्रबन्धवक्रता का दूसरा रूप वहाँ देखा जाता है जहाँ कविगण उत्तरवर्तिनी नीरस कथा की जिहासा से नायकोत्कर्षकारी इतिहासप्रसिद्ध कथा के एक देश से ही प्रबन्ध का उपसंहार कर देते हैं।[2] उदाहरण के लिये किरातार्जुनीय में महाभारत के विरह तथा अनुचित प्रकरणों का परित्याग कर कवि ने प्रबन्ध भंगी का निर्माण किया है। आधिकारिक कथा को तिरोहित करने वाले कार्यान्तर के विघ्न से विच्छिन्न विरस कथा को भी कवि जब प्रस्तुतेतर व्यापार से रसनिर्भर बनाने में समर्थ हो जाता है तो प्रबन्धवक्रता की एक नयी निर्मिति होती है।[3] शिशुपाल वध में इसका निदर्शन प्रेक्ष्य है। प्रबन्धवक्रता के उपर्युक्त तीन प्रकारों में प्रथम नाटकों का विषय है अन्य दो महाकाव्यों का।

काव्यों में प्रबन्धवक्रता का संविधान अन्य कई प्रकारों से भी संभव है। एककल की संप्राप्ति के लिए यत्नवान् नायक को अन्य अनेक फलों की संप्राप्ति में[4], सुन्दर संविधान सूचक नाटकादि के सुन्दर नामकरण में[5], एक ही कथानक को लेकर अनेक कवियों द्वारा प्रणीत प्रबन्धों की परस्पर विलक्षणता में[6], और प्रबन्ध प्रतिपाद्य उपदेशों की रमणीय परिणति में[7] प्रबन्धवक्रता का उज्ज्वल प्रकाश परिलक्षित होता है। नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन अपने आप को गरुड़ को समर्पित कर शंखचूड़ के प्राणों की रक्षा तो करता ही है, साथ ही समस्त सर्पकुल की भी रक्षा करता है। इस प्रकार वह एक ही की प्राणरक्षा का नहीं, एक समुदाय की रक्षा का सुयश अर्जित करता है। अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरूद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलितराम, पुष्पदूषितक आदि नाटकों तथा हयग्रीव-

---

१. वही, ४।१६-१७ तथा वृत्त्युदाहरण, संग्रहकारिका, ४६
२. वही ४।१८-१६ तथा वृत्त्युदाहरण और संग्रहकारिका ५३
३. वही, ४।२०-२१ वृत्ति तथा उदाहरण भी
४. वही, ४।२२-२३ वृत्ति तथा उदाहरण भी
५. वही, ४।२४ वृत्ति
६. वही ४।२५ तथा—
कथोन्मेषे समानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
प्रबन्धा, प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक्। —अन्तर श्लोक ५६
७. वही, ४।२६ तथा—
वक्रतोल्लेखवैकल्यमसत्काव्ये विलोक्यते।
प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः।—वही, अन्तर श्लोक ५७

वध, शिशुपाल वध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द और रामचरित महाकाव्यों में नामजन्य प्रबंध वक्रता की रमणीयता व्यंजित है, नाम से ही समग्र वृत्त प्रकाशित हो उठता है। एक ही रामकथाश्रित रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि नाटकों की परस्पर विलक्षणता सहृदयजनों को परिज्ञात ही है। प्रवन्धों का उपदेश 'रामादिवत वर्तितव्यम्' तो काव्य का चरम प्रयोजन है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध की वैदग्ध्य-भंगीभणितिमण्डित, माधुर्यादिगुणगुम्फित सुकुमार आदि मार्गोज्वल, परस्परस्पर्धि-अन्यूनानतिरिक्त मनोहारी शब्दार्थ साहित्य समन्वित सहृदयहृदयाह्लादकारी, कविकौशल रमणीय वाक्य विन्याससुन्दर रचना ही समादरणीय है जिसमें वस्तु की सहज रमणीयता, रस की नवनवा सृष्टि, शैली की सुकुमार विवेचना अलंकारों की वाच्य-प्रतीयमान उभयविध वक्रिमा, ध्वनि की गम्भीर गरिमा, कविकुशलता की कमनीयता, समग्र काव्य सम्मत वैदग्ध्य भंगीभणिति रूप वक्रोक्ति में ही समुल्लसित होती है। परवर्ती आचार्य भोजराज ने भी वक्रोक्ति पर पर्याप्त आदर प्रदर्शित किया है। समस्त वाङ्मय को ही उन्होंने तीन भागों में बांट दिया है—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति में।[1] डॉ० वी० राघवन् ने अपने ग्रन्थ में भोजराज और वक्रोक्ति पर प्रभूत प्रकाश डाला है। परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को या तो खण्डन के लिये या एक अलंकार विशेष के निरूपणार्थ या अलंकारों के वीज रूप विच्छित्ति के पर्याय के लिये ही उपात्त किया है। अतः उनका निरूपण यहाँ अनपेक्ष्य है। आचार्य रुय्यक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त को सार रूप में अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किया है।[3] जिस पर जयरथ प्रभृति आचार्यों की टीकाओं में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त पर यत्किञ्चित् विचार किया है, प्रस्तुत में सभी को दे पाना न संभव है न वहुत संगत ही।

अन्त में कुन्तक की प्रशंसा और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में पुनः कहना समीचीन होगा कि कुन्तक की काव्य समीक्षा पद्धति का सिद्धान्त पाश्चात्य विचारकों की समीक्षा पद्धति के वहुत समीप है, अत्यन्त सुलझा हुआ है, निर्भ्रान्त है। कुन्तक ने ध्वनि का अपलाप भी नहीं किया पर उसे वक्रोक्ति में ही पचा लिया। वस्तु या कथानक की सुन्दरता पर जितना अधिक ध्यान कुन्तक का गया है, किसी भी भारतीय समीक्षक की वहाँ

---

१. वक्रोक्तिश्च स्वभावोक्तिः रसोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। शृं०प्र० १/८

२. डॉ० बी० राघवन्—भोजास श्रृंगार प्रकाश, पृ० ११४-१३७ तथा डॉ० लक्ष्मीनारायण सिंह का अलंकार-प्रस्थान-विमर्श, वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी।

३. वक्रोक्ति जीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणिति स्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात्काव्यस्य जीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यञ्च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकार विशेषा एवालंकाराः। सत्यपि त्रिविधेप्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसरम्भगोचरा। उपचारवक्रतादिभिः समस्तोध्वनि प्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यं जीवितं काव्यं न पुनर्व्यंग्यार्थजीवितमितितदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

—सं०रा०च० अ०स०, पृ० ९-१०

पहुँच नहीं है। पाश्चात्य आलोचक भी प्लाट की उदात्तता पर भारी जोर देते हैं। अलंकारों की रस और प्रतीयमान परक जो व्याख्या कुन्तक ने दी वह प्राचीनों तथा ध्वनिवादियों दोनों से ही विलक्षण है। षड्विध वक्रता के माध्यम अभिधा के अनन्त साम्राज्य का विस्तार तो कुन्तक ने ही किया है, प्राचीन आचार्य तो अभिधा के जन्मदाता मात्र थे। डॉ० के० कृष्णमूर्ति का यह कथन यथार्थ है कि आधुनिक दृष्टि से कुन्तक जैसा काव्यालोचक संस्कृत काव्यशास्त्र में कोई दूसरा नहीं हुआ।[४]

१. डॉ० के० कृष्णमूर्ति—वक्रोक्ति जीवित की भूमिका, पृ० ३५-३६ लेखक डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा सम्पादित वक्रोक्तिजीवित के लिए कृतज्ञ है क्योंकि उसके बिना लेख वैसे ही अपूर्ण रह जाता जैसे डॉ० सु०कु० दे० तथा डॉ० काणे के विचार।

औचित्य–सिद्धान्त

लेखक—प्रोफेसर शिवशेखर मिश्र
(प्राक्तन संस्कृत विभागाध्यक्ष,
लखनऊ विश्वविद्यालय)
कुमार सदन, बाबूगंज
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

औचित्य के इतिहास में तीन आचार्यों का प्रमुख स्थान है—भरत, आनन्दवर्धन तथा क्षेमेन्द्र।

भरत ने नाटक के क्षेत्र में इसके महत्त्व की चर्चा की है और अभिनय के सम्बन्ध में इसका मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है। आनन्दवर्धन ने इसके अधिक व्यापक स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए नाटक तथा काव्य दोनों में इसकी सत्ता को स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र इन दोनों आचार्यों से आगे बढ़ जाते हैं और वे औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में स्थापित करते हैं, यहाँ तक कि उसे वे काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं।

भरत

भरत ने नाटय-प्रयोग के सम्बन्ध में दो धर्मियों का उल्लेख किया है—लोक-धर्मी तथा नाट्य-धर्मी। नाट्यशास्त्र के तेरहवें अध्याय में उन्होंने इन धर्मियों का लक्षण इस प्रकार दिया है—

स्वभावाभिनयोपेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्य लोक-धर्मी तु सा स्मृता ।। ७१ ।।

अर्थात् अपने भावों के अनुकूल किये गये अभिनयों से युक्त तथा अनेक स्त्रियों तथा पुरुषों पर आश्रित नाट्य लोकधर्मी माना गया है। किन्तु जब लोक में प्रयुक्त पदार्थ का प्रयोग रूपक में इस प्रकार हो कि नायक-नायिका की अभिलाषाएँ साकार प्रतीत हो तो उसे नाट्यधर्मी माना गया है—

लोकप्रसिद्धं द्रव्यन्तु यदा नाट्ये प्रयुज्यते।
मूर्तिमत् साभिलाषञ्च नाट्य-धर्मी तु सा स्मृता ।। ७४ ।।

नाट्य में लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी दोनों तत्त्व आवश्यक हैं। लोकधर्मी का सिद्धान्त

यथार्थवाद का प्रतिपादन करता है तथा नाट्यधर्मी परम्परागत रूढ़ियों की पुष्टि करता हुआ आदर्श की ओर उन्मुख करता है।

भरत के अनुसार प्रयोगकर्ताओं को चाहिये कि वे नाट्य के सम्बन्ध में लोक को ही प्रमाण मानें—

"तस्माल्लोकप्रमाणं हि ज्ञेयं नाट्यं प्रयोक्तृभिः" २५/१२९

इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं से युक्त लोक की वार्ता का ही संविधान पाठ्य में करना चाहिये—

एवं लोकस्य या वार्ता नानावस्थान्तरात्मिका।
सा नाट्ये संविधातव्या नाट्यहेतोः प्रयोक्तृभिः॥ २५/१२६

इसीलिए भरत मुनि का कथन है कि जिन नियमों का उल्लेख नाट्य-शास्त्र में नहीं किया गया है उनका ग्रहण लोक से करना चाहिए।

"नोक्ता येऽपितु तेऽप्यत्र लोकाद्ग्राह्यास्तु पण्डितैः॥ २५/१२१

नाट्य का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराना है। अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, संगीत आदि के द्वारा तत्तद्रसों एवं भावों की अभिव्यक्ति होती है। अभिनय के सम्बन्ध में भरत का कथन है कि सर्वप्रथम आयु के अनुरूप उचित वेष होना चाहिये। वेष के अनुकूल गीत या क्रिया होनी चाहिये। गीत के अनुरूप पाठ्य और पाठ्य के अनुसार अभिनय होना चाहिये।

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपश्च गीतप्रचारः।
गीतप्रचारानुगतं व पाठ्यं पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ —१३/६४

वेष के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह देश विशेष के अनुसार होना चाहिये। ऐसा न होने पर वह वेष शोभा को उत्पन्न नहीं करता हैं जैसे यदि कोई उर में मेखला को धारण करता है तो वह हँसी का पात्र होता है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि वन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ २१/७१

इस प्रकार भरत मुनि ने नाटक में औचित्य का निर्वाह आवश्यक माना है।

आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन रस अथवा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। रस के लिये औचित्य अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। आनन्दवर्धन ने रस से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ते हुए इसका महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया है। वस्तु तथा अलंकार रस की अपेक्षा गौण हैं। उन्हें रस के वाह्य परिधान के रूप में समझना चाहिये। उनके द्वारा काव्य में रस की पुष्टि होती है जिसके कारण अलंकारशास्त्र में उनकी सत्ता स्वीकार की गई है।

आनन्दवर्धन के अनुसार वाच्य और वाचक की रसादि विषय के साथ औचित्य से युक्त योजना ही कवि का मुख्य कर्म है—

वाच्यानां वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ।। —ध्वन्या० ३/३२

यह है औचित्य का व्यवहार-पक्ष । इसके सिद्धान्त—पक्ष का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने इस प्रकार किया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। —ध्वन्या० ३/७-६

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है । प्रसिद्ध औचित्य से युक्त रचना करना ही रस योजना का परम रहस्य है ।

आनन्दवर्धन ने छः प्रकार के औचित्यों का उल्लेख किया है—रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य तथा रीत्यौचित्य ।

रसौचित्य

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य है ध्वनि तथा मुख्य रूप से रसध्वनि का विवेचन । अंगी रस का काव्य में निर्वाह किस प्रकार होना चाहिये, गौण अथवा अवान्तर अथवा अंग रस अंगी रसके विकास में किस प्रकार सहायक होते हैं, रसों का परस्पर विरोध कब होता है और उस विरोध का परिहार कैसे किया जा सकता है—इन सब प्रश्नों पर विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने औचित्य पर विशेष बल दिया है । उनके अनुसार काव्य में शब्द और अर्थ का नियोजन तथा सुप्, तिङ्, वचन, कारक, समास आदि का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होना चाहिये। सन्धि, सन्ध्यंग, संघटना आदि का प्रयोग रस के अनुरूप होना चाहिये । अंगी रस तथा अंग रस में परस्पर सम्बन्ध उचित अनुपात से होना चाहिये । विभावादि के समावेश में औचित्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

अलंकारौचित्य

अलंकार के उचित सन्निवेश के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का कथन है कि वह इतना स्वाभाविक होना चाहिये कि उसके लिए रसाकृष्ट कवि को पृथक् प्रयत्न न करना पड़े—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।।

इसके अतिरिक्त अलंकारों का प्रयोग भावों की पुष्टि हेतु होना चाहिये । वे काव्य में गौण रूप से होने चाहिये, मुख्य नहीं ।

गुणौचित्य

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रसों से है । रस धर्मी है तो गुण धर्म । गुणों की अभिव्यक्ति विशेष वर्णों द्वारा होती है । अतः गुणों को प्रकट करने के लिये ऐसे वर्ण प्रयुक्त होने चाहिये जो सर्वथा रसानुकूल हों । उदाहरण के लिये शृंगार रस की

अभिव्यञ्जना कोमल एवं सुकुमार वर्णों तथा सानुनासिक संयुक्त वर्णों के साथ की जाती है। इसी प्रकार रौद्र रस की अभिव्यक्ति परुष वर्णों द्वारा उपयुक्त मानी गई है।

संघटनौचित्य

संघटना से तात्पर्य पदों की सम्यक् घटना अथवा रचना है। इसका आधार गुण है तथा वह रसानुकूल होती है। इस प्रकार इसमें रस का औचित्य प्रमुख है किन्तु उसके साथ वक्ता तथा वाच्य के औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। वक्ता से तात्पर्य काव्य अथवा नाटक के पात्र से है तथा वाच्य से तात्पर्य प्रतिपाद्य विषय से है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमेहेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥ —ध्वन्या० ३/६

आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार की संघटना मानी है—

(१) असमासा (२) मध्यम—समासा तथा (३) दीर्घसमासा

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ —ध्वन्या० ३/५

प्रबन्धौचित्य

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि के प्रसंग में इसका विवेचन किया है। उन्होंने काव्य तथा नाटक के इतिवृत्तों में औचित्य का होना अत्यन्त आवश्यक माना है। कवि को चाहिये कि वह अपनी रचना में उन्हीं घटनाओं का समावेश करे जो औचित्यपूर्ण तथा रसाभिव्यक्ति करने में समर्थ हों।

रीत्यौचित्य

आनन्दवर्धन के अनुसार कवि को चाहिये कि वह रीति के प्रयोग में वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप का ध्यान रखे। रीति के साथ साथ आचार्य ने वृत्ति के औचित्य पर भी बल दिया है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने औचित्य को एक व्यापक काव्य के तत्त्व रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार औचित्य ही रस का अत्यन्त गूढ रहस्य है तथा अनौचित्य काव्य का सबसे बड़ा दोष है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर लोचन नाम की टीका लिखकर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में प्रतिपादित तथ्यों के मर्म को समझने के लिये अभिनवगुप्त की टीका सहायक है। अभिनवगुप्त के मत में अलंकारों का अलंकारत्व नहीं होता। इसी प्रकार काव्य में रसौचित्य तभी सम्भव है जब उसके अंगभूत विभावानुभव आदि का औचित्य हो—

"औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा
नाश्रयत् किञ्चिदस्तीति"।

क्षेमेन्द्र

आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के औचित्य—सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-शास्त्र में औचित्य का एक स्वतंत्र सम्प्रदाय स्थापित किया। उन्होंने औचित्य जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप देकर काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्राण मनुष्य के समस्त अंगों में व्याप्त हैं, उसी प्रकार औचित्य काव्य के सभी अंगों में व्याप्त है—

"काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्" (औ०वि०च०-१०)

औचित्य की महत्ता का प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ औचित्य विचार-चर्चा में विस्तार के साथ किया है।

काव्य में रस की सत्ता को स्वीकार करते हुये रसतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है। आनन्दस्वरूप रसास्वादो की अवस्था में रस का प्राणाधायक रूप औचित्य ही है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। —औ०वि०च० ३

पुनः उनके मत में उपमादि अलंकार आभूषणों की भांति सदा बाह्य शोभाधायक होते हैं। इसी प्रकार उदारता आदि आंतरिक गुणों की भाँति काव्य के माधुर्यादि गुण सर्वदा गुण ही रहते हैं किन्तु रस से सम्पृक्त काव्य की आत्मा स्थिर रूप से औचित्य ही है। औचित्य के बिना काव्य निर्जीव है, भले ही वह अलंकार और गुण से युक्त हो।

अलंकारस्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

अलंकार और गुण भी काव्य में उचित स्थान पर सन्निविष्ट होने पर सार्थकता को प्राप्त होते हैं—

उचित स्थानविन्यासादलंकृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।। —औ०वि०च० ६

उदाहरण के लिये यदि कोई स्त्री मेखला को कण्ठ में, हार को नितम्ब प्रदेश में, नुपूर को हाथ में तथा केसर को पैर में धारण करे और इसी प्रकार कोई व्यक्ति शरणागत के साथ वीरता तथा शत्रु के साथ करुणा का व्यवहार करे तो कैसा हास्यास्पद होगा—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेणं वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणौ केयूरपाशेन वा।

शौर्येण प्रणते रिपौ करुणाया नायान्ति के हास्यता—
मौचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।।

औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।। —औ०वि०च० ७

इसी की व्याख्या करते हुए वे कहते कि—

"यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भवमौचित्यं कथयन्ति।"

अर्थात् जो वस्तु निश्चय ही जिसके अनुरूप होती है उसको उचित कहते हैं और उचित का भाव औचित्य है।

औचित्य के भेद

औचित्य के अनन्त भेद हैं। काव्य-शरीर के प्राणभूत औचित्य का काव्य के प्रत्येक अंग तथा उपांग पर व्यापक प्रभाव है। क्षेमेन्द्र ने कतिपय उदाहरणों द्वारा इसकी प्रमुख रूप से स्थिति निम्नलिखित स्थानों पर मानी है—

(१) पद (२) वाक्य (३) प्रबन्धार्थ (४) गुण (५) अलंकार (६) रस (७) क्रिया (८) कारक (९) लिंग (१०) वचन (११) विशेषण (१२) उपसर्ग (१३) निपात (१४) काल (१५) देश (१६) कुल (१७) व्रत (१८) तत्त्व (१९) सत्त्व (२०) अभिप्राय (२१) स्वभाव (२२) सारसंग्रह (२३) प्रतिभा (२४) अवस्था (२५) विचार (२६) नाम (२७) आशीर्वाद

उपर्युक्त भेदों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) भाषा-शास्त्र तथा व्याकरण विषयक

जिसके अन्तर्गत (१) पद (२) वाक्य (३) क्रिया (४) कारक (५) लिंग (६) वचन (७) विशेषण (८) उपसर्ग (९) निपात तथा (१०) काल को लिया जा सकता है।

(ख) काव्यशास्त्र सम्बन्धी

जिसके अन्तर्गत—(१) प्रबन्धार्थ (२) गुण (३) अलंकार तथा (४) रस को ग्रहण किया जा सकता है।

(ग) लोकशास्त्र अथवा लोक व्यवहार

जिसके अन्तर्गत—(१) देश (२) कुल (३) व्रत (४) तत्व (५) सत्त्व (६) अभिप्राय (७) स्वभाव (८) सारसंग्रह (९) प्रतिभा (१०) अवस्था (११) विचार (१२) नाम तथा (१३) आशीर्वाद को हो सम्मिलित किया जा सकता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण से औचित्य की व्यापकता भलीभांति प्रतीत होती है। कतिपय उदाहरणों द्वारा इसकी विशद व्याख्या की जा सकती है।

पदगत औचित्य

पदगत औचित्य को प्रदर्शित करने ने लिये क्षेमेन्द्र के परिमल कवि के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है—

> मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्ग-धाराकुले,
> नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
> मुग्धा गुर्जर भूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः,
> कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ॥

अर्थात—हे नाथ ! युद्ध में आपकी कृपाण की धारा में शत्रु-समूह डूब गये हैं—बन्दियों द्वारा इस प्रकार बार-बार प्रयुक्त वाणी को सुनकर मुग्धा (भोली-भोली) गुर्जर नरेश की महारानी जल की प्रत्याशा से वन में चकित होकर पुनः-पुनः पति की तलवार पर दृष्टिपात करती है।

यहाँ पर "मुग्धा" पद द्वारा औचित्य का चमत्कार अभिव्यक्त होता है। रानी कितनी भोली है कि उसे यह भी ज्ञात नहीं कि जिस खड्ग की धारा में शत्रुसमुदाय डूबता है उससे व्यक्ति की प्यास नहीं बुझ सकती।

कारकौचित्य

करण कारक का औचित्य गौडकुम्भकार कवि के निम्नलिखि पद्य में देखा जा सकता है—

> लाङ्गूलेन गभस्तिमान्वलयितः प्रोतः शशी मौलिना,
> व्याधूता जलदाः सटाभिरुडवो दंष्ट्राभिरुत्तम्भिताः।
> प्रोत्तीर्णो जलधिदृशैव हरिणा स्वैराट्टहासोर्मिभि-
> लंकेशस्य च लङ्घितो दिशि-दिशि प्राज्यः प्रतापानलः॥

अर्थात्—(लंका जाते समय) हनुमान् ने अपनी पूंछ द्वारा सूर्य को लपेट लिया, सिर से चन्द्रमा को व्याप्त कर लिया, गर्दन के बालों द्वारा बादलों को कंपा दिया, दाढ़ों से तारों को ऊपर बिखेर दिया। मानों, उन्होंने दृष्टि से ही सागर को पार कर लिया हो। उनके अट्टहास की लहरों से चारों दिशाओं में व्याप्त रावण का प्रतापानल शान्त हो गया।

यहाँ पर करण कारक-बोधक पदों के द्वारा श्रीराम के विजय की ध्वजा के समान प्रतीत होने वाले हनुमान् के उत्साह का औचित्यातिशय अभिव्यक्त हो रहा है।

गुणौचित्य

इसके उदाहरण के लिये भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा की यह उक्ति प्रस्तुत है—

> महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक—
> प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः।
> रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
> कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥

अर्थात्—महाप्रलय की वायु से क्षुब्ध पुष्कर और आवर्तक नाम के मेघों के गर्जन की प्रतिध्वनि का अनुकरण करने वाला, सुनने में भयंकर अन्तरिक्ष रूपी कन्दरा को पूरित करने वाला यह अभूतपूर्व शब्द आज समरोदधि से कैसे उठ रहा है।

द्रोणाचार्य के वध के अनन्तर चारों ओर भागती हुई कौरव सेना के कोलाहल को सुनकर अश्वत्थामा के फड़कते हुए बलिष्ठ प्रताप के अनुकूल ओजोगुण से उन्नति को प्राप्त होता हुआ पराक्रम औचित्य-गौरव को धारण करता है।

रसौचित्य

रौद्र रस के लिये वेणीसंहार का निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

> **यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरूमदः पाण्डवीनां चमूनां,**
> **यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।**
> **यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः।**
> **क्रोधान्धस्तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥**

अर्थात्—पाण्डव सेना में अपनी भुजाओं पर गर्व करने वाला जो-जो शस्त्र धारण करने वाला है तथा पाञ्चाल गोत्र में जो-जो अधिक अवस्था वाला, युवा शिशु अथवा गर्भस्थ है अथवा जिसने भी (द्रोण-वधरूप) उस कर्म को देखा हो अथवा जो-जो मेरे विरुद्ध हो, मेरे युद्ध में आ जाने पर, क्रोध से अन्धीभूत मैं उन सबका, यहाँ तक कि जगत् के अन्त करने वाले यमराज का भी अन्त कर दूंगा।

यहाँ रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध पिता के वध से उत्पन्न अश्वत्थामा के क्रोध एवं वेदना से पीड़ित उनके मन की स्थिरता को सूचित कर रहा है।

व्रतौचित्य

इसके उदाहरण के रूप में क्षेमेन्द्र के मुक्तावली काव्य का निम्नलिखित श्लोक देखा जा सकता है—

> **अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणुभरभस्मभूषिताः।**
> **लोलभृङ्गवलयाक्षमालिकास्तापसा इव विभान्ति पादपाः॥**

अर्थात्—इस वन में पत्तों से युक्त, पुष्पपराग से भूषित, चंचल मृङ्गों से युक्त वृक्ष वल्कल धारण किये हुये, भस्म से शोभायमान तथा अक्षमाला ग्रहण किये हुये तपस्वी की भाँति शोभित हो रहे हैं।

यहाँ पर अचेतन वृक्षों में शान्त तपस्वियों की विमल चित्तवृत्ति का वर्णन किया गया है। वह औचित्य का प्रतिपादन करती है।

वृत्तौचित्य

यद्यपि क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचार-विमर्श में औचित्य के भेदों में इसकी गणना नहीं की है किन्तु अपने "सुवृत्ततिलकम्" नामक ग्रन्थ में इसका विस्तृत विवेचन किया है। उनका कहना है कि उचित स्थान पर प्रयुक्त निर्दोष तथा छन्द के गुणों से युक्त सुन्दर वृत्त

अत्यन्त शोभित होते हैं। छन्दों का यथास्थान विनियोग परमाश्यक है। उदाहरण के लिये महाकाव्य के आरम्भ में, कथा-विस्तार में तथा उपदेश के वृत्तान्त में अनुष्टप् छन्द का प्रयोग करना चाहिये। नायिका के रूप तथा वसन्तादि के वर्णन में उपजाति छन्द प्रयुक्त होना चाहिये। वीर तथा रौद्र रसों के संकर में वसन्ततिलका तथा सर्ग के अन्त में मालिनी छन्द अधिक शोभा देता है। वर्णित वस्तु के विचार-काल में शिखरिणी तथा औदार्य और रुचिर औचित्य के विचार में हरिणी छन्द का प्रयोग उचित है। चन्द्रोदयादि आलम्बन विभावों में रथोद्धता तथा षाड्गुण्य नीति के वर्णन में वंशस्थ छन्द श्रेष्ठ है। निन्दा, क्रोध और धिक्कार के वर्णन में पृथ्वी छन्द तथा वर्षा, प्रवास और व्यसन में मन्दाक्रान्ता का प्रयोग शोभा की वृद्धि करता है। राजाओं की शूरता के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित तथा पवनादि के वर्णन में स्रग्धरा का प्रयोग करना चाहिये।

छन्दों का औचित्ययुक्त प्रयोग महाकवियों के काव्यों में देखा जा सकता है। विद्याधर के काव्य में अनुष्टुप् छन्द तथा पाणिनि का उपजाति छन्द उत्तम है। वंशस्थ के प्रयोग में भारवि कुशल हैं। इस प्रकार भवभूति शिखरिणी के प्रयोग द्वारा, कालिदास मन्दाक्रान्ता तथा राजशेखर शार्दूलविक्रीडित द्वारा प्रसिद्ध हुये।

अनौचित्य

औचित्य की विभिन्न स्थितियों के वर्णन के साथ ही साथ क्षेमेन्द्र ने अनौचित्य के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। रसगत अनौचित्य के प्रसङ्ग में उन्होंने महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है—

> **वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।**
> **प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥**

अर्थात्—रंगरूप में आकर्षक होते हुये भी कर्णिकार का फूल गन्धशून्य होने के कारण चित्त को खेद प्रदान करता है। गुणों के संयोजन में परिपूर्णता की दृष्टि से सृष्टिकर्ता की प्रवृत्ति प्रायः प्रतिकूल रहती है।

यहाँ पर केवल कर्णिकार पुष्प का वर्णन है और इस सम्बन्ध में विधाता को दोष दिया गया है। उद्दीपन विभाव के उचित कुछ भी न कहे जाने के कारण प्रस्तुत प्रसंग का शृंगार रस में कोई उपयोग प्रदर्शित नहीं किया गया है। अतः इसमें रसगत औचित्य का अभाव है।

पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में औचित्य

प्राचीन यूरोपीय आलोचकों—मुख्यतः यूनानी तथा रोमन विद्वानों ने काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है, किन्तु उनके तथा भारतीय समीक्षकों के सिद्धान्तों में अन्तर यह हैं कि जहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने औचित्य को काव्य के वाह्य सौन्दर्य का साधन माना है वहाँ भारतीय काव्यशास्त्रियों ने उसे अन्तरंग तत्त्व के रूप में स्वीकार दिया है।

पाश्चात्य आलोचना में अरस्तू का प्रमुख स्थान है। उन्होंने अपने काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों "पोइटिक्स" तथा "रेटारिक" में औचित्य की विशद व्याख्या की है। पहले में काव्य-कला का विवेचन है तथा दूसरे में भाषण कला का प्रतिपादन है। "पोइटिक्स" में औचित्य के चार भेदों का वर्णन है—घटनौचित्य, रूपकौचित्य, विशेषणौचित्य तथा विषयौचित्य। अरस्तू के अनुसार नाटक में प्रदर्शित घटनायें उचित होनी चाहिये अर्थात वे वस्तु जगत् से सम्बद्ध होनी चाहिये। यही घटनौचित्य है। रूपकौचित्य द्वारा गद्य को प्रभावशाली बनाया जाता है। औचित्य से भूषित रूपक गद्य की शोभा की वृद्धि करता है। प्रकरण के अर्थ की उपयुक्त विशेषण द्वारा पुष्टि विशेषणौचित्य कहलाता है। भावोचित भाषा का प्रयोग विषयौचित्य कहलाता है।

"रेटारिक" में अरस्तू ने मुख्य रूप से भाषौचित्य का विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में भाषा द्वारा भावों की अभिव्यंजना होनी चाहिये। इस प्रकार अरस्तू ने पाँच प्रकार के औचित्य का उल्लेख किया है।

निष्कर्ष

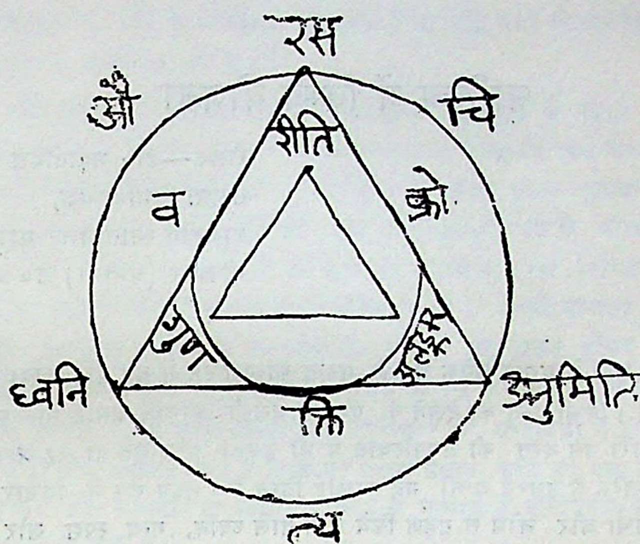
भारतीय साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की समीक्षा दो दृष्टिकोणों से की है—रूप तथा भाव। अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि की दृष्टि रखने वाले विचारकों ने उसके रूप की समीक्षा की है तथा रस, ध्वनि आदि को महत्त्व देने वाले मनीषी काव्य के भाव पक्ष का विवेचन करते हैं। क्षेमेन्द्र ने काव्य के दोनों पक्षों को औचित्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। उनका मत है कि गुण, अलंकार, रस आदि के रहने पर भी औचित्य के बिना काव्यत्व नहीं रहता। उन्होंने रसादि के महत्त्व का परित्याग नहीं किया है वरन उनके साथ औचित्य का समावेश किया है। जो तत्त्व काव्य के मूल माने जाते हैं उनके मूल में भी औचित्य है।

क्षेमेन्द्र की दृष्टि अत्यन्त व्यावहारिक है। उन्होंने काव्य और जीवन को परस्पर अत्यन्त निकट लाने का प्रयास किया है। विद्वानों की आदर्शोन्मुखी दृष्टि को क्षेमेन्द्र ने व्यावहारिक मोड़ दिया है।

गुण और दोष के विवेचन में भी औचित्य का अपना महत्त्व है। क्षेमेन्द्र के विचार में औचित्य से पूर्ण होना ही गुण है और जो अनुचित है, वह दोष की कोटि में आता है।

क्षेमेन्द्र ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के औचित्य-विषयक विचार को नगण्य कर दिया है। पाश्चात्य विद्वानों का औचित्य-सिद्धांत बहिरंग साधनों में ही सीमित होकर रह गया है किन्तु भारतीय विचारकों, मुख्य रूप से क्षेमेन्द्र के साहित्य समीक्षण में, औचित्य काव्य का अन्तरंग तत्त्व है, उसका प्राण है।

महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री ने अपने समीक्षा ग्रन्थ "Highways and By-ways of Literary Criticism in Sanskrit" में यह प्रदर्शित किया है कि साहित्य-शास्त्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त औचित्य पर ही आश्रित है। इस तथ्य को उन्होंने एक वृत्तचित्र द्वारा स्पष्ट किया है—



औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।

गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

ध्वनि, रस तथा अनुमिति सभी औचित्य का अनुसरण करते हैं। गुण, अलंकार और रीति—ये वक्रोक्ति का मार्ग अपनाते हैं। रूप सम्पत्ति होने के कारण वक्रोक्ति का अन्तर्भाव औचित्य में हो जाता है।

चित्र में बड़े वृत्त की परिधि औचित्य है, जो एक व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में है और काव्य के प्राणभूत अथवा अन्तरंग तत्त्व की ओर संकेत करता है। वृत्त के अन्दर बड़ा त्रिकोण है। उसके शीर्ष स्थान में रस स्थित है। तथा नीचे के दो कोणों में ध्वनि और अनुमिति की स्थिति है। शीर्षस्थान में होने के कारण रस की स्थिति यह सूचित करती है कि साहित्य-शास्त्र में रसतत्त्व सभी सम्प्रदायों में मान्य है। उसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से मानी गयी है ध्वनि के द्वारा तथा अनुमिति के द्वारा। अनुमिति के द्वारा महिमभट्ट के सिद्धान्त की ओर संकेत है, जो रस की अभिव्यक्ति अनुमान के द्वारा मानते हैं। अन्दर के वृत्त की परिधि "वक्रोक्ति" है। वृत्त के अन्दर के त्रिकोण के शीर्ष स्थान में रीति है तथा नीचे के कोणों में गुण और अलकार हैं। रीति, गुण और अलंकार काव्य के बाह्य साधन हैं तथा वक्रोक्ति पर निर्भर हैं जो औचित्य में ही समाविष्ट है। इस प्रकार भारतीय साहित्य-शास्त्र में औचित्य का व्यापक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य के इस व्यापक सिद्धान्त का महत्त्व आगे चलकर धीरे-धीरे कम होता गया। परवर्ती मनीषियों पर रस के सिद्धान्त का इतना अधिक प्रभाव था कि वे रस के अतिरिक्त किसी तत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। फलतः क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त केवल गुणों एवं दोषों तक ही सीमित रह गया। रसादि से उसके संबन्ध की चर्चा प्रायः समाप्त हो गई।

साहित्य में बिम्ब योजना

लेखक—डा० भवानीदत्त काण्डपाल
संस्कृत विभागाध्यक्ष,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
गोपेश्वर (चमोली) उ० प्र०

बिम्ब शब्द के यद्यपि अनेक अर्थ हैं परन्तु काव्यशास्त्र में वह प्रतिच्छाया के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी वस्तु को देखने के पश्चात उसकी आकृति हमारे मस्तिष्क में बैठ जाती है। दुबारा उस वस्तु की अनुपस्थिति में भी उसका नाम लेते ही वह आकृति उभर आती है। मस्तिष्क में उभरने वाली यह परछाईं बिम्ब है। सूक्ष्म रूप से विचार करें तो कान, नाक, त्वचा और जीभ से ग्रहण किये जाने वाले ध्वनि, गन्ध, स्पर्श और स्वाद भी सम्बद्ध ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अपनी छाप अन्तःकरण में छोड़ते हैं। इसी कारण हम विभिन्न उपादानों की मृदु-कर्कशादि ध्वनियों, रुचिर-अरुचिरादि गन्धों, उष्ण-शीतलादि स्पर्शों और मधुर-अम्लादि स्वादों को पहचानने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार बिम्ब के अन्तर्गत कान आदि अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय भी ग्रहण किये जाते हैं। अतः ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अन्तःकरण पर पड़ने वाली कोई भी छाप बिम्ब है।

बिम्ब और काव्य-बिम्ब में वही अन्तर है जो एक ऐतिहासिक विवरण और काव्य-चित्रण में है। जिस प्रकार एक मूर्तिकार किसी बेडौल ढांचे को छैनी-हथोड़ी की सहायता से काट-छांटकर सुन्दर आकार प्रदान करता है। उसमें रंगलेपों और भंगिमाओं की सहायता से स्मित, हास, विस्मय आदि भाव अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य ला देता है उसी प्रकार साहित्यकार भी अपने मानस-बिम्बों को शाब्दिक काटछांट करके एवं गुणालंकारों से सजाकर अभीष्ट भावाभिव्यक्ति के योग्य बना देता है। इसी शब्दमूर्ति को काव्यशास्त्र में 'काव्य-बिम्ब (Poetic Image) कहा जाता है। शब्दार्थ इस काव्य-बिम्ब के शरीर की रचना करते हैं। आलंकारिक इसमें लावण्य-प्रसार करते हैं। भाव-तत्त्व इसमें प्राण-सचार करता है तथा रसाभिव्यक्ति करना इसका चरम लक्ष्य होता है।

बिम्ब तत्त्व के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इस विषय में विद्वानों के मतमतान्तरों को प्रस्तुत करना आवश्यक है। मानक हिन्दी कोश में किसी आकृति की पारदर्शक पदार्थ में पड़ने वाली झलक अथवा लक्षण या व्यंजना शक्ति से निकलने वाले अर्थ को बिम्ब कहा गया है।[१] भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' शब्द पश्चिम के इमेज (Image) या इमेजरी (Imagery) शब्दों के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्साइक्लोपीडिया

१. रामचन्द्र वर्मा—मानक हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० १९६५, चौथा खण्ड, पृ० १२६।

ब्रिटेनिका' में इमेज अर्थात् बिम्ब उस चेतन स्मृति को कहा गया है जो मूल वस्तु की अनुपस्थिति में उसका सम्पूर्ण अथवा आंशिक दृश्य उपस्थित करती है।[1] प्रसिद्ध बिम्बवादी समीक्षक एजरा पाउण्ड ने कहा है—"बिम्ब वह तत्त्व है जो बुद्धि तथा भावना विषयक उलझनों को क्षणमात्र में अभिव्यक्त कर दे।"[2]

भारतीय समीक्षकों से सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में बिम्ब तत्त्व की चर्चा की। उनका कहना है कि काव्य का काम कल्पना में बिम्ब उपस्थित करना है, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं।[3] डॉ० नगेन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्य-बिम्ब में बिम्ब सृष्टि के हेतु के रूप में सक्रिय कल्पना को तथा उसके प्रस्तुतीकरण के माध्यम के रूप में शब्दार्थ को महत्त्व दिया है। वे कल्पना की सहायता से शब्दार्थ द्वारा निर्मित ऐसे मानस चित्र को बिम्ब कहते हैं जिसमें भाव तत्त्व का सम्मिश्रण हो।[4] उनकी मान्यता है कि काव्य सर्जना के क्षणों में अनुभूति के नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ़ होकर जब शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने का उपक्रम करते हैं तो इस सक्रियता के फलस्वरूप अनेक मानस छवियाँ आकार धारण करने लगती हैं। आलोचना की शब्दावली में इन्हें ही काव्य-बिम्ब कहते हैं।[5] डॉ० भगीरथ मिश्र ने बिम्ब का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वस्तु, भाव या विचार को कल्पना या मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही 'बिम्ब-विधान' है।[6]

विभिन्न विचारकों के मन्तव्यों का विश्लेषण करने के पश्चात् काव्य-बिम्ब की एक सर्वांगीण परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—

'इन्द्रियग्राह्य एवं भाववेष्टित शब्दचित्र काव्य बिम्ब है।'

इस लक्षण में काव्य-बिम्ब के तीन विशेषण हैं—इन्द्रियग्राह्य, भाववेष्टित तथा शब्दचित्र।

बिम्ब की पहली विशेषता इन्द्रियग्राह्यता है। प्रत्येक बिम्ब किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय होता है। साथ ही उसमें दृश्यात्मकता भी सन्निहित रहती है। उदाहरणार्थ

---

1. Encyclopaedia Britannica, Londoned, 1880, ed Vol XII p. 103।
2. An Image is that which presents an intellectual and emotional complex in an instant of time.
   —T.S. Eliot—Literary Essays of Ezra Pound
   Faber and Faber Ltd. London, ed 1954 p.-4
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, भाग १, इण्डियन प्रेस प्रयाग, सं० १९७९, पृ० १८४।
४. डॉ० नगेन्द्र—काव्य-बिम्ब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७, सं० १९६७, पृ० ५।
५. वही, पृ० ५१।
६. डॉ० भगीरथ मिश्र—काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, सं० १९७५, पृ० २४४।

कर्णेन्द्रिय ग्राह्य 'दहाड़' शब्द के श्रवण के समय दहाड़ते व्याघ्र की मुखमुद्रा भी सामने उभर आती है, स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य दाहकता का वर्णन पढ़ते समय आग की लपटों का दृश्य भी सामने आ जाता है। इसी प्रकार गुलाब की गन्ध या करेले की तिक्तता इन उपादानों के दृश्य के साथ प्रकट होती है।

प्रत्येक भाषा में हजारों ऐसे शब्द भी होते हैं जो ज्ञानेन्द्रियों के विषय न होकर केवल प्रज्ञा के विषय होते हैं। जैसे 'अपयश' शब्द के अर्थ में न चीत्कार आदि के समान ध्वनि तत्त्व है; न शीतल-उष्ण आदि के समान स्पर्श तत्त्व है; न घट-पट आदि के समान रूप तत्त्व है; न मधुर-अम्ल आदि के समान रस तत्त्व है; न केतकी गन्ध, मत्स्य गन्ध आदि के समान गन्ध तत्त्व ही है। अत: 'अपयश' के प्रकाशन में कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा या घ्राण में कोई भी इन्द्रिय समर्थ नहीं है। इसलिए अपयश शब्द मस्तिष्क में केवल एक विचार उत्पन्न कर सकता है इन्द्रियानुभव नहीं। फलस्वरूप इसका कोई बिम्ब भी नहीं बनता। यदि रचनाकार अपयश का बिम्ब रचना चाहता है तो उसके लिए उसे कोई इन्द्रियग्राह्य उपमान, प्रतीक आदि प्रस्तुत करना पड़ता है। जैसे 'अपयश का कीचड़।' इस प्रकार प्रत्येक बिम्ब के लिए इन्द्रियग्राह्यता आवश्यक है।

इस इन्द्रियग्राह्यता के कारण ही बिम्ब सहजाभिव्यंजक बनता है जो कि बिम्ब की अनिवार्य शर्त है। ज्ञान की दो अवस्थाएँ होती हैं—सहज ज्ञान और तार्किक ज्ञान। सहज ज्ञान का विषय विशेष होता है और तार्किकज्ञान का विषय सामान्य। सहज ज्ञान की ग्राहिका ज्ञानेन्द्रियाँ होती है; तार्किक ज्ञान की ग्राहिकाप्रज्ञा। सहज ज्ञान का स्वरूप बिम्बात्मक होता है तार्किक ज्ञान का स्वरूप विचारात्मक। ललित कलाओं के लिए सहज ज्ञान की आवश्यकता होती है; विज्ञान और दर्शन के लिए तार्किक ज्ञान की। किन्तु वैज्ञानिक और दार्शनिक भी अनेक प्रयोगों और उदाहरणों की सहायता से अपनी अभिव्यक्ति में सहजाभिव्यंजकता लाने का प्रयत्न करते हैं। साहित्यकार को भी अपनी अनुभूतियाँ सहज रूप से सामाजिक तक पहुँचाने के लिए बिम्बों की रचना करनी पड़ती है। उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया बिम्ब ज्यों ही सहृदय के मानस पटल पर उतर आता है, त्यों ही उसकी सभी व्यंजनाएँ बिना किसी बौद्धिक आयास के हृदयंगम हो जाती हैं।

लक्षण में 'भाववेष्टित" शब्द का प्रयोग सामान्य शब्दचित्रों से काव्य-बिम्ब का अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया गया है। साधारण बिम्ब तभी काव्य-बिम्ब बन सकता है जबकि उसमें भाव तत्त्व का समावेश हो। दर्शन शास्त्र के घट-पट, सर्प-रज्जु आदि उदाहरणों का भी एक बिम्ब होता है, परन्तु भावोद्दीप्ति के अभाव में वह रसानुभूति कराने की सामर्थ्य नहीं रखता। अतः हम उसे काव्य-बिम्ब नहीं कह सकते। दूसरी ओर चीत्कार शब्द में एक ऐसी ध्वनि निहित है जिससे भयभीत प्राणी की वेदना अभिव्यक्त हो रही है। अतः यह काव्य-बिम्ब है।

उक्त लक्षण का अन्तिम विशेषण है—'शब्द-चित्र'। जिसका तात्पर्य है शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त चित्र। इन दो पदों से काव्य-बिम्ब की दो विशेषताएँ अभिव्यक्त हो

रही हैं। एक—'काव्य-बिम्ब' का माध्यम शब्द है। दूसरी—'काव्य-बिम्ब' का स्वरूप चित्रात्मक अर्थात् मूर्त्त है। मूर्तिकला आदि में भी इन्द्रियग्राह्यता विस्मयादि भावाभिव्यंजन क्षमता और मूर्त्तता होती है किन्तु उसका माध्यम शब्द न होने से उसे काव्य बिम्ब नहीं कहा जा सकता। मूर्त्तता भी काव्य-बिम्ब की अनिवार्य शर्त है। बिम्ब का विषय चाहे मूर्त्त हो अथवा अमूर्त्त; कोई वस्तु हो, भाव हो अथवा धारणा होने पर भी उसका चक्षुग्राह्य दीप की सहायता से मूर्त्तीकरण किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में स्थायीभाव, रस आदि के वाचक शब्दों के स्थान पर विभाव, अनुभाव आदि के वाचक शब्दों के स्थान पर विभाव, अनुभाव आदि के प्रस्तुतीकरण का निर्देश भी इसीलिए दिया गया है कि रसादि शब्द स्वयं अमूर्त्त वाचक होने से उनका नाम कथन कोई बिम्ब उपस्थित नहीं कर सकता; परन्तु विभावादि मूर्त्त होने से उनका प्रयोग शीघ्र बिम्ब प्रस्तुत करने में समर्थ है।

बिम्ब के भेद

अनेक पाश्चात्य और पौरस्त्य समीक्षकों ने बिम्बों का वर्गीकरण किया है, जिनमें सेसिल डे लेविस, ऑस्टिनवारेन, हैनरी वेल्स, रॉबिन स्केल्टन, डॉ० रामयतनसिंह 'भ्रमर', डॉ० कुमार विमल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सुरेन्द्र माथुर, डॉ० उदयशंकर श्रीवास्तव, डॉ० सुशीला शर्मा, डॉ० रमाशंकर तिवारी, डॉ० उमा अष्टवंश, डॉ० एन० पी० कुट्टन पिल्लै, डॉ० भगीरथ मिश्र आदि विद्वानों के नाम प्रमुख हैं। इन समीक्षकों ने अलग-अलग आधारों पर बिम्ब के इतने अधिक भेदोपभेद कर दिये हैं कि बिम्ब-भेद एक दुरूह विषय बन गया है। इन विचारकों द्वारा किये गये विश्लेषण के आधार पर एक तर्कसंगत वर्गीकरण किया जा सकता है।

बिम्बों का वर्गीकरण करने के लिए प्राकृतिक और वैकृतिक दो मूल आधार स्वीकार किये जाने चाहिए। प्राकृतिक भेद बिम्ब ग्राहक करणों पर आधारित हैं। बिम्ब तत्त्व को ध्यान में रखकर यदि शब्दों का विश्लेषण किया जाय तो सात प्रकार के शब्द दृष्टिगोचर होते हैं—

१. वे शब्द जो नेत्र के सामने किसी वस्तु का रूप उपस्थित करते हैं। जैसे—अश्व, वृषभ, गुलाब आदि।

२. वे शब्द जो कान के सम्मुख किसी ध्वनि की पूर्वानुभूति उद्दीप्त करते हैं। जैसे—दहाड़, गुन्जार, कल-कल आदि।

३. वे शब्द जो त्वग्ग्राह्य स्पर्श संवेदना को जागारित कर देते हैं। जैसे—शीतल, उष्ण, दाहक आदि।

४. वे शब्द जो गन्धानुभूति उद्दीप्त करते हैं। जैसे कमलगन्ध, मत्स्यगन्ध, सौंधीगन्ध आदि।

५. वे शब्द जो स्वाद विषयक अनुभव को ताजा करते हैं—जैसे मीठी रसमाधुरी चर्परी मिर्च, कडुवा करेला आदि।

६. वे शब्द जिनकी अनुभूति का परिचय कोई बाह्यकरण तो नहीं दे सकता परंतु उनका उच्चारण करते समय मानसिक पूर्वानुभव उद्दीप्त हो आते हैं। जैसे—लज्जा, चिन्ता, घृणा आदि।

७. वे शब्द जिनके उच्चारण से न तो कोई इन्द्रियानुभूति उद्दीप्त होती है और न कोई मानसिक अनुभूति। केवल बौद्धिक धारणा अभिव्यक्त होती है। जैसे यश, अपयश, न्याय, अन्याय आदि।

इन्हीं संवेदनों के प्राधान्य के आधार पर वाक्यादि भी सात प्रकार के हो जाते हैं। अतः बिम्ब भी प्राकृतिक आधार पर सात प्रकार के होते हैं—

१. दृश्य बिम्ब—कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन।
—(शाकुन्तलम् ३।१२)

२. ध्वनि बिम्ब—मनोहरं क्रौञ्चनिनादितानि।
(ऋतुसंहार ४।८)

३. स्पर्श बिम्ब—आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिम्)।
(रघुवंश १६।४४)

४. गन्ध बिम्ब—स्फुटितकमलामोद-मैत्री-कषायः।
(मेघदूत १।३३)

५. आस्वाद बिम्ब—पिवन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्।
(ऋतुसंहार ५।१०)

६. भाव बिम्ब—विदीर्णं हृदयः शुचा।
(रघुवंश १२।७७)

७. प्रज्ञा बिम्ब—पिबन्यशो मूर्त्तमिवावभासे।
(रघुवंश ७।६३)

इन सात प्राकृतिक भेदों में अभिव्यंजित विशिष्ट काव्यभङ्गिमाओं को ध्यान में रखते हुए वैकृतिक आधार पर निम्नलिखित उपभेद किये जा सकते हैं—

१. प्रबन्धात्मकता और पृथक्ता के आधार पर उक्त सातों बिम्बों के दो-दो भेद हो जाते हैं—संश्लिष्ट बिम्ब और एकल बिम्ब। जब एक ही बिम्ब अनेक श्लोकों तक अथवा सम्पूर्ण प्रबन्ध तक विस्तृत हो तो उसे संश्लिष्ट बिम्ब कहते हैं जैसे—कुमारसंभव में शिव-समाधि का वर्णन करते समय कवि ने देवदारुद्रुम के नीचे बनी वेदी, वेदी पर बिछा बाघम्बर, बाघम्बर पर वीरासन लगाते हुए योगिराज शंकर; सीधा खड़ा धड़, झुके कन्धे, गोद में ऊपर को हथेली किए हुए दोनों हाथ, सर्पों से बंधा जटाजूट, कान पर लटकती हुई रुद्राक्ष की दोहरी माला, कमर में गाँठ लगाकर कसी हुई मृगछाला स्थिर की हुई आँखों की पुतलियाँ, नीचे की ओर तेज उगलने वाले अपलक

नेत्र, नासाग्र पर टिकी अटल दृष्टि, उमड़-घुमड़ रहित वर्षाकालीन मेघ जैसे, लहरों की हलचल से रहित सरोवर जैसे, निश्चल खड़ी लौ वाले दीप जैसे समाधिमग्न शिव का एक अद्‌भुत संश्लिष्ट चाक्षुष बिम्ब पाठकों के सामने ला दिया है।[८]

जहाँ प्रत्येक श्लोक का अपना स्वतन्त्र बिम्ब हो अर्थात् एक ही श्लोक सम्पूर्ण बिम्ब प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हो वहाँ एकल बिम्ब होता है। जैसे—

तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणी-भारादलसगमना स्तोक-नम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ (मेघदूत २।२२)

यहाँ छरहरी देह, नुकीले दाँत, लाल-लाल होंठ, पतली कमर, चंचल चितवन, गहरी नाभि, भारी जघन, स्थूल उरोज आदि विवरण एक रमणीय नायिका का समग्र दृश्य प्रस्तुत कर सकने में पूर्ण समर्थ है। अतः यहाँ एकल चाक्षुष बिम्ब है।

२. सभी वस्तुओं को स्थिर अथवा गतिशील दो अवस्थाओं में चित्रित किया जा सकता है। अतः कवि वर्णित विषयों की स्थिरता और गतिशीलता के आधार पर पूर्वोक्त बिम्ब भेदों की संख्या पुनः दुगुनी होकर अट्ठाइस हो जाती है। उदाहरणार्थ—

यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कं बिम्बं स्थितः। —(शाकुन्तलम् ७।११)

यहाँ समाधिस्थ मुनि का स्थिर बिम्ब प्रस्तुत किया गया है जो एकल चाक्षुष बिम्ब भी है।

धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः।— (शाकुन्तलम् १।३१)

यहाँ तपोवन में प्रवेश कर रहे हाथी का गत्यात्मक एकल चाक्षुष बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

३. उक्त प्रत्येक बिम्ब प्रस्तुतताश्रित होने पर लक्षित बिम्ब एवं अप्रस्तुताश्रित होने पर उपलक्षित बिम्ब कहा जाता है। जैसे—

बन्धे स्त्रंसिनि चैकहस्तयमिताः
पर्याकुला मूर्धजाः।—(शाकुन्तलम् १।२८)

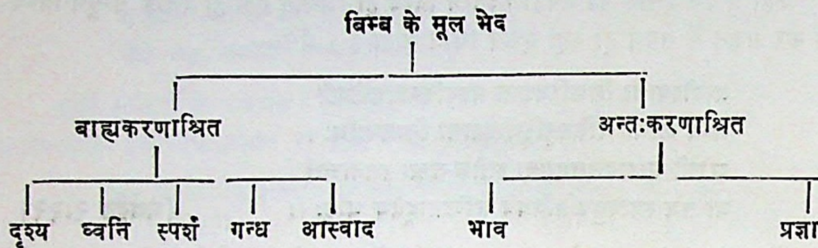
यहाँ एक हाथ से उलझाये हुए बालों का बिखरना प्रस्तुताश्रित होने से एकल लक्षित चाक्षुष बिम्ब है।

जनाकीर्णं मन्ये हुतवह-परीतं गृहमिव। —(शाकुन्तलम् ५।१०)

---

८. कालिदास—कुमारसम्भव ३।४४—४८।

यहाँ राजदरबार की भीड़-भाड़ को दर्शाने के लिए अग्नि परिव्याप्त गृहरूप अप्रस्तुत को ग्रहण किया गया है अतः एकल उपलक्षित चाक्षुष बिम्ब है। इन छप्पन भेदों को बिम्ब विषयक अन्य भंगिमाओं के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है परन्तु विस्तार भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।



इन सात मूल भेदों में प्रत्येक के संश्लिष्ट, एकल, स्थिर, गत्यात्मक, लक्षित तथा उपलक्षित उपभेद हो जाते हैं।

बिम्ब का काव्य तत्त्व के रूप में मूल्यांकन

'बिम्ब' काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य में बिम्ब रचना को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। अमरीका के प्रसिद्ध समालोचक एजरा पाउण्ड बिम्ब सृष्टि को काव्य का प्रधान लक्ष्य स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जीवन में एकमात्र बिम्ब का निर्माण कई मोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना से अधिक श्रेयस्कर है।[९] सेसिल डे लविस बिम्ब को कविता का सार्वभौम तत्त्व मानते हुए कहते हैं कि प्रत्येक कविता अपने आप में एक बिम्ब होती है।[१०] भारतीय समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य है कि बिम्ब भावों को रस कोटि तक पहुँचने का साधन है।[११] डॉ० नगेन्द्र ने कविता में बिम्ब का अप्रतिम महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उसे साधनभूत तत्त्व ही माना है।[१२]

वास्तव में बिम्ब सृष्टि रसाभिव्यक्ति का साधन है। बिम्ब सृष्टि को कविकर्म की समाप्ति कहा जा सकता है। जिस प्रकार तपस्वी का काम तपस्या करना है और लक्ष्य

---

9. It is better to present one Image in a life time than to producc voluminous work.
   T.S. Eliot—Literary Essays of Ezra Pound, London-1, ed (1954, Page. 4
10. Every poem is itself an image.
   C. Day. Lewis—The Poetic Image, London, ed 1968 P. 17
११. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-चिन्तामणि, पहला भाग, इण्डियन प्रेस प्रयाग, सं० १९७१, पृ० १९५
१२. डॉ० नगेन्द्र-काव्य-बिम्ब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, सं० १९६७, पृ० ६२

मोक्ष प्राप्त करना है उसी प्रकार कवि का कर्म भी बिम्ब सृष्टि करना है तथा लक्ष्य रसानुभूति कराना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बिम्ब सृष्टि करते समय कवि अनेक उपकरणों की सहायता लेता है जिनमें साभिप्राय शब्दावली, लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक योजना, अलंकार रचना आदि प्रमुख हैं। इस इस प्रकार काव्य के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सामाजिक को तीन सोपान पार करने पड़ते हैं—

१. उपकरण बोध।
२. बिम्बावलोकन।
३. रसानुभूति।

तृतीय सोपान तक पहुँचने के लिए क्रमशः प्रथम और द्वितीय सीढ़ी पार करना अनिवार्य होगा। यदि किसी सामाजिक को अलंकारादि सहायक उपकरणों का ज्ञान न हो तो वह कवि सृष्टि बिम्ब को ग्रहण नहीं कर सकता है और यदि बिम्ब ही उलझन में पड़ जाये तो रसानुभूति भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार अलंकारादि बिम्ब के साधन और साध्य है।

बिम्बवादी समीक्षक बिम्ब को केन्द्रबिन्दु मानकर काव्य-समीक्षा करने के पक्षपाती है परन्तु काव्य की सर्वोत्कृष्टता की कसौटी केवल बिम्ब रचना कदापि नहीं हा सकती। चाहे बिम्बवादी समीक्षा प्रणाली हो अथवा रसवादी, काव्य की उत्कृष्टता का मापदण्ड भावों की गहनता ही है। उदाहरणार्थ—

आसीद् वरः कण्टकित-प्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन॥
तयोरपाङ्ग-प्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिर्वर्त्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥

—रघुवंश ७/२२-२३

यहाँ बिम्बवादी समीक्षकों के अनुसार स्वयंवर प्रसंग में वधू इन्दुमती का अंगूठा पकड़ने से अज की भुजा का रोमाञ्चित हो उठना, इन्दुमती की अंगुलियों में स्वेद का दिखाई देना, दोनों का आँख के कोनों से एक दूसरे को देखना, फिर अपनी दृष्टि लौटा लेना आदि मूर्त्त तत्त्व है। इस मूर्त्त तत्त्व में भाव तत्त्व का गहन समञ्जन किया गया है। परस्पर स्पर्श से रति भाव की अभिव्यक्ति, एक दूसरे को देखने और आंखें लौटा लेने से रति और लज्जा का संघर्ष आदि भाव सम्मिश्रण बिम्ब में काव्यत्व ला रहा है। यहाँ वर्ण्य विषय की चारुता के कारण लक्षितबिम्ब, रंग-रेखाओं की संश्लिष्टता के कारण संश्लिष्ट बिम्ब, भावों की संचरणशीलता के कारण गत्यात्मक बिम्ब तथा रूप की प्रधानता के कारण दृश्य बिम्बों है। इस मूर्त्त तत्त्व एवं भाव तत्त्व की विवेचना रसवादी आचार्य परम्परा इस प्रकार करती है—

यहाँ अज के लिए नायिका इन्दुमती एवं इन्दुमती के लिए नायक अज आलम्बन विभाव हैं। सामाजिक के लिए अज एवं इन्दुमती दोनों आलम्बन विभाव हैं। दोनों की गुण गरिष्ठता, विवाहकृत्य, परस्पर स्पर्श आदि उद्दीपन विभाव हैं, अज गत रोमाञ्च एवं इन्दु

मती गत स्वेद सात्त्विक भाव हैं। दोनों का एक-दूसरे को देखना एवं दृष्टि लौटा देना क्रमश: औत्सुक्य एवं व्रीडा नामक संचारी भावों के अनुभाव हैं। इस प्रकार यह ध्वनिकाव्य का रस-ध्वनि नामक भेद है।

यहाँ दोनों प्रकार की समीक्षा प्रणालियों में इन छन्दों की काव्यात्मक उत्कृष्टता का कारण भागवत चारुता को ही स्वीकार किया गया है। बिम्ब की दृष्टि से विचार करने पर मूर्त्त तत्त्व के औचित्य एवं भाव तत्त्व की गहनता स्तर भेद से ही क्रमश: रसवादी समीक्षा प्रणाली में परिवर्णित रस, भास, रसाभास, भावाभास आदि की सृष्टि होती है। इसका समीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

उचित मूर्त्त तत्त्व + गहन भाव तत्त्व = रस
उचित मूर्त्त तत्त्व + विरल भाव तत्त्व = भाव
अनुचित मूर्त्त तत्त्व + गहन भाव तत्त्व = रसाभास
अनुचित मूर्त्त तत्त्व + विरल भाव तत्त्व = भावाभास

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बिम्ब रसाभिव्यक्ति का एक अपरिहार्य साधन होने से बिम्ब विषयक सम्पूर्ण समीक्षा अप्रत्यक्ष रूप से रसाभिव्यञ्जना की ही विस्तृत व्याख्या है।

—०—

साहित्य में प्रतीक-विधान

लेखक—डॉ जितेन्द्र नाथ मिश्र
लेक्चरर, हिन्दी विभाग
दयानन्द महाविद्यालय, वाराणसी

'प्रतीक' शब्द प्रायः अंग्रेज़ी 'सिम्बल' (SYMBOL) का पर्यायवाची माना जाता है किन्तु संस्कृत 'प्रतीक' अंग्रेजी 'सिम्बल' की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है। अंग्रेंजी 'सिम्बल' एक दूसरे अंग्रेजी शब्द 'साइन' (SIGN) से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और इसका प्रमुख प्रयोजन संकेत करना माना जाता है। 'सिम्बल' किसी अप्रस्तुत वस्तु का संकेतक है। सम्बन्ध, साहचर्य, परम्परा अथवा आकस्मिक समानता के कारण कोई पदार्थ किसी दूसरे अप्रस्तुत पदार्थ का संकेत करने में समर्थ हो तो वह उस दूसरे पदार्थ का प्रतीक कहा जाएगा। इसी लिए ब्रिल जैसे विचारक 'किसी अन्य वस्तु को व्यक्त करने वाला संकेत' कहकर प्रतीक को परिभाषित करते हैं।

संस्कृत में प्रतीक केवल संकेतक नहीं है अपितु वह अंग, अवयव, प्रतिमा, प्रतिरूप, आकार या मूर्ति सबका भाव रखता है। अमरकोश 'अंगः प्रतीको अवयवः' कहकर प्रतीक को अंग अथवा अवयव के समकक्ष बतलाता है। अभिधानरत्नमाला के अनुसार भी प्रतीक का यही अर्थ स्वीकृत है। वहां 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति एक देशः अंगः अवयवः' कहकर प्रतीक शब्द की व्याख्या की गई है। भारतीय परम्परा में प्रतीक का व्यवहार भी इसी रूप में किया गया है। जब हम ॐ (ओंकार) को ब्रह्म का प्रतीक मानते हैं तो इसका कारण यह नहीं कि सादृश्य, सम्बन्ध, साहचर्य या किसी अन्य कारण से ओंकार ब्रह्म का संकेतक है। निर्गुण, निराकार एवं सर्वव्यापक ब्रह्म की एकमात्र सत्ता का सादृश्य, सम्बन्ध अथवा साहचर्य के आधार पर कोई संकेतचिह्न हो ही नहीं सकता क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं। वेदों ने भी उसके प्रतिपादन के लिए 'नेति-नेति' की शैली ही अपनाई। तथापि ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है क्योंकि यह ब्रह्म रूप ही है। गीता का कथन है—

> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्यामनुस्मरन्।
> यः प्रयाति व्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
>
> —श्रीमद्भगवतगीता ८।१३

अर्थात् एकाक्षर ब्रह्म 'ॐ' का स्मरण करते हुए जो शरीर का त्याग करता हैं उसे परम गति की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, ओंकार से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

ओंकार में सम्मिलित तीन वण तीनों लोक, तीनों काल, तीनों वेद, तीनों अग्नियों, तीनों कर्म और तीनों गुणों को अपने भीतर समेट कर इन सबके प्रतीक बन जाते हैं। ब्रह्म-पुराण का निम्नलिखित श्लोक इसी अर्थ की पुष्टि करता है—

त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रैलोक्यं पावकास्त्रयः ।
त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयोवर्णास्त्रयो गुणाः ।।

—ब्रह्मपुराण अध्याय १७६, श्लोक ३७

तैत्तिरीय उपनिषद् (१।८) 'ओमिति ब्रह्म। ओमितीदम् सर्वं' इस कथन द्वारा ओंकार की सर्वव्यापकता का आख्यान करता है। अन्य उपनिषदों तथा पुराणादिकों में भी ओंकार के महत्त्व का अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, जिसके यहाँ उल्लेख का अवसर नहीं। कहना केवल यह है कि शास्त्र, परम्परा, आस्था और विश्वास सबका सम्मिलित आधार ग्रहणकर ओंकार की ब्रह्मरूपता प्रतिपादित हुई है और यह ब्रह्म का प्रतीक माना जाता है।

भारतीय जीवन तथा साहित्य दोनों में प्रतीक को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। इसका सीधा सा कारण यह है कि जब विश्व के अनेक राष्ट्र सभ्यता एवं संस्कृति का ककहरा सीख रहे थे, भारत इनके शीर्ष पर पहुँचा हुआ था और विश्वगुरु कहलाता था। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ प्रतीकों का भी विकास होता है, यह एक सर्वमान्य तथ्य है। इस विषय में 'भारतीय प्रतीक विद्या' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के लेखक डॉ० जनार्दन मिश्र का कथन उल्लेखनीय है—

"प्रतीक निर्माण की प्रवृत्ति कितनी पुरानी है, यह कहना कठिन है। विचारने से बोध होता है कि जब से मनुष्य में बुद्धि हुई और उसकी बुद्धि ने रेखा खींचना या लीपा-पोती करना सीखा, तभी से वह अपने भावों का प्रतीक-निर्माण करने लगा। आदिम मनुष्यों की गुहाओं में भी नाना भावों को प्रकाशित करने वाले उनके द्वारा अंकित चित्र और मूर्तियों के ढांचे पाए जाते हैं। जिस देश के लोगों के जैसे संस्कार और जैसी बुद्धि रहती है, वे वैसे ही प्रतीकों का निर्माण करते हैं।"[१]

आगे डॉ० मिश्र इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"प्रतीक मनुष्यों के स्वभाव के साथ लगा हुआ है। इसके विना वह जी नहीं सकता।जो जाति जितनी असभ्य है, उसके प्रतीक उतने ही सरल और टेढे-मेढे होते हैं और जो जाति जितनी सभ्य हैं, तदनुसार उसके प्रतीक भी उसके समुन्नत विचारों के अनुसार मनोहर एवं जटिल होते हैं तथा श्रमपूर्वक अनुशीलन करने से समझ में आते हैं।"[२]

अस्तु सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के अनुसार ही भारतीय जीवन एवं साहित्य का प्रतीक-विधान अत्यन्त समुन्नत एवं सारगर्भित रहा है। शिवलिंग हमारा प्राचीनतम

---

१. डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक विद्या-विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, विषय प्रवेश।
२. वही, पृ० २५

प्रतीक रहा है जो आज तक अनेक पाश्चात्य विद्वानों की पकड़ में नहीं आ सका है। ये विद्वान् शिवलिंग को आदिम कामवासना के प्रतीक के रूप में समझते हैं। इससे बढ़कर अज्ञानता का उदाहरण दूसरा नहीं मिल सकता। शिव कामारि हैं, वे किसी भी रूप में काम के प्रतीक भला कैसे हो सकते हैं दूसरी सभ्यताओं में प्रचलित लिंगपूजा कामवासना की प्रतीक हो सकती है किन्तु अपने यहाँ लिंगपूजा के साथ ही भगवान शिवशंकर के साकार रूप की भी परिकल्पना है जो पूरी तरह प्रतीकात्मक है और निस्त्रैगुण्य शिव से अभिन्न है। शिव व्योमकेश हैं अर्थात् नीला आकाश इनका केश है। वे त्रिनेत्र हैं। ज्ञान, इच्छा एवं क्रियाशक्तियाँ ही इनके तीन नेत्र हैं। कुछ विद्वान् तीनों वेदों को तथा कुछ सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि को इनके तीन नेत्र मानते हैं। शिव दिगम्बर हैं अर्थात् दिशाएँ ही उनके वस्त्र स्वरूप हैं। वे पशुपति हैं अर्थात् जीवमात्र के स्वामी हैं। शिवचन्द्रशेखर हैं अर्थात् चंद्रमा इनका आभूषण है। वे गंगाधर हैं अर्थात् वे धर्मद्रव के आधार हैं। गंगा तो 'धर्मद्रवेति विख्याता' है ही। सर्प शिव के गले से लिपटे रहते हैं इसका सहज अर्थ यह है कि महाकाल शिव के वशीकृत है। इस तरह शिव का सगुण साकार स्वरूप पूर्णतः प्रतीकात्मक है। वह इसी तथ्य का प्रतीक है कि भगवान् शिव पूर्ण ब्रह्म हैं। वे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् एवं सर्वकल्याणकारी हैं। आसुरी शक्तियों की अभिवृद्धि होने पर वे ही संहारकारी महाकाल अथवा रुद्र भी हैं। भगवान् शिव के इन समस्त रूपों का सम्मिलित प्रतीक शिवलिंग है। शिव और शिवलिंग अभिन्न हैं। शिवलिंग त्रिगुणातीत भगवान् शिव का ही निर्गुण प्रतीक है—वैसे ही जैसे कि शालिग्राम शिला विष्णु का प्रतीक है। अपने यहाँ लिंगपूजन पूर्णतः आध्यात्मिक पूजन है। इस विषय में श्री परिपूर्णानन्द वर्मा के शब्द उल्लेखनीय हैं—

"लिंगपूजन वास्तव में आध्यामिक पूजन है। लिंगपूजा मानसिक वस्तु है।

लयं गच्छति इति लिंगम् मनः

लिंग का अर्थ है मन। मन का आश्रय है योनि। योनि का अर्थ है बुद्धि। अर्थात् योनि (बुद्धि) में लिंग (मन) को लीन कर देना। यही लिंगपूजन है। मन को बुद्धि में लाओ।"[1]

भावना की चरम ऊँचाई पर हमारे सम्पूर्ण क्रिया कलाप शिवपूजा के ही प्रतीक बन जाते हैं। इसी ऊँचाई से शङ्कराचार्य कहते हैं—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः श्रोत्राणि सर्वा गिरः।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम् ।।

अर्थात् आत्मा ही शिव, मति पार्वती, प्राण सहचर और शरीर मंदिर है। ऐसी स्थिति में भक्त की समस्त विषयोपभोगरचना पूजन कर्म है, निद्रा समाधिस्थिति है, संचरण-मात्र प्रदक्षिणा है, समस्तवाणीप्रपंच शिवस्तुति है। जो जो कार्य किये जाते हैं, वे सभी शंभु के आराधनस्वरूप ही हैं।

---

१. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा : प्रतीकशास्त्र-हिन्दी समिति उ०प्र०, पृ० २८५

संत कबीर की सहज समाधि यही तो है—

सन्तो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तें उपजी दिन-दिन अधिक चली।
जहं तहं डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जहँ सोवौं तहँ करौं दंडवत् पूजौं और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खावँ पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखौं दूजा।
आँख न मूंदौं, कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन, पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं।।

समाधि की यह अवस्था ही निर्गुण साधक को अभीष्ट है। किन्तु इस अवस्था की फलश्रुति क्या है—इसकी फलश्रुति है—खुले नैन, पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं। समाधिदशा में जब नेत्र बाहर के विषयों के लिए बंद हो चुके हैं, अन्तर्दृष्टि खुली, परमतत्त्व का साक्षात्कार हुआ और भक्त हंसते विहँसते उस सुन्दर स्वरूप की रूप-माधुरी का छक कर पान करने लगा। निर्गुण उपासना का यह सगुण दर्शन ही वास्तव में भारतीय अध्यात्मविद्या का रहस्य है। इस रहस्य की सिद्धि के सबसे महत्वपूर्ण माध्यम प्रतीक हैं।

भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य स्वयं एक प्रतीक है। परमेश्वर की 'एकोऽहं बहुस्याम' की इच्छा का जीता जागता प्रतीक ही तो मनुष्य है। केवल मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उस अद्वितीय सत्ता के क्रीड़ा विलास का प्रतीक ही है। सत्ता तो एक मात्र उसी की है जो नाना नामरूपों में प्रतिभासित हो रही है। केवल स्वनिर्मित चराचर सृष्टि में ही नहीं इसके परे भी उसी सत्ता की व्याप्ति है। विराट पुरुष का स्वरूप वर्णन करते हुए वैदिक ऋषि कहता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र पात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अतिष्ठद् दशांगुलम्।—(ऋ० १०।९०।१)

विराट् पुरुष के हजारों सिर, हजारों नेत्र और हजारों पाँव उसके भौतिक अंग-विन्यास के सूचक मात्र नहीं हैं। वह तो सर्वथा निर्गुण एवं निराकार है। उसकी यह रूप कल्पना प्रतीकात्मक है। सिर आकाशादि अनगिनत ऊर्ध्वलोकों के प्रतीक हैं। नेत्र सूर्य, चन्द्रमा एवं तारकादि रश्मिपुंजों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार पाँव भूमि एवं पातालादि लोकों के प्रतीक हैं। पृथ्वी एवं आकाशपर्यन्त समस्त लोकों को तो उसने व्याप्त कर ही रखा है, इस सबसे वह दश अंगुल बढ़कर है। उसका यह दश अंगुल बढ़ना इस बात का प्रतीक है कि अपनी बनाई हुई चराचर सृष्टि तक ही वह सीमित नहीं है। वह सृष्टि में ओत प्रोत है किन्तु उससे परे भी है।

वैदिक ऋषि प्रतीकों के माध्यम से ही उस परमेश्वर को जानने तथा उसकी स्तुति का प्रयास करता है। वह कहता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । महोऽसि महो मयि धेहि ।
सहोऽसि सहो मयि धेहि ।—(तै०ब्रा० २।६।१; यजु० १९।९)

इस प्रार्थना में तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु, महत् और सह ये सभी तत्व परमात्मा के प्रतीक बतलाए गए हैं। वस्तुतः जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर है, वह सब परमात्मा का प्रतीक है। इसके साथ ही जो कुछ असत्य, अशिव तथा असुन्दर है वह भी परमात्मा की ही आसुरी माया का प्रतीक माना गया है। धर्म उसका पेट है तो अधर्म उसी का पीठ है।

भारतीय चिन्तन दृष्टि परमात्मा की एकता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता की निर्विवाद एवं निर्भ्रान्त घोषणा करती रही है। इस मूलभूत विषय पर यहाँ कभी विवाद रहा ही नहीं है। फिर भी यहाँ परमात्मा के अनेक सगुण साकार रूपों की कल्पना की गई है। ऊपर से देखने पर निर्गुण एवं सगुण का सारा प्रपंच विवाद का विषय लगता है और इसे लेकर विवाद की एक सुदीर्घ परम्परा भी चलती रही है किन्तु इस विषय में भारतीय मनीषा ने तर्क वितर्क का कोई अवसर छोड़ा ही नहीं है। निर्गुण निराकार की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही सगुण है। परमात्मा घर-घर व्यापक है और उसकी सर्वव्यापकता में कोई सन्देह नहीं है किन्तु उसे अल्पशक्ति मनुष्य की छोटी बुद्धि की पकड़ में भी तो आना चाहिए। उस अगम अगोचर सत्ता को जानने और पहचानने का कोई आधार तो होना चाहिए। इसीलिए सूरदास सगुण के माध्यम से उस तक पहुँचना चाहते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परमस्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
रूपरेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मनचक्रित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै।

सगुण अवतारों की पूरी की पूरी परिकल्पना ही प्रतीकात्मक है और उसका एक-मात्र कारण वही है जो सूरदास ने उपर्युक्त पद में बतलाया है। यही तथ्य महिम्नस्तोत्र के निम्नलिखित छंद में पुष्पदन्ताचार्य ने और भी सरल ढंग से समझाया है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः प्रत्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

रुचिवैचित्र्य के कारण उस एक के ही अनेक सरल-कठिन रूपों की कल्पना हुई है। अन्यथा सभी मार्ग एक ही गन्तव्य की ओर जाते हैं। वेदत्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव सभी प्रस्थान ऊपर से चाहे जितने भिन्न दीख पड़ते हों, उनका चरमलक्ष्य एक ही

है। नदियाँ चाहे जहाँ से निकली हों और चाहे जिन मार्गों से होकर प्रवाहित होती हों अंततः उनका पर्यवसान समुद्र में ही होता है। इसी प्रकार सभी मार्ग अंततः शिवपद में ही पर्यवसित होते हैं। शिवपद की जगह कोई विष्णुपद कहे तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। शिव और विष्णु अभिन्न हैं। दोनों ही निर्गुण निराकार परमात्मा के प्रतीक हैं। ऊपर की पंक्तियों में शिवपद की जो संकेतात्मक व्याख्या की गई है, विष्णुपद की व्याख्या उससे बहुत भिन्न नहीं है। चतुर्भुज विष्णु के चार हाथों में हमने यों ही शंख, चक्र, गदा और पद्म नहीं पकड़ा दिए हैं। ये सभी प्रतीक हैं। शंख और चक्र राजस एवं तामस अहंकार के प्रतीक हैं। गदा बुद्धि का तथा कमल कल्याण, वैभव एवं आनन्द का प्रतीक है। विष्णु के हृदय प्रदेश में जो कौस्तुभमणि दिखलाई पड़ती है, वह निर्लिप्त एवं निर्मल आत्मा का प्रतीक है।[1] कुल मिलाकर चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमा इस तथ्य का प्रतीक है कि जिसकी आत्मा निर्लिप्त एवं निर्मल हो, जो जगत् के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध एवं समर्थ हो, जिसने सात्विक, राजस एवं तामस तीनों प्रकार के अहंकारों पर विजय प्राप्त कर लिया हो वही विष्णुपद का अधिकारी हो सकता है।

भगवान् विष्णु के सभी अवतार देशकाल के अनुरूप उसी एक परमेश्वर की सर्व शक्तिमत्ता के प्रतीक हैं। अनेक विद्वानों ने दश अवतारों की परिकल्पना में सभ्यता के विकास का इतिवृत्त देखा है। डॉ० जनार्दन मिश्र का कथन इसी दिशा में संकेत करता है—

"विष्णु के दश अवतारों में सृष्टि के क्रम विकास का विवरण मिलता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्त्वों से सारी सृष्टि की रचना हुई है। इनमें आकाश, वायु ओर तेज सूक्ष्म तत्त्व हैं। स्थूलसृष्टि में सर्वप्रथम जलतत्त्व हैं जिसमें सर्वप्रथम जीव का विकास हुआ। इसका प्रतीक मत्स्यावतार है। तत्पश्चात् कच्छप हुआ जो जल में अधिक और स्थल पर कम रहता है। तीसरा वाराह है जो जल में कम और स्थल पर अधिक रहता है। चौथा आधा पशु और आधा मनुष्य नृसिंह है। पाँचवाँ अविकसित मनुष्य वामन है। छठाँ अर्धसभ्य मनुष्य परशुराम है जो अपने अस्त्र के कारण प्रसिद्ध है। सातवाँ पूर्ण मनुष्य और पूर्ण ब्रह्म राम है। आठवाँ कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। नवाँ करुणा की मूर्ति महायोगी बुद्ध हैं। दशवाँ कल्कि है।"[2]

प्रतीकों की व्याख्या की अपनी अपनी दृष्टि होती है। एक दृष्टि यह भी है। यह सही है या गलत इस निर्णय के पचड़े में यहाँ नहीं पड़ना है किंतु यह अवश्य कहना है कि इन अवतारों का मर्म केवल इतने में सीमित नहीं है। वामनावतार सभ्यता के विकास क्रम में एक पड़ाव पर पहुँचे हुए अविकसित मनुष्य का प्रतीक ही नहीं है, वह इस बात का भी प्रतीक है कि वह परमात्मा लघु से लघु और विराट् से विराट् किसी भी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। वह अत्यन्त लघु वामन रूप धारण करते हुए भी तीनों लोकों को तीन ही

१. हिन्दी विश्वकोश : खंड ७, ना०प्र० सभा काशी।
२. डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीकविद्या, पृ० ७१

कदम में नाप सकता है । परमात्मा की विराटता का ही वामन प्रतीक वामनावतार है । इसी तरह का वैशिष्ट्य सभी अवतारों की परिकल्पना में अन्तर्निहित है ।

हमारे यहाँ जितने भी देवी देवता हैं सभी उस एक मात्र सत्ता की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते हैं । देवताओं में प्रथम पूज्य गणेश को ही देखें । गजानन के विचित्र स्वरूप की परिकल्पना का मर्म हम तभी समझ सकते हैं जब इसके प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य से हम परिचित हों । गणेश का स्वरूप सबसे पहले ओंकार का प्रतीक है और इस रूप में ओंकार-विनायक की अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध भी होती हैं। ओंकार का ऊपर वाला भाग मस्तक का वृत्त, नीचे वाला भाग उदर का विस्तार, सूँड़ नाद और लड्डू बिन्दुवत् है ।[1] इस रूप में गणेश स्वयं पूर्णब्रह्म के प्रतीक हैं और त्वमेव केवलं कर्ताऽसि, 'त्वमेव केवलं धर्ताऽसि, त्वमेव केवलं हर्ताऽसि, त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि' आदि मंत्रों को सार्थक सिद्ध करते हैं । इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्यान्य सभी देवताओं तथा समस्त तत्त्वों का उन्हीं में पर्यवसान हो जाता हैं । वैसे उनका गजानन का स्वरूप सहज ही मुदमंगलदाता है । हाथी के सूँड़ की तरह सुदीर्घ नासिका और विशाल उदर इनकी प्रखर बुद्धिमत्ता के प्रतीक हैं । विश्व के सकलविघ्न ऐसे बुद्धिविधाता के चरणों में उसी प्रकार धराशायी हो जाते हैं जैसे गजानन के चरणों में उनकी आज्ञा की बाट जोहता हुआ विनम्र चूहा । उनकी चार भुजाएँ चारों दिशाओं की प्रतीक हैं जो उनकी सर्वव्यापकता को प्रकट करती हैं। इन चारों भुजाओं में से एक में पाश तथा दूसरे में अंकुश क्रमशः राग एवं द्वेष के प्रतीक माने जाते हैं । बहुत से लोग इन्हें इच्छा-शक्ति एवं ज्ञानशक्ति का प्रतीक मानते हैं । राग और द्वेष मानें तो भाव यह निकलता है कि रागद्वेषादि इनके वशीकृत हैं और इनके उपासक इन वासनाओं से सहज ही मुक्ति प्राप्त कर सकते है । ज्ञानशक्ति तथा इच्छाशक्ति मानें तो भी यह अर्थ प्रकट होता है कि ये समस्त शक्तियों के स्वामी हैं । इनका तीसरा हाथ अभयमुद्रा में है जो इस बात का प्रतीक है कि इनके उपासक भयभीत नहीं हो सकते । वरद मुद्रा में इनका चौथा हाथ इस बात का प्रतीक है कि ये अभीष्ट वरदायक, उदार एवं कृपासिन्धु हैं । इनके दोनों ओर रिद्धि और सिद्धि इनकी विभुता एवं शक्ति की परिचायिका हैं ।

उपर्युक्त संक्षिप्त उल्लेख से भारतीय जीवन में प्रतीक की व्यापकता का एक सामान्य परिचय प्राप्त होता है । हमारे देवी-देवता ही नहीं नदी, तालाब, कुंड, वृक्षों, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों, पर्वतों, पाषाण खंडों यहाँ तक कि रजकणों का भी प्रतीकात्मक महत्त्व है । हाथी को जमीन से रजकण उठाकर मस्तक पर लगाते देखकर रहीम के मन में सहज जिज्ञासा जागृत हुई थी किंतु भारतीय प्रतीक भावना पर दृष्टि जाते ही उनका समाधान हो गया और वे बोल उठे—

धूलि धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज मुनिपतनी तरी, तेहि ढूंढ़त गजराज ।।

---

१. वही, पृ० ३९

काशी के कंकड़ को भी शंकर का प्रतीक बतलाया गया है। दूर्वा एक सामान्य तृण नहीं, अपितु दैवी वनस्पति है। तुलसी का बिरवा विष्णुप्रिया की उपाधि से विभूषित है और कोटि-कोटि जनता के इस विश्वास का प्रतीक है कि जिस आँगन में तुलसी विराजमान हो, वहाँ पारिवारिक आमोद-प्रमोद एवं कल्याण सुनिश्चित है। गंगा, यमुना, सरस्वती, कृष्णा, कावेरी, गोदावरी, सरजू और दूसरी नदियाँ भारतीय भावना में सामान्य नदियाँ नहीं हैं अपितु इन सबके पीछे पवित्र मातृभावना निहित है। सभी वृक्षों पर किसी न किसी देवी-देवता का आवास है और सभी पशु यहाँ तक कि गधा भी किसी न किसी का वाहन है। अधिक क्या कहा जाय जर्रे-जर्रे में एक ही परमात्मा की सत्ता विराजमान है।

इस दृष्टि से भारतीय जीवन में प्रत्येक पद एवं पदार्थ एक प्रतीक है। कोई वस्तु ऐसी है ही नहीं जो प्रतीक न हो या न बन सकती हो। प्रतीक विधान भारतीय जीवन-दृष्टि एवं चिन्तनशैली के साथ अनुस्यूत रहा है। इस कारण वैदिक साहित्य से लेकर आज तक की साहित्य सर्जना में भी प्रतीक-विधान साहित्य के भावपक्ष के अनिवार्य घटक के रूप में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता रहा है। कदाचित् यही कारण है कि काव्यशरीर के घटकों का विवेचन करते हुए भारतीय आचार्यों ने 'प्रतीक' पर पृथक् विचार की आवश्यकता नहीं समझी। प्रतीक साहित्य का काव्यात्मभूत तत्त्व है। प्रतीकात्मक दृष्टि भारतीय साहित्य तथा साहित्यशास्त्र की आधारशिला है। इस कारण ऊपर से वह भले ही दिखलाई न पड़ती हो तथापि नाट्यशास्त्र से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक और उनके बाद आज तक भारतीय साहित्यशास्त्र का जो भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है उसकी नींव में प्रतीक दृष्टि भी अवश्य है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रतीक-विचार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीक-विधान भारतीय जीवन-दृष्टि एवं चिन्तन-शैली का अनिवार्य अंग रहा है। मनुष्य के भावजगत् की रचना में प्रतीकों की भूमिका अपरिहार्य होती है। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के तत्त्वों का विवेचन करते हुए कभी प्रतीक-योजना के विषय में अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी। तथापि कवि, काव्य, काव्यप्रेरणा तथा काव्य की आत्मा आदि से सम्बधित भारतीय काव्यशास्त्र की मौलिक स्थापनाओं में काव्य की प्रतीकात्मकता से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण संकेत उपलब्ध होते हैं।

इस विषय में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि में पुरुषार्थ चतुष्टय ही समस्त वाङ्मय का एकमात्र लक्ष्य है। सत्य एक ही है जिसकी सिद्धि के लिए सभी अपनी-अपनी पद्धति से प्रयास करते हैं। जिस लक्ष्य तक शास्त्र पहुँचना चाहता है, काव्य का भी लक्ष्य वही है। अन्तर केवल यह है कि शास्त्र की अभिव्यक्तिशैली तथ्यपरक, नीरस एवं त्रासदायक होती है जबकि काव्य अनिवार्यतः सरस होता है। आचार्य रुद्रट् निम्नलिखित पंक्तियों में इसी तथ्य पर बल देते हैं—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।

इस उद्धरण द्वारा कहना यह है कि जब हमारे धर्म, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति तथा शास्त्रों में सर्वत्र प्रतीकों का महत्त्व स्वीकृत है तो कथ्य एवं लक्ष्य की समानता के कारण साहित्यशास्त्र में भी उनकी महत्वपूर्ण स्वीकृत्ति स्वयंसिद्ध है।

भारतीय आचार्यों ने कवि को स्रष्टा, विधाता अथवा प्रजापति की संज्ञा दी है। कवि एक अभिनव सृष्टि करता है। कवि की सृष्टि विधाता की सृष्टि का अंधानुकरण नहीं, अपितु उसके समानान्तर एक मौलिक सृष्टि होती है आचार्य मम्मट की शब्दावली का प्रयोग करें तो कवि की यह सृष्टि नियतिकृतनियमरहित, अनन्यपरतंत्र, ह्लादैकमयी एवं नवरसरुचिर होती है। कवि के इस सृष्टि-कर्म की ओर संकेत करते हुए ध्वनिकार का कथन है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिकल्पते ।।

इस कथन में ही यह अर्थ निहित है कि कवि की परिकल्पना द्वारा सृजित काव्यालोक वस्तुतः विधाता की रहस्यमयी सृष्टि का एक लघु प्रतीक ही होता है।

आचार्य भरत ने काव्य की व्यापकता का उल्लेख करते हुए पहले ही बतलाया था कि काव्य के अन्तर्गत समस्त शास्त्रों शिल्पों, विद्याओं तथा कलाओं का समावेश हो जाता है—

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न तत्कला ।
जायते यत्र काव्याङ्गम् .... ।

जब समस्त विद्याएँ काव्य के अन्तर्गत ग्राह्य हैं तो निश्चय ही अति प्राचीन प्रतीक विद्या भी इसके अन्तर्गत आ जाती है।

इसके साथ ही जरा गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत और उनके परवर्ती रस सिद्धान्त के प्रायः सभी व्याख्याताओं ने किसी न किसी रूप में भाव अथवा अर्थ के साथ-साथ प्रतीक-विधान की स्वीकृति का संकेत दिया है। प्रायः सभी विचारकों ने अर्थ की अनुभूति या प्रतीति पर बल दिया है। अनुभूति, प्रतीति तथा अनुमिति आदि रस सम्बन्धी परिभाषिक शब्दों की व्याप्ति में प्रतीक-विधान भी सम्मिलित है। रसवादियों ने सर्वत्र इस बात पर बल दिया है कि रस का मूल आधार भाव है जो व्यंग्य होता है। भाव का कथन रसकारक न होकर रसदोष के अन्तर्गत रखा गया है। स्वशब्दवाच्यत्व एवं वमन आदि रस दोष इसी से सम्बन्धित हैं। रससिद्धान्त की सर्वमान्य स्थापना है कि काव्यगत रस अभिव्यञ्जित होता है, कथित नहीं। प्रतीक इस अभिव्यञ्जना की प्रक्रिया के सबसे सबल माध्यम हो सकते है।

भाव तथा अर्थ से सम्बद्धता के अतिरिक्त एक अन्य रूप में भी रससिद्धान्त के अन्तर्गत प्रतीक-विचार का ग्रहण किया जा सकता है। रससिद्धान्त में काव्यगत आलम्बन

पर विश्वास पूर्वक विचार किया गया है। धीरोदात्त, धीर प्रशान्त, धीर ललित तथा धीरोद्धत आदि नायक-भेदों तथा इसी प्रकार अनेकानेक नायक भेदों की जो विवेचना उपलब्ध होती है, उसमें भी प्रतीक-विचार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष दिखलाई पड़ता है। कतिपय गुणों, विशेषताओं या आदर्शों के प्रतीक के रूप में ही विभिन्न प्रकार के चरित्रभेदों की परिकल्पना की जा सकती है। इस रूप में भी काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव प्रतीक-योजना पर निर्भर माना जा सकता है।

रससिद्धान्त का ही एक परिष्कृत एवं विकसित रूप ध्वनिसिद्धान्त में दिखाई पड़ता है। ध्वनि का आधारभूत तत्त्व व्यञ्जना है। व्यञ्जना व्यापार में प्रतीक-विधान का महत्त्व सर्वोपरि होता है। प्रतीकों द्वारा ध्वनित प्रतीयमान अर्थ उत्तम ध्वनिकाव्य के लक्षणों के अनुरूप सर्वोत्कृष्ट होता है। ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अनलोकसामान्यमभिव्यक्त परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषं' कहकर काव्य प्रतिभा की जो परिभाषा दी है अथवा 'अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा' कहकर इसका जो स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि भारतीय मनीषा लौकिक वस्तुवर्णन में काव्य की स्थिति नहीं मानती। काव्यवस्तु की अपूर्वता अथवा अलोक सामान्यता की सिद्धि के अप्रतिम माध्यम के रूप में भी प्रतीकविधान की उपयोगिता विचारणीय है।

अलंकारवादी आचार्यों के विवेचन में भी प्रतीक-विधान की उपादेयता सहज संकेतित है। पहली बात तो यही है कि ये आचार्य अलङ्कार को 'काव्यशोभाकर' बाह्य धर्म के रूप में ही नहीं, अपितु 'सौन्दर्यमलङ्कारः' के व्यापक अर्थ में भी ग्रहण करते हैं। भामह जब अलङ्कार को वक्रोक्ति के रूप में परिभाषित करते हुए उसके द्वारा अर्थ के विभावन तथा कवियों द्वारा यत्नपूर्वक इसकी सिद्धि की बात करते हैं तो इसमें काव्य की प्रतीकात्मकता भी संकेतित है। भामह का प्रसिद्ध कथन इस प्रकार है[1]—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।

आचार्य दण्डी के 'मधुरं रसवद्वाचि' वाली उक्ति में भी काव्य की आन्तरिक अर्थवत्ता संकेतित है, जो प्रमुखतः प्रतीकों द्वारा सुनिश्चित होती है।[2] धीमन्तों द्वारा 'मधुनेव मधुव्रतम्' रस-ग्रहण काव्य की प्रतीकात्मकता द्वारा ही सुनिश्चित होती है। प्रतीकों में सन्निहित आन्तरिक अर्थ और भाव की सिद्धि होने पर ही सहृदय अपूर्व तृप्ति का अनुभव करते हैं।

इसके अतिरिक्त अलंकारवादियों ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व को कभी कम नहीं माना है। आचार्य भामह स्पष्ट कहते हैं कि कल्पना के समारोप से ही कवि कर्म का

---

१. भामह : काव्यालङ्कार २।८४-८५
२. दण्डी : काव्यादर्श १।५

वैशिष्ट्य सिद्ध होता है ।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि-कल्पना की सर्वोत्कृष्ट परिणति प्रतीकों की रचना में दिखलाई पड़ती है और इस रूप में भी प्रतीकविधान की उपादेयता विचारणीय है ।

काव्यशोभाकरधर्म के रूप में या काव्यशरीर के अंगविशेष के रूप में अलङ्कारों को ग्रहण करने पर भी प्रतीक विधान साहित्यशास्त्र का अभिन्न अंग सिद्ध होता है । अलङ्कार शास्त्र का अधिकांश सादृश्यविधान पर निर्भर है । जब भी सादृश्यविधान होता है, प्रतीक-विधान किसी न किसी रूप में अवश्यमेव ग्राह्य होता है । जब हम कहते हैं कि मुख चन्द्रमा या कमल के समान सुन्दर है तो इन प्रसिद्ध उपमानों के साथ 'मुख' का सादृश्य तो बहुत थोड़ा अथवा नगण्य है । सर्वथा भिन्न वर्गों से सम्बद्ध होने के कारण ये परस्पर तुल्य हैं ही नहीं । फिर भी ये बहुप्रयुक्त उपमान इसलिए ग्राह्य हैं कि ये सौन्दर्य के मान्य प्रतीक के रूप में सर्वस्वीकृत हैं । प्रायः यह कहा जाता है कि बहुप्रयुक्त उपमान प्रतीक बन जाते हैं किन्तु दूसरा पक्ष यह भी है कि प्रतीकात्मकता की विशिष्टता के कारण ही बहुधा उपमानों में उपमानत्व स्वीकृत होता है । जो बात यहाँ उपमा के विषय में कही गई, वह व्यापक रूप में समस्त सादृश्यमूलक अलङ्कारों के विषय में चरितार्थ होती है ।

रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदायों की गणना भी प्रायः काव्य के बहिरंग को महत्त्व देने वाली विचारधाराओं के रूप में की जाती है किन्तु इनमें भी प्रतीक विचार के लिए पर्याप्त अवकाश है । गुणों के विवेचन पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने शब्दगुण के समानान्तर अर्थगुण का भी निरूपण किया है । सर्वोत्कृष्ट अर्थगुण माधुर्य की सिद्धि में प्रतीक-योजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है । श्लेष और समाधि आदि अर्थगुण भी प्रतीकों द्वारा सरलतापूर्वक सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त अभिधा की जिस विचित्रता को मूलभूत मानता है, उसमें प्रतीक-विचार के लिए भी समुचित अवकाश है । वक्रोक्तिभेदों के अन्तर्गत जब प्रबन्धवक्रता की समुचित व्याख्या करने बैठते हैं तो स्पष्ट होता है कि वहाँ कुन्तक को अभिप्रेत अर्थ समग्र प्रबन्ध की प्रतीकात्मकता ही है । औचित्य सिद्धान्त तो एक समन्वयात्मक सिद्धान्त है ही, जिसमें काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ-साथ प्रतीक को भी आसानी से सम्मिलित किया जा सकता है ।

इस प्रकार ऊपरी तौर पर भारतीय साहित्यशास्त्र का एक सामान्य सर्वेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि भारतीय जीवन दृष्टि के साथ अविच्छिन्न रूप में अनुस्यूत होने के कारण प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने प्रतीक-विधान पर अलग से विचार करना उचित नहीं समझा । किन्तु भारतीय आचार्य काव्य की प्रतीकात्मक प्रकृति से सर्वथा सहमत हैं और काव्यशास्त्र के प्रायः सभी सम्प्रदायों में प्रतीक-विधान की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति का अवकाश बना हुआ है । कोई भी काव्यशास्त्री अभिधा को उत्तम काव्य नहीं मानता । जो विचारक अभिधा शक्ति को प्राथमिकता देते भी हैं वे भी अभिधा की विशिष्ट तर्कपूर्ण व्याख्या द्वारा यही बतलाते हैं कि काव्यगत शब्द अपने रूढ़ कोशगत अर्थ से ऊपर उठकर विशिष्ट अर्थ के

---

१. भामह : काव्यालङ्कार, ५।६-७

वाहक होते हैं। इस तरह यह प्रायः सर्वमान्य है कि काव्य का वैशिष्ट्य शब्द की लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों पर निर्भर होता है। ज्यों ही अभिधा से आगे बढ़कर हम लक्षणा के क्षेत्र में प्रवेश करते है, प्रतीकों की अपरिहार्य उपस्थिति का आभास हमें होने लगता है। जैसे जैसे हम गहराई में उतरते जाते हैं प्रतीक सूक्ष्मतर किन्तु व्यापक होते जाते हैं। इसी लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक-विधान को लाक्षणिक वक्रता का ही एक प्रकार माना है।[1]

साहित्य में प्रतीक-विधान

भारतीय साहित्यशास्त्र में उपलब्ध प्रतीक-विचार सम्बन्धी संकेतों के संक्षिप्त विवेचन के बाद भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि साहित्य में प्रतीक-विधान की आवश्यकता क्या है ? कवि अथवा साहित्यकार अपनी बात कहने के लिए प्रतीकों की योजना क्यों करते हैं ? क्या प्रतीकों की सहायता के बिना साहित्यिक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ? इस युग में जबकि जनवादी साहित्य की रचना समय की आवश्यक माँग मानी जाती है, यह प्रश्न अधिक विचारणीय हो जाता है कि क्या नितान्त सीधी-सादी सपाट जनभाषा में काव्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ?

इन प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यही है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति में किसी न किसी रूप में प्रतीक-व्यवस्था अनिवार्य है। कोई कवि रचना-प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही प्रतीक-योजना के बहिष्कार के लिए प्रतिबद्ध, सजग और प्रयत्नशील हो, तो भी उसकी रचना प्रतीकात्मक विशेषताओं से मुक्त नहीं हो सकती। इसका प्रमाण यह है कि तमाम परम्पराओं को नकारने वाले सोवियत रूस तथा अन्य समाजवादी देशों के तथाकथित जनवादी साहित्य में प्रतीकों की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति देखी जाती है। यह बात दूसरी है कि उनके प्रतीक पूर्वापेक्षा बदले हुए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यकार सदैव जानबूझ कर प्रतीकों का प्रयोग करे। बहुत से प्रयोग तो अनजाने ही हो जाया करते हैं क्योंकि प्रतीक उसे अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा से संस्कार के रूप में प्राप्त हुए होते हैं। सच तो यह है कि प्रतीक उस परिवेश में रचे-पचे होते हैं, जिसमें साहित्यकार साँस लेता है। वैसे भी संवेदनशील मानव-प्राणी होने के नाते साहित्यकार प्रतीक-विधान से बच नहीं सकता क्योंकि प्रतीक वस्तुतः मानवीय संवेदना की व्याप्ति एवं क्रियाशीलता के ही वाहक होते हैं।

व्यापक रूप में कलाकृति कलाकार की अपनी भावना, कल्पना, विचारधारा अथवा अनुभूति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही होती है अनुभूति के स्तर पर कवि अथवा कलाकार ने जो कुछ देखा, सोचा या रचा है उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देना उसके लिए सम्भव नहीं होता क्योंकि वह तो बीजरूप एवं हृद्गत होता है। कलाकार यदि पवनपुत्र जैसी क्षमता से सम्पन्न होता तो उपयुक्त कला माध्यम की तलाश तथा अभिव्यक्ति संकट की प्रसवपीड़ा झेलने के बजाय अपना सीना फाड़कर दुनिया के सामने दिखला देता और अनुकरण के बजाय उसकी मौलिक कला ही हमारे सामने होती किन्तु कलाकार ऐसी क्षमता से संपन्न

१. रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २१६

नहीं होता । इस कारण जो अदृश्य निराकार तथा अन्तर्गत है, उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए वह कला माध्यमों की तलाश में लग जाता है । इस प्रकार कलाकृति वस्तुतः निर्गुण, निराकार तथा अदृश्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत सगुण साकार प्रतीक के रूप में ग्राह्य है । रससिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त इसी बात पर बल देते हैं। उनके अनुसार कविगत रस ही बीजरूप होता है । काव्य इस बीज का वृक्ष रूपी प्रतिफल है । अभिनयादि व्यापार पुष्पस्थानीय तथा सामाजिक को प्राप्य रसास्वाद फलस्थानीय होता है । अभिनव के शब्द हैं—

"तदेवमूलं बीजस्थानीय कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिक तुल्य एव···ततो वृक्षस्थानीयं काव्यं । तत्र पुष्पस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः । तत्र फलस्थानीयो सामाजिक रसास्वादः । तेन रसमयमेव विश्वं ।"[1]

इस प्रकार व्यापक दृष्टि से काव्य कविगत बीजस्थानीय रस का एक प्रतीक ही है और समग्र समीक्षा कर्म एक प्रकार से इस बात की तलाश का प्रयत्न है प्रतीक रूप में प्रस्तुत कलाकृति कितनी सफलतापूर्वक कविगत बीजरूप रस की अभिव्यक्ति कर पाता है ।

इस व्यापक सन्दर्भ पर विचार करते हुए हमारा ध्यान एक दूसरी दिशा की ओर भी चला जाता है । कलाकार की समग्र जीवन-साधना, प्रतिभा, कुशलता तथा अन्तर्दृष्टि की परीक्षा वस्तुतः इस बात में होती है कि वह कितने अर्थपूर्ण प्रतीकों की उपलब्धि कर सका है । प्रेमचन्द की महानता का चरम रहस्य यही है कि वे होरी जैसे सशक्त प्रतीक की रचना कर सके । होरी जैसे सार्थक प्रतीक को ढूंढ़ निकालने पर ही गोदान जैसी अमर कृति की सर्जना सम्भव है । जब तक ऐसा प्रतीक पकड़ में नहीं आता साहित्यकार की साधना अधूरी रहती है । इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट है कि साहित्यविद्या एक प्रकार से सशक्त एवं सार्थक प्रतीकों के आविष्कार की विद्या ही है ।

तुलसीदास की श्रेष्ठता इस कारण नहीं हैं कि उन्होंने रामचरित को अपनी रचना का आधार बनाया । रामचरित का आधार ग्रहण करना ही यदि श्रेष्ठता का मापदण्ड होता तो सहस्रों कवियों ने वैसी ही अमरकीर्ति प्राप्त कर ली होती । तुलसी की श्रेष्ठता इस बात में है कि वे राम को मानवीय आदर्शों के एक ऐसे प्रभोज्ज्वल प्रतीक के रूप में चित्रित कर सके जो एक साथ त्रेतायुगीन समाज, तुलसीकालीन समाज, वर्तमान समाज और आगे आने वाले युगों के समाज सबके लिए समान रूप से प्रेरणास्पद एवं ग्राह्य है । देश, काल तथा परिस्थितियों के तमाम प्रकार के परिवर्तनों के बीच भी तुलसी के राम अधिक से अधिक प्रासंगिक होते गए हैं । वे केवल मानवीय आदर्शों के ही नहीं, मानवीय प्रवृत्तियों के भी प्रतीक हैं और इस रूप में रामचरित मानस प्रत्येक व्यक्ति के अपने मानस का दर्पण सिद्ध होता है । तुलसी का चमत्कार यह है कि प्रत्येक पाठक रामचरितमानस की घटनाओं को अपने मानस में घटित होते हुए अनुभव कर सकता है । स्पष्ट है कि अलग-अलग व्यक्तियों के मानस में घटित रामचरितमानस एक समान नहीं हो सकता । रामचरितमानस में नित्य-

१. अभिनवभारती, सं० २, पृ० २९४

नवीन अर्थ की सम्भावनाएँ इसी प्रतीक-कौशल के द्वारा सुनिश्चित होती हैं जिसकी ओर तुलसीदास ने विनयपत्रिका के निम्नलिखित पद में स्पष्ट संकेत किया है[1]—

वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग रचित मन दनुज मय रूप धारी।
विविध कोशौघ अति रुचिर मन्दिर निकर सत्वगुण प्रमुख त्रैकटककारी।
कुणय अभिमान सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प वीची विकारं।
मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ट विबुधांतकारी।
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद शूलपानी।
अमित बल परम् दुर्जय निशाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो यातुधानी।
जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण वसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम यम सकल सुरलोक लोकेश लंकेशवश नाथ! अत्यंत भीता।
ज्ञान अवधेश-गृह गेहिनी भक्ति शुभ तत्र अवतार भू भार हर्ता।
भक्त संकष्ट अवलोकि पितु वाक्य कृत गमन किय गहन वैदेहि भर्ता।
कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रवल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय, विषम वन भव नमित धूमकेतू।
दुष्ट दनुजेश निर्वंश कृत दास हित विश्व दुख हरण बोधैक रासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल वासी।

इस पद के अनुसार शरीर ब्रह्माण्ड, प्रवृत्ति लंका, मन लंकानिर्माता मय, शरीर के पाँच कोश लंका के सुन्दर महल, तीन गुण प्रवृत्ति रूपी लंका के सेनापति, देहाभिमान भयानक समुद्र, रावण मोह, कुंभकरण अहंकार, मेघनाद काम, अतिकाय लोभ, महोदर मात्सर्य, देवान्तक क्रोध, दुर्मुख द्वेष, खर दम्भ, अकंपन कपट, मनुजाद दर्प, शूलपाणि मद, राक्षसियाँ इन्द्रिय, विभीषण जीव, दिक्पाल यमनियमादि, दशरथ ज्ञान, रीछ और बन्दर मोक्ष के साधन और हनुमान वैराग्य के प्रतीक बतलाए गए हैं। इन प्रतीकों की सहायता से रामचरितमानस का जो रूपकीय अर्थ उपलब्ध होता है वह उसके सामान्य अर्थ की तुलना में कहीं अधिक सूक्ष्म, विलक्षण एवं मर्मस्पर्शी है। रामचरित मानस में इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के प्रतीकात्मक संकेत भी उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा उसके अर्थ के अनेक स्तर उद्घाटित होते हैं। वस्तुतः वही रमणीय अर्थ है, वही ध्वनि हैं और वही वह तत्त्व है जिस पर उत्तम काव्य का वैशिष्ट्य निर्भर करता है। उसी का साधारणीकरण होने पर रसदशा की उपलब्धि होती हैं।

ऊपर से देखने पर जायसी का पद्मावत एक रोचक आख्यान मात्र लगता है किन्तु जब उसकी प्रतीकात्मकता पर दृष्टि जाती है तो समग्र आख्यान एक विलक्षण अर्थ की सिद्धि कराता है जिसमें जायसी की अमरता का वास्तविक रहस्य निहित है। पद्मावत केवल

---

१. विनयपत्रिका, पद सं० ५८

आख्यान होता तो हजारों आख्यानों की भीड़ में न जाने कब का खो चुका होता किन्तु उसकी प्रतीकात्मकता कभी चुकने वाली नहीं है। वह आज भी अलग अलग पाठकों के लिए नया-नया अर्थ लेकर प्रस्तुत होती है। जायसी ने स्वयं इस दिशा में संकेत करके इस विलक्षण अर्थ की कुंजी प्रस्तुत कर दी है—

> तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पद्‌मिनि चीन्हा।
> गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
> नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
> राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू।

कहना आवश्यक नहीं कि इस प्रतीक-विधान के कारण समग्र पद्‌मावत पाठक के अपने व्यक्तित्व का दर्पण बन जाता है और इस रूप में काव्यगत रमणीय अर्थ की सहज निष्पत्ति होती है।

रामचरितमानस तथा पद्‌मावत के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है वह विश्व-वाङ्‌मय के उन सभी प्रबन्ध काव्यों के विषय में सत्य है जिन्हें हम कालजयी कृतियों की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं। एक ही युग के हिन्दी साहित्य में प्रियप्रवास तथा कामायनी दो प्रबन्धकाव्य रचे जाते हैं। एक में कृष्ण की अवतार लीला का अति लोकप्रिय पावन प्रसंग कोमलकान्त पदावली तथा छंदशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र की उत्तमोत्तम विशेषताओं से संयुक्त काव्यभाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया और इन विशेषताओं के कारण एक समय था जबकि हिन्दी पाठकों को इस प्रबंध के सैकड़ों छन्द कण्ठाग्र हुआ करते थे। किंतु देखते देखते इस मनोरम प्रबन्ध का अर्थ चुक गया और यह साहित्येतिहास की धरोहर बन कर रह गया। दूसरी ओर मनु तथा श्रद्धा के अल्पज्ञात प्रसंग को लेकर रची गई कामायनी वैसा आकर्षक काव्यशरीर न रखते हुए भी विश्व के अमर साहित्य की दुर्लभ सम्पदा बन गई है। इसका कारण केवल यह है कि कामायनी के द्वारा प्रसाद ऐसे प्रतीकों की सृष्टि कर पाते हैं जो कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते तथा जिन्हें प्रत्येक पाठक अपने ढंग से अपनी क्षमता के अनुसार ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार कामायनी में नित्यनूतन अर्थ की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहती हैं।

इस दृष्टि से गहराई के साथ विचार करने पर स्पष्ट होता है कि जिसे हम साधारणीकरण कहते हैं, वह वस्तुतः प्रतीकों का ही साधारणीकरण है। रस दशा वास्तव में प्रतीकों को आत्मसात् कर लेने की ही चमत्कारिक स्थिति है। जब काव्यगत प्रतीक पाठक को अपने व्यक्तित्व का ही एक अविभाज्य अंश लगने लगता है और वह यह अनुभव करने लगता है कि काव्य का सत्य उसके अन्तर्जगत् का ही सत्य है तो उसे इस आविष्कार द्वारा जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही वस्तुतः रस है।

प्रबन्धकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा कहानी आदि में प्रतीक-विधान का उपर्युक्त व्यापक स्वरूप चरितार्थ होता है किन्तु मुक्तक काव्य में तथा अन्य काव्य रूपों में भी यथा स्थान प्रतीक-विधान द्वारा जो स्थानीय वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, उस पर अन्यत्र लिखा जा

चुका है।[1] और अन्यान्य विद्वानों ने भी उसके विषय में यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डाला है विस्तार-भय से उस प्रकरण का यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा है। तथापि संक्षेप में इतना संकेत करना आवश्यक है कि इस निबन्ध में यथास्थान प्रतीकों से सम्बन्धित जो सामान्य बातें कही गई हैं, वे सभी काव्यरूपों पर सामान्यतया लागू होती हैं। चाहे सादृश्य विधान के लिए उपमानों का प्रयोग हो, चाहे अप्रस्तुत विधान का क्षेत्र हो, चाहे बिम्ब, मिथक और फन्तासी आदि के विधान की अपेक्षा हो अथवा लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की सिद्धि अपेक्षित हो, प्रतीक सर्वत्र साहित्यकार की सहायता के लिए आगे आते हैं। साथ ही साथ अर्थग्रहण अथवा रसबोध के समय पाठकों को भी प्रतीक अपेक्षित अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। प्रतीकों के द्वारा साहित्य की गहराई सुनिश्चित होती है और साहित्य उन विशिष्टताओं से सम्पन्न होता है जिनके कारण उसे स्थायित्व अथवा अमरत्व प्राप्त होता है।

प्रतीक-विधान का इतना महत्त्व स्वीकार करने के बावजूद पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन का 'प्रतीकवाद' भारतीय चिन्तनधारा के अनुकूल नहीं ठहरता। आधुनिक काल के अनेक समर्थ हिन्दी रचनाकारों ने यद्यपि इस पाश्चात्य विचारधारा का अनुकरण करते हुए नवीन साहित्य की रचना अवश्य की है किन्तु उनका प्रयास एक प्रयोग बनकर रह गया है। कवि तथा काव्य के सम्बन्ध में प्रतीकवाद की अनेकानेक स्थापनाएं इस निबन्ध में प्रतिपादित विचारों से मिलती जुलती हैं किन्तु उनका 'शुद्धकाव्य' (Pure Poetry) सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनके असाधारण विचार काव्य को सामान्य पाठकों के लिए अगम्य एवं अस्पृश्य बना देते हैं। परम्पराओं को सर्वथा नकारते हुए काव्य के लोक-मंगल वाले पक्ष की पूर्णतः अवहेलना काव्य में ऐसी नवीनता एवं मौलिकता की सृष्टि कर देता है जिसे हृदयंगम करना केवल कवि तथा कुछ गिने चुने लोगों के ही वश की बात होती है। प्रतीक-विधान काव्य को अस्पष्ट नहीं बनाता अपितु अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट एवं सुलभ बनाता है। साहित्य में प्रतीक विधान की उपादेयता अर्थ की छिपी हुई परतों को खोलने में है, उनके गोपन अथवा आवरण में नहीं। कवि-कल्पना द्वारा प्रसूत प्रतीक रहस्योद्घाटन की क्षमता के कारण रमणीय होते हैं, अनावश्यक रहस्य की सृष्टि प्रतीक-विधान का अभीष्ट प्रयोजन नहीं है। 'प्रतीक के लिए प्रतीक' उसी प्रकार विवादास्पद है जैसे 'कला के लिए कला'।

—०—

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त; डॉ० जितेन्द्र नाथ मिश्र पृ० २५३-६१

अनुक्रमणिका

(म)

(ह)

सम्पादकद्वयपरिचय

(१) डॉ० हरिनारायण दीक्षित

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग तथा अधिष्ठाता कला संकाय, कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)

प्रकाशित रचनाएँ—(१) संस्कृतानुवादकलिका, (२) संस्कृतनिबन्धरश्मिः, (३) श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (गद्यकाव्यम्), (४) तिलकमञ्जरी : एक समीक्षात्मक अध्ययन, (५) राष्ट्रियसूक्तिसंग्रहः, (६) संस्कृत साहित्य में राष्ट्रियभावना, (७) मेनकाविश्वामित्रम् (दृश्यकाव्यम्), (८) संस्कृतनिबन्धावली, (९) शोधलेखावली, (१०) श्रीहनुमद्दूतम् (सन्देशकाव्यम्, उ०प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित), (११) गोपालबन्धुः (कथाकाव्यम्, उ०प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा बाणभट्ट पुरस्कार से सम्मानित), (१२) गद्यकाव्यसमीक्षा, (१३) भीष्मचरितम् (महाकाव्यम्, साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित), (१४) देशोऽयं कुरुते प्रोन्नतिम् (मुक्तककाव्यम्), (१५) उपदेशशती (शतककाव्यम्), (१६) भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा (सम्पादन)।

अप्रकाशित रचना—पण्डितराजजगन्नाथकाव्यग्रन्थावली (अनुवाद एवं सम्पादन)।

वर्त्तमान आवासीय पता—१९६, बड़ा बाजार, नैनीताल (उ०प्र०)-२६३००१

(२) डॉ० किरण टण्डन

रीडर, संस्कृत-विभाग, कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ०प्र०)

प्रकाशित रचनाएँ—(१) छन्दोऽलङ्कारपरिचयः, (२) महाकवि ज्ञानसागर के काव्य : एक अध्ययन, (३) श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् का हिन्दी अनुवाद, (४) प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक (उ०प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत), (५) संस्कृत साहित्य में राजनीति : श्रीकृष्ण और चाणक्य के सन्दर्भ में, (६) भारतीय संस्कृति, (७) भारतीयकाव्यशास्त्र मीमांसा (सम्पादन)।

वर्त्तमान आवासीय पता—परवॅक लॉज-बी०, राजभवन मार्ग, नैनीताल (उ०प्र०)—२६३००२।